कुछ महत्त्वपूर्ण पुस्तकें

संपूर्ण अंग्रेजी-हिन्दी शब्दकोश	भोलानाथ तिवारी, एन० एन० कपूर, विश्वप्रकाश गुप्त
बेदी वनस्पति कोश	रमेश बेदी
मेरे साक्षात्कार सीरीज	नागार्जुन, रामविलास शर्मा, विष्णु प्रभाकर, अमृता प्रीतम, भीष्म साहनी, राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर, शिवप्रसाद सिंह
द्विवेदीयुगीन हिन्दी नवरत्न (आलोचना)	विजयेन्द्र स्नातक
हमारे पथ-प्रदर्शक (जीवन-चरित)	डॉ० शंकर दयाल शर्मा
प्रगति के परिदृश्य (निबंध)	डॉ० शंकर दयाल शर्मा
एकत्व के मूल (निबंध)	डॉ० शंकर दयाल शर्मा
यात्रा के पन्ने (यात्रा-वृत्तांत)	राहुल सांकृत्यायन
एशिया के दुर्गम भूखंडों में (यात्रा-वृत्तांत)	राहुल सांकृत्यायन
सामाजिक विज्ञान हिन्दी विश्वकोश (दो खंड : अ, आ)	सं० : श्यामसिंह शशि
कर्मवीर पं० सुन्दरलाल : कुछ संस्मरण	सं० : सुधीर विद्यार्थी
गांधी और अहिंसक आंदोलन	शंकर दयाल सिंह
हिन्दी : राष्ट्रभाषा, राजभाषा, जनभाषा	शंकर दयाल सिंह
गांधी विचार-यात्रा	सं० : पं० रामनारायण उपाध्याय
भारतीय राजनीति का संकट	मधु लिमये
विश्व साहित्यशास्त्र (आलोचना)	सं० : डॉ० नगेन्द्र
पृथ्वी का कृष्णपक्ष (कविताएँ)	कैलाश वाजपेयी
पृथ्वीकल्प (कविताएँ)	गिरिजाकुमार माथुर
काल चेतना (संस्मरण)	अमृता प्रीतम
आलोचना भी रचना है (आलोचना)	काशीनाथ सिंह
जाना-अनजाना चीन (यात्रा-वृत्तांत)	शुभा मुखोपाध्याय
स्वधर्म और कालगति (निबंध)	रमेशचन्द्र शाह
साब्जा पत्र कथा कहे (यात्रा-वृत्तांत)	शिवप्रसाद सिंह
आशारानी व्होरा : एक सार्थक रचना-यात्रा	सं० : विष्णु प्रभाकर
राहुल का कथा-कर्म (आलोचना)	मधुरेश
हिंदी : दशा और दिशा	प्रभाकर श्रोत्रिय
राष्ट्रीयता (निबंध)	बाबू गुलाबराय

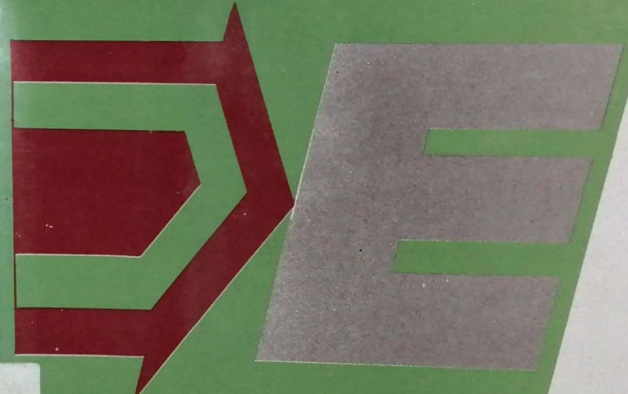
किताबघर प्रकाशन

भारत में अंग्रेजी : क्या खोया क्या पाया



भारत में अंग्रेजी

क्या खोया क्या पाया



तुलसीराम

भारत में अंग्रेजी : क्या खोया क्या पाया

भारत के अतिरिक्त संसार में शायद ही कोई और देश हो जहां उसकी अपनी भाषा के होते हुए भी विदेशी भाषा राज और शिक्षा की भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो। अंग्रेजी भारत में क्यों आई, कैसे आई, किन प्रेरणाओं और संभावनाओं को लेकर आई, राजसत्ता के आधार पर राजभक्तों के सहयोग से कैसे जमी और कैसे फैली, और कैसे प्रबुद्ध वर्ग की मानसिक दुविधा के कारण राज के चले जाने पर भी स्वतंत्र भारत में अनिश्चित काल के लिए टिकी हुई है—इन विषयों पर प्रस्तुत पुस्तक में सप्रमाण विस्तृत चर्चा की गई है। अंग्रेजी राज के उपरांत भारत में अंग्रेजी भाषा और शिक्षा राज का ही रूपांतर है जो हमारे प्रबुद्ध वर्ग की शिक्षा, भाषा, आचार-विचार, सभ्यता-संस्कृति और चिंतन शैली को प्रभावित करके उसी प्रभाव के माध्यम से चल रहा है।

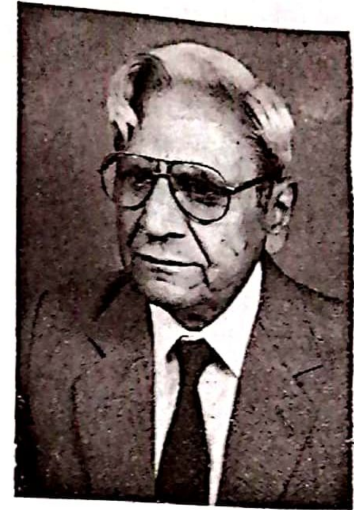
विदेशी भाषा एक नया संदेश और स्फूर्ति लेकर आती है, इस रूप में वरदान होती है। वही भाषा सत्तारूढ़ होकर हमारी भाषा, चिंतन शैली और जीवन-मूल प्रेरणाओं को विकृत या कुंठित करके हमारी अस्मिता को छीन लेती है, तब अभिशाप बन जाती है। अंग्रेजी को अपनाकर हमने क्या खोया क्या पाया—यह लेखा-जोखा इस चर्चा में स्थान-स्थान पर संकेत रूप में उभरकर आता है।

पुस्तक में भारतीय अंग्रेजी शिक्षा के तीन आयामों पर प्रकाश डाला गया है :

1. 1793 से 1854 तक अंग्रेजी का प्रतिष्ठापन जिसके सूत्रधार थे चार्ल्स ग्रांट और मुख्य कलाकार थे लार्ड मकाले।
2. 1854 से 1947 तक जिसमें अंग्रेजी के प्रचार-प्रसार की चर्चा है।
3. 1947 के पश्चात् आज तक जिसमें अंग्रेजी के प्रभुत्व का छायांकन है।

ISBN–81-7016-368-4

मूल्य : रु० 146.00



डॉ० तुलसीराम एम०ए० (दिल्ली), पी-एच०डी० (लंदन), भूतपूर्व अध्यक्ष, अंग्रेजी विभाग, महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक एक अनुभवी प्रोफेसर, रिसर्चर और लेखक हैं। आपका शोध-कार्य श्रद्धा, जिज्ञासा और मानवीयता से अनुप्राणित है जो सनातन और नूतन के नित्य-निरंतर गतिशील संगम का सहचारी है। आपकी लेखनी इसी संगम-बिंदु की यात्रा को रेखांकित करती है और यही रेखा देश-काल के संदर्भ में परंपरा-इतिहास-प्रवाह को मानव-परिवार की कहानी का रूप देती है।

उर्दू, हिंदी, संस्कृत और अंग्रेजी भाषाविद् आप अंग्रेजी और हिंदी में लिखते हैं। अनेक लेखों के अतिरिक्त अंग्रेजी में आपकी तीन पुस्तकें छप चुकी हैं : 'द नियोक्लासिकल एपिक्' (1971), 'ट्रेडिंग इन लैंग्वेज' (1983) और 'द ओरिजिनल फिलॉसफी ऑफ योग' (1989)। प्रस्तुत पुस्तक आपकी चौथी कृति है। इसका नाम स्वयं अपने विषय को स्पष्ट करता है।

डॉ० तुलसीराम कई बार इंग्लैंड, यूरोप, कैनडा और अमरीका की यात्रा कर चुके हैं। गांव में जन्मे, गांव और शहर में पढ़े, विश्वयात्री, आप जीवन के विविध और बहुआयामी अनुभव के धनी हैं।

भारत में अंग्रेजी
क्या खोया क्या पाया

"केंद्रीय हिंदी निदेशालय (मानव संसाधन विकास मंत्रालय) के संस्वीकृति पत्र सं० एफ० 5-57/95 के० अनु० ए० दिनांक 10.10.96 के माध्यम से प्राप्त वित्तीय सहायता से प्रकाशित । कापीराइट अनुदानग्राही डॉ० तुलसीराम के पास है"

भारत में अंग्रेजी

क्या खोया क्या पाया

डॉ० तुलसीराम



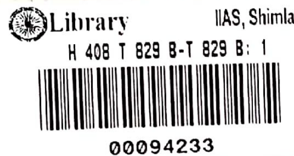
किताबघर
नयी दिल्ली-110002

ISBN—81-7016-368-4



प्रकाशक
किताबघर
24, अंसारी रोड, दरियागंज
नयी दिल्ली-110002

प्रथम संस्करण
1997



आवरण
चेतनदास

मूल्य
एक सौ छियालीस रुपये

शब्द-संयोजक
सोनी कम्प्यूटर्स
24/4855, अंसारी रोड, दरियागंज
नयी दिल्ली-110002

मुद्रक
एस०एन० प्रिंटर्स
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

BHARAT MEIN ANGREZI : KYA KHOYA KYA PAYA (Hindi)
by Dr. Tulsi Ram
Price : Rs. 146.00

अपनी बात

अंग्रेजी भाषा आज स्वतंत्र भारत की हवा में रम गई है। उच्च वर्ग इस हवा में सांस लेता है, मध्यम वर्ग सांस लेने के लिए दौड़ता है और साधारण जनसमुदाय दौड़ते-दौड़ते दम तोड़ देता है। इस हवा में सांस लेते-लेते हम यह भी पूछना भूल गए कि इस दौड़ में हमने क्या खोया और क्या पाया। पूछना तो चाहिए क्योंकि हमारे भविष्य का इतिहास अभी लिखा जाना है।

जब भी हम किसी विदेशी भाषा के संपर्क में आते हैं तो वह भाषा अपने साहित्य के साथ एक नई शक्ति और स्फूर्ति का संदेश लेकर आती है। हमें एक नए इतिहास, नई सभ्यता, नई संस्कृति, नई विचारधारा और नई स्फूर्ति का अनुभव होता है। किंतु वही भाषा जब हमारी अपनी भाषा को उखाड़ देती है और राजभाषा और शिक्षा-माध्यम के रूप में शिक्षा का पर्याय बन कर हमें जकड़ लेती है तो हम अपनी परंपरा और जड़ों से कटने लगते हैं और अपनी अस्मिता को भी खो बैठते हैं। इस प्रकार विदेशी भाषा एक रूप में वरदान होती है और दूसरे रूप में अभिशाप। गुरुदेव रवीन्द्र ठाकुर और गांधी जी राजभाषा और शिक्षा-माध्यम के रूप में अंग्रेजी को अभिशाप मानते थे और चक्रवर्ती राजगोपालाचारी जैसे भाषाप्रेमी सरस्वती का वरदान। प्रश्न यह है कि वरदान किसके लिए और अभिशाप किसके लिए ?

क्या खोया क्या पाया ? किसने खोया किसने पाया ? एक ही वस्तु किसके लिए वरदान है और किसके लिए अभिशाप ? यह प्रश्न सापेक्ष है और इसका उत्तर गणित की भाषा में नहीं दिया जा सकता। अंग्रेजी भाषा, अंग्रेजी शिक्षा और अंग्रेजी राज से भी हमने क्या पाया, क्या नहीं पाया, और पाने की प्रक्रिया में क्या खो दिया, इन प्रश्नों का भी सर्वसम्मत उत्तर नहीं मिलेगा, किंतु यह चिंतन सारे समाज और राष्ट्र के हित में होगा। हमें इन प्रश्नों पर उदारता, निष्पक्षता, स्वतंत्रता और साहस के साथ व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के संदर्भ में विचार करना चाहिए। हमारी स्वतंत्रता कितनी स्वतंत्र है और कितनी परतंत्र, और यदि हमारी जीवन-शैली और चिंतन-प्रक्रिया में कोई परतंत्रता का अंश या जकड़न है तो वह क्यों है और कहां से आया है, यह सोचना चाहिए। इस पुस्तक में कुछ तथ्य रखे गए हैं और उनकी चर्चा हमारे साहित्य, दर्शन, परंपरा और इतिहास, वर्तमान समस्याओं और भावी संभावनाओं के परिप्रेक्ष्य में की गई है। इस पृष्ठभूमि और परिप्रेक्ष्य का मूल्यांकन भी सापेक्ष हो सकता है और वह पाठक का अपना होगा। इसलिए यह वांछनीय है कि पाठक का दृष्टिकोण भी उदार और निष्पक्ष हो।

अंग्रेजी राज की देन है देश की प्रशासनिक एकता, देश का विभाजन, पाश्चात्य सभ्यता, अंग्रेजी शिक्षा और अंग्रेजी भाषा। अंग्रेजी एक सशक्त भाषा है जो अपने द्वार खुले रखती

है । एक जीवंत और सशक्त साहित्य की रचना इसमें हो चुकी है । इसी भाषा के माध्यम से संसार के महानतम साहित्य के द्वार हमारे लिए खुले हैं । अंग्रेजी शिक्षा के द्वारा हमें न केवल साहित्य ही मिला, हमें नए विज्ञान का प्रकाश भी मिला । इस साहित्य और विज्ञान से हमें एक नया संदेश और नया वैज्ञानिक दृष्टिकोण भी मिला । इसी संदेश के साथ एक नई स्फूर्ति हमारे जीवन में आई । रूढ़िवाद और अंधविश्वास को शिक्षित वर्ग ने चुनौती दी और एक नए प्रबुद्ध वर्ग का उदय हुआ । इसी प्रबुद्ध वर्ग के कुछ नौजवानों ने अंग्रेजी के ही माध्यम से राज को चुनौती दे डाली । समाज में एक नई जागृति और नया जोश आया । साहस के साथ जनता ने शासक से लोहा लिया, देश स्वतंत्र हो गया । एकता, स्वतंत्रता, वैज्ञानिक दृष्टिकोण, सतर्क चिंतन-शैली, आशावाद, कर्मठता, नवीनता (माडर्निटी), सभी में अंग्रेजी भाषा, साहित्य और शिक्षा का योगदान है । यह सब मानो अंग्रेजी का गुलदस्ता है जो देश के प्रबुद्ध वर्ग (इलीट) के रूप में सजा है और इंगलिश-मीडियम स्कूलों में संवारा जा रहा है । यह तो पाया ।

और यही योगदान पाकर हम दब गए । हमने यह नहीं देखा कि इस गुलदस्ते की जड़ें कट चुकी हैं और यदि हैं तो विदेश में । हमने यह नहीं देखा कि हम अपनी परंपरा, भाषा, साहित्य, विज्ञान और दर्शन से कट गए हैं, और यदि जुड़े भी हैं तो उधार की दृष्टि से । हमने पर्यावरण की चिंता करना पश्चिम के तकनीकी पश्चात्ताप से सीखा किंतु यह याद नहीं रहा कि हमने केवल भूमंडल ही नहीं समस्त सृष्टिमंडल के लिए शांति और स्वस्ति की प्रार्थना की थी । हमने ओषधि, वनस्पति, और समस्त प्रकृति को पवित्र माना था और शक्ति मां के रूप में उसकी आराधना की थी । हमने सूर्य-नमस्कार को अंधविश्वास मान लिया और जीवन-स्रोत से कट गए । हमने साइंस को पाया सांख्य से कटे, तर्क को पाया न्याय से कटे, स्वतंत्र दृष्टि पर चश्मा विदेशी चढ़ा लिया, धर्म को रिलीजन का पर्याय माना और सेक्युलरिज़्म के बहाने धर्मनिरपेक्ष हो गए । यह भूल गए कि सेक्युलरिज़्म का वास्तविक अर्थ है लोकधर्म न कि धर्मनिरपेक्षता । हमने अंग्रेजी को पाया अपनी भाषा को खोया, अपने आप को पाया अपने आप से भय खाया, स्वयं को पाया स्वयं को ही खोया, वर्गविशेष को पाया जनसाधारण को छोड़ा ।

जब कोई विदेशी किसी को कुछ देता है तो परमार्थवश देता है या स्वार्थवश ? बुद्ध भगवान ने चीन, जापान और अन्य देशों को जो दिया परमार्थवश दिया । अंग्रेजी राज ने जो दिया वह स्वार्थवश । अंग्रेजी भाषा और शिक्षा आई तो ब्रिटिश कूटनीति और व्यापार-वृत्ति के अंग के रूप में, गरीबी हटाने के लिए नहीं, धन कमाने के लिए, अंधविश्वास से छुड़ाने के लिए नहीं, धर्म-परिवर्तन के लिए, सांस्कृतिक विजय के लिए, भोगवृत्ति (कंज़्यूमरिज़्म) जगाने के लिए, वर्ग-विशेष को बनाने के लिए और उसके माध्यम से सारे भारत को सदा के लिए मानसिक दासता में जकड़ने के लिए । शिक्षा के हेरफेर में हम से तो हमारी वाणी भी छिन गई ।

संसार के बहुत सारे देशों ने अंग्रेजी को अपनाया है, किंतु अपनी भाषा को छोड़कर नहीं, केवल सहायता लेने के लिए दूसरी भाषा के रूप में, और अंतर्राष्ट्रीय दुनिया में काम चलाने के लिए । उन सबकी अपनी भाषा है—जापान की जापानी, चीन की चीनी, रूस की रूसी इत्यादि ।

भारत की भाषा क्या है, कोई पूछे तो ? हमारे पास तो 'भारती' शब्द भी नहीं है । हिंदुस्तानी है पर वह हिंदी का पर्याय माना जाता है और हिंदी को क्षेत्रीय भाषा कह दिया जाता है । एक समय संस्कृत सारे भारत के शिक्षित वर्ग की भाषा थी । यदि हम उसे संस्कृत (स्टैंडर्ड) न कहकर भारती कहते तो आज भारत की सभी भाषाएँ भारती का ही रूप विशेष होतीं ।

अंग्रेज लेखकों और शासकों का धन्यवाद है कि उन्होंने भारत की किसी भी भाषा के लिए 'वर्नेकुलर' शब्द का प्रयोग किया । इसलिए मैंने भी साहस करके 'भारत की भाषा' के लिए 'भारती' शब्द का प्रयोग किया है । अंग्रेजों ने वर्नेकुलर (भारती) शब्द तो दिया किंतु भारती के स्थान पर अंग्रेजी को थोप दिया ।

हममें से बहुत सारे अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग यह नहीं जानते कि इंग्लैंड में ही करीब तीन सौ वर्ष (1066–1362) तक अंग्रेजी राजभाषा नहीं थी । वहां फ्रांसीसियों का राज था और फ्रेंच राजभाषा, बिल्कुल ऐसे ही जैसे भारत में अंग्रेजी । इंग्लैंड की जनता ने इस विदेशी व्यवस्था से तंग आकर फ्रेंच के विरुद्ध अंग्रेजी के पक्ष में आवाज उठाई और तीव्र सामाजिक आंदोलन किया । परिणामस्वरूप अक्तूबर 1362 में वहां की पार्लमेंट ने एक प्रस्ताव पास किया जिसके अनुसार 1 जनवरी, 1363 को अंग्रेजी को राजभाषा बना दिया गया । प्रस्ताव में फ्रेंच को इंग्लैंड की जनता के प्रति षड्यंत्र (मिस्चिफ़) का नाम दिया गया है । यदि विदेशी भाषा इंग्लैंड में मिस्चिफ़ थी तो भारत में अंग्रेजी को क्या कहेंगे ? वरदान या षड्यंत्र ?

इस पुस्तक का श्रीगणेश 1942 में 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव के अगले दिन से हो गया था । उस दिन हमें यह बताया गया था कि अंग्रेजी राज एक अभिशाप है और अंग्रेजी भाषा एक मानसिक शिकंजा जो केवल स्वामी-भक्त क्लर्क बनाने के लिए और भारत की सांस्कृतिक विजय के लिए राजभाषा और राजशिक्षा के रूप में कसा गया था । तत्पश्चात् मैंने लंदन में 1960 में बैंक आफ इंग्लैंड के इतिहास और उपलब्धियों पर एक चलचित्र देखा । चलचित्र में भारत से लाई गई सोने की ईंटें इंग्लैंड की बंदरगाह पर जहाजों से ऐसे उतरती देखीं जैसे हमारी गलियों में ठेले से पत्थर उतरते हैं । मुझे लार्ड मकाले के शब्द याद आए । उन्होंने 1833 में पार्लमेंट में भारत शिक्षा प्रस्ताव पर बोलते हुए कहा था कि मैं यह नहीं चाहता कि भारत की अनपढ़ जनता अंग्रेज अफसरों को दिन में दस बार सलाम झुकाए । मैं चाहता हूं कि भारत के लोग अंग्रेजी पढ़ें, अंग्रेजी सभ्यता के रंग में रंगे जाएं और हमारे कारखानों में बने माल के खरीदार बनें । 1854 के शिक्षा परिपत्र के पीछे प्रेरणा थी अंग्रेजी व्यापार—अंग्रेजी भाषा, अंग्रेजी सभ्यता, भारत में कच्चे माल का उत्पादन और इंगलैंड में बने पक्के माल की खपत । 1942 में जाते-जाते लार्ड वैवल लिख गए कि भारत के साथ शिक्षा के क्षेत्र में हमने भयंकर खिलवाड़ की है । हमने भारत को शिक्षा दी, किंतु न चरित्रनिर्माण के लिए, न अनुशासन के लिए । परिणाम यह है कि आज उसके पास न चरित्र है न अनुशासन । यदि भारत एक राष्ट्र बनना चाहता है तो उसे चरित्र और अनुशासन दोनों जुटाने पड़ेंगे ।

हमारे सामने प्रश्न यह है कि क्या स्वतंत्र राष्ट्र बनने के लिए मात्र विदेशी भाषा और विदेशी

विचारधारा पर्याप्त है ? शिक्षा क्या मात्र व्यापार और व्यवसाय का साधन है ? क्या राष्ट्रीय शिक्षा के साथ देश के इतिहास, परंपरा और सामाजिक व्यवस्था का कोई जीवंत संबंध है ? यदि है तो हमने स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् 50 वर्षों में क्या किया ? आज के आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक वातावरण में ये प्रश्न उत्तर चाहते हैं । भारत जैसे समृद्ध परंपराशाली देश में आज भी अंग्रेजी का राजभाषा और शिक्षा-माध्यम के रूप में बने रहना या तो संसार का आठवां आश्चर्य है या इतिहास का अभिशाप या हमारी स्वतंत्र परतंत्रता का प्रतीक ।

भारत में अंग्रेजी क्यों आई, कैसे आई, कैसे फैली, यह कहानी इस पुस्तक में अधिकतर अंग्रेजों की जुबानी सुनाई गई है । अंग्रेज चले गए, अंग्रेजी रह गई, क्यों नहीं गई, क्यों जमी हुई है ? कहानी का यह भाग हमारे देश के कर्णधारों के शब्दों में सुनाया गया है । लार्ड एल्फिस्टन ने ठीक ही कहा था कि अंग्रेजी राज के पश्चात् स्वतंत्र भारत में भी अंग्रेजी भाषा राज के कीर्तिमान के रूप में खड़ी रहेगी ।

धन्यवाद है केंद्रीय हिंदी निदेशालय का । निदेशालय के ही उदार अनुदान से यह पुस्तक पाठकों के सामने प्रस्तुत की जा रही है । विषय क्योंकि आज की हवा से थोड़ा हटकर है इसलिए प्रबुद्ध पाठकों से अनुरोध करूंगा कि अपनी निष्पक्ष राय बनाकर लेखक/प्रकाशक को अवश्य भेजें ।

28/15, शक्ति नगर
दिल्ली-110007

तुलसीराम

समर्पण

मेरी निरंग्रेजी पत्नी के लिए

तुलसीराम

क्रम

1
स्वर्ण द्वार

संस्कृति समाज की आत्मा है। सभ्यता संस्कृति का साकार रूप है, उसकी बाहरी परिभाषा है, और भाषा संस्कृति और सभ्यता की अभिव्यंजक है। समाज इनका आश्रय है। समाज और संस्कृति, भाषा और सभ्यता, ये चारों साथ-साथ चलते हैं। इतिहास इनका प्रवाह है। इस प्रवाह (इतिहास) के नैरंतर्य का सूत्रात्मा है परंपरा, शिक्षा सूत्रधार।

दूसरे शब्दों में परंपरा इतिहास का मनस्पटल है जो सूत्र रूप में अतीत की गहराइयों से जनमानस की आशाओं, आकांक्षाओं, आदर्शों और वास्तविकताओं को समेटे छन-छनकर निरंतर वर्तमान के अंतस्तल में उभरती है और उभरती रहती है। इन्हीं गहराइयों से वर्तमान के परिवेश में भावी संकल्प जन्म लेते हैं और ये संकल्प ही साकार होकर समाज के भविष्य का निर्माण करते हैं। साहित्य हमारी परंपरा का जीता-जागता मुंहबेलता रूप है और सामूहिक लोकादर्शों और वास्तविकताओं का संगम है—सनातन, नित्य नूतन। शिक्षा सनातन से नूतन का सर्जन करती है और परिवेश के संदर्भ में इतिहास और परंपरा को नया और जीवंत मोड़ देती है।

विकासशील समाज में संस्कृति और सभ्यता, इतिहास और परंपरा, शिक्षा और भाषा में तालमेल बनाए रखने में व्यवस्था का बहुत बड़ा योगदान होता है। राजशासन समाज-व्यवस्था का कर्णधार होता है। इसीलिए राज और समाज का घनिष्ठ संबंध है। राज यदि समाज का अंग न होकर केवल सत्ता के आधार पर शासन करे तो समाज की परंपरा एवं व्यवस्था दोनों के अंदर विकास की जगह विकार आने लगता है। विकार एक नई दिशा में आगे चलकर विकास भी बन सकता है और केवल विकृति का कारण भी बना रह सकता है।

वैदिक काल से लेकर मध्य युग के प्रारंभ तक भारतीय समाज में परंपरा, व्यवस्था और विकास तीनों में संतुलन बना रहा। भाषा, सभ्यता और संस्कृति इन तीनों में भी तालमेल बना रहा। किंतु जब से विदेशी राज भारत में स्थापित हुआ यह तालमेल बिगड़ना शुरू हो गया। इतिहास ने एक नया मोड़ लिया जिसके फलस्वरूप नए ढंग की उपलब्धियां कभी मिलीं और कभी नहीं मिलीं। अंग्रेजी काल में यह नया मोड़ हमें अपनी सहज अवस्था और व्यवस्था से बहुत दूर ले गया जिसका लेखा-जोखा पूरे तौर पर अभी भी देखा जाना है।

1960 में मैं और मेरे कुछ साथी लंदन में भारतीय छात्रावास में रह रहे थे। उसी वर्ष 'बैंक ऑफ इंग्लैंड' अपनी शताब्दी के अवसर पर उत्सव मना रहा था। हममें से पंद्रह छात्रों को उत्सव में आमंत्रित किया गया। हम उत्सव देखने गए। बेसमेंट में हीट कंट्रोल रूम से लेकर

सबसे ऊपर की मंजिल पर गवर्नर के कमरे तक सारे भवन को देखा। गवर्नर का कमरा नया बना था किंतु पूरे तौर पर पुरानी शैली में, जैसा पहले कभी बना था। उसमें हवा की दिशा को दिखाने वाली एक घड़ी लगी थी। हमने पूछा, यह किसलिए ? हमारे गाइड महोदय ने बताया कि यह उस समय का प्रतीक है जब जहाज भाप से नहीं पवन शक्ति से चलते थे। जब भारत से व्यापार प्रारंभ हुआ उस समय प्रायः सभी जहाज पवन शक्ति से ही चला करते थे। भारत से आने वाले जहाज जिब्राल्टर को पार करने के बाद दक्षिण से उत्तर दिशा में इंग्लैंड की ओर आते थे। अतः जब दक्षिण की हवा चलती तो जहाज उत्तर की ओर चलते और इंग्लैंड की बंदरगाह पर पहुंचते थे। जब यह हवा दक्षिण की ओर संकेत करती तो आशा होती थी कि जहाज आने वाले हैं। बैंक और बंदरगाह पर तैयारियां शुरू हो जाती थीं। इस भूमिका के पश्चात् हमने चित्रपट पर एक छोटी-सी फिल्म देखी जिसमें बैंक का इतिहास दिखाया गया था। फिल्म में घड़ी की सूई एस पर पहुंची और फिर एक घोषणा की गई "भारत से जहाज आ पहुंचे हैं।" हमने जहाजों से सामान उतरते देखा। हाथ-ठेली से सोने की ईंटें ऐसे उतारी गईं जैसे ठेले से गली में ईंट-पत्थर उतारे जाते हैं। उन ईंटों की खनखनाहट आज भी कानों में गूंज रही है।

विलियम शेक्सपियर के समकालीन कवि क्रिस्टोफर मार्लो ने एक नाटक लिखा है— 'डा० फाउस्टस्'। उसका नायक डा० फाउस्टस् जादुई साइंस के द्वारा फरिश्तों को अपने वश में करके भारत से सोना मंगवाने के सपने देखता है। डा० फाउस्टस् और ईस्ट इंडिया कंपनी दोनों समकालीन थे। भारत अपनी समृद्धि विशेषकर सोने के लिए विख्यात था। पं० सुंदरलाल की ऐतिहासिक कृति है 'भारत में अंग्रेजी राज' (इलाहाबाद 1938)। उसके आवेष्टन पृष्ठ पर विख्यात फ्रांसीसी पर्यटक बर्नियर के शब्द उद्धृत हैं। बर्नियर कहता है कि भारत एक ऐसा देश है जहां सारी दुनिया का सोना आकर इकट्ठा होता है और बाहर नहीं जाता। उसी सोने को हमने 1960 में ईंट-पत्थर की तरह बाहर जाते देखा।

प्रश्न है कि भाषा और सोना इन दोनों में क्या संबंध है ? इस प्रश्न का उत्तर मकाले और चार्ल्स ग्रांट इत्यादि विचारकों एवं शासकों के वक्तव्यों से मिल जाता है। भाषा, संस्कृति और सभ्यता का जो स्वाभाविक संबंध है उसी को उन्होंने शिक्षा और व्यापार के साथ जोड़ दिया।

सत्तरहवीं-अठारहवीं शतियों में भारत की सभ्यता, संस्कृति, भाषा, शिक्षा एवं आर्थिक-राजनीतिक व्यवस्था के बारे में जो भी पश्चिम यूरोपियन और अंग्रेज शासकों, व्यापारियों और साहसिकों को मिलता था वह व्यापारियों और पर्यटकों से ही मिलता था। उस समय का भारत भी सोया ही पड़ा था। राममोहन राय, दयानंद, विवेकानंद और गांधी—इन सबका जन्म हुआ नहीं था। मुगल शासन का पतन हो रहा था। अकबर और दारा की जिज्ञासा शांत हो चुकी थी। धर्म के स्थान पर मत-मतांतरों और श्रद्धा की जगह अंधविश्वास ने ले ली थी। छोटे-छोटे गांवों का यह देश छोटे-छोटे रजवाड़ों में बंटकर रह गया था। किंतु फिर भी यह विभिन्नता एक सूत्र में पिरोई गई मणियों के रूप में एक ऐसी सुंदर माला थी जिसकी आत्मा थी यहां की संस्कृति। उस संस्कृति का आधार था हृदयांकित समदर्शन। उसे बाहर से आने वाला पर्यटक

या व्यापारी एकदम नहीं देख सकता था। उसे साधना का समय कहां ? अतः भारत को उन्होंने दो रूपों में देखा : व्यापार के लिए एक विशाल क्षेत्र और मिशनरी काम के लिए एक पिछड़ा हुआ समाज। उन्होंने दोनों क्षेत्रों में काम करना प्रारंभ किया। दोनों कामों में तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों से सहायता मिली।

1757 में प्लासी युद्ध में विजय के फलस्वरूप कंपनी एकमात्र विदेशी सत्ता के रूप में उभरने लगी। 1763 में तीसरे फ्रांसीसी युद्ध में उन्होंने फ्रांस को हरा दिया। तब तो वह एकमात्र विदेशी सत्ता के रूप में प्रतिष्ठित हो गई। 1765 में मुगल बादशाह शाह आलम से उन्होंने बंगाल की दीवानी प्राप्त कर ली। दीवानी अधिकार मिलने के बाद कंपनी 'कंपनी बहादुर' बन गई। शासन और व्यापार के साथ-साथ कंपनी बहादुर ने भारत की धार्मिक, सांस्कृतिक और सामाजिक अवस्था के बारे में भी सोचना प्रारंभ किया। यह इंग्लैंड की शासन परंपरा के अनुसार ही था।

कंपनी की स्थापना सन् 1600 में हुई थी। तभी से उनकी धर्म और शिक्षा संबंधी आकांक्षाएं तो थीं किंतु वे थीं निजी, राजसत्ता के रूप में नहीं। 1614 में उन्होंने कुछ भारतीयों को क्रिश्चियन बनाकर अपनी सर्विस में लिया और उनको ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिए उचित शिक्षा दी। 1659 में कंपनी के निदेशकों ने स्पष्ट शब्दों में यह इच्छा व्यक्त की कि हर कीमत पर भारत में ईसाइयत का प्रचार किया जाना चाहिए। 1698 में एक अध्यादेश जारी किया गया कि कंपनी की प्रत्येक फैक्टरी में एवं 500 टन या उससे अधिक बड़े जहाज पर एक या एक से अधिक पादरी रखे जाएं, जो कंपनी के कर्मचारियों में प्रोटेस्टेंट मत का प्रचार करें। इन्हीं कर्मचारियों के बच्चों के लिए एवं एंग्लो-इंडियन बच्चों को शिक्षा देने के लिए स्कूल भी खोले गए। किंतु यह सारा काम कंपनी ने एक सेठ के रूप में किया, सरकार के रूप में नहीं। सेठ आकांक्षी तो होता ही है। कंपनी द्वारा यह काम भी दो उद्देश्यों को लेकर किया गया : अपने भगवान विशेष को प्रसन्न करने के लिए और रोमन कैथलिक मत-प्रचार रोकने के लिए।[1]

राजसत्ता संभालने के पश्चात् एक और ध्येय कंपनी के सामने आया, वह था भारत की जनता की सद्भावना प्राप्त करना। भारतीय जनता के महत्त्वपूर्ण अंग दो थे : एक हिंदू, दूसरे मुसलमान। कंपनी चाहती थी कि इन दोनों को अपने-अपने धर्म और संस्कृति की सेवा से संतुष्ट किया जाए और साथ ही हो सके तो इन्हें कुछ नौकरियां भी दे दी जाएं। नौकरी के लिए आवश्यक था कि इन्हें पहले तैयार किया जाए फिर नौकरी दी जाए। इसी ध्येय को सामने रखते हुए गवर्नर-जनरल वारन हेस्टिंग्ज़ ने 1780 में कलकत्ता मदरसा की स्थापना की जो पूर्णतया मुस्लिम संस्था थी। इसी उद्देश्य से सर जोनथन डंकन ने 1791 में बनारस संस्कृत कालेज की

1. एन०एन० ला, 'प्रोमोशन आव् लर्निंग इन इंडिया बाई अर्ली यूरोपियन सेट्लर्ज' (लंदन, 1915), पृ० 5, 7, 8
डब्ल्यू० एच० शार्प, 'सलेक्शंज फ्रॉम एज्यूकेशनल रिकार्ड्स' (कलकत्ता, 1920), पार्ट I, पृ० 3
सर सी० इल्बर्ट, 'गवर्नमेंट आफ इंडिया' (1914), पृ० 29
जे० डब्ल्यू०के०, 'एडमिनिस्ट्रेशन आफ दि ईस्ट इंडिया कंपनी' (किताब महल, 1966), भाग 5, पृ० 58

स्थापना की ।[2] यह कालेज पूर्णतया हिंदू संस्था थी । ध्यान रहे कि हिंदू और मुसलमानों को अलग-अलग प्रसन्न करने का यह ब्रिटिश प्रयास 1947 तक चलता रहा और हम इसके निकटवर्ती परिणाम को भी न समझ पाए, फिर दूरवर्ती परिणाम को तो समझते ही कैसे ?

कंपनी सरकार की स्पष्ट नीति यह थी कि सबसे पहले भारत में सरकार की जड़ें पक्की की जाएं । उसका आधार हो हिंदू और मुसलमानों की सद्भावना । सरकार की इच्छा थी कि भारतीय परंपरा की हिंदू और मुस्लिम दो धाराओं के आधार पर ही शासन चलाया जाए ताकि जनता में सरकार के प्रति किसी प्रकार का असंतोष उत्पन्न न हो । प्रसिद्ध इतिहासकार विंसेंट स्मिथ ने 'आक्सफोर्ड हिस्ट्री आव् इंडिया' (पृ० 514) में कंपनी सरकार की इस नीति की चर्चा एवं प्रशंसा की है ।

भारतीय भाषाओं एवं साहित्य के प्रति कंपनी सरकार अथवा हेस्टिंग्ज़ जैसे शासकों की कितनी श्रद्धा थी, या कितना सत्ताप्रेम था ? इस पर अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार मतभेद रहेगा, विशेषकर भारतीय इतिहासकारों में । याद रहे कि उसी समय सर विलियम जोन्स के प्रयास से 1785 में एशियाटिक सोसाइटी आव् बंगाल की स्थापना भी हुई थी । किंतु एक बात स्पष्ट थी कि अभी तक अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजी साहित्य की शिक्षा को सत्ता का माध्यम बनाने पर गंभीरता से विचार नहीं किया गया । सबसे पहली समस्या थी सरकार की जड़ों को मजबूत करना । सरकार का संशय और भय बना हुआ ही था । लार्ड क़ार्नवालिस ने 18 अप्रैल, 1789 में अपने एक पत्र में कोर्ट आव् डायरेक्टर्ज़ को लिखा था कि मेरे विचार के अनुसार हम सबको यह मानकर चलना चाहिए कि बहुत बड़ी और सुदृढ़ यूरोपियन सेना के बिना इस बहुमूल्य देश पर हमारा कब्जा बिल्कुल ऐसा है जैसे रेत पर बनी दीवार ।[3] ऐसी परिस्थितियों में शिक्षा अथवा भाषा का कोई ऐसा कार्यक्रम विचारणीय नहीं समझा गया जिससे स्थानीय परंपरा को चोट पहुंचे और वह आगे चलकर राजसत्ता के लिए संकट पैदा कर दे । अतः संस्कृति, सभ्यता, शिक्षा और भाषा इन सब को जैसे का तैसा छोड़ देने का प्रयास ही जारी रखा गया । केवल सत्ता और व्यापार पर जोर दिया गया जो पूर्णरूप से सफल रहा । यहां भी गरम की बजाय नरम नीति ही अपनाई गई । पिट्स इंडिया ऐक्ट (1784) में ही पार्लमेंट की इस घोषणा से स्पष्ट है, "भारत में कोई युद्ध विजय की स्कीम अथवा राजविस्तार इस राष्ट्र (अर्थात ब्रिटेन) की इच्छा, नीति तथा कीर्तिमान के विरुद्ध है ।"[4] इस घोषणा की आवश्यकता क्या थी ?

2. ए० हॉवल, 'एज्यूकेशन इन ब्रिटिश इंडिया प्रायर टू 1854 एंड इन 1870-71' (कलकत्ता, 1872), पृ० 11
डब्ल्यू० एच० शार्प, पृ० 11-12
3. माइकल एडवर्ड्ज़, 'ब्रिटिश इंडिया' 1772-1947' (लंदन, 1967), पृ० 49 एवं सी०एच० फिलिप्स, 'ईस्ट इंडिया कंपनी' 1784-1834' (आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1961), पृ० 35, 159
4. उद्धृत : पी०ई० राबर्ट्स, 'हिस्ट्री आव् ब्रिटिश इंडिया' (आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, तीसरा संस्करण, पुनर्मुद्रित, 1958), पृ० 232

2
कुंजी का संकेत

संशय और विश्वास के मिले-जुले वातावरण में एक नई विचारधारा उभरी । लार्ड मकाले से चालीस वर्ष पूर्व इस नई दिशा के अग्रणी नेता थे चार्ल्स ग्रांट ।

चार्ल्स ग्रांट लार्ड मकाले के पिता जकारी मकाले के मित्र थे और विलियम विल्बरफोर्स के साथी थे । विल्बरफोर्स अपने समय के पिछड़े वर्ग के नेता थे । ये तीनों अर्थात् जकारी मकाले, विलियम विल्बरफोर्स और चार्ल्स ग्रांट इवांजलिस्ट संप्रदाय के ईसाई थे और सेवा-कार्यरत रहते थे । ये तीनों पार्लमेंट के सदस्य थे और इवांजलिस्ट संप्रदाय का प्रतिनिधित्व करते थे । वह संप्रदाय 'क्लेपहम सेक्ट' के नाम से जाना जाता था । ये तीनों मित्र अपने को खुदाई खिदमतगार समझते थे और गरीबों के हितैषी बनकर भ्रातृभाव से जनसेवा करते थे ।

सेवा और भ्रातृभाव के इस वातावरण में चार्ल्स ग्रांट ने भारतीय जनता के विषय में भी सोचा किंतु भारत विजय के परिवेश में उनका भ्रातृभाव स्वस्वामि-भाव में बदल गया । वे समझते थे कि भारत की जनता सदियों से अज्ञान और अंधकार में पड़ी सोती रही है । शासक होने के नाते कंपनी सरकार का कर्तव्य है कि उनको जगाए और उन्हें शिक्षा और नए ज्ञान की दीक्षा दे । इसी आशय से 1792 में उन्होंने एक प्रस्ताव तैयार किया जिसका शीर्षक था : 'आब्जर्वेशंज़ ऑन दि स्टेट आफ सोसाइटी अमंग दि एशियाटिक सबजैक्ट्स आव् ग्रेट ब्रिटेन पर्टिकुलरली विद रिस्पेक्ट टु मॉरल्ज एंड दि मींज़ आव् इंप्रूविंग इट्' ।

ग्रांट के 'आब्जर्वेशंज़' पुस्तक रूप में लंदन में 1797 में छपे थे । किंतु 1792-93 में तो इस प्रस्ताव की प्रतियां बनवाकर ही पार्लमेंट के सदस्यों में बंटवा दी गई थीं ताकि उन्हें भारत की जनता की धार्मिक, सांस्कृतिक और सामाजिक अवस्था का पता चले और उनकी दयनीय दशा को ध्यान में रखकर वे इस जनता के शासक के रूप में अपने खुदाई कर्तव्य का ध्यान कर सकें । ग्रांट आशा करते थे कि 'आब्जर्वेशंज़' के आधार पर वे पार्लमेंट के सदस्यों के मन में भारतीय जनता के प्रति सच्ची ईसाई सद्भावना जगा सकेंगे । 1793 में कंपनी का चार्टर नवीनीकरण के लिए पार्लमेंट के सामने आना था । ग्रांट उस समय भारतीय शिक्षा और भाषा के संबंध में कंपनी के दायित्व को समझते हुए पार्लमेंट में एक प्रस्ताव लाना चाहते थे । उसी प्रस्ताव की भूमिका के रूप में 'आब्जर्वेशंज़' की प्रतियां बंटवाई गई थीं ।

चार्ल्स ग्रांट एक निर्भीक विचारक और कर्मठ समाज-सेवी थे । वे विल्बरफोर्स के साथ कंधे से कंधा मिलाकर दास प्रथा और दासवाद के विरुद्ध भी लड़ते थे । इवांजलिस्ट ईसाइयत

के सेवाकार्य में पूर्ण सहयोग देते थे। इसी अभय और सेवाभाव से प्रेरित होकर अपने 'आब्जर्वेशंज़' में उन्होंने कुछ ठोस सुझाव दिए जो आगे चलकर भारतीय शिक्षा और सरकारी भाषा के संबंध में नींव का पत्थर बन गए, और आज भारत के गले का हार बने हुए हैं। वे सुझाव थे :

1. भारत में शिक्षा का प्रसार कंपनी सरकार की वैधानिक जिम्मेदारी हो।
2. भारत में पाश्चात्य शिक्षा पद्धति लागू की जाए।
3. शिक्षा के विषय हों साइंस, इंजीनियरिंग, कलाकौशल, सामान्य ज्ञान और साहित्य।
4. अंग्रेजी भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाया जाए।
5. अंग्रेजी भाषा को सरकारी भाषा बनाया जाए।
6. अंग्रेजी को सरकार और जनता के बीच संपर्क-भाषा के रूप में प्रयोग किया जाए।
7. अंग्रेजी ऐसी कुंजी है जिससे भारत के लिए विचारों की नई दुनिया के द्वार खुल जाएंगे और अंग्रेजी स्कूलों में नौजवानों की भीड़ लग जाएगी।

संशय, भय और अविश्वास के वातावरण में चार्ल्स ग्रांट एक नया विश्वास, नई आशा और नया संदेश लेकर आए। इस नई शक्ति का स्रोत था उनका धार्मिक मनोबल, एक सशक्त शासक का स्वाभिमान और शासित वर्ग के प्रति अपने दायित्व का एहसास।

इस नई विचारधारा के पक्ष में ग्रांट ने इतिहास का सहारा लिया। उन्होंने कहा कि जब मुगलों ने भारत में अपना राज्य स्थापित किया था तो अपनी भाषा भी साथ ही लागू कर दी थी। कितने वर्षों से भारत में अंग्रेजी राज कायम हो चुका है और हमारी सरकार भारतीयों की उन्हीं जंगली भाषाओं के जंजाल में फंसी हुई है। यह शर्म की बात है। उचित तो यह है कि कंपनी सरकार मुगलों से शिक्षा ले और तुरंत अंग्रेजी भाषा को शिक्षा और सरकारी काम में लागू कर दे। उन्होंने कहा कि भारतीय जनता हमारी प्रजा है। वर्षों से हम उन पर राज कर रहे हैं। यह निर्णय हम करेंगे कि कौन-सा भाषा-माध्यम हम अपनाएंगे। यह अधिकार हमारा है। हम जो चाहें कर सकते हैं।[1]

जनता, सरकार, शिक्षा पद्धति, सरकारी भाषा और शिक्षा-माध्यम के संबंध में यह विचारधारा आज के संदर्भ में केवल ऐतिहासिक संग्रहालय में रखने योग्य है। किंतु साम्राज्यवाद के संदर्भ में चार्ल्स ग्रांट की दलील बिल्कुल सही थी। भाषा, सरकार और समाज का परस्पर संबंध जैसा आज समझा जाता है वैसा ब्रिटिश साम्राज्य के समय नहीं समझा जाता था। ब्रिटेन में भी जनता और सरकारी भाषा का जो संबंध सन् 1363 से समझा जा रहा था यह भाषा-साम्राज्यवाद उसके भी विरुद्ध था। भारत में, यहां तक कि ब्रिटेन में भी, बहुत कम लोग यह जानते है कि वहां ग्यारहवीं शती से लेकर चौदहवीं शती तक करीब चार सौ वर्ष तक राजभाषा अंग्रेजी नहीं थी।

1. उद्धृत : सय्यद नुरुल्ला और जे०पी० नायक, 'हिस्ट्री आफ एज्यूकेशन इन इंडिया' (मैकमिलन, 1951), पृ० 77

इंग्लैंड में फ्रांसीसी हुकूमत के कारण राजभाषा भी फ्रेंच थी। इंग्लैंड की जनता ने तेरहवीं शती के उत्तरार्ध में फ्रेंच के विरुद्ध आवाज उठाई थी। यहां की जनता फ्रेंच भाषा को राजसत्ता और सामंतवाद का षड्यंत्र कहकर पुकारती थी। 1362 में पार्लमेंट ने यह प्रस्ताव पास किया था कि जनवरी, 1363 से ब्रिटेन की राजभाषा अंग्रेजी होगी। स्वयं पार्लमेंटरी स्टेट्यूट के अंदर फ्रेंच भाषा को दो बार 'षड्यंत्र' का नाम दिया गया है।[2] किंतु चार्ल्स ग्रांट जनता के हितों के लिए नहीं बोल रहे थे, वे तो शासक की ओर से बोल रहे थे और साम्राज्यवाद की आचार-संहिता के अनुसार उनका वक्तव्य ठीक था। दलील बड़ी सीधी थी : भारत की जनता हमारी है। हमने उन्हें जीता है। लंबे समय से वे हमारे कब्जे में हैं। हम अपनी इच्छा से उनकी शिक्षा और भाषा के बारे में फैसला करेंगे। और क्यों न करें ?

साम्राज्यवाद या साम्राज्य-प्रेम मात्र अपने आपसे तर्क का काम नहीं कर सकता। इस कारण चार्ल्स ग्रांट को अपने साथियों के लिए तर्क का एक नया ढांचा खड़ा करना पड़ा। उन्होंने अपने समय की धार्मिक, नैतिक, आर्थिक और राजनीतिक सभी भावनाओं को जगाया। उनके सभी भय और शंकाओं का समाधान करते हुए उनकी क्रिश्चियन आत्मा और कर्तव्य-भावना का उद्बोधन किया कि निश्शंक अपना काम करो, अपने लक्ष्य को प्राप्त करो और लक्ष्य-प्राप्ति में यदि कोई बलिदान देना पड़े तो निस्संकोच वह बलिदान भी दो।

ग्रांट महोदय ने अपने साथियों को विश्वास दिलाया कि अंग्रेजी भाषा और शिक्षा का प्रचार उस मंद गति से नहीं होगा जिससे फारसी अथवा अरबी भाषा का हुआ था। अंग्रेजी भाषा साहित्य और विज्ञान का प्रचार एकसाथ बड़ी तेजी से सैकड़ों-हजारों विद्यार्थियों तक पहुंचेगा और उनके मन, बुद्धि व आत्मा को सैकड़ों वर्ष के अंधकार से मुक्त करके एक नई रोशनी और अद्भुत आंतरिक स्वतंत्रता प्रदान करेगा। इस प्रकार अंग्रेजी के माध्यम से भारत की जनता के सामने पश्चिम के क्षितिज से एक नए सूर्य का उदय होगा। इस नए प्रकाश का नाम होगा—बुद्धि-विकास और विज्ञान। इस प्रकाश से अंधविश्वास का तिमिर छिन्न-भिन्न हो जाएगा।

चार्ल्स ग्रांट अंग्रेजी, साइंस और ईसाइयत को एकसमान मानते थे। वे यह भी मानते थे कि यहां बुद्धि और विज्ञान का संदेश नई चेतना और सच्चे धर्म का उद्बोधन करेगा। उनकी मान्यता थी कि हिंदू धर्म अंधविश्वास का एक बवंडर मात्र है। उन्होंने कहा कि जहां-जहां यह नया ज्ञान पहुंचेगा—मूर्तिपूजा, झूठे देवताओं की भीड़, लकड़ी-पत्थर के बने देव-दानव, झूठे सिद्धांत और भ्रष्ट कर्मकांड, संदिग्ध आशाएं और खोखले भय, बेहूदा संस्कार और घिनौना अंधविश्वास, झूठे किस्से-कहानियां और ठगविद्या, ये सब आडंबर ढह जाएंगे। केवल एक अनंत और पूर्ण भगवान में विश्वास और उसी की बुद्धिसम्मत सेवा की स्थापना होगी। उसी भगवान की भक्ति, मानव मात्र के प्रति प्यार और सद्भावना ईसा के सच्चे धर्म के अनिवार्य सिद्धांत बनेंगे।[3]

2. ए०सी०बॉ, 'हिस्ट्री आफ इंग्लिश लैंग्वेज' (इंडियन संस्करण, दिल्ली, 1978), पृ० 177-78
3. देखिए : सय्यद महमूद, 'ए हिस्ट्री आफ इंग्लिश एज्यूकेशन इन इंडिया' (अलीगढ़, 1895), पृ० 13-14

यह कठोर भाषा है किंतु उस समय के धर्म-प्रचार की शैली यही थी । यह स्मरणीय है कि प्रारंभ में अंग्रेजी भाषा और शिक्षा के प्रचार का ध्येय था भारत की धार्मिक और सांस्कृतिक विजय । प्रत्येक भाषा उसमें व्याप्त संस्कृति का शाब्दिक रूपांतर होती है । चार्ल्स ग्रांट समझते थे कि अंग्रेजी भाषा की अंतरात्मा के दो पहलू हैं : एक साइंस और दूसरा ईसाई धर्म । ब्रिटेन ने नीति और साइंस तथा टेक्नोलजी के आधार पर जो उन्नति और समृद्धि प्राप्त की थी उसे वे ईसाई धर्म का वरदान मानते थे । आज भी पश्चिम की दुनिया में बहुत लोग हैं जो हिंदू धर्म को भाग्यवादी समझते हैं, और ईसाई मत को कर्म और जीवन-विजय का संदेश मानते हैं ।

ग्रांट समझते थे कि अंग्रेजी भाषा और शिक्षा के माध्यम से भारत में बौद्धिक, नैतिक, सामाजिक और विशेषकर आर्थिक परिवर्तन आएगा जिसके फलस्वरूप भारतीय लोग एक नई सभ्यता, नई संस्कृति और नए धर्म को अपनाएंगे । मानसिक स्वतंत्रता और आर्थिक उपलब्धियों के फलस्वरूप उनको अपने जीवन में सुख-शांति और समृद्धि की प्राप्ति होगी । इन्हीं के कारण उनको सामाजिक प्रतिष्ठा और सुदृढ़ता मिलेगी, ऐसी आशा वे करते थे । किंतु दूसरे लोग समझते थे कि भारत के धर्म और संस्कृति के क्षेत्र में कोई हस्तक्षेप करना खतरे से खाली नहीं होगा, क्योंकि वहां की जनता इसको सहन नहीं करेगी । इसीलिए वे सरकारी तौर पर भाषा और शिक्षा के क्षेत्र में कोई नया कदम नहीं उठाना चाहते थे । भारतीय परंपरा के विरुद्ध वे उसे क्रांतिसूचक मानते थे जो आग से खेलने से कम नहीं था । किंतु ग्रांट इन विचारों से सहमत नहीं थे । उनका कहना था कि नई शिक्षा उनको अंग्रेजी के निकट लाकर ब्रिटेन के साथ एक नए सांस्कृतिक सूत्र में बांध देगी । दोनों पक्षों में भेद केवल विचारों और भावी संभावनाओं का था जो उस समय वास्तविकता के आधार पर नहीं आंका जा सकता था ।

सेठ के मंदिर में भी व्यापार की गंध आती है, ऐसा अक्सर माना जाता है । चार्ल्स ग्रांट शिक्षा, भाषा, धर्म और संस्कृति के प्रचार में व्यापार को नहीं भूले । धर्म और शिक्षा से कंपनी को जो आर्थिक लाभ होना था उन्होंने उसकी चर्चा भी की और कहा कि इस सारे आंदोलन में भगवान की कृपा से इतना लाभ होगा कि वारे-न्यारे हो जाएंगे । भगवान की यही इच्छा थी कि विश्व-विधाता के रूप में वह भारत को हमारे हाथ में सौंप दे । यह देश हमें केवल इसीलिए नहीं मिला है कि हम प्रतिवर्ष वहां से आर्थिक लाभ उठाएं, बल्कि इसलिए भी मिला है कि वहां की जनता को सत्य, विज्ञान, सामाजिक व्यवस्था, सुख-समृद्धि और कर्मण्यता का संदेश भी दें । ऐसा करने से हम न केवल पुण्य के भागी बनेंगे बल्कि उस मौलिक ध्येय की भी सिद्धि करेंगे जिसे लेकर हम प्रारंभ में भारत पहुंचे थे और जो ध्येय आज भी हमारे लिए अमूल्य है, और वह ध्येय है अपने व्यापार का विस्तार ।[4]

हमने पहले एक प्रश्न उठाया था : भाषा और सोना—इन दोनों का क्या संबंध है ? इस प्रश्न का उत्तर यहां स्पष्ट है । भाषा, शिक्षा और सभ्यता का निकटतम संबंध है । सभ्यता और साधन का संबंध है । ग्रांट ने आशा की थी और उनका दृढ़ विश्वास भी था कि अंग्रेजी भाषा, साहित्य और शिक्षा से सभ्यता का परिवर्तन होगा । नई सभ्यता के लिए नए साधन जुटाने पड़ेंगे । नए साधन अर्थात् नया सामान इंग्लैंड से आएगा । नए सामान का आयात होगा तो भारत का रुपया बाहर जाएगा । सोने की ईंटें भारत से निर्यात होकर इंग्लैंड में उतरेंगी । चार्ल्स ग्रांट ने ये सारी संभावनाएं अपने साथियों के सामने स्पष्ट रूप से रख दी थीं । किंतु भय और आशंकाओं का समाधान फिर भी नहीं हुआ । भय यह था कि अंग्रेजी भाषा और साहित्य के माध्यम से भारतीयों को पाश्चात्य विचारधारा, ब्रिटिश इतिहास, उनकी सामाजिक व राजनीतिक व्यवस्था, स्वतंत्रता का विकास, पार्लमेंट और तत्संबंधी संस्थाओं एवं प्रतिष्ठानों का ज्ञान होगा । यदि ऐसा हो गया और आगे चलकर भारतीयों ने स्वयं स्वतंत्रता की मांग कर ली, तो ?

4. देखिए : ट्रेवलिंग, 'ए हिस्ट्री आफ रिलिजंस इन ईस्ट एंड वैस्ट' (मैकमिलन, 1968), पृ० 351

ग्रांट ने इन प्रश्नों और आशंकाओं का जवाब भी सोचा, और दिया भी । उन्होंने कहा कि नई भाषा और शिक्षा के माध्यम से वहां वैचारिक और सांस्कृतिक क्रांति आएगी तो अवश्य किंतु रहेगी मूल भारतीयता की परिधि के अंदर ही अर्थात् वह क्रांति खतरे की रेखा को कभी भी स्पर्श नहीं कर पाएगी । भारतीयों की आदतें, सोचने का ढंग, समाज-व्यवस्था और धार्मिक परंपरा इस बात की ओर संकेत करती है कि वे कभी विद्रोह नहीं करेंगे । शाकाहारी होने और गरम वातावरण में रहने के कारण वे इतने नरम पड़ गए हैं कि किसी को भी चुनौती नहीं दे सकते । इस शांति-संपन्न वातावरण में रहते-रहते वे इतने कमजोर पड़ गए हैं कि स्वतंत्रता के बारे में सोच भी नहीं सकते । उन्होंने कहा कि हमारे सभी भय और आशंकाएं निराधार हैं । भारत सदा के लिए ब्रिटेन का राजनीतिक अंग बना रहेगा ।

अंत में ग्रांट ने वास्तव में साहस की बात की । उन्होंने अपने साथियों को डंके की चोट यह कहा कि कांटे की बात एक है : हम भारत की जनता को नई शिक्षा, नया ज्ञान, नई रोशनी, नया सुख, नई समृद्धि की ओर ले जाएं या नहीं ? क्या उनको अपने साथ रखने के लिए अज्ञान और अंधकार में ही पड़े रहने दें ? क्या ऐसा केवल इसी कारण से करें कि कहीं वे हमारे राज को चुनौती न दे दें ? ऐसा करना हमारे लिए बड़ा ही अनैतिक और अशोभनीय होगा ।[5] यह मानसिक कायरता होगी । अंत में चार्ल्स ग्रांट ने ऊंचे नैतिक एवं मिशनरी साहस का परिचय दिया । उन्होंने कहा कि यदि भारतीय जनता अंग्रेजी शिक्षा और विचारधारा को अपना कर स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए आंदोलन करे और हमारे राज को चुनौती दे भी दे, तो भी हमें साहस और संतोष के साथ उस चुनौती का सामना करना होगा ।

ग्रांट, विल्बरफोर्स, जकारी मकाले और उनके साथी भारत में अंग्रेजी भाषा और शिक्षा पद्धति लागू करने के पक्ष में पार्लमेंटरी बहुमत तैयार करने के लिए सतत प्रयत्न करते रहे ।

1793 में कंपनी का चार्टर अगले बीस वर्ष के लिए पुनर्नवीकरण के लिए पार्लमेंट के सामने आ रहा था । सदन के लिए उन्होंने एक प्रस्ताव तैयार किया जिसे दो भागों में बांटा : पहला परिचयात्मक और दूसरा क्रियात्मक । पहले अनुच्छेद में उन्होंने चार्ल्स ग्रांट की सारी विचार-माला का संक्षेप से आकलन कर दिया और दूसरे में कार्यनिर्देश । प्रस्ताव यह था :

5. सय्यद महमूद, 'हिस्ट्री आफ इंग्लिश एज्युकेशन इन इंडिया', पृ० 216-18

यह कठोर भाषा है किंतु उस समय के धर्म-प्रचार की शैली यही थी । यह स्मरणीय है कि प्रारंभ में अंग्रेजी भाषा और शिक्षा के प्रचार का ध्येय था भारत की धार्मिक और सांस्कृतिक विजय । प्रत्येक भाषा उसमें व्याप्त संस्कृति का शाब्दिक रूपांतर होती है । चार्ल्स ग्रांट समझते थे कि अंग्रेजी भाषा की अंतरात्मा के दो पहलू हैं : एक साइंस और दूसरा ईसाई धर्म । ब्रिटेन ने नीति और साइंस तथा टेक्नोलजी के आधार पर जो उन्नति और समृद्धि प्राप्त की थी उसे वे ईसाई धर्म का वरदान मानते थे । आज भी पश्चिम की दुनिया में बहुत लोग हैं जो हिंदू धर्म को भाग्यवादी समझते हैं, और ईसाई मत को कर्म और जीवन-विजय का संदेश मानते हैं ।

ग्रांट समझते थे कि अंग्रेजी भाषा और शिक्षा के माध्यम से भारत में बौद्धिक, नैतिक, सामाजिक और विशेषकर आर्थिक परिवर्तन आएगा जिसके फलस्वरूप भारतीय लोग एक नई सभ्यता, नई संस्कृति और नए धर्म को अपनाएंगे । मानसिक स्वतंत्रता और आर्थिक उपलब्धियों के फलस्वरूप उनको अपने जीवन में सुख-शांति और समृद्धि की प्राप्ति होगी । इन्हीं के कारण उनको सामाजिक प्रतिष्ठा और सुदृढ़ता मिलेगी, ऐसी आशा वे करते थे । किंतु दूसरे लोग समझते थे कि भारत के धर्म और संस्कृति के क्षेत्र में कोई हस्तक्षेप करना खतरे से खाली नहीं होगा, क्योंकि वहां की जनता इसको सहन नहीं करेगी । इसीलिए वे सरकारी तौर पर भाषा और शिक्षा के क्षेत्र में कोई नया कदम नहीं उठाना चाहते थे । भारतीय परंपरा के विरुद्ध वे उसे क्रांतिसूचक मानते थे जो आग से खेलने से कम नहीं था । किंतु ग्रांट इन विचारों से सहमत नहीं थे । उनका कहना था कि नई शिक्षा उनको अंग्रेजी के निकट लाकर ब्रिटेन के साथ एक नए सांस्कृतिक सूत्र में बांध देगी । दोनों पक्षों में भेद केवल विचारों और भावी संभावनाओं का था जो उस समय वास्तविकता के आधार पर नहीं आंका जा सकता था ।

सेठ के मंदिर में भी व्यापार की गंध आती है, ऐसा अक्सर माना जाता है । चार्ल्स ग्रांट शिक्षा, भाषा, धर्म और संस्कृति के प्रचार में व्यापार को नहीं भूले । धर्म और शिक्षा से कंपनी को जो आर्थिक लाभ होना था उन्होंने उसकी चर्चा भी की और कहा कि इस सारे आंदोलन में भगवान की कृपा से इतना लाभ होगा कि वारे-न्यारे हो जाएंगे । भगवान की यही इच्छा थी कि विश्व-विधाता के रूप में वह भारत को हमारे हाथ में सौंप दे । यह देश हमें केवल इसीलिए नहीं मिला है कि हम प्रतिवर्ष वहां से आर्थिक लाभ उठाएं, बल्कि इसलिए भी मिला है कि वहां की जनता को सत्य, विज्ञान, सामाजिक व्यवस्था, सुख-समृद्धि और कर्मण्यता का संदेश भी दें । ऐसा करने से हम न केवल पुण्य के भागी बनेंगे बल्कि उस मौलिक ध्येय की भी सिद्धि करेंगे जिसे लेकर हम प्रारंभ में भारत पहुंचे थे और जो ध्येय आज भी हमारे लिए अमूल्य है, और वह ध्येय है अपने व्यापार का विस्तार ।[4]

हमने पहले एक प्रश्न उठाया था : भाषा और सोना—इन दोनों का क्या संबंध है ? इस प्रश्न का उत्तर यहां स्पष्ट है । भाषा, शिक्षा और सभ्यता का निकटतम संबंध है । सभ्यता और साधन का संबंध है । ग्रांट ने आशा की थी और उनका दृढ़ विश्वास भी था कि अंग्रेजी भाषा,

4. देखिए : ट्रेवलिंग, 'ए हिस्ट्री आफ रिलिजंस इन ईस्ट एंड वैस्ट' (मैकमिलन, 1968), पृ० 351

साहित्य और शिक्षा से सभ्यता का परिवर्तन होगा । नई सभ्यता के लिए नए साधन जुटाने पड़ेंगे । नए साधन अर्थात् नया सामान इंग्लैंड से आएगा । नए सामान का आयात होगा तो भारत का रुपया बाहर जाएगा । सोने की ईंटें भारत से निर्यात होकर इंग्लैंड में उतरेंगी । चार्ल्स ग्रांट ने ये सारी संभावनाएं अपने साथियों के सामने स्पष्ट रूप से रख दी थीं । किंतु भय और आशंकाओं का समाधान फिर भी नहीं हुआ । भय यह था कि अंग्रेजी भाषा और साहित्य के माध्यम से भारतीयों को पाश्चात्य विचारधारा, ब्रिटिश इतिहास, उनकी सामाजिक व राजनीतिक व्यवस्था, स्वतंत्रता का विकास, पार्लमेंट और तत्संबंधी संस्थाओं एवं प्रतिष्ठानों का ज्ञान होगा । यदि ऐसा हो गया और आगे चलकर भारतीयों ने स्वयं स्वतंत्रता की मांग कर ली, तो ?

ग्रांट ने इन प्रश्नों और आशंकाओं का जवाब भी सोचा, और दिया भी । उन्होंने कहा कि नई भाषा और शिक्षा के माध्यम से वहां वैचारिक और सांस्कृतिक क्रांति आएगी तो अवश्य किंतु रहेगी मूल भारतीयता की परिधि के अंदर ही अर्थात् वह क्रांति खतरे की रेखा को कभी भी स्पर्श नहीं कर पाएगी । भारतीयों की आदतें, सोचने का ढंग, समाज-व्यवस्था और धार्मिक परंपरा इस बात की ओर संकेत करती है कि वे कभी विद्रोह नहीं करेंगे । शाकाहारी होने और गरम वातावरण में रहने के कारण वे इतने नरम पड़ गए हैं कि किसी को भी चुनौती नहीं दे सकते । इस शांति-संपन्न वातावरण में रहते-रहते वे इतने कमजोर पड़ गए हैं कि स्वतंत्रता के बारे में सोच भी नहीं सकते । उन्होंने कहा कि हमारे सभी भय और आशंकाएं निराधार हैं । भारत सदा के लिए ब्रिटेन का राजनीतिक अंग बना रहेगा ।

अंत में ग्रांट ने वास्तव में साहस की बात की । उन्होंने अपने साथियों को डंके की चोट यह कहा कि कांटे की बात एक है : हम भारत की जनता को नई शिक्षा, नया ज्ञान, नई रोशनी, नया सुख, नई समृद्धि की ओर ले जाएं या नहीं ? क्या उनको अपने साथ रखने के लिए अज्ञान और अंधकार में ही पड़े रहने दें ? क्या ऐसा केवल इसी कारण से करें कि कहीं वे हमारे राज को चुनौती न दे दें ? ऐसा करना हमारे लिए बड़ा ही अनैतिक और अशोभनीय होगा ।[5] यह मानसिक कायरता होगी । अंत में चार्ल्स ग्रांट ने ऊंचे नैतिक एवं मिशनरी साहस का परिचय दिया । उन्होंने कहा कि यदि भारतीय जनता अंग्रेजी शिक्षा और विचारधारा को अपना कर स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए आंदोलन करे और हमारे राज को चुनौती दे भी दे, तो भी हमें साहस और संतोष के साथ उस चुनौती का सामना करना होगा ।

ग्रांट, विल्बरफोर्स, जकारी मकाले और उनके साथी भारत में अंग्रेजी भाषा और शिक्षा पद्धति लागू करने के पक्ष में पार्लमेंटरी बहुमत तैयार करने के लिए सतत प्रयत्न करते रहे ।

1793 में कंपनी का चार्टर अगले बीस वर्ष के लिए पुनर्नवीकरण के लिए पार्लमेंट के सामने आ रहा था । सदन के लिए उन्होंने एक प्रस्ताव तैयार किया जिसे दो भागों में बांटा : पहला परिचयात्मक और दूसरा क्रियात्मक । पहले अनुच्छेद में उन्होंने चार्ल्स ग्रांट की सारी विचार-माला का संक्षेप से आकलन कर दिया और दूसरे में कार्यनिर्देश । प्रस्ताव यह था :

5. सय्यद महमूद, 'हिस्ट्री आफ इंग्लिश एज्यूकेशन इन इंडिया', पृ० 216-18

1. ब्रिटिश विधान परिषद् का विशेष और अनिवार्य कर्तव्य है कि हर उचित और समझदारी के तरीके से ब्रिटिश भारत के निवासियों के हितों और सुख-शांति की वृद्धि की जाए। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए ऐसे कदम उठाए जाएं जिनसे वे उपयोगी ज्ञान-विज्ञान एवं धार्मिक और नैतिक उन्नति की दिशा में आगे बढ़ सकें।
2. कंपनी के कोर्ट आव् डायरेक्टर्ज़ को साधिकार यह आदेश दिया जाता है कि ये उक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए समय-समय पर पर्याप्त संख्या में उचित और दक्षता-प्राप्त लोगों का चयन करें और उनको स्कूल मास्टर, मिशनरी अथवा ऐसे ही किसी दूसरे रूप में सेवा करने के लिए बाहर (भारत) भेजें।[6]

पहले अनुच्छेद में राजसत्ता, धर्माग्रह, भाषाग्रह अथवा किसी भी दुर्भावना या दुराग्रह की ओर संकेत नहीं है, केवल सेवार्थ कार्योपलब्धियों की ओर प्रेरणार्थक संकेत है। बौद्धिक, धार्मिक और नैतिक उन्नति से संबद्ध किसी विशेष धर्म या आचारसंहिता की ओर भी संकेत नहीं है। किंतु दूसरे अनुच्छेद के अंदर 'आब्जर्वेशंज़' की पृष्ठभूमि के संदर्भ में स्कूल मास्टरों और मिशनरियों के चयन और नियुक्ति के निर्देश के कारण शिक्षा और धर्म-परिवर्तन की ओर पक्का संकेत है। कंपनी एवं ब्रिटिश सरकार किसी प्रकार के शैक्षणिक अथवा धार्मिक परिवर्तन के कार्य के लिए सहमत होने को तैयार नहीं थी।

पार्लमेंट में जब यह बिल पेश किया गया तो पहला अनुच्छेद तो पारित कर दिया गया किंतु दूसरा अनुच्छेद अस्वीकृत कर दिया गया।[7]

ब्रिटिश सरकार कोई ऐसा नया कदम नहीं उठाना चाहती थी जिसकी प्रतिक्रिया संदिग्ध अथवा भयावह हो। वे पहले ही अमरीका में जोर-आजमाई कर चुके थे। अमरीका (यू०एस०ए०) के विरुद्ध वे 1773 में युद्ध हारकर अपनी राजसत्ता खो चुके थे। अमरीकी युद्ध का प्रारंभ ही इस प्रकार हुआ था कि ब्रिटिश पार्लमेंट ने जो कानून अमरीकन राज्यों के संबंध में बनाए थे वे उन राज्यों को मान्य नहीं थे। उन्हीं कानूनों के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया हुई उसी ने आगे चलकर क्रांति का रूप धारण कर लिया। उसी क्रांति-युद्ध को आज अमरीकन स्वतंत्रता युद्ध के नाम से पुकारा जाता है। इसी युद्ध के कटु अनुभव के आधार पर वे भारत में कोई नया प्रयोग करने के लिए तैयार नहीं थे। रैंडल जैक्सन, जो पार्लमेंट के वरिष्ठ सदस्यों में से थे, ने बहस के दौरान कहा था कि हम अपनी शिक्षा और विचारधारा के फलस्वरूप अमरीकन राज्यों से हाथ धो बैठे हैं। हमें भारत में वैसा नहीं करना चाहिए।[8]

कंपनी और सरकार दोनों यह जानते थे कि भारत में अंग्रेजी सत्ता-प्रतिष्ठापन का जितना

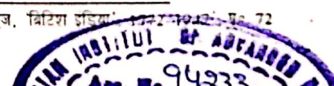
6. जे०ए० रिक्टर, 'ए हिस्ट्री आफ मिशंज इन इंडिया', अनूदित एस०डब्ल्यू० मौर (लंदन, एडिनबरा, 1908), पृ० 149-50
7. 'जर्नल आव् दि हाउस आव् कामंज', 58, पृ० 776, 792, 803 एवं सर फिलिप हार्टोग, 'सम आस्पेक्ट्स आफ इंडियन एज्यूकेशन' (लंदन, 1935-6), पृ० 5
8. देखिए एस० एस० मुखर्जी, 'हिस्ट्री आफ एज्यूकेशन इन इंडिया' (बड़ौदा, 1951), पृ० 32

कार्य संपन्न हो गया था उसी को बराबर बनाए रखना भी बिना भारी सेना के संभव नहीं था। ऐसा कार्नवालिस पहले ही लिख चुके थे। इससे आगे बढ़कर भाषा, शिक्षा, धर्म या संस्कृति के क्षेत्र में हस्तक्षेप करना वहां की जनता को भड़का सकता है। इसलिए उनको भड़काने की बजाय उनको किसी प्रकार संतुष्ट रखना ही हितकर होगा। स्मरण रहे कि बंगाल की दीवानी लेने से पहले कंपनी भारत से जो माल खरीदती थी उसके बदले वह भारत को प्रतिवर्ष चार से पांच लाख पाउंड तक का सोना भेजती थी। दीवानी मिलने के बाद 30 वर्ष में व्यापार के आयात माल की कीमत और शासन व्यवस्था का खर्चा निकालकर कंपनी ने पांच करोड़ पाउंड का लाभ कमाया। सोने की ईंटें भारत से बाहर जाकर इंग्लैंड में उतरने लगी थीं। लक्ष्मी और सरस्वती की प्रतिस्पर्धा कोई एकदेशीय थोड़ा ही है। ब्रिटिश संसद ने व्यापारी और राजनीतिक सूझ-बूझ के कारण राजसरस्वती का भी आह्वान नहीं किया।

कई अंग्रेज शासक और अफसर वास्तव में ऐसा मानते भी थे कि हिंदू और मुसलमानों की शिक्षा पद्धति, कानूनी, सामाजिक और शासकीय व्यवस्था उनकी अपनी परंपरा के अनुसार ठीक है और उसे ही चलाते रहना उनके लिए हितकर होगा। लार्ड हेस्टिंग्ज़ ऐसा ही मानते थे। उन्होंने इसी विषय पर लार्ड मैन्सफील्ड को पत्र भी लिखा था।[9] कई अंग्रेज भारतीय वेश-भूषा पहनते और हुक्का भी पीते थे। कई तो कालीपूजा में भी सम्मिलित हो लिया करते थे। पं० सुंदरलाल ने अपनी पुस्तक 'भारत में अंग्रेजी राज' में इस विषय की काफी चर्चा की है और भारतीय वेशभूषा में अंग्रेज अफसरों की तस्वीरें भी छापी हैं। कई अंग्रेज साहित्य-प्रेमियों ने संस्कृत को भी अपनाया। सर विलियम जोंज़ ने संस्कृत पुस्तकों का अनुवाद अंग्रेजी में किया और 1785 में एशियाटिक सोसाइटी आव् बंगाल की स्थापना की। वे 'एशियाटिक रिसर्चेज़' नाम की एक पत्रिका भी निकालते थे। हिंदू और मुसलमान कानून और परंपरा का आदर करते हुए ही उन्होंने कलकत्ता मदरसा की स्थापना की थी और जोनथन डंकन ने बनारस संस्कृत कालेज खोला था। यह सारा काम भारत में अंग्रेजी राज की जड़ें मजबूत करने के लिए तो किया ही गया था, किंतु साथ-साथ इस बात से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि उस समय भारत और पश्चिम के सांस्कृतिक संबंधों का भी एक नया अध्याय प्रारंभ हो रहा था। भारतीय विद्वानों में इस विषय पर मतभेद रहा है कि यह सारा काम श्रद्धान्वित भावना से किया गया था, अथवा भारत की सांस्कृतिक विजय के प्रारूप के तौर पर किया गया था।

यद्यपि ग्रांट-विल्बरफोर्स का प्रस्ताव क्रियात्मक रूप में असफल रहा फिर भी पहली धारा के स्वीकार कर लिए जाने से शिक्षा-भाषा-संस्कृति विषय पर दिशा-निर्देश अवश्य हो गया। यह भी स्पष्ट हो गया कि यदि इस विषय पर पुनर्विचार किया गया तो शिक्षा के विषय होंगे—साइंस, कला-कौशल इत्यादि जो कि सामाजिक जीवन को उन्नत और सुखद बनाने में उपयोगी सिद्ध हो सकेंगे। साथ ही यह भी याद रखना चाहिए कि इन उपयोगी विषयों के साथ धार्मिक और नैतिक उन्नति जुड़ी हुई थी और इस उन्नति विशेष के साथ ईसाइयत भी जुड़ गई थी। चार्ल्स ग्रांट

9. माइकल एडवर्ड्ज, ब्रिटिश इंडिया [illegible] पृ० 72



आंतरिक रूप से ईसाई मिशनरी थे और व्यापारी तो थे ही। प्रस्ताव चाहे आंशिक रूप में गिर गया फिर भी यह स्पष्ट हो गया कि इस विषय पर विचार-विनिमय जारी रहेगा। यदि दूसरी धारा के गिर जाने का कारण था कंपनी सरकार की अनिश्चित अवस्था, तो आगे चलकर उचित समय आने पर सोचा जाएगा और भाषा एवं शिक्षा के माध्यम से धर्म-परिवर्तन या कम से कम संस्कृति-सभ्यता-परिवर्तन पर अवश्य ध्यान दिया जाएगा। पहला कदम उठाकर उसे भूमि पर टिकाना ही तो आवश्यक नहीं है, उसे वापस लेने की अपेक्षा रोका भी तो जा सकता है। इस विषय का अध्ययन हम आगे चलकर मकाले-ग्रांट संबंध, मकाले की प्रेरणा और उनके शिक्षा-विषयक प्रस्ताव की चर्चा के साथ करेंगे।

ग्रांट ने कई महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाए जिनकी चर्चा करना अत्यंत आवश्यक है, क्योंकि वे क़रीब दो सौ वर्ष पश्चात् आज भी प्रासंगिक और महत्त्वपूर्ण हैं और अभी तक उनका समाधान नहीं हो पाया है। हमारी स्मरण शक्ति इतनी कमजोर है कि स्वतंत्रता-प्राप्ति के उपरांत एक के बाद दूसरे शिक्षा तथा भाषा आयोग वे ही पुराने प्रश्न उठाते रहे हैं और हम उन सब को नए प्रश्न मानते रहे हैं। और यदि हमने उनको नए प्रश्न नहीं भी माना तो एक और प्रश्न यह खड़ा होता है कि आज तक हम उनसे ऊब क्यों नहीं गए या उनका हल क्यों नहीं ढूंढ़ पाए या हल न मिल पाने पर उनके कारणों का विवेचन क्यों नहीं किया ? क्यों नहीं हमने यह सोचा कि हल न निकलने देने के लिए जिम्मेदार कौन है ? कम से कम हमने इतनी शक्ति जुटा ली होती कि हम यह कह देते कि क्योंकि सैकड़ों वर्षों से उनका हल नहीं मिल पा रहा है तो उन प्रश्नों को उठाना व्यर्थ है और हमें अपनी परिस्थितियों के अंदर रहते-रहते स्वयं उन्हीं सप्रश्न परिस्थितियों से ही जूझना चाहिए ? चार्ल्स ग्रांट के ये प्रश्न देशीय भाषाओं से संबद्ध हैं।

ग्रांट देशीय भाषाओं को जंगली लोगों की भाषा मानते थे, लेकिन साथ ही वे यह भी कहते थे कि :

1. अंग्रेजी भाषा की सहायता से हमें देशी भाषाओं का विकास करके उनको समृद्ध बनाना पड़ेगा।
2. देशीय भाषाओं में पाठ्य पुस्तकें तैयार करनी पड़ेंगी। इसीलिए अंग्रेजी से देशीय भाषाओं में अनुवाद भी करना पड़ेगा।
3. नए शिक्षा कार्यक्रम के लिए अध्यापक तैयार करने पड़ेंगे जो द्विभाषी होंगे।
4. यह सब इसलिए करना होगा क्योंकि अंततोगत्वा भारतीयों की शिक्षा के लिए भारतीय भाषाओं को ही शिक्षा-माध्यम के रूप में अपनाना होगा।

इस काम के लिए 25 वर्ष का समय काफी समझा गया।

ये ही बातें लार्ड मकाले ने भी दुहराई 1835 में। 1854, 1881, 1902, 1915, 1917, 1919, 1927, 1948-49, 1956, 1964, 1986 में दुहराई गई और आज भी दुहराई जा रही है, मानो हमारे शिक्षा-शास्त्री, शिक्षा आयोग और शिक्षाधिकारी 200 वर्ष से निष्काम भाव से माला फेर रहे हैं।

3

बीस वर्ष बाद

ग्रांट हारे नहीं। आशा-निराशा के द्वंद्व में उन्हें केवल अपना लक्ष्य दिखाई देता रहा। जब भी कोई उनके मिशन अथवा मिशनरियों के विरुद्ध बात करता तो वे एक गंभीर झुंझलाहट के साथ पूछते थे : क्या तुम क्रास को कुचल देना चाहते हो ?[1] उनकी इस गंभीरता के पीछे था दृढ़ विश्वास, निरंतर परिश्रम और योजनाबद्ध कार्यक्रम। इसी कारण बीस साल बाद जब कंपनी का चार्टर फिर से संसद के सामने नवीनीकरण के लिए आया तो 43वें सेक्शन के अंतर्गत एक धारा पास की गई :

गवर्नर जनरल-इन-कौंसिल को वैधानिक रूप से अधिकार दिया जाता है कि वे यह आदेश दें कि कंपनी के बजट शेष में से कम से कम एक लाख रुपया अलग रखा जाए जो साहित्य के पुनरुद्धार और उन्नति के लिए, भारतीय विद्वानों के प्रोत्साहन के लिए तथा अंग्रेजी राज की भारतीय जनता में विज्ञान के प्रचार और प्रसार के लिए खर्च किया जाए।[2]

ऐसा माना गया था कि इस रुपए को खर्च करने के लिए कंपनी अपनी ही कोई व्यवस्था बनाएगी। चार्ल्स ग्रांट की सफलता का यह दूसरा चरण था।

कंपनी प्रारंभ से ही सिद्धांत रूप में शिक्षा या मिशनरी काम के विरुद्ध नहीं थी। कंपनी की स्थापना के कुछ वर्ष पश्चात् 1614 में ही कंपनी ने कुछ भारतीयों को नियुक्त किया था ताकि वे भारतीय जनता में शिक्षा और ईसाई धर्म का प्रचार करें।[3] 1659 में निदेशकों ने खुले शब्दों में यह कहा भी था कि कंपनी की प्रबल इच्छा है कि भारत में हर संभव तरीके से क्रिश्चियन धर्म का प्रचार किया जाए।[4] 1698 के चार्टर एक्ट के अनुसार सरकार की ओर से कंपनी को यह आदेश दिया गया था कि वह अपनी हर फैक्टरी में और 500 टन या अधिक बड़े जहाज में एक या एक से अधिक पादरी की नियुक्ति करे ताकि वह कंपनी के कर्मचारियों को ईसाई धर्म के प्रोटेस्टेंट मत की शिक्षा दे सके।[5] इस प्रकार कंपनी ईसाई धर्म का प्रचार करने

1. सी०एन० फिलिप्स, 'द ईस्ट इंडिया कंपनी, 1784-1834' (आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1961), पृ० 162
2. डब्ल्यू०एच० शार्प, 'सलेक्शंज फ्रॉम एज्यूकेशनल रिकार्ड्स', पार्ट I, पृ० 22
3. एन०एन० लॉ, प्रोमोशन आफ लर्निंग इन इंडिया बाई अर्ली यूरोपीयन सेट्लर्ज', पृ० 7-8
4. शार्प, 'सलेक्शंज फ्रॉम एज्यूकेशनल रिकार्ड्स', पृ० 1, 3
5. सी० इलबर्ट, 'गवर्नमेंट आफ इंडिया', पृ० 29

के लिए काम तो करती थी किंतु वह सारा काम एक प्राइवेट व्यापारी संस्था के रूप में धर्मार्थ करती थी, न कि सरकारी संस्था के रूप में । वह काम भी पुण्यार्जन रूप में किया जाता था, न कि शिक्षा-प्रसार के रूप में । कंपनी द्वारा नियुक्त पादरियों के प्रयास से लोग ईसाई भी बनते थे किंतु अभी तक उस प्रचार कार्य के कोई राजनीतिक परिणाम नहीं निकले थे । यह काम इसी प्रकार छोटे स्तर पर सत्तरहवीं-अठारहवीं शती में भी चलता रहा था ।

इसी समय दूसरी ईसाई मिशनरी संस्थाएं भी केवल धार्मिक स्तर पर अपना प्रचार-प्रसार कार्य कर रही थीं । वे धर्म-प्रचार के साथ-साथ छोटे-छोटे स्कूल भी चलाती थीं । इन संस्थाओं में विशेषकर गरीब परिवारों से बच्चे आते थे और छोटे-छोटे लालच अथवा सहायता मिलने की आशा में ही क्रिश्चियन बन जाते थे । ऐसे गरीब लोग जो क्रिश्चियन बनते थे उनको दूसरे लोग कई बार 'चावलार्थी ईसाई' (राइस क्रिश्चियन) के नाम से पुकारते थे क्योंकि वे पेट भरने के लालच में धर्म-परिवर्तन करते थे । जो संस्थाएं यह मिशन-कार्य करती थीं कंपनी उनकी भी सहायता करती थी । सेंट मेरी स्कूल, मद्रास (1715), चैरिटी स्कूल, मुंबई (1719), चैरिटी स्कूल, कलकत्ता (1720), फीमेल औरफन असाइलम और मेल असाइलम, मद्रास (1787), इंग्लिश चैरिटी स्कूल, तंजौर (1772), इंग्लिश चैरिटी स्कूल, रामनद तथा शिवगंगा (1785) ऐसे ही स्कूल थे । अठारहवीं शती में कंपनी ने कोई शिक्षा संबंधी काम सीधे अपने तत्त्वावधान में नहीं किया किंतु मिशनरी संस्थाओं द्वारा किए गए काम की सराहना अवश्य की और उनको ग्रांट भी दी । जो भी स्कूल अंग्रेजी माध्यम से पढ़ाते थे उनको कंपनी विशेष साधुवाद दिया करती थी क्योंकि वे कंपनी और भारतीय जनता के बीच संपर्क की भाषा अर्थात् अंग्रेजी का प्रसार कर रहे थे और यही कंपनी का वांछनीय लक्ष्य था ।[6]

कंपनी ने जब तक निजी संस्थान के तौर पर काम किया तब तक वह मिशनरी काम में सहायता करती रही । किंतु जैसे ही 1765 में बंगाल की दीवानी मिली और तत्पश्चात् 1784 के पिट्स इंडिया ऐक्ट के पास होने पर और अधिक राजनीतिक अधिकार ब्रिटिश सरकार की ओर से मिले, कंपनी इस मामले में सतर्क हो गई और कंपनी सरकार ने मिशनरी संस्थाओं पर प्रतिबंध लगा दिए । इसी सावधानी के कारण हिंदू-मुसलमान जनता की सद्भावना प्राप्त करने के लिए कलकत्ता मदरसा और बनारस संस्कृत कालेज खोले गए थे और इसी के कारण 1793 के ग्रांट-प्रस्ताव की क्रियात्मक धारा गिरा दी गई थी ।

राजसत्ता के रूप में कंपनी सरकार भारतीयों के प्रति जागरूक रहने लगी । अतः हिंदू और मुसलमान दोनों को प्रसन्न रखने का प्रयास किया गया । इसीलिए यह भी आवश्यक हो गया कि उन सारे कार्यों पर प्रतिबंध लगाए जाएं जिनके कारण भारत में अंग्रेजी सरकार के प्रति रोष उत्पन्न होने की आशंका हो । अतः मिशन कार्य और मिशनरीज की गतिविधियों पर प्रतिबंध लगाना आवश्यक हो गया । जनता गोरे अफसरों और गोरे पादरियों में कोई भेद नहीं समझती थी, विशेषकर इस कारण कि ईसाई संगत में आम तौर पर सरकारी अफसर भी उपस्थित होते थे और

6. शार्प, 'सलेक्शज फ्रॉम एज्यूकेशनल रिकार्ड्स', पार्ट I, पृ० 3-4

उनसे पादरियों को सब प्रकार की सहायता भी मिलती थी । इसलिए कंपनी यह समझ गई थी कि यदि जनता पादरियों के काम से असंतुष्ट हो गई तो वह सरकार के प्रति भी रोष प्रकट कर सकती है । इसी संभावना के कारण 1783 में मिशनरीज के प्रवेश पर प्रतिबंध लगा दिया गया । उनके लिए भारत आने के लिए लाइसेंस लेना अनिवार्य कर दिया गया ।

मिशनरीज ने दूसरा रास्ता पकड़ लिया । उन्होंने स्कूल के माध्यम से अपना काम करना प्रारंभ कर दिया । पहले तो वे बच्चों की मातृभाषा के माध्यम से पढ़ाते थे, अब उन्होंने अंग्रेजी के माध्यम से पढ़ाना शुरू कर दिया । मुख्य कारण यह था कि शिक्षा के माध्यम से वे बच्चों का मानसिक परिवर्तन कर देते थे, फिर अपनी दलील देकर ईसाई धर्म की शिक्षा देते और उन्हें अपनी ओर आकृष्ट कर लेते थे । इस प्रकार वे आहिस्ता-आहिस्ता बच्चों का धर्म-परिवर्तन भी कर लेते थे और साथ में कोई आर्थिक या सामाजिक लालच भी दे देते थे । अर्थात् सत्ताधारी गोरे लोगों के निकट आने का एक ही तरीका था : ईसाई बन जाओ । पादरियों को भी स्कूल के माध्यम से जनता और उनके बच्चों से संपर्क करने का अवसर मिलता था । स्कूल भवन एक प्रकार का चर्च ही बन गए । उनका प्रयोग शिक्षा-प्रचार की अपेक्षा धर्म-प्रचार के लिए अधिक किया जाने लगा ।[7] कई बार ईसाई प्रचारक अपने प्रवचनों एवं प्रकाशनों में कठोर शब्दों का प्रयोग भी करते । फलस्वरूप कभी-कभी स्थानीय जनता द्वारा कड़ा विरोध किया जाता था । 1807 में उन्होंने 'एड्रेसिज टु हिंदूज एंड मौहम्मदंज' शीर्षक से एक पत्रिका छापी जिसमें हजरत मुहम्मद को झूठा पैगंबर कहा गया और हिंदू धर्म को मूर्तिपूजा, अंधविश्वास और अज्ञान का पुलिंदा मात्र कहा गया । इस प्रकार एक विशाल समाज के विरुद्ध दोजख का फतवा सादिर कर दिया गया । यह चिंता नहीं की गई कि ये लोग युग-युगों से अपने पूर्वजों की परंपरा, विचार-धारा एवं दर्शन के धनी हैं ।[8]

1806 में बेलूर में कंपनी के हिंदुस्तानी सिपाहियों ने बगावत कर दी । पहले भी 1802 में कंपनी के भारतीय सिपाही अपने कमांडर से समुद्र पार करने से इंकार कर चुके थे । 1806 में उनको हुक्म मिला कि अपनी दाढ़ी को ठीक बनवा के स्मार्ट बनो और पगड़ी की जगह चमड़े की टोपी पहनो । अंग्रेज अफसर उनके तिलक या पगड़ी या दाढ़ी-मूंछ के धार्मिक महत्त्व को न समझकर इनको छोड़ने का हुक्म दे बैठे । भारतीय सिपाहियों ने सोचा कि कंपनी के अफसर हमारा धर्म छुड़वाकर हमें ईसाई बनाना चाहते हैं । सो उन्होंने बगावत कर दी और 370 में से 200 अंग्रेजों को मार डाला या घायल कर दिया ।[9]

ऐसी घटनाओं से यही पता चलता है कि मिशनरी भारत में ईसाइयत की सेवा के लिए

7. आर०वाई० विल्डर, 'मिशन स्कूल्ज इन इंडिया', पृ० 36-37
8. एल०एस०एस० ओमैलो, 'मॉडर्न इंडिया एंड दि वैस्ट', पृ० 69 । उद्धृत : एस०एन० मुकर्जी, 'हिस्ट्री आफ एज्यूकेशन इन इंडिया', पृ० 29
9. एस० एन० सेन, 'एटीन फिफ्टी सेवन' (भारत सरकार, 1957), पृ० 3 एवं फिलिप्स, 'दि ईस्ट इंडिया कंपनी', पृ० 160

उतावले हो रहे थे और कंपनी उनकी गतिविधियों से चिंतित थी । इसीलिए संसद ने चार्ल्स ग्रांट की पूरी बात 1793 में नहीं मानी थी । वास्तव में तो 1783 से ही मिशनरियों और सरकार के बीच खिंचाव चल रहा था, वह 1793 के पश्चात् और बढ़ गया और यह भी कहा गया है कि 1793 से 1813 तक कंपनी ने किसी को नया परमिट नहीं दिया । बहुतों को भारत से निकाल दिया गया और मिशन स्कूलों को भी ग्रांट नहीं दी ।[10] बेलूर बगावत के संबंध में लार्ड एल्फिंस्टन, जो उस समय कंपनी के चेयरमैन थे, ने बोर्ड आफ कंट्रोल के अध्यक्ष को लिखा था कि बगावत इसलिए हुई है कि सिपाहियों की वर्दी में परिवर्तन का जो हुक्म दिया गया था उससे यह भयंकर आशंका फैल गई थी कि कंपनी जबरदस्ती लोगों का धर्म-परिवर्तन करवाएगी । साथ में टीपू सुल्तान के परिवार के सदस्य या जो उसके विश्वासपात्र सहायक उस समय बेलूर में थे, उन्होंने बगावत करवाई ऐसा भी कहा गया ।[11] सिपाहियों की वर्दी में परिवर्तन का आदेश सर जान क्रैडक ने प्रस्तावित किया था और उस आर्डर की स्वीकृति लार्ड विलियम बैटिंक ने दी थी । अतः सर जॉन और विलियम बैटिंक दोनों को बेलूर बगावत के लिए जिम्मेदार ठहराया गया । परिणामस्वरूप दोनों को वापस बुला लिया गया । सर जॉन फौज के कमांडर थे और विलियम बैटिंक मद्रास के गवर्नर । दोनों चार्ल्स ग्रांट के मित्र भी थे, विशेषकर विलियम बैटिंक । इन दोनों के वापस बुलाए जाने से ग्रांट को बड़ा दुख हुआ और मिशनरी एवं शिक्षा के काम को बड़ा धक्का भी पहुंचा । किंतु ग्रांट ने अपने आंदोलन को जारी रखने का फैसला किया । विल्बरफोर्स उनके साथ थे । उनके अतिरिक्त कंपनी के और बहुत लोग भी उनके साथ थे । उन्होंने 1809 तक सतत आंदोलन किया ।

अठारहवीं शती के उत्तरार्द्ध में विशेषकर चौथे चरण में इंग्लैंड में ही मिशनरी सेवा-कार्य बहुत हो रहा था । औद्योगिक क्रांति के बाद अमीर और गरीब के बीच का फासला बढ़ता जा रहा था । शिक्षा अनिवार्य रूप से सबको उपलभ्य नहीं थी । इसलिए प्राइवेट संस्थाएं मिशनार्थ शिक्षा-कार्य कर रही थीं । इंग्लैंड में काम करने वाले मिशन-सेवी भारतीय जनता को भी इंग्लैंड की जनता की तरह सेवा का पात्र समझते थे । इसलिए भारत में मिशन-सेवियों के प्रवेशार्थ एक आंदोलन चलाया गया । चार्ल्स ग्रांट के 'आब्जर्वेशंज़' का प्रकाशन 1797 में हो चुका था । उनका वितरण किया गया । सैकड़ों ज्ञापन और प्रार्थना एवं विरोध-पत्र संसद के सम्मुख रखे गए । विल्बरफोर्स ने इस आंदोलन का नेतृत्व किया और सर जान शोर लार्ड टेनमथ ने इसका समर्थन किया । सरकार और पार्लमेंट दोनों इस आंदोलन का निरादर नहीं कर सके ।

कंपनी ने भी 1805 से लेकर 1809 तक अपनी मिशनरी-विरोधी नीति का पुनरवलोकन किया । 1805 में चार्ल्स ग्रांट कंपनी के चेयरमैन थे । 1809 में वे फिर चेयरमैन बने । 1807 से 1809 तक एडवर्ड पैरी कंपनी के चेयरमैन थे । पैरी के साथ ग्रांट डिप्टी चेयरमैन थे । पैरी और ग्रांट दोनों घनिष्ठ मित्र थे । दोनों ने मिलकर चार वर्ष तक भरसक प्रयत्न किया कि

10. नुरुल्ला और नायक, 'ए हिस्ट्री आफ एज्यूकेशन इन इंडिया', पृ० 69
11. फिलिप्स, 'ईस्ट इंडिया कंपनी', पृ० 160

मिशन-सेवियों के विरुद्ध विशेषतः बेलूर बगावत के पश्चात् जो प्रतिक्रियात्मक राय बन गई थी उसका प्रतिकार किया जाए । साथ में यह भी कोशिश की कि जान क्रैडक और विशेषकर विलियम बैटिंक पर जो धब्बा लग गया था उसे भी धोया जाए । अतः उन्होंने अपने साथियों से मिलकर विचार-विनिमय करना प्रारंभ किया ।

ग्रांट और पैरी दोनों एक बात में सफल हो गए : उन्होंने कुछ पत्रों के आधार पर कोर्ट आव् डायरेक्टर्ज़ के द्वारा एक बात मनवा ली कि बेलूर में फौजी वर्दी संबंधी आदेश में वास्तविक गलती जान क्रैडक की थी । विलियम बैटिंक की तो इतनी गलती थी कि उन्होंने क्रैडक पर बिना उचित विचार किए विश्वास कर लिया । उन्होंने यह भी मनवा लिया कि पूरी गलती वास्तव में क्रैडक की भी नहीं थी, ऐसे आदेश तो पहले से ही मौजूद थे और क्रैडक ने तो केवल उनका कार्यान्वयन किया था । आगे चलकर वे एक और बात मनवाने में सफल हो गए, वह यह थी कि बेलूर बगावत तो वास्तव में फौजी आदेश के कारण हुई ही नहीं थी; वह तो वेलूर-स्थित टीपू सुल्तान के परिवार और उनके समर्थकों के कारण हुई थी । बैटिंक इस प्रकार पुराने लांछन से मुक्त हो गए । अन्यथा यही लांछन आगे चलकर उनके गवर्नर-जनरल बनने के रास्ते में खड़ा हो सकता था । ग्रांट ने मित्र का रास्ता साफ कर दिया ।

जन-स्मृति गोधूलि की तरह बहुत दूर तक नहीं चला करती । मिशन-सेवियों के विरुद्ध जो जनमत बना था वह आहिस्ता-आहिस्ता दबने लगा । ऐसे ही परिस्थितियों के ठीक होते-होते ग्रांट और पैरी एक और बात में सफल हो गए । उन्होंने बहुमत से कोर्ट आव् डायरेक्टर्ज़ से यह प्रस्ताव भी पास करवा लिया कि पहले की तरह कंपनी से अनुमति लेकर मिशनरी भारत आ सकेंगे । इस तरह करीब सोलह वर्ष के सतत प्रयत्न के पश्चात् ग्रांट फिर उसी स्थिति में आ गए जिसमें वे 1792 में थे ।

उसी समय में भारत में ब्रिटिश प्रशासन की स्थिति बहुत बदल गई थी । मैसूर युद्ध के पश्चात् दक्षिण पर कंपनी का कब्जा पक्का हो गया था । कंपनी के फ्रांसीसी और पुर्तगाली प्रतिरोधी समाप्त हो चुके थे । लार्ड कार्नवालिस ने 1789 में यह भय व्यक्त किया था कि बिना बड़ी भारी सेना के इस देश को संभालना दुष्कर होगा । उसी लार्ड कार्नवालिस ने लिखा कि हमने अपने शत्रुओं की कमर तोड़ दी है और अपने मित्रों को अधिक उभरने नहीं दिया है ।[12] जब लार्ड वेल्ज़ली गवर्नर-जनरल बन कर आए तो उन्होंने बहुत सारे निःसंतान रजवाड़ों को अपने अधिकार में ले लिया । उन्होंने संतोष व्यक्त करते हुए लिखा कि निजाम हमारे साथ आ गए हैं, टीपू को समाप्त कर दिया गया है और फ्रांसीसी शक्ति का दक्षिण में अंत हो गया है ।[13]

ब्रिटिश सरकार एवं कंपनी ने इस कारण मिशनरियों को दबाया था कि उनके धर्म-प्रसार से कहीं भारतीय जनता भड़क न उठे । वेल्ज़ली ने इस विषय पर भी लिखा कि हमारे साथी हमारी न्यायप्रियता और विचार-संतुलन में विश्वास करते हैं और हम से सुरक्षा की आशा करते हैं ।

12. रॉबर्ट्स, 'हिस्ट्री आफ ब्रिटिश इंडिया', पृ० 235
13. वही, पृ० 246

इसी कारण उनके सभी राजपरिषदों में हमारे प्रभाव की बुनियाद पक्की हो गई है और हमारे उद्भव का सितारा बुलंद है ।[14] यदि कंपनी के विरोधी राज्य समाप्त हो गए थे और जनता के मन पर उनकी न्यायप्रियता एवं विचार-संतुलन का सिक्का जम गया था तो पहले वाला संशयवाद भी समाप्त हो गया । अब तो राज्य को आगे बढ़ाने और उसकी जड़ों को और गहरा करने के लिए शिक्षा और और धर्म-प्रचार संबंधी सभी उपायों पर पुनर्विचार किया जा सकता था । ऐसा ही किया भी गया ।

जब लार्ड मिंटो गवर्नर-जनरल बने तो सैरमपुर में स्थित मिशन-सेवियों की गतिविधियों के कारण कुछ गड़बड़ हो गई । परिणामस्वरूप लार्ड मिंटो ने उन पर कुछ पाबंदियां लगा दीं और चार्ल्स ग्रांट को लिखा कि इस संबंध में कोई उचित सुझाव दें । ग्रांट ने यह पत्र बोर्ड आफ कंट्रोल के अध्यक्ष को दे दिया कि वे इसे अंतरंग (सीक्रेट) समिति के सामने रखकर गवर्नर-जनरल को उत्तर दे दें । अध्यक्ष ने उत्तर दिया कि हम किसी तरह भी भारत में ईसाइयत के प्रचार-प्रसार के विरुद्ध नहीं हैं । किंतु यह कार्य यदि ऐसे तरीके से किया गया कि उससे भारत की जनता की धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुंचे या वे हमारे विरुद्ध भड़क उठें, तो यह गलत हो जाएगा । हम यह नहीं चाहते कि मिशनरी लोग हमारे कंधे पर रखकर अपने निशाने साधें । हां, यदि ऐसे तरीकों से जनता में ईसाइयत का प्रचार हो सकता है जिन से हमारी राजनीति और शासन सत्ता को कोई खतरा न हो तो हम अवश्य प्रचार के पक्ष में हैं । यह वांछनीय भी है ।[15]

इस पुनर्विश्वास के वातावरण में स्वयं लार्ड मिंटो ने 1811 में यह लिखा कि भारत में विज्ञान और साहित्य का ह्रास होता जा रहा है । न केवल विद्वानों की संख्या कम हो रही है अपितु जो बचे भी हैं उनके ज्ञान की सीमाएं भी संकुचित होती जा रही हैं । वे साइंस को छोड़ रहे हैं और ललित कला से विमुख होते जा रहे हैं । सिवाय धार्मिक विश्वास और कर्मकांड के और कुछ नहीं बचा है । फलस्वरूप बहुमूल्य पुस्तकें एवं हस्तलिपियां नष्ट हो रही हैं या हो चुकी हैं । यदि इस दिशा में सरकार ने अपना वरद-हस्त नहीं बढ़ाया और उनकी रक्षा नहीं की तो इस ज्ञान का पुनरुद्धार असंभव हो जाएगा क्योंकि न पुस्तकें बचेंगी, न उनके ज्ञाता विद्वान रहेंगे । लार्ड मिंटो ने आगे लिखा कि विज्ञान और कला एवं विद्वानों के ह्रास का मुख्य कारण यह है कि स्थानीय राज्यों के अंतर्गत रजवाड़ों, सरदारों या सेठ लोगों से जो प्रोत्साहन उन्हें मिला करता था वह अब नहीं मिल रहा । ऐसा प्रोत्साहन यूं तो सभी जगह जिज्ञासुओं के लिए प्रेरणा बना करता है किंतु भारत में तो यह विशेषतः सत्य है क्योंकि यहां के पंडितों या विद्वानों को और कोई सहारा मिलता ही नहीं है । लार्ड मिंटो ने खेद व्यक्त किया कि एक तरफ ब्रिटिश साम्राज्य के दूसरे भागों में अंग्रेज कौम साइंस और कला-कौशल की उन्नति में सहायता करने के लिए विख्यात है और दूसरी ओर हम हिंदू साहित्य की रक्षा करने में असमर्थ रहे हैं और साहित्य के

14. एस०जे० उम्मन, 'सलेक्शंज फ्रॉम वेल्ज़लीज डिस्पैचिज़', पृ० 439; दे० वही पृ० 260

15. फिलिप्स, 'ईस्ट इंडिया कंपनी', पृ० 164

इस भंडार के ताले यूरोप के विद्वानों के लिए खोलने में असफल हो रहे हैं ।[16] लार्ड मिंटो के वे शब्द कंपनी सरकार के प्रति जनविश्वास का मानक समझे जा सकते हैं । 1793 में जो कदम उठाकर रोक लिया गया था वह नीचे की ओर आने लगा था ।

कंपनी को यह विश्वास हो गया कि राज की जड़ें मजबूत हो चुकी हैं और सरकार ने अपनी नीति से जनता का विश्वास प्राप्त कर लिया है । अब तो वे शिक्षा और मिशन दोनों कामों के लिए तैयार हो गए । 1813 में शिक्षा संबंधी प्रस्ताव पास करके संसद ने एक लाख रुपया वार्षिक व्यय की स्वीकृति एवं आदेश दे दिया । शिक्षा प्रस्ताव के साथ-साथ एक मिशन-कार्य संबंधी प्रस्ताव भी पास किया गया जो इस प्रकार था :

इस देश का कर्तव्य है कि भारत में ब्रिटिश राज के निवासियों के हितों और सुख-शांति की वृद्धि की जाए और ऐसे कदम उठाए जाएं जो उनमें उपयोगी ज्ञान एवं नैतिकता के प्रसार और उन्नति में सहायक हों । इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए विधान के अंतर्गत उन लोगों को पर्याप्त सुविधाएं उपलब्ध कराई जाएं जो जनहिताय इन उद्देश्यों के लिए भारत जाना चाहें या वहां रहना चाहें ।[17] चार्ल्स ग्रांट की सफलता का यह दूसरा चरण था !

इस प्रकार 1793 से बीस साल बाद दूसरा कदम उठाया गया, या यूं कहिए कि चार्ल्स ग्रांट के 1793 के प्रस्ताव की दूसरी धारा को पास किया गया । चार्टर एक्ट की धारा 43 के अंतर्गत गवर्नर-जनरल को यह अधिकार एवं दायित्व दिया गया कि वे भारत में उपयोगी साहित्य, साइंस और कला-कौशल के प्रचार-प्रसार के लिए एवं विद्वानों के प्रोत्साहन के लिए एक लाख रुपये के व्यय की स्वीकृति दें । धारा 13 के अनुसार भारत के दरवाजे मिशनरी संस्थाओं के लिए खोल दिए गए ताकि वे अंग्रेजी भाषा, अंग्रेजी शिक्षा और ईसाइयत का प्रचार-प्रसार करें ।

तीसरा कदम इसके बाईस वर्ष बाद 1835 में उठाया गया । उसका श्रेय लार्ड मकाले को मिला । विलियम बैंटिंक, जो उस समय गवर्नर-जनरल थे, ने मकाले के प्रस्ताव को स्वीकृति दी और उस श्रेय में भागीदार बने । चार्ल्स ग्रांट को वह श्रेय अपने जीवन में नहीं मिला था, किंतु वे उसकी तैयारी अवश्य कर गए थे । मकाले उनके मानस-पुत्र थे, क्योंकि उनके पिता के मित्र होने के कारण वे युवक टौमस मकाले के गाडफादर यानी धर्मगुरु थे । विलियम बैंटिंक पर जो धब्बा लगा था ग्रांट उसको धुलवा चुके थे । 1835 में कंपनी के चेयरमैन चार्ल्स ग्रांट के बड़े पुत्र चार्ल्स ग्रांट जूनियर थे । ग्रांट इन तीनों योद्धाओं को भारत भाषा, शिक्षा और सभ्यता की लड़ाई लड़ने के लिए तैयार करके सुख-शांति से आशापूर्ति की नींद सो गए थे ।

तीसरे कदम की ओर चलने से पहले हमें 1813 के चार्टर ऐक्ट की धारा 13 और 43 पर विचार करना चाहिए ताकि हम यह देख लें कि उनमें क्या कह दिया गया था, क्या नहीं कहा गया था और कितनी गुंजाइश तोड़-मरोड़ के लिए छोड़ दी गई थी ।

1793 के प्रस्ताव एवं 1813 के प्रस्ताव की 13वीं धारा को पढ़ने से यह पता लगता

16. नुरुल्ला और नायक, 'ए हिस्ट्री आफ एज्यूकेशन इन इंडिया', पृ० 79-80

17. देखिए : रिक्टर, 'ए हिस्ट्री आफ मिशंज इन इंडिया', पृ० 150-51

है कि ब्रिटिश शासन और अंग्रेजी शिक्षा तथा मिशनरी-कार्य का लक्ष्य यही माना गया था कि भारतीयों के हितों की रक्षा और उनके सुख-शांति की वृद्धि की जाए। शिक्षा संबंधी 43वीं धारा में यह बात स्पष्ट रूप से उभर कर सामने नहीं आती, केवल गौण या निहित समझी जा सकती है। सो भी आवश्यक नहीं। किंतु ये बातें अवश्य स्पष्ट हैं :

1. भारतीयों में उपयोगी ज्ञान का प्रचार और नैतिक उन्नति। तदर्थ मिशन-सेवियों को वहां जाने और ठहरने और काम करने की इजाजत देना। यह स्पष्ट नहीं है कि उपयोगी ज्ञान कौन सा है ? विज्ञान का, अंग्रेजी साहित्य का, या ईसाई मत का। अंग्रेजी भाषा का या भारतीय भाषा एवं साहित्य का ? स्पष्ट न होने के कारण इस बात का निर्णय स्वयं मिशन-सेवी ही कर सकते थे। स्पष्ट यही होगा कि उपयोगी ज्ञान अंग्रेजी भाषा, साहित्य, ईसाइयत और साइंस संबंधी होगा। नैतिक उन्नति ईसाइयत से ही होगी। समय के अनुसार 1793 में धर्म-संबंधी कार्यक्रम को प्रस्ताव से निकाल दिया गया था। किंतु यह समझने की बात है कि ईसाई मिशनरी यदि भारतीयों की नैतिक उन्नति के लिए कार्य करेगा तो हिंदू धर्म के प्रचार से थोड़े ही करेगा ?
2. शिक्षा संबंधी प्रस्ताव में लक्ष्य का निर्देश तो नहीं है किंतु फिर भी इन उद्देश्यों पर ध्यान देना आवश्यक है :
   (क) साहित्य का उद्धार और उन्नति : प्रश्न है कौन-सा साहित्य ?
   'रिवाइवल' शब्द का संकेत तो भारतीय प्राचीन साहित्य की ओर दिखता है किंतु 'इम्प्रूवमेंट' शब्द का इशारा उधर हो यह आवश्यक नहीं, संदिग्ध है।
   (ख) भारतीय विद्वानों को प्रोत्साहन देना : प्रश्न है, कौन से विद्वान ?
   संस्कृत, फारसी, अरबी के विद्वान अथवा अंग्रेजी भाषा, साहित्य साइंस के विद्वान : यह बात स्पष्ट नहीं है।
   (ग) उपयोगी विज्ञान का प्रचार तथा प्रसार : यह बात स्पष्ट है और साइंस तो पाश्चात्य विज्ञान ही होगी।
   (घ) विज्ञान के अतिरिक्त किसी विषय-विशेष अथवा भाषा-माध्यम की कोई चर्चा नहीं है।

अंग्रेजी भाषा वक्रोक्ति, न्यूनोक्ति और अनुक्ति सब के लिए प्रसिद्ध है। इन प्रस्तावों में जैसी भाषा का प्रयोग किया गया है उस से एक बात स्पष्ट है जो प्रस्तावों में कही नहीं गई है, वह बात है : तीर हमारा, लक्ष्य हमारा।

इन सब बातों को लेकर 22 वर्ष तक वाद-विवाद चलता रहा। इस विवाद का अध्ययन हम अगले अध्याय में करेंगे।

4
लक्ष्य की ओर

1789 के भारत की अपेक्षा 1813 का भारत कंपनी सरकार के दृष्टिकोण से सुव्यवस्थित था। सरकार का भय, संदेह और आशंकाएं सब समाप्त होने के पश्चात् राज एक सुनिश्चित दिशा में मोड़ ले रहा था। स्थानीय शासन के तथाकथित अन्याय, अत्याचार, अराजकता और आतंकवाद के समाप्त हो जाने पर अंग्रेजी राज में जनता सुख की सांस ले रही थी, ऐसा कहा जाता था। लार्ड मोयरा, मार्क्विस आफ हेस्टिंग्ज़, के कथनानुसार एक नई सामाजिक व्यवस्था जन्म ले चुकी थी। ऐसे सामाजिक वातावरण में कला-कौशल के प्रचार-प्रसार की आवश्यकता है।[1] यह 2 अक्तूबर, 1815 को लिखा गया।

उस समय के दो दृष्टिकोण हमारे सामने आते हैं : एक नरम, दूसरा गरम। नरम नीति के प्रवर्तक थे मनरो, जान मैल्कम, एल्फिन्स्टन और मेटकाफ। दूसरे दल के समर्थक थे चार्ल्स ग्रांट, विल्बरफोर्स, लार्ड कार्नवालिस और लार्ड वेल्जली सरीखे लड़ाके।

नरम दल के लोग चाहते थे कि कोई भी शिक्षा, भाषा या सभ्यता संबंधी परिवर्तन तूफ़ान की तरह न लाया जाए बल्कि इस क्षेत्र में पूरी सावधानी बर्ती जाए। लार्ड मनरो ने 1824 में लिखा था कि इस देश का रूप, यहां की जमीन-जायदाद अथवा समाज और व्यवस्था कभी भी चुटकी बजाकर नहीं बदले जा सकते, चाहे हम किसी भी पद्धति या शैली का प्रयोग क्यों न करके देख लें। हां, हमारी जल्दबाजी से इन को चोट अवश्य पहुंच सकती है। लार्ड मनरो का आशय यह था कि जल्दी मत करो।

भारतीय जनता के हितों की रक्षा और सुख-शांति की उन्नति की बात तो पहले से ही चलती आ रही थी। बेलूर की बगावत के थोड़े ही दिन बाद बोर्ड आफ कंट्रोल के अध्यक्ष ने कहा था : किसी को भी यह अधिकार नहीं है कि दूसरे को उसकी इच्छा के विरुद्ध प्रसन्न करने या सुखी रखने का प्रयास करे।[2] जान मैल्कम ने इसी भावना से प्रेरित होकर यह लिखा था कि हमें अपने पुराने अनुभव से एक सबक सीखना चाहिए और वह यह कि आहिस्ता चलो, सावधानी बरतो। कोई काम ऐसा न करो जो भारतीय लोगों की परंपरा और उनकी मान्यताओं से टकरा जाए। हम अपने पाश्चात्य ज्ञान की वरिष्ठता के नशे में आकर मानसिक रूप से अपने को ऊंचा मानने की धृष्टता कर रहे हैं। हमें अपने मन से यह अहंकार निकाल देना होगा और

1. शार्प, 'सलेक्शंज फ्रॉम एज्यूकेशनल रिकार्ड्स', पार्ट I, पृ० 28-29
2. फिलिप्स, 'ईस्ट इंडिया कंपनी', पृ० 160-61

अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए वे तरीके अपनाने होंगे जो भारतीय लोगों के स्वभाव से मेल खाते हों ।[3] लक्ष्य तो निर्धारित ही था : राज की बुनियाद पक्की करके साम्राज्य के भवन का निर्माण और तदर्थ भारत की मानसिक एवं सांस्कृतिक विजय ।

ये नरम-गरम विचारधाराएं नए-पुराने के हेर-फेर में चल रही थीं । यदि हेस्टिंग्ज़ के समय को याद करें तो कलकत्ता मदरसा और बनारस संस्कृत कालेज दोनों ही प्राचीन परंपरावाद के प्रतीक थे । 1813 के प्रस्ताव में भी भारतीय विद्वानों का प्रोत्साहन और साहित्य-सेवा अर्थात् पुनरुद्धार और उन्नति इसी परंपरावाद के समर्थन के द्योतक थे । ऐसा लग रहा था कि भारत के पुराने साहित्य और परंपरा के अंदर एक नई जान डाल दी जाएगी और सभ्यता एवं संस्कृति की एक नई लहर प्राचीन स्रोत से चलती-चलती नई हवा में सांस लेती हुई नए रूप में फूले-फलेगी ।

संभवतः इसी परंपरा संबंधी विचारधारा को लेकर 3 जून, 1814 को कोर्ट आव् डायरेक्टर्ज़ ने एक पत्र गवर्नर-जनरल को लिखा । प्राचीन भारत में विविध क्षेत्रों में ज्ञान-विज्ञान और नीति-प्रगति की चर्चा करते हुए उन्होंने इस बात पर बल दिया कि भारतीय पंडितों से संपर्क किया जाए और उनकी सहायता से इन सभी क्षेत्रों में नया काम किया जाए । उन्होंने लिखा कि अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए हमारे विचार में यही उचित रहेगा कि भारतीय पंडितों को अपनी ही परंपरा के अनुसार चलने दिया जाए अर्थात् वे अपने घर पर ही विद्यार्थियों को शिक्षा देते रहें । उनको ज्ञानार्जन और शिक्षा के प्रचार में प्रोत्साहन दिया जाए और इसके लिए उनको योग्यता विशेष की उपाधियां दी जाएं और कभी-कभी आर्थिक अनुदान भी दिया जाए ।

उन्होंने पत्र में यह भी लिखा कि संस्कृत भाषा में अनेक बहुमूल्य शास्त्र विद्यमान हैं जैसे आचार संहिता, विधिशास्त्र, वर्ण-धर्म संबंधी व्यवहार विज्ञान इत्यादि जो सबके सब उन भारतीयों के लिए अत्यंत लाभकारी होंगे जो सरकारी न्याय-विभाग में काम करने के अधिकारी बनाए जाएंगे । वनस्पति विज्ञान, ओषधि विज्ञान एवं उनके चिकित्सा क्षेत्रीय प्रयोगों पर भी बहुत सारी काम की पुस्तकें हैं जिनका ज्ञान यूरोपियन चिकित्सकों के लिए लाभप्रद होगा । ज्योतिष, गणित, ज्यामिति और बीजगणित के भी ग्रंथ हैं जिनसे संभवतः यूरोपियन विज्ञान में तो कोई वृद्धि नहीं हो सकेगी किंतु फिर भी वे हमारे इंजीनियरिंग विभाग में और पर्यवेक्षणशाला में काम करने वाले अंग्रेजी अफसरों और भारतीयों के बीच संपर्क का माध्यम बन सकेंगे । इसी संपर्क के फलस्वरूप भारतीय विद्वान इन सभी क्षेत्रों में आधुनिक वैज्ञानिक उपलब्धियों को यथासमय अपना लेंगे ।

इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए हमने निर्णय लिया है कि हमारे इन विभागों में काम करने वाले उन सभी अफसरों को प्रोत्साहन दिया जाए जो संस्कृत पढ़ने के इच्छुक हों । इस काम के लिए जो अध्यापक लगाए जाएं वे उन भारतीयों में से चुने जाएं जो संबद्ध विज्ञान में उचित योग्यता प्राप्त कर चुके हों । उन विद्वानों को उदारतापूर्वक पारिश्रमिक दिया जाए ।

डायरेक्टर्ज़ ने गवर्नर-जनरल को यह परामर्श भी दिया कि विविध विषयों के विद्वानों की

3. माइकल एडवर्ड्ज, 'ब्रिटिश इंडिया', पृ० 52

खोज में बनारस की ओर ध्यान दिया जाए ।[4]

इस पत्र में कोई बात नहीं सुझाई गई है, न कोई नई पद्धति, न माध्यम । केवल परंपरागत पद्धति के साथ संपर्क जोड़ने का सुझाव है और यह आशा व्यक्त की गई है कि इसी संपर्क के द्वारा भारतीय विद्वान और सरकारी अफसर एक दूसरे के निकट आकर उसी प्राचीन परंपरा और यूरोपियन विज्ञान के बीच पारस्परिक संबंध जोड़कर एक नए विकास की ओर अग्रसर होंगे । भारतीय विद्वानों के प्रति जो सम्मान और सेवा-भाव व्यक्त किया गया है वह उसी समय के अनुरूप है जब लार्ड हेस्टिंग्ज़ कंपनी सेवार्थ उनके तुष्टीकरण में लगे हुए थे ।

कंपनी सरकार ने अगले दस वर्ष तक कोई नया कदम नहीं उठाया । 1813 के प्रस्ताव में गवर्नर-जनरल को केवल यह अधिकार दिया गया था कि वे सरकार के बजट शेष में से एक लाख रुपया शिक्षार्थ अलग रख सकेंगे और वह रुपया साहित्य और साहित्य-सेवियों के प्रोत्साहन के लिए खर्च किया जा सकेगा । इस रुपए का व्यय अनिवार्य नहीं था । यह भी आवश्यक नहीं था कि रुपया अलग रखा ही जाए, सरकार का सारा खर्च निकाल कर बचे तो रखा जाए अन्यथा नहीं । इन्हीं दस वर्षों में नेपाली, पिंडारी और मराठा युद्धों के कारण खर्चा बढ़ गया और किसी शेष की प्राप्ति नहीं हो पाई ।

केवल 1823 में सामान्य लोकशिक्षा समिति (ए जनरल कमिटी आव पब्लिक इंस्ट्रक्शन) की स्थापना की गई और उसका गठन भी कर दिया गया । कमिटी के दस सदस्य थे । उनमें से एक थे एच०टी० प्रिंसेप जो भारतीय साहित्य और शिक्षा पद्धति के समर्थक थे । एक और थे—एच०एच० विल्सन जो संस्कृत के विद्वान थे । ये लोग विलियम जोंस और कोलब्रुक की तरह शिक्षा-क्षेत्र में भारतीय परंपरा अर्थात् ओरियंटल स्कूल के पक्ष में थे । वह चाहते थे कि भारत की परंपरा, रीति-रिवाज, धर्म और साहित्य का अध्ययन करके संस्कृत भाषा और संस्कृति के प्रवाह में यूरोपियन और ब्रिटिश परंपरा से समुचित विचार लेकर एक नई जान डाली जाए और इस प्रकार नए-पुराने के समसामयिक समन्वय के आधार पर एक नए युग का निर्माण किया जाए । वे भारतीय परंपरा की सेवा और सफाई करके मानो उसी बूटे के ऊपर यूरोपियन विज्ञान, साहित्य एवं संस्कृति का पैवंद चढ़ाना चाहते थे और एक नए फल की प्राप्ति करना चाहते थे ।[5]

सामान्य लोकशिक्षा समिति ने पहले से चले आ रहे काम को ही आगे बढ़ाया । उन्होंने कलकत्ता मदरसा और बनारस संस्कृत कालेज को पुनः सुव्यवस्थित किया । कलकत्ता संस्कृत कालेज की स्थापना की । दिल्ली और आगरा में ओरियंटल कालेज खोले । संस्कृत और अरबी की पुस्तकों का प्रकाशन आरंभ किया और विज्ञान इत्यादि उपयोगी विषयों पर अंग्रेजी पुस्तकों का संस्कृत और अरबी में अनुवाद करवाया । इस प्रकार समिति कंपनी के काम को आगे चलाती रही ताकि भारतीय विद्वानों के ऊपर उनकी नीति का अच्छा प्रभाव पड़े और वे भावना के स्तर पर उनकी आस्था में विश्वास करके अंग्रेजी सरकार के निकट आ जाएं । किसी नई भाषा और

4. शार्प, 'सलेक्शंज फ्रॉम एज्यूकेशनल रिकार्ड्स', पार्ट I, पृ० 23-24

5. आर्थर मेह्यु, 'द एज्यूकेशन आफ इंडिया' (लंदन, 1926), पृ० 10-11

नई पद्धति का प्रश्न उन्होंने क्रियात्मक स्तर पर नहीं उठाया । समिति के सदस्यों में अंग्रेजी भाषा और पाश्चात्य पद्धति के समर्थक तो थे परंतु वे अभी जोर नहीं पकड़ पा रहे थे । नौजवान लोग नए के पक्ष में थे । जो विषय या भाषा इन ओरियंटल कालेजों में पढ़ाए जाते थे उन्हें नेशनल भाषा और नेशनल साहित्य के नाम से पुकारा जाता था । वास्तव में यदि भारत के तत्कालीन इतिहास के संदर्भ में देखा जाए तो नेशनल भाषा या नेशनल साहित्य तो प्रारंभ हो ही नहीं रहा था । यह तो हिंदू और मुसलमानों की अलग-अलग परंपरा की सेवा की जा रही थी । हिंदू और मुसलमान रजवाड़े, नवाब और सेठ-साहूकार भी तो दान रूप में यही कुछ किया करते थे । कंपनी के अफसर और शिक्षा समिति भी उसी रास्ते पर चलने लगे । नेशनल भाषा-साहित्य-संस्कृति का सर्जन तो तब होता जब कंपनी-सरकार के तत्त्वावधान में हिंदू-मुस्लिम-ईसाई एवं संस्कृत-अरबी-अंग्रेजी धाराएं त्रिवेणी रूप में नए संगम पर पहुंचकर नई गंगा के रूप में बहतीं ।

कंपनी को भारत-सेवा की प्राचीन पद्धति रास नहीं आई । वे एकाएक चेते और 1824 में गवर्नर-जनरल को एक कड़ा-सा पत्र लिख मारा । उसकी भाषा से ही अहंकार और साम्राज्यवाद की बू आती है । 1814 की भाषा, शिष्टाचार और नीति सभी को पीछे छोड़ दिया गया ।

कोर्ट आव् डायरेक्टर्ज़ ने लिखा : भारत में शिक्षा प्रसार और समुन्नति के लिए हमारे मन में जो उत्कट इच्छा है आप उसे भली भांति समझ लीजिए । यह भी समझ लीजिए कि हम इस काम के लिए पर्याप्त बलिदान देने को भी तैयार हैं । कलकत्ता मदरसा और बनारस संस्कृत कालेज खोलने के दो उद्देश्य थे : एक, भारतीयों के साहित्य के अध्ययन और प्रगति के माध्यम से उनके मन पर अपना अच्छा प्रभाव डालना और दूसरा, उपयोगी विषयों के ज्ञान का प्रसार । 1813 के चार्टर ऐक्ट के अनुसार भी शिक्षा का उद्देश्य था साहित्य का पुनर्नवीकरण और भारतीय विद्वानों को प्रोत्साहन । आपने जो काम किया है उसका उद्देश्य यह प्रतीत नहीं होता । आपके शिक्षा प्रोग्राम का उद्देश्य हिंदू या मुस्लिम साहित्य का अध्ययन-अध्यापन नहीं होना चाहिए था । आपका उद्देश्य होना चाहिए था उपयोगी साहित्य का अध्यापन ।[6]

इस पत्र से साफ पता चलता है कि कंपनी के सामने साधन और साध्य दो बातें स्पष्ट थीं । साध्य तो था भारत में राज की जड़ें मजबूत करना और साधन था भारत के लोगों के मन पर उनके साहित्य के अध्ययन-अध्यापन के द्वारा अच्छा प्रभाव डालकर उनको अपनी ओर खींचना । शिक्षा का विषय जो प्रारंभ से ही सुझाया गया था वह था उपयोगी साहित्य । प्रश्न उठता है किसके लिए उपयोगी ? शासन के लिए अथवा शासित के लिए ? इतिहास गवाह है कि दूसरे का लाभ सामने रख कर कोई अंग्रेज अपने देश को छोड़कर बाहर नहीं गया । विश्वास न हो तो डॉ० जानसन साक्षी हैं । वे 1759 में लिखते हैं कि यूरोपियन जिस देश में भी गए—केवल अपने लोभ की पूर्ति के लिए, भ्रष्टाचार फैलाने के लिए, अनधिकार राज्य हड़पने के लिए, और क्रूरता के काम करने के लिए गए । वे शायद ही किसी और उद्देश्य को लेकर बाहर

6. देखिए : शार्प, 'सलेक्शंज फ्रॉम एज्युकेशनल रिकार्ड्स', पार्ट I, पृ० 91-92

गए हों ।[7]

1824 के उसी पत्र में आगे चलकर डायरेक्टर्ज़ ने लिखा : इसमें कोई संदेह नहीं कि हिंदुओं और मुसलमानों को उपयोगी साहित्य पढ़ाने के लिए हिंदू और मुसलमानों की भाषाओं का ही यथायोग्य प्रयोग किया जाना उचित था । साथ ही हिंदू और मुसलमानों के पूर्वाग्रहों को सामने रखते हुए उनके साहित्य में जो भी काम की बातें हैं उन्हें भी रख लेना उचित था । भाषा और विषय संबंधी इन बातों को सामने रखते हुए भी एक ऐसी शिक्षा-पद्धति का निर्माण किया जा सकता था जिससे बहुत लाभ उठाया जा सकता था । उसमें किसी बड़ी कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता । इसके विरुद्ध आपने तो ऐसी संस्थाएं बना दीं जिनमें केवल हिंदू साहित्य या मुस्लिम साहित्य पढ़ाया जा रहा है । इस प्रकार आपने स्वयं को बांध लिया कि आप अधिकतर वही विषय पढ़ाएं जो वाहियात (फ्रिवलस) है । उसका अधिकतर भाग खुराफात (मिसचिवस) है । बहुत ही थोड़ा भाग उसका ऐसा है जो किसी काम का हो ।

उपयोगी क्या है ? इसका निर्णय तो सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक अवस्था को ध्यान में रखकर किया जा सकता है, ऐसा ही किया भी जा रहा था । इसके अतिरिक्त एक रोचक बात और भी कही गई, उपयोगिता का निर्णय किसी वैज्ञानिक आधार पर नहीं अपितु अंतर्वर्ती सांस्कृतिक आधार पर किया गया : डायरेक्टर्ज ने यह भी लिखा कि संस्कृत साहित्य में जो कुछ भी थोड़ा बहुत उपयोगी है, उसको छोड़कर बाकी सब तो कविता मात्र है और केवल कविता पढ़ाने के लिए कालेज खोलना बेकार है । शिक्षा-समिति को इस बात पर जोश आ गया । उन्होंने उत्तर दिया कि विज्ञान के अतिरिक्त काव्य-भाषा या विधिशास्त्र पढ़ाना कोई समय का दुरुपयोग थोड़ा ही है ! यह तो सदुपयोग है । डायरेक्टर्ज़ ने इस दलील को रद्दी की टोकरी में डाल दिया और एक ही बात पर बल देते रहे : केवल उपयोगी साहित्य पढ़ाना है, अर्थात् विज्ञान ।

इस सारे पत्रव्यवहार में एक ही बात उभरकर सामने आती है : शिक्षा के विषय वे होंगे जो उपयोगी समझे जाएंगे । उपयोगी का निर्णय कंपनी करेगी । आवश्यक नहीं कि संस्कृत या अरबी-फारसी साहित्य पढ़ाया जाए । माध्यम क्या हो ? हिंदू-मुसलमान दोनों से पूछा जा सकता है । उनकी बात मानी जाए या नहीं इसका निर्णय भी सरकार करेगी । मोटी बात यह थी कि पुराने को छोड़ना पड़ेगा, नए को अपनाना होगा, जो हम कहेंगे सो ।

इस नई दिशा का निर्धारण भी अब होने लगा था । चार्ल्स ग्रांट का देहांत हो चुका था । उनके सुपुत्र छोटे ग्रांट कंपनी के प्रशासन में अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान रखते थे । यह बात भी कि यदि वे उपयोगी हों तो भारतीय भाषाओं को ही शिक्षा का माध्यम बना लिया जाए, चलने वाली नहीं थी । कंपनी राज में यह स्वाभाविक था । भाषा प्रयोग में आने से समृद्ध बनती है, प्रयोग में आने से पहले नहीं । भाषा की समृद्धि और प्रयोग की यह समस्या तो 200 वर्ष से लेकर अभी तक चली आ रही है । जब स्वतंत्रता के पचास वर्ष पश्चात् भी कोई भारतीय भाषा पूर्ण रूप से शिक्षा और प्रशासन का माध्यम नहीं बन पाई तो उस समय कैसे बन सकती थी ?

7. 'द वर्ल्ड बेल डिसप्लेड' (लंदन, 1759)

5
सस्ते नौकर

कंपनी द्वारा लिखे 1814 और 1824 के दोनों पत्रों से एक बात साफ समझ में आती है : शिक्षा पद्धति एवं शिक्षा का माध्यम दोनों उपयोगी होने चाहिए । सवाल उठता है—उपयोगी किसके लिए ? हम पीछे कह चुके हैं कि उपयोग का पात्र पहले तो सरकार ही होगी । किंतु शासित वर्ग को लाभ नहीं होगा क्या ? चार्ल्स ग्रांट ने 1793 में जब यह प्रस्ताव रखा था कि अंग्रेजी भाषा को शिक्षा और शासन दोनों का माध्यम बना दिया जाए तो क्या उनका मत यह था कि केवल अंग्रेज लोग ही अफसर और कर्मचारी बनकर भारत जाएंगे ? उन्होंने अंग्रेजी को संपर्क-भाषा बनाने की बात की थी, पर ऐसा कह कर भी वे अपनी भाषा का ही पक्ष ले रहे थे । यह संपर्क था शासक और शासितों के बीच, और यदि इन दोनों में संपर्क होता है तो शासितों को लाभ नहीं होगा ? अवश्य होगा । किंतु वास्तविक प्रश्न यह है कि दोनों में से किस का लाभ मुख्य है और किस का गौण ? ग्रांट के शब्दों को याद करें तो मानना पड़ेगा कि मुख्य पार्टी तो शासक ही थे । वे शिक्षा पद्धति से क्या उपयोग चाहते थे ? स्वयं शिक्षा पद्धति का संबंध किसी लाभ, हानि, उपयोग, अनुपयोग या दुरुपयोग के प्रश्न से था या नहीं ?

1813 के चार्टर ऐक्ट की धारा 43 के अनुसार प्रतिवर्ष एक लाख रुपया शिक्षार्थ रखा जा सकता था, किंतु सारा सरकारी खर्च निकालने के पश्चात् शेष में से । अर्थात् कंपनी सरकार का पहला ध्येय था कि भारत के प्रशासन से लाभ कमाया जाए । लाभ कमाने के लिए भारतीय प्रशासन पर व्यय कम किया जाए । व्यय कम करने के लिए नौकर सस्ते जुटाने चाहिए । अंग्रेज और हिंदुस्तानियों में से सस्ता कौन होगा ? हिंदुस्तानी । यदि हिंदुस्तानियों से शासन संबंधी उपयोगी काम लेना है तो शिक्षा कैसी होगी ? लाभ की चिंता तो मालिक ही करेंगे ।

लाभ, हानि, मालिक, नौकर, इस चर्चा में वित्त और व्यवस्था संबंधी प्रश्न जल्दी ही उठने लगे थे । 1820 से 1830 तक डायरेक्टर्ज़ भारतीय कंपनी सरकार को बार-बार लिखते रहे थे कि सरकारी खर्च कम किया जाए । बार-बार यही कहा जाता था कि सरकारी खर्च कम करने के लिए अधिक से अधिक भारतीयों को सरकारी पदों पर रखा जाए । अंग्रेज मालिक के लिए हिंदुस्तानी नौकर से सस्ता तो घोड़ा भी नहीं था । पहले यह कहा जा चुका है जिन भारतीय विद्यार्थियों को कलकत्ता मदरसा या बनारस संस्कृत कालेज में शिक्षा मिल रही थी उनसे यह अपेक्षा की जाती थी कि वे न्यायालयों और पर्यवेक्षणशाला में अंग्रेज अफसरों की सहायता करेंगे । लार्ड एलनब्रो, जो बोर्ड आफ कंट्रोल के अध्यक्ष थे, ने 23 अक्तूबर, 1830 को गवर्नर-जनरल लार्ड विलियम

बैंटिंक को लिखा था कि शासन पद्धति में परिवर्तन किए बिना भारत का प्रशासन वित्तीय दृष्टिकोण से सही नहीं चलाया जा सकेगा ।[1] पद्धति में परिवर्तन यह था कि भारतीयों को सरकारी कर्मचारियों के रूप में नियुक्त किया जाए । कारण यह था कि वे अंग्रेज कर्मचारियों की अपेक्षा बहुत सस्ते पड़ते थे । कौन-सी भाषा शिक्षा का माध्यम हो और कैसे और कितने स्कूल स्थापित किए जाएं—इन प्रश्नों का उत्तर केवल सरकारी नौकरियों के हिसाब से दिया जाने लगा । जिससे दो पैसे का लाभ हो वही उपयोगी, जहां पैर जमते हों वहीं बुनियाद ।

प्रारंभ से ही एक बात पर बल दिया गया था, वह यह कि सरकारी शिक्षा के द्वारा भारतीयों की नैतिक और बौद्धिक उन्नति होगी । अब यह भी स्पष्ट होने लगा कि यह बौद्धिक और नैतिक उन्नति किस उद्देश्य से की जाएगी । फिर वही प्रश्न शिक्षा के उपयोगी होने का उठ खड़ा होता है । डायरेक्टर्ज़ ने 1827 में गवर्नर-जनरल को लिखा कि शिक्षा प्रोग्राम सरकारी उपयोग को सामने रखकर आगे चलाया जाए । उन्होंने लिखा कि ऐसी आशा की जाती है कि प्रस्तावित शिक्षा-पद्धति न केवल उपयुक्त स्तर की बौद्धिक योग्यता उत्पन्न कर पाएगी अपितु शिक्षार्थियों के नैतिक स्तर को भी ऊंचा करेगी । फलस्वरूप आपको ऐसे कर्मचारी मिल जाएंगे जिनकी ईमानदारी और चरित्र-बल के आधार पर आप उनको सविश्वास महत्त्वपूर्ण सरकारी स्थान दे पाएंगे ।[2] नैतिक और बौद्धिक बल का धनी कौन ? जो सरकार-भक्त हो और स्वामी का विश्वासपात्र हो ।

26 जून, 1829 को गवर्नर-जनरल लार्ड विलियम बैंटिंक की ओर से शिक्षा समिति को एक पत्र लिखा गया जिस में शिक्षा, भाषा, सभ्यता और नैतिकता को सीधा नौकरी और प्रशासन के साथ जोड़ दिया गया । अब तो कोई संदेह रहा ही नहीं कि शिक्षा, भाषा और सभ्यता के संबंध में सरकार की इच्छा तथा प्रयास क्या था और अब तक सरकार किस दिशा में सोचती रही थी । पत्र में लिखा गया था कि भारत में यूरोपियन विज्ञान, नैतिकता और सभ्यता के प्रकाश से देश को ऊपर उठाने के लिए, तथा इस विषय के अंदर दृढ़ विश्वास करते हुए, बिना संदेह के गवर्नर-जनरल आपको यह अधिकार देते हैं कि आप अपने प्रबंध के अंतर्गत सभी संस्थाओं से संबद्ध लोगों में यह घोषणा कर दें कि ब्रिटिश सरकार की यह हार्दिक इच्छा है और पक्की नीति रहेगी कि अंततोगत्वा सारे देश में प्रशासन कार्य में सरकार की अपनी भाषा अर्थात् अंग्रेजी लागू कर दी जाए । सरकार हर प्रकार से प्रयत्न करेगी कि इस कार्यक्रम को हर उचित तथा क्रियात्मक तरीके से आगे बढ़ाया जाए ।[3] शिक्षा और भाषा के साथ-साथ अब सभ्यता भी जोड़ दी गई । धर्म-परिवर्तन की बात तो पुरानी-सी हो गई थी पर हुई थी मात्र सरकारी कागजों में, क्योंकि उस काम के लिए तो मिशनरी आ गए थे । सरकार ने सभ्यता और संस्कृति के क्षेत्र में शिक्षा और

---

1. उद्धृत : सलाहुद्दीन अहमद, 'सोशल आइडियाज एंड सोशल चेंज इन बंगाल, 1318-35' (लंदन, 1965), पृ० 151-52
2. ए०एन० वसु, 'इंडियन एज्यूकेशन इन पार्लमेंटरी पेपर्ज' (कलकत्ता, 1952), भाग 1, पृ० 160
3. उद्धृत : एडवर्ड्ज, 'ब्रिटिश इंडिया', पृ० 114

भाषा के माध्यम से भारत की स्थायी विजय का मिलता-जुलता किंतु देखने में फिर भी दूसरा कार्यक्रम बनाया। याद रहे कि विलियम बैंटिक के वापस भारत आने का प्रबंध स्वयं चार्ल्स ग्रांट कर गए थे। बोर्ड आफ कंट्रोल के अध्यक्ष लार्ड एलनब्रो ने भारतीयों को सरकारी नौकरियां दिए जाने के संबंध में 1930 में जो पत्र लिखा था उसकी चर्चा पहले ही की जा चुकी है। उसी पत्र में लार्ड एलनब्रो ने लिखा था कि आप भारतीय नौजवानों को सरकारी नौकरियों के लिए तैयार करने के लिए शिक्षा का प्रबंध करें और नौकरियों के लिए उनको प्रोत्साहित करें।[4] उस पत्र के छः दिन के पश्चात् ही कोर्ट आव् डायरेक्टर्ज़ ने दूसरा पत्र गवर्नर-जनरल को लिख दिया कि भारतीयों को अंग्रेजी पढ़ने के लिए अधिक प्रोत्साहन देने के लिए आप इस बात को पूरे तौर पर ध्यान में रखिए कि सभी सरकारी विभागों में आहिस्ता-आहिस्ता अंग्रेजी को प्रशासन की भाषा के रूप में लागू कर दिया जाए।[5]

1833 में कंपनी का चार्टर फिर से नया होने के लिए संसद के सामने लाया गया। चार्टर ऐक्ट पास कर दिया गया। चार्टर ऐक्ट में एक धारा यह डाली गई कि ब्रिटिश राज के किसी भारतीय नागरिक अथवा निवासी को उसके धर्म, जन्म-स्थान, कुल या रंग के कारण कंपनी सरकार के अंतर्गत किसी स्थान या पद या नौकरी से वंचित नहीं रखा जाएगा। इस धारा को चार्टर ऐक्ट 1833 में डलवाने के लिए स्वयं लार्ड मकाले ने बहुत काम किया था।[6]

अब तो कोई शक रह ही नहीं गया कि भारत में नई शिक्षा अंग्रेजी भाषा के माध्यम से दी जाएगी और ऐसे विषय पढ़ाए जाएंगे जो सरकारी काम में सहायक होंगे।

यदि अंग्रेजीविद् नौजवानों से सरकारी नौकरी के माध्यम से सरकार-सेवा की आशा की गई थी तो शिक्षा कैसे और कौन से स्तर तक दी जाएगी—यह प्रश्न भी उठा। आज भी यह प्रश्न उठता है, इसलिए कि किसी भी व्यवस्थित समाज के लिए यह जानना आवश्यक है कि समाज व्यवस्था में शिक्षा का योगदान क्या हो। जब भारत स्वतंत्र हुआ और समाज की नई जिम्मेदारी नई सरकार ने संभाली, तो शिक्षा आयोग इसीलिए नियुक्त किए गए थे कि वे सरकार को बताएं कि नए युग में नई समाज व्यवस्था के अंदर शिक्षा क्या और कैसे योगदान दे। शिक्षा समाज व्यवस्था और समाज की उपलब्धियों का सशक्त साधन है। साथ में नई समाज व्यवस्था नई शिक्षा पद्धति का स्वयं निर्णय करती है। सभी जनतंत्रीय स्वतंत्र देशों में ऐसा होता है, अर्थात् स्वतंत्र और सुव्यवस्थित समाज में शिक्षा और समाज व्यवस्था दोनों के बीच एक पारस्परिक संगति हुआ करती है। शिक्षित वर्ग को सरकार की सहायता तो स्वतंत्र समाज में करनी ही होती है, साथ ही उनसे समाज को यह आशा भी होती है। किंतु शिक्षा केवल सरकारी नौकरी का ध्येय मानकर न दी जाती है और न ली जाती है। ऐसे समाज में शिक्षित वर्ग, समाज और सरकार इन तीनों के बीच एक विशेष और रचनात्मक साहचर्य और सहयोग होता है। ऐसे समाज में

4. उद्धृत : सलाहुद्दीन अहमद, 'सोशल आइडियाज़ एंड सोशल चेंज इन बंगाल, 1318-35', पृ० 151-52
5. उद्धृत : मुखर्जी, 'हिस्ट्री आफ एज्यूकेशन इन इंडिया', पृ० 354
6. टामस बबिंग्टन मकाले, 'वर्क्स' (अलबनी संस्करण, लौगमैन, 1898), XI, पृ० 582-83

शिक्षा का अवसर भी सब को यथायोग्य मिलना चाहिए, इसीलिए शिक्षा व्यवस्था में शिक्षित वर्ग, समाज और सरकार तीनों ही भागीदार होते हैं। अंग्रेजी राज में यह प्रश्न उठा तो अवश्य, किंतु इसका निर्णय केवल सरकार को करना था और उसी ने किया। शासक-शासित संबंध के संदर्भ में केवल शासक को ही यह अधिकार था।

शिक्षा केवल सरकारी नौकरी के लिए दी जाए इस नीति का परिणाम यह हुआ कि केवल सीमित स्तर पर सीमित वर्ग को ही शिक्षा देना पर्याप्त समझा गया। रुपया तो था केवल एक लाख। वह भी सारा खर्च निकालकर यदि शेष रहे तो खर्च होना था। यह स्थिति भी बदल जानी थी क्योंकि अब तो नई शिक्षा के लिए सरकार भी अपनी योजना बनाने जा रही थी। इसी कारण यह विचार किया गया कि शिक्षा देने हेतु सभी के लिए स्कूल खोले जाएं या कुछ चुने हुए लोगों के बच्चों के लिए। भारत में कुछ लोग ऐसे थे जो मुगल काल से ही सरकारी नौकरी की परंपरा में पले थे। उन्होंने मुगल काल में फारसी पढ़ी थी। फारसी पढ़ने का उनके धर्म-कर्म पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा था क्योंकि फारसी भाषा और साहित्य के प्रति उनका दृष्टिकोण मात्र व्यवसायात्मक रहा था। सरकारी नौकरी के कारण यदि उन्हें मुसलमानों से मिलना-जुलना पड़ा या उनके साथ खाना-पीना पड़ा तो इसको उन्होंने दिनचर्या का अंग मान लिया और धर्म-कर्म के प्रश्न को इससे अलग रखा। इन लोगों का अंग्रेजी के संबंध में भी यही दृष्टिकोण रहा। अंग्रेजी भाषा और साहित्य के अध्ययन को उन्होंने व्यावसायिक दृष्टिकोण से देखा। अंग्रेजी सरकार को केवल ऐसे लोगों की तलाश थी जो निस्संकोच अंग्रेजी पढ़ें और सरकार की सहायता करें। यदि उन पर अंग्रेजी सभ्यता का रंग चढ़े तो बहुत अच्छा अन्यथा कम से कम इस नए मोड़ को चुनौती की भावना से तो न देखें। ऐसे ही एक व्यक्ति थे कलकत्ता के राधाकांत देव (1785—1867) जिन्हें अंग्रेजी शिक्षा और धर्म में कोई आवश्यक विरोध दिखाई नहीं पड़ा। इसी दृष्टिकोण के कारण देव के साथी उनको एक अजूबा समझते थे।[7]

सरकार को केवल इतने आदमी चाहिए थे जितने अत्यंतावश्यक हों। 1820 से कंपनी सरकार ने इस समस्या पर विशेष विचार करना प्रारंभ किया था। उन्होंने भारत में शिक्षा के प्रश्न को कंपनी के राजनीतिक हितों के अतिरिक्त आर्थिक हितों से भी जोड़ दिया था।[8] पहले भी 1793 में शिक्षा प्रस्ताव की दूसरी धारा को अस्वीकृत करने का कारण राजनीतिक आशंकाओं के साथ-साथ पैसे का खर्च भी था।[9] 1826 में जब यह नियम बन गया कि भारतीयों को सरकारी नौकरी में लिया जाएगा तो शिक्षा का प्रश्न वास्तविक व्यापार का प्रश्न बन गया। स्कूल खोलना भी व्यापार का हिस्सा बन गया। इसीलिए डायरेक्टर्ज़ ने गवर्नर-जनरल को लिखा कि यदि भारत में जगह-जगह स्कूल खोलोगे तो सरकार और जनता दोनों पूर्ण रूप से घाटे में रहेंगे।[10]

7. 'कलकत्ता रिव्यू' (1867), XIX, पृ० 90, 323
8. 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया', VI, पृ० 109
9. फिलिप्स, 'ईस्ट इंडिया कंपनी', पृ० 35, 159
10. 'पार्लमेंटरी पेपर्ज़', उद्धृत : फिलिप्स, 'ईस्ट इंडिया कंपनी', पृ० 247

फ़ायदे का सौदा क्या था ? प्रारंभ से ही कंपनी सरकार और डायरेक्टर्ज को यह भान हो चुका था कि केवल युद्ध में विजय प्राप्त करके भारत पर अपना सिक्का नहीं जमाया जा सकता । इसलिए भारत के लोगों पर अपनी न्यायप्रियता और उदारता का प्रभाव डाल कर उनके मन और भावनाओं पर अधिकार जमाना आवश्यक था । किंतु ये कौन लोग थे जिन पर यह प्रभाव डाला जाना चाहिए था ? कलकत्ता मदरसा इसलिए खोला गया था कि मुसलमान अभिजात वर्ग के मन पर सरकार की उदारता का प्रभाव पड़े और ऊंचे वर्ग के बेटों को ऊंची सरकारी नौकरियों के लिए तैयार करके उनको सरकारी मशीन के पुर्जे बनाया जाए । बनारस संस्कृत कालेज की स्थापना इसलिए की गई थी कि सरकार भारतीय रजवाड़ों से भी बढ़कर अपनी उदारता के कारण हिंदुओं के दिलों में जगह बना ले ताकि वहां से यूरोपियन न्यायाधीशों की सहायता करने के लिए हिंदू विधिशास्त्र के विद्वान पैदा किए जाएं । जैसे मुस्लिम ऊंचे वर्ग पर मदरसे के माध्यम से प्रभाव डालने की योजना बनाई गई थी वैसे ही ब्राह्मणों के मन को प्रभावित करने की योजना बनारस संस्कृत कालेज के माध्यम से बनाई गई । 1813 के प्रस्ताव में भी भारत के लर्निड् नेटिव्ज अर्थात् पंडितों के प्रोत्साहन पर बल दिया गया था । 1814 के पत्र में विद्वान हिंदुओं को अपने साथ सहमत कराने की योजना पर बल दिया गया था । बनारस के पंडितों की ओर गवर्नर-जनरल को विशेष ध्यान देने के लिए कहा गया था । 1824 में भी जो पत्र डायरेक्टर्ज़ ने लिखा था उसमें इस बात पर बल दिया गया था कि हिंदू या मुसलमानों की धार्मिक मान्यताओं या रीति-रिवाजों को चुनौती न दी जाए । चुनौती तो केवल उच्च वर्ग को ही दी जाती है । कमजोर और निम्न वर्ग को कौन पूछता है ? 1830 में अपने पत्र में डायरेक्टर्ज ने यह बात स्पष्ट कर दी कि अंग्रेजी शिक्षा केवल उच्च वर्ग को ही दी जाएगी । उन्होंने लिखा कि यदि शिक्षा में कोई सुधार या प्रगति करनी है और इस उद्देश्य को लेकर करनी है कि भारतीय लोगों के नैतिक और बौद्धिक जीवन की उन्नति हो तो उस उच्च वर्ग की शिक्षा की ओर ध्यान देना होगा जिनके पास समय है और जो दूसरे लोगों के मन पर प्रभाव डाल सकते हैं । उच्च वर्ग की शिक्षा के स्तर को ऊंचा करके उनके माध्यम से आप जनसाधारण के विचारों और भावनाओं में अधिक गहरा परिवर्तन ला सकते है, अपेक्षाकृत इसके कि आप सीधे एक भारी जनसमूह की शिक्षा को अपने हाथ में लेकर परिवर्तन लाने का प्रयत्न करें ।[11] अंग्रेजी शिक्षा वर्ग-विशेष की शिक्षा होगी यह दिशा निर्धारित हो गई । इसी वर्ग-विशेष में से संभवतः एक वर्ग-विशिष्ट का गठन भी किया जा सकेगा जो भारत की जनता के बीच अंग्रेजी ब्राह्मणों या ब्राउन गोरों का काम करेगा अर्थात् सरकार की नौकरी करेगा और स्वामिभक्त बन कर सरकार और जनता के बीच संपर्क का माध्यम बनेगा । थोड़े स्कूल, थोड़ी पूंजी, लाभांश निश्चित और पक्का । योजना ठीक थी ।

11. शार्प, 'सलेक्शंज फ्रॉम एज्यूकेशनल रिकार्ड्स', पार्ट 1, पृ० 79

6
नई हवा : नया नशा

1813 के चार्टर ऐक्ट की धारा 13 के अनुसार मिशनरीज को खुली छुट्टी मिल गई थी कि वे भारत में आकर शिक्षा और धर्म का प्रचार करें । सरकार तो केवल बड़ी मछलियां पकड़ने की इच्छुक थी, इस कारण से कि बड़ी मछली स्वयं छोटी मछली को पकड़ लेगी । मिशनरीज को खुली छूट थी कि वे बड़ी पकड़ें या छोटी । मिशनरीज ने सीधा जाल तो शिक्षा का ही फैलाया किंतु उसके तारों में निहित धर्म-परिवर्तन के कांटे भी थे । सरकार इस बात को जानती थी और चुपके-चुपके मिशन संबंधी काम का अनुमोदन और सराहना भी करती थी ।

जैसे ही 1813 में भारत के द्वार मिशनरीज के लिए खुले, वे बाढ़ के समान उमड़ पड़े । कई मिशन संस्थाएं पहुंच गईं और उन्होंने स्कूल और कालेज खोल डाले । बैपटिस्ट मिशन ने 1818 तक बीस स्कूल और सैरामपुर कालेज खोल दिए । लंदन मिशन सोसायटी ने 1818 तक 36 स्कूल खोले और 1820 में शिवपुर में एक कालेज खोल दिया । कलकत्ता स्कूल सोसायटी ने 1819 में अपने स्कूल खोल दिए । 1818 में बनारस में जयनारायण घोशाल अंग्रेजी स्कूल खुल गया । 1830 में स्काटिश मिशन ने स्काटिश चर्च कालेज खोल दिया । सरकार की भाषा, शिक्षा और विशेषकर नौकरी संबंधी नीति के कारण इन स्कूलों और कालेजों में विद्यार्थियों की भीड़ लग गई । अंग्रेजी भाषा की शिक्षा के लिए इस तरह बढ़ती मांग को देखकर सामान्य लोक शिक्षा समिति को अपनी ओरियंटल संस्थाओं में भी अंग्रेजी की कक्षाएं प्रारंभ करनी पड़ीं । 1824 में कलकत्ता मदरसा में, 1827 में संस्कृत कालेज में, 1828 में दिल्ली कालेज में, 1830 में बनारस संस्कृत कालेज में, 1834 में मुर्शिदाबाद कालेज में और 1835 में आगरा कालेज में अंग्रेजी की क्लासें खोल दी गईं । 1817 में राजा राममोहन राय, डेविड हेयर और एडवर्ड हाइड ईस्ट के प्रयास से विद्यालय अर्थात् हिंदू कालेज खुला जो बाद में प्रेजिडेंसी कालेज बन गया ।

इन सभी संस्थाओं में अंग्रेजी पढ़ने के लिए उत्सुक विद्यार्थियों की भीड़ लग गई । चार्ल्स ग्रांट की भविष्यवाणी सत्य निकली । उन्होंने कहा था कि अंग्रेजी शिक्षा के आरंभ होने के तत्काल बाद नौजवानों की भीड़ लग जाएगी । इन नौजवानों को ऐसा लगा जैसे उनके सामने एक नई दुनिया के द्वार खुल गए हैं । एक नई उमंग और नए उत्साह से उनका जीवन प्रफुल्लित-सा होता दिखाई दे रहा था । दो वर्षों में ही कलकत्ता स्कूल सोसायटी ने 30,000 पुस्तकें बेच लीं । अलेग्जांडर डफ़, जो एक बहुत ही महत्त्वाकांक्षी मिशनरी थे, ने इस दृश्य का जो चित्रण किया

है उसमें एक रोचक अतिशयोक्तिपूर्ण वास्तविकता की झलक दीख पड़ती है : वे कहते हैं कि ये नए नौजवान गलियों में हमारा पीछा करते, हमारी पालकियों के दरवाजे खोल लेते, और चेहरे पर एक सीधी-सच्ची सौम्यता लिए इस प्रकार विनम्रता से (अंग्रेजी शिक्षा के लिए) प्रार्थना करते कि उनकी दयनीय दशा को देखकर पाषाण हृदय भी अवश्य द्रवित हो जाता ।[1] रोजी-रोटी की तलाश में भटकते नौजवानों का अंग्रेजी मसीहाओं के सामने इस प्रकार झोली फैलाना और नौकरी का वरदान मांगना भारतीय इतिहास का एक कड़वा सत्य रहा है और आज भी है ।

सरकारी शिक्षा समिति तो नए-पुराने के हेर-फेर में ही फंसी हुई थी । इस नई हवा के ये नए मतवाले अपना अलग ही रंग दिखा रहे थे । भारत के इस उभरते भविष्य की एक तसवीर विद्यालय के विद्यार्थियों के माध्यम से खींची गई है । इन नौजवानों ने अंग्रेजी भाषा साहित्य और विज्ञान पर जो अधिकार प्राप्त किया था वह शायद ही यूरोप के किसी महाविद्यालय के विद्यार्थियों ने प्राप्त किया हो । विद्यालय से बड़े मेधावी स्नातक निकले जिन्होंने बहुत नाम कमाया और आगे चलकर उन्होंने स्कूल खोलकर अंग्रेजी शिक्षा-प्रचार में बड़ा योगदान दिया । ये स्नातक थे के०एम० बैनर्जी, माइकल मधुसूदन दत्त, काशी प्रसाद घोष, भूदेव मुखर्जी । स्वयं शिक्षा समिति ने 1831 में कहा था कि भारत में अंग्रेजी शिक्षा के प्रति एक विशेष और सराहनीय अभिरुचि उत्पन्न हो गई है और विद्यालय के स्नातकों द्वारा चलाए गए स्कूल स्थान-स्थान पर बन रहे हैं ।[2]

यह तो है चित्र का एक पक्ष । दूसरा पक्ष था इससे भिन्न और उसका बौद्धिक विकास से दूर का भी संबंध नहीं था । वह था एक नई सभ्यता का नशा । विद्यार्थियों के पुराने विश्वास टूट चुके थे । नए बने नहीं थे । मात्र नई उमंग ने उनको पागल बना दिया था । एक विचित्र-सा तूफान उनके जीवन में आ गया था । उनके जीवन में एक नया सूर्य पश्चिम से निकला तो, किंतु इस नए सवेरे में वह एक नए अंधेरे का संदेश भी साथ ले कर आया । इन नौजवानों ने जात-पांत के बंधन तोड़ डाले, रूढ़ि और परंपरावाद को ठोकर मार दी सो तो ठीक, किंतु साथ में समस्त हिंदू धर्म, शुद्ध एवमेव विकृत, सनातन एवमेव नूतन, वेदांत और पुराण, सबको ही तो ठुकरा दिया । और इस प्रकार वे एक नए शून्यवाद के शिकार होकर अपने आप को सत्य के स्वच्छंद सहचारी कहने लगे । वे गौ तथा सूकर का मांस खाते, शराब पीते और एक जाम हाथ में लिए अपने आपको नए सत्य के पुजारी कहने लगे । वे सब के सब इस नई तथाकथित आत्मानुभूति पर गौरव करते थे ।[3] सिगरेट के धुएं और चाय के बादलों में उड़ते अंग्रेजी के मनचलों को तो मैंने भी 1947 तक देखा है । बाद में तो सारी हवा और भी बदल गई ।

सनातन धर्म पर यह नया और सीधा प्रहार हो रहा था । इस प्रहार और उसकी बढ़ती सफलता के कारण मुख्यतया दो थे : हिंदू धर्म और उसके मानने वालों का पिछड़ापन और ईसाई मत, विशेषकर उसे मानने वालों की राजशक्ति । उस समय तक दयानंद, विवेकानंद और गांधी जी

1. उद्धृत : सी०एफ० एंड्रयूज और ए० मुखर्जी, 'राइज एंड ग्रोथ आफ दि कांग्रेस इन इंडिया' (मुंबई, 1938), पृ० 70
2. उद्धृत : मुखर्जी, 'हिस्ट्री ऑफ एज्यूकेशन इन इंडिया', पृ० 70
3. वही, पृ० 71-72

तो क्षेत्र में थे ही नहीं और हिंदू धर्म केवल कर्मकांड, अंधविश्वास और रूढ़िवाद का पुलिंदा मात्र बनकर रह गया था । चार्ल्स ग्रांट के विचार, डायरेक्टर्ज़ का 1824 का पत्र, मिशनरियों के वक्तव्य इत्यादि इसी बात पर बल देते थे । यह भी मान्यता ईसाई एवं सरकारी अफसरों की थी कि किसी भी धर्म के सत्यस्वरूप का अनुमान उसके मानने वालों की बौद्धिक, आर्थिक और सामाजिक अवस्था से लगाया जा सकता है । हिंदू समाज की सामयिक अवस्था तो निष्प्राण-सी थी । इसीलिए इस धर्म को झूठा, वाहियात और खुराफ़ातप्राय समझा जाता था । इसके सामने ईसाई मिशनरी और ईसाई अफ़सर भारत विजेता माने जाते थे । इसी कारण ईसाई मत को सशक्त समझा जाता था । अंग्रेजी पढ़ने वाले विद्यार्थियों को ईसाई मत का न केवल यह राजनीतिक रूप ही दिखता था बल्कि वे शेक्सपियर, मिल्टन, बेकन, वर्डस्वर्थ, बैन्थम्, मिल और सारे पाश्चात्य दर्शन, तर्कशास्त्र और साइंस को ईसाई मत की ही देन समझते थे । हिंदू धर्म के ढिलमिल ढांचे के विपक्ष में जब इन विद्यार्थियों ने पश्चिमी सूर्य की यह सफल चकाचौंध देखी तो उनकी तो आंखें चौंधिया गईं । वे समझने लगे कि सच्ची और ऊंची शिक्षा केवल ईसाई शिक्षा है । मिशन स्कूलों में उन पर प्रतिदिन नया रंग चढ़ाया जाता रहा । कलकत्ते के एक पत्र 'द इंग्लिशमैन' ने तो यहां तक लिख दिया कि लोगों को उनके जंगली और बर्बर रूढ़िवाद और व्यर्थ कर्मकांड से छुड़ाने का पक्का और सबसे अच्छा तरीका केवल यह है कि उनमें अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार किया जाए ।[4] उनको ईसाई बनाया जाए, यह कहने की आवश्यकता ही नहीं रह गई थी ।

अलेग्जांडर डफ़ धर्म-परिवर्तन के काम में बड़े सफल रहे । सबसे पहले उन्होंने 1832 में कृष्ण मोहन बैनर्जी को ईसाई बनाया । फिर महेशचन्द्र घोष, कैलाशचन्द्र मुखर्जी, प्यारे मोहन रुद्र, ए०सी० मजुमदार, लालबिहारी डे और माइकल मधुसूदन दत्त ईसाई बने । 1844-45 में प्रसन्नचन्द्र बैनर्जी और ताराचन्द्र बैनर्जी ईसाई बने । ये दोनों कुलीन ब्राह्मण थे और स्कॉटिश चर्च कालेज के विद्यार्थी थे । इनके ईसाई बनने से तो सारे शहर में सनसनी फैल गई । वास्तव में सारे ही विद्यार्थी जो ईसाई बने वे ऊंचे परिवारों के थे । मिशनरी ऐसा मानते थे कि यदि ब्राह्मणों और दूसरे ऊंचे वर्ग के हिंदुओं को ईसाई बना लिया गया तो बाकी सब तो अपने आप उनके पीछे चले आएंगे । लालबिहारी डे द्वारा लिखित 'अलेग्जांडर डफ़ के संस्मरण' (रिकलेक्शंज़ आफ अलेग्जांडर डफ़) नाम की पुस्तक में ईसाई बनने वालों की एक लंबी सूची दी हुई है । एक संत से किसी ने पूछा कि भगवान को पाने का क्या उपाय है ? संत ने उत्तर दिया :

रब्ब दा की पाणा
उत्थों लाह् के इत्थे लाणा ॥

संत उस समय किसी बूटे की पौध लगा रहे थे । उनका मतलब था कि मन को विकारों से हटाकर अर्थात् उखाड़कर भगवान के रास्ते पर लगाना । ईसाई मिशनरी नौजवानों के मन को तत्कालीन हिंदू परंपरा से हटाकर ईसाई परिवार में मिला देते थे और एक नए रब की प्राप्ति के सपने सजाते थे । केवल अंग्रेजी शिक्षा से भी हिंदू विद्यार्थी उखड़ जाते थे और जैसे ही वे अपनी जड़ों से

4. देखिए : एडवर्ड्ज, 'ब्रिटिश इंडिया', पृ० 141

उखड़ते थे पादरी उनको दबोच लेते थे । गिरते को थोड़ा सहारा ही काफी होता है । उनमें राममोहन जैसा विश्वास तो था नहीं और ईसाई तर्क का कोई उत्तर भी उनके पास नहीं था । नए सुरूर में वे नौजवान उखड़ते चले गए ।

राजा राममोहन राय के जीवन में एक बड़ी रोचक घटना घटी । राममोहन जी हिंदू धर्म के रूढ़िवाद के विरोधी थे और ईसाई मत को समझने में रुचि भी लेते थे । उनके तर्कवाद और नई उदारता को देखकर कलकत्ते के बिशप मिडल्टन महोदय को गलतफहमी हो गई । उन्होंने समझा कि राजा साहब ने धर्म-परिवर्तन कर लिया है । अतः उन्होंने उनको बधाई दी कि आपने सच्चे धर्म का अनुसरण करना स्वीकार कर लिया । राजा साहब ने उत्तर दिया कि श्रीमन्, आपका अनुमान ठीक नहीं है । मैं एक अंधविश्वास को छोड़कर दूसरे को ग्रहण क्यों करूं ?[5] तर्क उखाड़ तो सकता है किंतु स्वतः श्रद्धा प्रदान नहीं कर सकता । श्रद्धा के लिए चाहिए तर्क से ऊंचा विश्वास और आदि गुरु की कृपा । अंग्रेजी शिक्षकों ने अपने तर्क से विद्यार्थियों के अंधविश्वास को उखाड़ दिया और ईसा-सेवियों ने ईसाइयत का अनुदान देकर खाली जगह को भर दिया । विद्यार्थियों ने उसी को प्रसाद समझकर भोग लगा लिया । अंधे को अंधेरे में जुगनू भी रास्ता दिखा सकता है ।

राजा राममोहन राय का नाम दो कामों के लिए विख्यात है : हिंदू धर्म का सुधार और हिंदू समाज का पुनर्जागरण । ये दोनों कार्य इंडियन रिनेसां अर्थात् भारत की पुनर्जागृति के नाम से जाने जाते हैं । हिंदू धर्म के सुधार के लिए उन्होंने ब्राह्म समाज की स्थापना की । उन्होंने अपनी पुस्तक 'तोहफातुलमवाहिदीन' में सुधार संबंधी बातें लिखी हैं । वे केवल तीन बातों को मानते थे : मात्र एक सृष्टि रचयिता ईश्वर, जीवात्मा, और आवागमन अर्थात् कर्म सिद्धांत । वे सगुण साकार ईश्वर में विश्वास नहीं करते थे । अवतार, पीर, पैगम्बर, चमत्कार, तीर्थयात्रा, व्रत, उपवास इत्यादि किसी बात को नहीं मानते थे । उन्होंने इन सबको अंधविश्वास मानकर अपने तर्क से उखाड़ फेंका । परिणामस्वरूप हिंदू धर्म उनके लिए केवल दर्शन और बुद्धियोग का विषय बनकर रह गया । बुद्धियोग और निराकार साधना केवल विरले ज्ञानी जनों का काम है या ऊंचे स्तर के दार्शनिकों का । जनसाधारण की भक्ति की भूख इससे नहीं मिटती । उसे पूजा-अर्चना और आराधना की आवश्यकता है । स्वामी दयानंद जिन्होंने निराकार का प्रतिपादन करके पाखंड खंडिनी पताका हरिद्वार में फहराई थी उन्होंने भी निराकार और निर्गुण भक्ति के साथ-साथ सगुण भक्ति, पंच महायज्ञ और सोलह संस्कारों को माना है । जनसाधारण को धर्म का सहारा तो चाहिए ही, साथ ही उस सहारे के आधार-अवलंबन इत्यादि भी चाहिए । यज्ञ, तीर्थ, देवस्थान, मूर्ति ये कल्पना की कृतियां हैं जिन सबके पीछे गुणातीत, निराकार और श्रद्धा की प्रेरणा है । दर्शन और कल्पना दोनों के माध्यम से हमने अपने ध्यानार्थ इन आलंबनों का सर्जन किया है । जैसे वासना हेतु, फल, आश्रय और आलंबन का सहारा लेती है वैसे ही उसी प्रकार का सहारा श्रद्धा को भी चाहिए । राममोहन राय दर्शन विशेष की बौद्धिक प्रक्रिया में उलझकर इन मनोवैज्ञानिक तथ्यों को

5. 'कलकत्ता गजट' (कलकत्ता, 8-10-1829)

भुला बैठे और नास्तिकवाद के इतना निकट आ गए कि स्वयं उन्हीं को अपने तर्क से भय लगने लगा ।[6] उन्होंने स्वयं कलकत्ते के एक ऐसे वर्ग की चर्चा की है जिसने पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त करके अपने धर्म के श्रद्धा-स्तंभ तोड़ना तो सीख लिया किंतु कोई नए स्तंभ निर्माण करना नहीं सीखा । इसी वर्ग के सदस्यों में हिंदू नौजवान भी थे । राममोहन राय के मत में ये लोग रूढ़िवादी हिंदुओं की अपेक्षा अधिक खतरनाक और नीच थे ।[7]

नई हवा में उड़ने वाले अंग्रेजी भाषा, शिक्षा और ईसाइयत के नशे में देश को किधर ले जाएंगे इसका पता किसी को नहीं था । जो जागे थे वे नशे में थे । बाकी सब सोए पड़े थे ।

6. सुमीत सरकार । देखिए : वी०सी० जोशी, 'राममोहन राय' (विकास, 1975), पृ० 50
7. एस०डी० कोलेट, 'लाइफ एंड लेटर्ज आफ राममोहन राय' (लंदन, 1900), पृ० 371

7

राजा राममोहन राय : पुनर्जागृति का प्रश्न

राजा राममोहन राय को 'फ़ादर आव इंडियन रिनेसां' अर्थात् भारत पुनर्जागृति का प्रवर्तक कहा जाता है। वे अंग्रेजी राज के अंतर्गत नई हवा में अंग्रेजी भाषा, साहित्य, साइंस और सभ्यता के माध्यम से ऐसे भारत का स्वप्न ले रहे थे जो आर्थिक और सामाजिक समृद्धि में इंग्लैंड और यूरोप के समकक्ष हो। वे भारत की उन्नीसवीं शती को यूरोप और इंग्लैंड की पंद्रहवीं शती के बराबर मान कर यहां आने वाली नई रोशनी को यूरोपियन रिनेसां (पुनर्जागृति) के समान समझते थे। उनके मत में इस नई जागृति का माध्यम था अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजी शिक्षा।

जब सामान्य शिक्षा समिति 1823 में कलकत्ता संस्कृत कालेज खोलने की योजना बना रही थी तो राजा राममोहन राय ने उस योजना का विरोध करते हुए एक पत्र गवर्नर-जनरल लार्ड एमहर्स्ट को लिखा था। उन्होंने इंग्लैंड में पुनर्जागृति कैसे आई इस विषय की चर्चा करते हुए कहा था कि उस समय मध्यकालीन दर्शन-शास्त्र की जगह बेकन के दर्शन और विज्ञान ने ले ली थी। मात्र मध्यकालीन दर्शन के सहारे तो इंग्लैंड अंधेरे और अज्ञान से बाहर नहीं निकल सकता था। इंग्लैंड को नए विज्ञान की दिशा में आगे चलना वांछनीय था, इसीलिए उसने मध्यकालीन दर्शन के स्थान पर बेकन और विज्ञान को अपना लिया था। उसी तरह से यदि भारत को अंधकार में ही रखना है तो संस्कृत शिक्षा पद्धति उसका अति उत्तम साधन है। किंतु यदि भारत को अंधेरे से उजाले में लाना है तो एक नई, उदार और प्रबुद्ध शिक्षा पद्धति लागू करनी पड़ेगी जिसमें पाठ्यविषय हों गणित, प्राकृतिक दर्शन, कैमिस्ट्री और विज्ञान की अन्य उपयोगी शाखाएं। उन्होंने यह सुझाव भी दिया कि इस पद्धति को संपन्न करने के लिए प्रस्तावित एक लाख रुपए से एक कालेज खोला जाए जिसमें आवश्यक पुस्तकों और प्रयोगशालाओं का प्रबंध हो और वहां यूरोप में शिक्षा-प्राप्त कुछ योग्य व्यक्तियों को प्राध्यापक रूप में नियुक्त किया जाए।

राममोहन राय के विचार में प्राचीन भारतीय भाषा, साहित्य तथा सभ्यता को मात्र नए इंजेक्शन की आवश्यकता नहीं थी। उनके मत में तो सारे समाज को ही बदलना अनिवार्य था। केवल पुराने प्रवाह को नया मोड़ देने से काम चलने वाला नहीं था। उनके विचार में यहां का समाज और साहित्य दोनों पूर्ण रूप से जर्जर हो चुके थे और पूरे के पूरे ढांचे को ही बदलकर नया करने की आवश्यकता थी। समाज का पुनर्नवन केवल ज्ञान-विज्ञान और भाषा के पश्चिमी संस्करण से ही संभव था। तदर्थ उन्होंने जो विषय-सूची दी, अथवा प्राध्यापकों की नियुक्ति के

बारे में सुझाव दिया तथा संस्कृत और अंग्रेजी के महत्व का जो तुलनात्मक विश्लेषण किया उस सारे क्रियाकलाप में वे अंग्रेजी के पक्ष में बह गए। विशेषकर भाषा के क्षेत्र में वे एक मौलिक गलती कर गए। इस बात पर बहुत कम ध्यान दिया गया है। लोग यह भूल जाते है कि यूरोप में जो वैचारिक और वैज्ञानिक क्रांति आई थी वह लोकभाषा के माध्यम से आई थी। राजा साहब यह भी भूल गए कि बेकन के दर्शन ग्रंथ लैटिन भाषा में लिखे गए थे, अंग्रेजी में नहीं। इस बात को कुरेदने से कोई विशेष लाभ तो होने वाला है नहीं क्योंकि इतिहास को उलटाया नहीं जा सकता किंतु मौलिक गलतियों को वैचारिक स्तर पर तो ठीक किया जा सकता है। हमारे लिए यह समझना अत्यंत आवश्यक है कि जागृति यदि प्राचीन भाषा के माध्यम से नहीं आ सकती तो विदेशी भाषा के माध्यम से भी नहीं आ सकती। जो भी तथाकथित जागृति यहां आई है वह अंग्रेजी भाषा के माध्यम से कितने लोगों के लिए आई है ? क्या दो सौ वर्ष के पश्चात् भी ऐसे लोग नहीं हैं, जिन तक अंग्रेजी के माध्यम से नया संदेश नहीं पहुंच पाया है ?

राजा राममोहन राय ने विज्ञान की तुलना में संस्कृत और मध्यकालीन शिक्षकों की चर्चा वैसे ही की है जैसे टामस स्प्रैट ने अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री आफ दि रायल सोसाइटी' में नए वैज्ञानिकों की तुलना में मध्यकालीन दार्शनिकों की की है। मध्यकालीन दार्शनिक व्यर्थ के प्रश्नों में उलझे रहते थे जिनका संबंध दैनिक जीवन से था ही नहीं। उदाहरणार्थ वे थियोलजी के ऐसे प्रश्नों को सुलझाने में लगे थे जैसे : सूई की नोक पर कितने फरिश्ते बैठ सकते है ? दूसरी कमी उनकी थी 'अथारिटीवाद' अर्थात् जो शास्त्र में लिखा है वह पत्थर की लकीर है। एक शिष्य ने गुरु जी से कहा कि महाराज आप कहते हैं कि शास्त्र के अनुसार चांद पूर्णतः निर्मल है, मुझे तो उसमें धब्बे दिखाई देते हैं। गुरु जी ने उत्तर दिया कि शास्त्र झूठा नहीं हो सकता। जो धब्बा तुम्हें दीखता है संभवतः वह तुम्हारी आंख में है और उसी का बिम्ब तुम्हें चांद पर दीखता है। तीसरी कमजोरी उनकी थी लैटिन भाषा जो जनसाधारण की भाषा नहीं थी। नए विज्ञान के गुण थे उपयोगिता और बुद्धिगम्यता, और उसका माध्यम था लोकभाषा अर्थात् अंग्रेजी। इंग्लैंड में अंग्रेजी और फ्रांस में फ्रेंच, ऐसे ही इटली में इटैलियन और जर्मनी में जर्मन। राममोहन राय भी उपयोगी विद्या को ही उचित विषय समझते थे। बौद्धिक परिष्कार को भी वे ऊंचा स्थान देते थे। किंतु वे यह गलती अवश्य कर गए कि हिंदुस्तान के संदर्भ में लैटिन और संस्कृत को तो बराबर पुरानी भाषा कह गए किंतु साथ ही अंग्रेजी को आधुनिक भाषा कह गए। अंग्रेजी इंग्लैड में आधुनिक भाषा थी और है, भारत में नहीं।

भारत में आधुनिक भाषाएं थीं और हैं, और वे हैं भारतीय भाषाएं। आधुनिक अर्थात् माडर्न भाषा का अर्थ है लोकभाषा। इंग्लैंड की लोकभाषा भारत की लोकभाषा कैसे हो गई ? इसलिए उस समय उन्होंने जो बात कही वह लोक की नहीं थी, भद्रलोक की थी।

यूरोपियन रिनेसां के समय शिक्षा का माध्यम था लैटिन भाषा। आधुनिक लोक भाषाओं को माध्यम बनाने के लिए जनता को विशेष संघर्ष करना पड़ा था। उस समय की भाषाएं तब तक पूरी विकसित भी नहीं थीं। अतः उनके समर्थकों को इन भाषाओं के शिक्षा और विज्ञान

माध्यम रूप में स्वीकृत होने के लिए फ्रांस, इटली और इंग्लैंड में लोकभाषा आंदोलन करना पड़ा था, तब कहीं लोकभाषाएं लैटिन के स्थान पर आ सकी थीं। इंग्लैंड में इस आंदोलन के अग्रणी नेता थे एलियट, एस्कम, विल्सन, पटनम और मलकास्टर। मलकास्टर ने बड़े साहसपूर्वक लैटिन के विद्वानों से पूछा था : क्या यह कोरी भाषाई दासता नहीं है कि शिक्षा के लिए लैटिन सीखने में इतना समय नष्ट किया जा रहा है जबकि शिष्यों की अपनी ही भाषा उपलब्ध है ? इस विचार के अनुसार लैटिन दासता का प्रतीक थी और अंग्रेजी स्वतंत्रता का। इस आंदोलन के पीछे वास्तविक मांग यह थी कि ज्ञान-विज्ञान और शिक्षा लोकभाषा के माध्यम से सब को उपलब्ध होनी चाहिए, जो भी उसकी प्राप्ति की इच्छा करे।[1] अंग्रेजों ने लैटिन को इसलिए छोड़ा कि वह केवल वर्ग-विशेष की भाषा थी किंतु आश्चर्य है कि हमने अंग्रेजी को इसलिए अपनाया क्योंकि यह वर्ग विशेष की भाषा है।

संस्कृत और लैटिन भाषाएं शास्त्रीय (क्लासिकल भाषाएं) कहलाती हैं। वे केवल शास्त्रों की भाषाएं हैं और आजकल लोकभाषा के रूप में प्रयोग में नहीं लाई जातीं। अंग्रेजी बोलचाल की भाषा है। इसीलिए राममोहन राय इसके पक्ष में थे। किंतु वे यह भूल गए कि अंग्रेजी हिंदुस्तान में तो बोलचाल की भाषा नहीं थी। यहां तो वह केवल शास्त्रों की भाषा जैसी ही थी। इसके पढ़ने में उतना ही प्रयास चाहिए था जितना संस्कृत के पढ़ने में, अथवा लैटिन के पढ़ने में जिसके विरुद्ध इंग्लैंड में आंदोलन हुआ था। स्वयं राममोहन राय ने संस्कृत का विरोध उसी आधार पर किया था। यदि शिक्षा-प्राप्ति के लिए पहले भाषा की प्राप्ति का प्रयास करना पड़े तो वही भाषायी दासता आ गई जिसे इंग्लैंड में सोलहवीं शती में समाप्त कर दिया गया था। विचित्र बात यह है कि लैटिन के स्थान पर अंग्रेजों ने तो अंग्रेजी को शिक्षा-भाषा के रूप में अपनाकर बौद्धिक स्वतंत्रता प्राप्त की थी, किंतु राममोहन राय संस्कृत की दासता को समाप्त करके दूसरी विदेशी भाषा की दासता के समर्थक बने और कहलाए नई जागृति के नेता।

अंग्रेजी की बात करते-करते हम इस बात को भी भूल जाते हैं कि इसके लिखने और पढ़ने में हमें दुगुना परिश्रम करना पड़ता है। यह भाषा दो रूपों में हमारे सामने आती है : एक लिखित और दूसरा उच्चरित, और दोनों के बीच कोई सामंजस्य नहीं है। इस पर किसी प्रकार का कोई नियंत्रण नहीं है। कई सौ वर्ष से प्रयास किया जाता रहा है कि इसकी लिखाई ठीक की जाए किंतु किसी को कोई सफलता नहीं मिली। जिन बच्चों की अपनी भाषा अंग्रेजी है वे भी इसे लिखने में सिर पीटते है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अंग्रेजी को शिक्षा-माध्यम रूप में अपनाने का अर्थ हुआ—अंधा न्योते दो बुलावे।

इस बात का प्रमाण यह भी है कि स्वयं अंग्रेज शासकों और विचारकों ने भारत के संदर्भ में अंग्रेजी को क्लासिकल भाषा कहा था। लार्ड एल्फिंस्टन और लार्ड मकाले भी अंग्रेजी को क्लासिकल भाषा ही कहते थे। एल्फिंस्टन बड़े स्पष्ट और खुले विचारों के धनी थे। उन्होंने लिखा था कि भारत में अंग्रेजी केवल एक क्लासिकल भाषा के रूप में ही पढ़ी और पढ़ाई जा

1. देखिए : ए०सी० बां, 'ए हिस्ट्री आफ दि इंग्लिश लैंग्वेज' (अलाइड, दिल्ली 1978), पृ० 243-47

सकेगी।[2] और जब से अंग्रेजी यहां लागू हुई तभी से यह केवल शास्त्रीय भाषा के रूप में ही पढ़ी और पढ़ाई जाती रही है। बहुत कम लोग ऐसे हैं जो इसका प्रयोग दैनिक बोलचाल के लिए करते हैं।

इंग्लैंड तथा सारे यूरोप में रिनेसां के समय जो भाषाएं स्वीकार हुई थीं—अंग्रेजी, फ्रेंच, इटैलियन, जर्मन आदि, उनके समान यदि भारत के लिए कोई भाषा ढूंढ़ी जाती तो वह कोई भारतीय लोकभाषा ही होती और होनी चाहिए थी। वह भाषा हमारे वर्तमान को अतीत से नहीं टूटने देती और हमें भावी विकास की ओर अग्रसर होने का माध्यम भी बन जाती। इसी बात को सामने रखकर स्वामी दयानंद ने गुजराती ब्राह्मण होते हुए भी संस्कृत और वेद का प्रचार करने के लिए एक बंगाली मित्र के परामर्श पर संस्कृत को छोड़कर हिंदी को अपनाया था। भाषा जो भी समयानुसार अपनाई जाती—हिंदी, उर्दू या कोई और—चाहे वह रोमन, देवनागरी या उर्दू किसी भी लिपि में होती, यदि अपना ली जाती तो बहुत बड़ी सेवा इस देश की हो जाती। यदि ऐसा नहीं हुआ तो इसलिए कि व्यापारी और राजनीतिक तत्त्व काम कर रहे थे।

ऐसा लगता है कि अंग्रेजी का समर्थन करने के पीछे राजा राममोहन राय के मन में भी कोई न कोई राजनीतिक या व्यापारिक कारण अवश्य था। क्योंकि उन्होंने वास्तव में रिनेसां का समर्थन नहीं किया उन्होंने भाषायी साम्राज्यवाद अथवा वर्गवाद का समर्थन किया। वे अंग्रेजी राज से लाभ उठाने वालों में से थे। वे बंगाल के मध्यमवर्गीय भद्रलोक में से एक ऐसे परिवार के सदस्य थे जिसे सरकार की स्थायी भूमि योजना से बहुत लाभ पहुंचा था। इसी कारण उनके भूमि संबंधी और वित्तीय हित अंग्रेजी राज से जुड़े थे। इनके पिता रमाकांत राय माल विभाग में एक छोटे अफसर थे और साथ में छोटे-से जमींदार भी। स्थायी योजना के पश्चात् वे एक बड़े जमींदार बन गए। आहिस्ता-आहिस्ता उन्होंने रुपया उधार देकर ब्याज कमा कर और कंपनी का काम करके पर्याप्त धन इकट्ठा कर लिया और भूमि खरीद ली। फिर ब्रिटिश एजेंसियों में रुपया लगा दिया, विशेषकर मैकिंटोश एंड कंपनी में। 1831 में मैकिंटोश एंड कंपनी घाटे में जाने लगी और अंत में बैठ गई। राजा राममोहन राय ने डायरेक्टर्ज़ को लिखा कि उन्हें कर्जा दिया जाए क्योंकि यह कंपनी उनकी एजेंट थी। वे इसी कारण इंग्लैंड भी गए थे ताकि कंपनी के डायरेक्टरों की सहायता से मैकिंटोश एंड कंपनी को बचाने का या अपना रुपया निकालने का कोई उपाय जुटाया जाए। 1833 में मकाले पार्लमेंट में कंपनी चार्टर के नया करने के संबंध में बोले थे तो बड़े उत्साह और आदर से उन्होंने अपने एक हिंदुस्तानी मित्र की चर्चा की थी जो अंग्रेजी शिक्षा के बड़े पक्के समर्थक थे और उस समय इंग्लैंड में ही थे। ये मित्र संभवतः राममोहन राय ही थे। यह आश्चर्य की बात है कि भारत पर जब साम्राज्यवाद का भाषा-शिकंजा कसा जा रहा था तो राजा साहब अंग्रेजी भाषा के नकारात्मक और समाज विरोधी परिणामों को नहीं देख पाए।[3]

2. शार्प, 'सलेक्शंज फ्राम एज्युकेशनल रिकार्ड्स', पार्ट I, पृ० 117
3. सुमीत सरकार। देखिए : वी०सी० जोशी, 'राममोहन राय', पृ० 46-48

8
लक्ष्य की रूपरेखा

हेस्टिंग्ज़ के समय से लेकर 1833 तक एक ही समस्या मुख्य रूप से कंपनी डायरेक्टर्ज़, कंपनी सरकार और ब्रिटिश पार्लमेंट के सामने रही थी : राज की जड़ें पक्की कैसे की जाएं । समस्या तो प्रारंभ से ही रही थी किंतु हेस्टिंग्ज़ के समय में शिक्षा और राज-स्थापना इन दोनों समस्याओं को एक ही रूप में जोड़ दिया गया । शिक्षा पहले तो सेवा रूप में अपनाई गई जैसे कलकत्ता मदरसा और बनारस संस्कृत कालेज के माध्यम से, उसके बाद शिक्षा को एक सुनिश्चित पद्धति के रूप में लागू करने का प्रयास किया गया । इस पद्धति के पहले समर्थक थे चार्ल्स ग्रांट, विल्बरफोर्स और लार्ड मकाले के पिता जकारी मकाले किंतु प्रयास पूर्णतया सफल नहीं हो पाया, राज के प्रति खतरे की आशंका से विफल रहा ।

1813 में स्थिति कुछ-कुछ स्पष्ट होने लगी थी । मिशनरीज को खुलेआम भारत आने की छूट मिल गई और उन्होंने बहुत सारी अंग्रेजी शिक्षा संस्थाओं की स्थापना कर दी । अंग्रेजी की हवा चली तो ऐसी चली कि जो भी उसकी लपेट में आया वही उखड़ने लगा । अंग्रेजी शिक्षा, अंग्रेजी सरकार, पाश्चात्य सभ्यता और ईसाइयत—इनमें एक नवीन संबंध बनता दीखने लगा । अंग्रेजी की मांग बढ़ती गई और सरकार ने इस नए जोड़-तोड़ के कारण मिशनरी शिक्षा को अपना ही प्रयोग मानना प्रारंभ कर दिया । उन्हें लगा कि मिशनरी तो वास्तव में हमारा ही काम कर रहे हैं । कंपनी स्वयं भारत में ईसाई मत फैलाने के यत्न में लगी तो थी पर बिना राज के प्रति खतरा बनाए ।[1]

कंपनी और कंपनी सरकार मिशनरीज को गुप्त रूप से उकसाती थीं कि वे अपना धर्म-परिवर्तन संबंधी काम करते रहें । वे मिशन के माध्यम से राज की जड़ों को ही तो पक्का कर रहे थे । फ्रांसिस वार्डन जो मुंबई गवर्नर की कौंसिल के सदस्य थे उन्होंने 'स्पेशल कमिटी आफ नेटिव स्कूल बुक एंड स्कूल सोसाइटी' के संबंध में लिखा था कि हमें स्वयं धार्मिक काम करने से दूर रहना चाहिए किंतु परोक्ष रूप से मिशनरीज की सहायता अवश्य करनी चाहिए । जब तक भारतीय स्वयं उनके काम के विरुद्ध शिकायत न करें हम क्यों चिंता करें ? उन्हें अपना काम करने दें । हमें तो उनके काम से लाभ ही होगा । चाहे वे छोटी श्रेणी के लोगों में ही काम करें उनकी शिक्षा से भारतीयों के मन पर अपने धर्म के खोखलेपन के विरुद्ध प्रभाव पड़ेगा और कम

1. फिलिप्स, 'ईस्ट इंडिया कंपनी', पृ० 164

से कम ईमानदार और परिश्रमी प्रजा के रूप में तो हमारे सहायक बनेंगे ही ।[2] फ्रांसिस वार्डन ने यही बात 30 अप्रैल, 1832 को हाउस आफ कामंज की सिलेक्ट कमिटी के सामने भी कही और साथ में यह कहा कि शिक्षा से भारतीयों के मन में अपने धर्म के प्रति जैसे-जैसे अश्रद्धा पैदा होगी वे ईसाइयत की ओर खिंचे चले आएंगे ।[3] 5 अगस्त, 1832 को एल्फिंस्टन ने यही बात कही । उन्होंने कहा कि शिक्षा ही एक ऐसा माध्यम है जिससे भारत में ईसाइयत का प्रचार हो सकता है ।[4]

1793 से 1813 तक तो प्रश्न यही था कि शिक्षा की ओर वैधानिक रूप से कदम बढ़ाया जाए या नहीं । 1813 के शिक्षा-मिशन प्रस्ताव के बाद समस्या का हल यह निकला था कि शिक्षा को हाथ में लिया जाए अवश्य, किंतु उसके परिणामों को सोचकर । परिणाम के बारे में ऐसा सोचा गया कि शिक्षा से हिंदुओं में हिंदू धर्म के प्रति श्रद्धा घटेगी और ईसाइयत का प्रचार बढ़ेगा । इसका प्रमाण भी मिलने लगा था । ईसाइयत के माध्यम से सरकार की जड़ें पक्की होंगी । यह भी निर्णय ले लिया गया था कि सरकारी काम अंग्रेजी भाषा में होगा और अंग्रेजीविद् भारतीयों को नौकरियां मिलेंगी । इसके दो लाभ होंगे—नौकर सस्ते मिलेंगे और वे सरकार के कृतज्ञ होंगे । नौकरों के कृतज्ञता भाव के आधार पर राज की जड़ें और पक्की होंगी । राजा राममोहन राय और दूसरे भारतीयों की ओर से जो समर्थन प्राप्त हुआ था, उससे यह बात भी स्पष्ट और निश्चित हो गई थी कि राज की सेवा में ही शिक्षा को जोड़ा जाएगा और राजसेवार्थ ही उसे अपनाया जाएगा । यह भी करीब-करीब निश्चित ही हो रहा था कि शिक्षा पाश्चात्य ढंग की होगी और अंग्रेजी भाषा के माध्यम से दी जाएगी । पाठ्य विषयों की ओर संकेत तो किया गया किंतु बड़ी ही चतुराई के साथ । विषय होंगे उपयोगी, किंतु उपयोगी किस लिए ? विषय सरकार और शिक्षार्थी दोनों के लिए उपयोगी होने चाहिए । संभावना पक्की यह थी कि नौकरी के रूप में शिक्षा शिक्षार्थी के लिए उपयोगी रहेगी और स्वामिभक्त नौकर के रूप में राज के लिए उपयोगी सिद्ध होगी । इस प्रकार दोनों पक्ष उससे लाभ उठाएंगे ।

एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न और रह गया : क्या अंग्रेजी के माध्यम से इतने बड़े देश में शिक्षा दी जा सकेगी ? यदि दी जा सकेगी और दी जाएगी तो किस स्तर तक और किन लोगों को ? और उससे सरकार और जनता के परस्पर संबंधों पर क्या प्रभाव पड़ेगा ? यह शिक्षा राज के लिए लाभदायी होगी या नहीं ? इन प्रश्नों पर 1833 से पूर्व दो-तीन वर्ष तक विशेष ध्यान दिया गया ।

1833 के चार्टर ऐक्ट से पूर्व जो विचार इस विषय पर किया गया वह जनता की शिक्षा के दृष्टिकोण से नहीं किया गया । आजकल तो सरकार प्राथमिक, उच्च और उच्चतर स्तरों पर शिक्षा की व्यापक योजनाएं बनाती है । उस समय न ऐसी योजना बनानी थी और न संभव थी । इंग्लैंड में भी कोई ऐसी योजना काम नहीं कर रही थी । सिलेक्ट कमिटी ने जब सम्मतियां एवं परामर्श मांगा तो जेम्स मिल ने कहा था कि अंग्रेजी शिक्षा जनसाधारण में फैल सके मुझे

2. फिशर्ज़ मेम्वार्ज़ । देखिए : बसु, 'इंडियन एज्युकेशन इन पार्लमेंटरी पेपर्ज़', पृ० 47
3, 4. बसु, पृ० 297, 299

इसकी कोई आशा दिखाई नहीं दे रही और ऐसी आशा करनी भी नहीं चाहिए । इस देश की जनसंख्या इतनी अधिक है, इतनी दूर-दूर तक फैली हुई है कि बहुत ही कम अंग्रेज लोग उनसे मिलते हैं, न ही वे उनसे मिल सकते हैं और वे स्वयं अंग्रेजी भाषा की बहुत कम आवश्यकता समझते हैं । ऐसी परिस्थितियों में अंग्रेजी भाषा और शिक्षा नहीं फैल पाएगी । जेम्स मिल इस विषय,में बिल्कुल निराश थे ।[5] फ्रांसिस वार्डन ने भी यही कहा । उन्होंने कहा कि आठ करोड़ जनता की शिक्षा अंग्रेजी के माध्यम से हो सकेगी, मैं इसकी कल्पना भी नहीं कर सकता ।[6] एल्फिंस्टन का विचार था कि अंग्रेजी कभी भी भारत की भाषा नहीं बन पाएगी । उन्होंने कहा कि दुनिया में कोई मिसाल ऐसी नहीं मिलती कि किसी देश की अपनी भाषा को उखाड़कर कोई दूसरी भाषा उसके स्थान पर जड़ें पकड़ सकी हो । हां, यदि वहां के लोगों की सभ्यता का स्तर बहुत ही नीचा हो और उनको दासता की बेड़ियों में बांध दिया गया हो तो बात दूसरी है ।[7] इन शब्दों से अर्थ क्या निकल रहा है : संकेत या चेतावनी या चुनौती ? या सीधा-सच्चा परामर्श ?

यदि अंग्रेजी के माध्यम से भारत की जनता को शिक्षा देना संभव नहीं था तो ऐसा प्रयास क्यों किया गया ? इसका उत्तर यह था कि कुछ सीमित सामाजिक स्तर तक अंग्रेजी के माध्यम से शिक्षा अवश्य दी जा सकेगी किंतु सार्वजनिक स्तर पर नहीं । स्वयं एल्फिंस्टन का मत यह था कि अंग्रेजी के अध्ययन को हर संभव तरीके से प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए किंतु इसे थोड़े ही लोग पढ़ेंगे और वे भी एक क्लासिकल भाषा की तरह से पढ़ेंगे । हां, शायद ही कोई और भाषा हो जिसके माध्यम से उनको इतना ज्ञान मिल सकेगा ।[8] फ्रांसिस वार्डन जो अंग्रेजी माध्यम से भारत की जनता की शिक्षा की कल्पना भी नहीं कर सकते थे उन्होंने भी कहा कि हमारे प्रशासन के सभी विभागों में कुछ ही दिनों में अंग्रेजी का प्रयोग होने लगेगा और इस सरकारी रूप में अंग्रेजी भारत के शिक्षित समाज की भाषा बन जाएगी ।[9]

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि शिक्षा की आवश्यकता जनता के लिए नहीं सरकार के लिए थी । और जब सरकार के लिए ही उसकी आवश्यकता थी तो सरकार ही यह निर्णय करेगी कि कितने लोगों को शिक्षा दी जाएगी । स्वयं चार्ल्स ग्रांट ने कहा था कि शिक्षा और भाषा का निर्णय विजेता शासक करेगा, शासित नहीं । वही बात अब लगभग चालीस वर्ष के बाद घूम-फिरकर सामने आ गई, केवल शब्दों का अंतर था । साथ में एल्फिंस्टन ने एक विशेष विचार और दिया । उन्होंने कहा कि जिन लोगों के पास समय है और जो विचारशील हैं यदि वे अंग्रेजी पढ़ेंगे तो भारत में शिक्षा और पाश्चात्य ज्ञान का प्रसार दस गुणा अधिक हो सकेगा । जो भी अंग्रेजी के माध्यम से विज्ञान पढ़ लेगा वह उसको अपनी भाषा के माध्यम से बहुत लोगों तक पहुंचा सकेगी ।[10] इस प्रकार अंग्रेजी भाषा सरकार और भारतीय समृद्ध वर्ग के बीच संपर्क का माध्यम बनेगी और इसी वर्ग और जनसाधारण के बीच संपर्क भाषा होगी जनता की अपनी

5. फिशर्ज़ मेम्वार्ज़ । देखिए : बसु, 'इंडियन एज्यूकेशन इन पार्लमेंटरी पेपर्ज़', पृ० 269
6, 7, 8, 9. वही, पृ० 297, 290, 290, 297.
10. शार्प, 'सलेक्शंज फ्रॉम एज्यूकेशनल रिकार्ड्स', पार्ट I, पृ० 117

भाषा । इसका अर्थ यह हुआ कि अंग्रेजी जानने वालों से यह आशा की जाती थी कि वे दो भाषाओं में प्रवीण होंगे । इस प्रकार शिक्षा की फिल्ट्रेशन थियोरी भी सामने आ गई । एल्फिंस्टन अंग्रेजी को विचारों की स्रोत भाषा मानते थे और भारतीय भाषाओं को जनसंचार-माध्यम ।

1827 के नौकर सेवा संबंधी पत्र के बाद 1830 में डायरेक्टर्ज़ की ओर से एक पत्र मद्रास सरकार को लिखा गया था जिसमें मद्रास सरकार को यह सुझाव दिया गया था कि भारतीय भाषा में साधारण जनता को प्रारंभिक शिक्षा देने की बजाय ऊंचे वर्ग की शिक्षा की व्यवस्था की जाए । पत्र में यह भी कहा गया था कि प्रारंभिक शिक्षा की व्यवस्था तो पहले से ही चली आ रही थी । सरकार ने उसी का विस्तार करने के लिए पुस्तकें छापीं और उनका वितरण किया, किंतु उच्च शिक्षा का कोई प्रबंध नहीं किया । यह मद्रास सरकार की गलती मानी गई क्योंकि डायरेक्टर्ज़ के विचार में जनसाधारण की शिक्षा से उनके विचारों और भावनाओं में कोई विशेष परिवर्तन होने वाला नहीं था । कंपनी की मान्यता यह थी कि विशेष और उच्च शिक्षा उस वर्ग के लोगों को दी जानी चाहिए जिनके पास समय है और जो जनसाधारण पर अपना प्रभाव रखते हैं । अतः वर्ग विशेष को उच्च शिक्षा देकर उनके माध्यम से जनता के मन में नए विचार और सरकार के प्रति सद्भावना उत्पन्न करने में अधिक सफलता मिलेगी । डायरेक्टर्ज़ के मत में सरकार के हित में यही था कि उच्च वर्ग को ही उच्च शिक्षा दी जाए । जनसाधारण को शिक्षा देकर उन पर सीधा प्रभाव डालने की कोशिश करना कोई बुद्धिमत्ता का काम नहीं था । इस पत्र के माध्यम से मद्रास सरकार पर डांट-सी ही पड़ी थी । पत्र से यह साफ दीख रहा है कि कंपनी सरकार को उच्च वर्ग की चिंता थी, उसकी सद्भावना प्राप्त करने की प्रबल इच्छा थी और सद्भावना प्राप्त करने के लिए उनकी शिक्षा की चिंता थी । प्रबल आशा यह की गई थी कि उच्च वर्ग अपनी परंपरागत प्रतिष्ठा के कारण साधारण वर्ग पर कंपनी सरकार के हित में प्रभाव डाल सकेगा और इस प्रकार राज की सेवा करेगा ।[11]

अंग्रेजी शिक्षा से राज की जड़ें पक्की होंगी अथवा शिक्षा-प्राप्त वर्ग सरकार के लिए खतरा बनेगा ? अब यह प्रश्न भी खुले तौर पर सामने आ गया । ग्रांट के समय से अभी तक यह आपत्ति खड़ी ही थी कि यदि भारतीय लोग अंग्रेजी पढ़ जाएंगे तो अवश्यमेव स्वतंत्रता की मांग करेंगे और वे इसे संभवतः प्राप्त भी कर लेंगे । इस आशंका के प्रत्युत्तर में विश्वास के साथ यह कहा गया था कि अंग्रेजी के माध्यम से भारतीय लोग सरकार के इतना निकट आ जाएंगे कि ऐसा खतरा कभी सामने आएगा ही नहीं ।[12] बार-बार यह बात दुहराई गई थी कि सरकार का कर्तव्य होने के नाते शिक्षा देना आवश्यक था और यह भी विश्वास नहीं तो कम से कम आशा अवश्य थी कि शिक्षा प्राप्ति के कारण भारतीय लोग इंग्लैंड के साथ कृतज्ञता और सद्भावना के सूत्र में बंध जाएंगे ।[13] होल्ट मैकिंजी ने लगभग वही बात कही जो चार्ल्स ग्रांट कह चुके थे । उन्होंने यह

11. शार्प, 'सलेक्शंज फ्रॉम एज्यूकेशनल रिकार्ड्स', पार्ट I, पृ० 179-80
12. बसु, 'इंडियन एज्यूकेशन इन पार्लमेंटरी पेपर्ज़', पृ० 290
13. 'एडम्स रिपोर्ट्स' (कलकत्ता, 1838), पृ० 406

तो माना कि शिक्षा के उपरांत भारतीय जनता स्वतंत्रता की केवल मांग ही नहीं करेगी, प्राप्त भी कर सकती है किंतु उन्होंने यह भी कहा कि ऐसा होने का समय आने तक भारत में ज्ञान के साथ-साथ पक्के तौर पर ईसाइयत की प्रतिष्ठा भी हो चुकेगी और फिर यदि हमें भारत छोड़ना पड़ा तो छोड़ते समय दुःख नहीं होगा क्योंकि हमारी स्मृति और नाम के साथ घृणा और जुगुप्सा के स्थान पर कृतज्ञता और परोपकार की सद्भावनाएं जुड़ी होंगी ।[14] फ्रांसिस वार्डन ने कहा था कि अंग्रेजी भाषा भारत में इंग्लैंड के कीर्तिस्तंभ के रूप में सदा बनी रहेगी ।[15]

राज की प्रतिष्ठा, प्रशासन की आवश्यकता, अंग्रेजी भाषा के माध्यम से वर्ग विशेष से संबंध और सान्निध्य, भाषा, शिक्षा, सभ्यता और ईसाइयत का प्रचार, इस अंग्रेजीकरण के सूत्र में भारत को सदा कृतज्ञता और विदेशी विचारधारा के बंधन में बांध लेना—1793 से 1833 तक चालीस वर्ष में शिक्षा की यह रूपरेखा बनी । इस रेखाचित्र के अंदर रंग भरने वाले थे चार्ल्स ग्रांट के मानसपुत्र टामस बबिंग्टन मकाले और उनके मित्र विलियम बैटिंक और चार्ल्स ग्रांट के सुपुत्र चार्ल्स ग्रांट जूनियर ।

14. वसु, 'इंडियन एज्यूकेशन इन पार्लमेंटरी पेपर्ज़', पृ० 283
15. वही, पृ० 297

9
ग्रांट के मानस-पुत्र—लार्ड मकाले

टामस बबिंग्टन मकाले (1800—1859) जकारी मकाले के पुत्र और चार्ल्स ग्रांट के मानस-पुत्र (गॉड-सन) थे । जकारी मकाले उदार विचारों के मिशन-सेवी थे । वे ईसाई मत के इवांजलिस्ट संप्रदाय के अनुयायी थे और राजनीतिक गतिविधियों में क्लेपहम सेक्ट के सदस्य के रूप में गहरी रुचि लेते थे । भारत के प्रति उनका दृष्टिकोण सीधा साम्राज्यवादी दृष्टिकोण था । पिता की इन गतिविधियों का टामस पर बड़ा प्रभाव पड़ा ।

टामस अत्यंत प्रतिभाशाली युवक थे । दस वर्ष की आयु से पूर्व ही उन्होंने कविता लिखना प्रारंभ कर दिया था और आश्चर्य की बात यह है कि उसी समय उन्होंने विश्व-इतिहास पर एक ग्रंथ लिखना भी प्रारंभ कर दिया था । वे कैंब्रिज विश्वविद्यालय के स्नातक थे और इतिहास, विधिशास्त्र एवं रोमन और ग्रीक साहित्य के विद्वान थे । उन्होंने कविता, निबंध (तीन जिल्द), और ब्रिटेन का इतिहास (पांच जिल्द) लिखे हैं । प्रख्यात इतिहासकार के नाते महारानी विक्टोरिया ने उनको बैरन आफ राथली की उपाधि से 1857 में विभूषित किया था । मकाले 1830 में पार्लमेंट के सदस्य बने और जीवन पर्यंत राजनीतिक एवं प्रशासन संबंधी कार्य करते रहे । उन्होंने इंडिया ऐक्ट (1834) के संबंध में भी बहुत काम किया । इंडियन पीनल कोड उन्हीं की देन है । कैंब्रिज में वे ऊंची श्रेणी के वक्ता और तार्किक माने जाते थे । लेखनी के धनी तो वे थे ही । लेखनी के साथ-साथ संवाद-शक्ति का परिचय भी उन्होंने अपने जीवन के हर क्षेत्र में दिया था । भारतीय शिक्षा पर उनका प्रस्ताव और पार्लमेंट में दिए गए वक्तव्य उनकी प्रतिभा के स्मरणीय कीर्तिमान हैं । शिक्षा के क्षेत्र में उन्होंने जो रिकार्ड यहां पर स्थापित किया है उसे तो सारा भारत आज तक नहीं तोड़ पाया है और संभवतः भविष्य में भी नहीं तोड़ पाएगा ।

मकाले चार्ल्स ग्रांट के सच्चे धर्मपुत्र और पक्के शिष्य थे । उन्होंने भारत संबंधी जो भी काम किया है या जो विचार व्यक्त किए हैं उससे इस दृष्टिकोण का समर्थन होता है । चार्ल्स ग्रांट के 'आब्जर्वेशंज़' 1797 में छपे थे और 1813 के चार्टर ऐक्ट के पास होने से पहले उसकी बहुत सारी प्रतियां वितरित की गई थीं । यह मानना असंभव है कि वे अपने धर्मगुरु के इन विचारों से अनभिज्ञ रहे होंगे । वे 1832 में कंपनी के बोर्ड आफ कंट्रोल के सेक्रेटरी नियुक्त हुए थे और उस समय चार्ल्स ग्रांट जूनियर, जो चार्ल्स ग्रांट सीनियर के ज्येष्ठ पुत्र थे, बोर्ड आफ कंट्रोल के चेयरमैन थे । उनके साथ कई वर्ष काम करने के पश्चात् वे भारत आए थे । मकाले छोटे चार्ल्स ग्रांट को अपना परम मित्र और धर्मभाई मानते थे । 1833 में पार्लमेंट में जब ब्रिटिश सरकार और

कंपनी के बीच भारत प्रशासन संबंधी व्यवस्था विशेष पर बहस चल रही थी तो प्रस्तावित व्यवस्था के पक्ष में सदन का ध्यान आकृष्ट करते समय मकाले ने अत्यंत आदरपूर्वक चार्ल्स ग्रांट की चर्चा की थी और कृतज्ञतापूर्वक उनके वैचारिक योगदान की प्रशंसा की थी। उन्होंने कहा था कि जब यह बिल तैयार किया जा रहा था तो मुझे मेरे परम मित्र (छोटे चार्ल्स ग्रांट) का पूर्ण सहयोग और सौहार्दमय विश्वास प्राप्त हुआ था। उन्होंने कहा कि ग्रांट महोदय ने पहले भी एक अवसर पर पूरी शक्ति और सूझ-बूझ से अपने विचार व्यक्त किए थे और मैं उनकी सारी चिंताओं, भावनाओं और जिम्मेदारियों में पूर्णतया उनके साथ हूं। इसी परस्पर सद्भावना के आधार पर मकाले ने उक्त व्यवस्था का समर्थन किया।[1] इन शब्दों से पता चलता है कि मकाले सच्चे अर्थ में चार्ल्स ग्रांट जूनियर के धर्मभाई थे और उनके पिता चार्ल्स ग्रांट सीनियर के मानस-पुत्र।

लार्ड मकाले के मन में भारत और भारतीयों के लिए किसी आदर विशेष की भावना नहीं थी। उनके मन में शक्ति और सेवा का एक विचित्र-सा मिश्रण था। वे जब शासक की शक्ति का अनुभव करते तो चाहते कि हुक्म की तलवार से सब कुछ एक ही वार में बदल दें। जब सेवा-भावना से प्रेरित होते तो समझते कि भारतीय लोग बड़ी दयनीय दशा में हैं और उनको शिक्षा और सच्चे धर्म का वरदान मिलना ही चाहिए। वे कह उठते कि भारतीय कोरे जंगली हैं, उनकी भाषा जंगलियों की भाषा है, हम उन पर राज कर रहे हैं, वे हमारे अधिकार में हैं, उनकी भाषा क्या हो, शिक्षा कैसी हो और कैसे हो इसका निर्णय हम करेंगे, केवल हम। दूसरी ओर वे कहते कि वे दीन हैं, दुखी हैं और अज्ञान के अंधेरे में पड़े हैं। साथ में कह डालते कि वे डरपोक, कायर और दब्बू हैं, और शिक्षा पाकर भी स्वतंत्रता की ओर कभी कोई कदम नहीं उठा सकेंगे, वे केवल ठोकर की भाषा समझते हैं, समादर और शिष्टाचार की नहीं। मकाले के चरित्र में मीठा-कड़वा, ऊंचा-नीचा, आदर-अनादर, प्रेम-घृणा, सभी कुछ तो मिला था।

भारत के धर्म के विषय में ग्रांट के जो विचार थे वे ही मकाले के भी थे। ग्रांट का विचार था कि हिंदू धर्म केवल धोखाधड़ी है और जहां-जहां अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार होगा वहां-वहां लकड़ी-पत्थर के देव-दानव कच्ची मिट्टी के खिलौनों की तरह लुढ़क जाएंगे। मकाले का विचार भी यही था। उन्होंने अपने शिक्षा-प्रस्ताव में लिखा है कि हिंदुओं का इतिहास, मेटाफिजिक्स, फिजिक्स, थियोलोजी सब वाहियात है।[2] वे भारत की प्राचीन विद्या के बारे में ऐसा मानते थे कि यह केवल अंधविश्वास को जन्म देती है। भारत का इतिहास झूठा, ज्योतिष झूठा, आयुर्वेद झूठा, परंतु ये सब पढ़े इसलिए जाते हैं कि सारे एक झूठे धर्म के साथ जुड़े हैं।[3] जैसे ग्रांट मानते थे कि शिक्षा के पश्चात् हिंदू अपने धर्म को छोड़कर ईसाई बन जाएंगे, वैसे ही मकाले भी यही आशा करते थे। अंग्रेजी शिक्षा और भाषा के सरकारी तौर पर लागू किए जाने के एक वर्ष पश्चात् 1836 में उन्होंने अपने पिता को एक पत्र में लिखा था कि कोई भी हिंदू जिसे अंग्रेजी

1. देखिए : मकाले, वर्क्स, XI, पृ० 543
2, 3. देखिए : 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन रिपोर्ट', VI, पृ० 15

शिक्षा मिल जाती है अपने धर्म के प्रति हार्दिक रूप से निष्ठावान नहीं रहता। उनका विश्वास था कि यदि उनकी शिक्षा-योजना पर सतत रूप से काम किया गया तो अब से तीस वर्ष के बाद बंगाल के भद्र समाज में एक भी मूर्तिपूजक नहीं बचेगा। और यह सब कुछ ईसाइयत के प्रचार और हिंदुओं के धर्म-परिवर्तन के बिना ही हो जाएगा; उनकी धार्मिक स्वतंत्रता में भी कोई हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। यह सब केवल अंग्रेजी शिक्षा के पश्चात् विचार-शक्ति और चिंतन-प्रक्रिया के परिवर्तन से हो जाएगा।[4]

जिनका विश्वास झूठा उनका चरित्र घटिया! मकाले भारत के समाज को एक सड़ियल समाज मानते थे, यूरोप के घटिया वर्ग से भी गिरा हुआ। वे कहते थे कि यूरोप के बुरे से बुरे प्रदेशों में भी सीधे-सच्चे और ईमानदार आदमी मिल जाएंगे, किंतु बंगाल में वास्तविक सच्चाई और हार्दिक ईमानदारी का धनी एक व्यक्ति भी नहीं मिलेगा। भारत में अपने चरित्र और आचार-व्यवहार में पूर्णतया ईमानदार आदमी तो नहीं के बराबर हैं।[5] वे भारतीय लोगों को अत्यंत कायर और जनानिया समझते थे। उन्होंने लिखा है कि भारतीय लोगों को सशक्त लोगों से कुचले जाने की ऐसी आदत-सी पड़ गई है कि यदि कोई उनसे सद्भावनापूर्वक मानवीय व्यवहार करे तो वे इसे दूसरे की कमजोरी समझने लगते हैं।[6] चार्ल्स ग्रांट भी जब भारतीयों की शांतिप्रियता और शाकाहार की चर्चा करते थे तो इसी आशय से करते थे। वास्तव में कंपनी के सभी अफसरों और सत्ताधीशों का उस समय करीब-करीब ऐसा ही दृष्टिकोण था।

मकाले का प्रस्ताव 1835 में लिखा गया था। उसी वर्ष उन्होंने कलकत्ता में चर्च जनरल असेंबली को संबोधित करते हुए कहा था कि पाश्चात्य ज्ञान की प्रत्येक शाखा हिंदू सिस्टम के तद्विषयक किसी न किसी भाग को नष्ट कर देगी और इस प्रकार हिंदू धर्म के विशाल किंतु भयंकर भवन का एक-एक पत्थर नीचे गिर जाएगा, जब शिक्षा का विस्तृत कार्यक्रम पूरा होगा तब तो सारा भवन ढहकर टुकड़े-टुकड़े हो जाएगा, एक कण भी नहीं बचेगा। ऐसे शब्दों से पता चलता है कि मकाले एक प्रकार से अपने गुरु के समर्थक थे और दूसरे प्रकार से उनके प्रतिपक्षी—ग्रांट आधारभूत रूप से ईसाई मिशनरी थे और उसके साथ राजसेवी और शिक्षा-सेवी। मकाले यह सब कुछ होते हुए भी आधारभूत रूप से शिक्षा-सेवी ही रहे। ग्रांट चाहते थे धर्म-परिवर्तन, मकाले चाहते थे शिक्षा-सभ्यता-परिवर्तन। लक्ष्य दोनों का एक था : राजसेवा। ग्रांट की पद्धति में भय और आशंका निहित होने के कारण उसे मान्यता-प्राप्ति में बीस और चालीस वर्ष लगे। मकाले की पद्धति में निहित थे आत्मविश्वास और कूटनीति। ग्रांट ने अपनी चोट को आजमाया, मकाले ने अपनी चोट को नरमाया। ग्रांट की चोट नरम होते-होते मकाले की नीति के माध्यम से अपना काम कर गई। ग्रांट चले थे, मकाले पहुंच गए।

मकाले के विचार में पंद्रहवीं शती का यूरोप और सत्रहवीं-अठारहवीं शती का भारत एक

4. उद्धृत : आर्थर मेह्यु, 'द एज्यूकेशन आफ इंडिया', पृ० 15-16
5. नुरुल्ला और नायक, 'ए हिस्ट्री आफ एज्यूकेशन इन इंडिया', पृ० 141
6. उद्धृत : आर्थर ब्रायंट, 'मकाले' (लंदन, 1932), पृ० 60

जैसे थे। दोनों की सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियां एक जैसी थीं। कोई स्थायी शासन व्यवस्था नहीं थी। दैनिक परिवर्तन होता था, आज एक व्यवस्था बनती और कल बिगड़ जाती। कोई भी मनचला बदमाश छोटी-मोटी सेना बनाकर राज करने के स्वप्न देखने लगता। हर रजवाड़े में आए दिन षड्यंत्र रचे जाते, बगावत होती, हत्याएं की जातीं, राज का पासा पलट जाता। वहां के दलित-दयनीय समाज के भाग्य में रहा क्रूर सत्तावाद, अन्याय और अत्याचार। मकाले के मतानुसार अंग्रेज सरकार के आने से पहले भारत की भी यही दशा थी। अंग्रेजों के आने के बाद इस गले-सड़े समाज का पुनरुद्धार प्रारंभ हुआ और इस प्रकार एक महान् और ऐतिहासिक परंपरा का नया जन्म हुआ। अराजकता के स्थान पर राजव्यवस्था, अन्याय के स्थान पर न्याय, यह थी महान ब्रिटिश क्रांति। मकाले लिखते हैं कि मैं भारत में एक ऐसी सरकार देख रहा हूं जो वहां की जनता की सेवा करने के लिए लालायित है और यदि उस सरकार से भारत के प्रति कुछ गलतियां भी हो गई हों तो उनमें भी मुझे एक ऐसी भावना ही दिखाई दे रही है जिसके माध्यम से उसने अपनी प्रजा की सेवा करने का प्रयास ही किया है।

इसी प्रकार भारत की सेवा का प्रयास मकाले कर रहे थे—शिक्षा के माध्यम से। हम पहले कह चुके हैं कि चार्ल्स ग्रांट का प्रयास था कि अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से सारे भारत को ईसाई बना लिया जाए और आशा थी कि बना लिया जाएगा। किंतु वे ईसाइयत के माध्यम से बाइबल-संदेश के साथ-साथ भारत की आर्थिक, सामाजिक और बौद्धिक उन्नति को भी ईशु भगवान की देन समझते थे। ईसाइयत के प्रति उनका एक व्यापक दृष्टिकोण था और धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक उन्नति सभी को वे व्यापक मानवीय उन्नति के रूप में देखते थे। किंतु वे आधारभूत रूप से इवांजलिस्ट थे और इसीलिए धर्म-प्रचार को मुख्य स्थान देते थे। मकाले भी धर्म-प्रचार के समर्थक तो थे, किंतु वे बौद्धिक और सांस्कृतिक कायाकल्प को प्रथम स्थान देते थे। वे चाहते थे कि धर्म-प्रचार सीधा न करके गौण रूप से कर लिया जाए। यदि शिक्षा के माध्यम से ही जर्जर देव-दानवों को अपने स्थान से लुढ़का दिया जाए अर्थात् भारत के हिंदुओं की इच्छा, विश्वास और परंपरा को एक धक्का पहुंचाया जा सके तो आधे से ज्यादा धर्मयुद्ध तो अपने आप संपन्न हो जाएगा।

धार्मिक और सांस्कृतिक इस दो प्रकार की विजय में से सांस्कृतिक विजय एक और कारण से आवश्यक थी और उस कारण की दृष्टि से गुरु-चेला दोनों पक्के वणिक थे। ग्रांट मानते थे कि संसार के नियंता ने इतने दूरवर्ती भारत देश का राज्य अंग्रेज को इसलिए सौंपा है कि वे भारत से धन अर्जन करने के साथ-साथ उसको सच्चे धर्म, ज्ञान, सुख, सत्य और सभ्यता का दान दे सकें। ऐसी पारमार्थिक सेवा करने से वे अपने मुख्यतम लक्ष्य की प्राप्ति भी कर पाएंगे। वह लक्ष्य था इंग्लैंड के व्यापार की वृद्धि। मकाले ने उसी प्रकार इस विषय पर गंभीर विचार किया। उन्होंने शिक्षा और सभ्यता के विरोधी तत्त्वों का उत्तर देते हुए कहा कि भारत में शिक्षा के माध्यम से सभ्यता का प्रचार करके हमें जो लाभ होंगे उनका अनुमान लगाना भी अभी तो आसानी से संभव नहीं है। मान लीजिए, भारत कभी आजाद भी हो गया। यदि हम बिल्कुल स्वार्थी होकर

भी सोचें तो उसमें भी हमारा फायदा ही होगा। भारत हमारे अधीन रहे पर वहां अविद्या, अंधकार और अंधविश्वास के कारण सुराज्य न हो इससे अच्छा तो यह होगा कि भारत स्वतंत्र हो और वहां सुराज्य हो। क्यों ? सुराज्य का अर्थ है सभ्य और सुसंस्कृत समाज। हमारे लिए अच्छा यही होगा कि भारत का अपना स्वतंत्र शासन भले ही हो पर वहां के लोग सभ्य बनें और हमारा कपड़ा पहनें और हमारी कटलरी का प्रयोग करें। इसमें कहां की बुद्धिमत्ता है कि शिक्षा के बिना भारत के लोग निर्धन और अल्हड़ बने रहें और अंग्रेज मजिस्ट्रेटों और कलेक्टरों को सलाम तो झुकाएं किंतु हमारे देश में बनी वस्तुओं के न तो मूल्य को समझ सकें और न ही उन्हें खरीद कर प्रयोग कर सकें।[7] शिक्षा, सभ्यता, व्यापार—राज की आचार-संहिता के तीन महत्त्वपूर्ण अंग थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ग्रांट और उनके पश्चात् उनके साथी कंपनी डायरेक्टर, मिशनरी, प्रशासक और व्यापारी सभी इन रूपों में अपना काम विचारपूर्वक करते रहे और शिक्षा को अपने लक्ष्य की प्राप्ति का साधन बनाने का प्रयास करते रहे। वैसे ही मकाले भी उसी दिशा में दृढ़संकल्प होकर भारत आए। वे भारत को पश्चिमी विशेषकर अंग्रेजी जामा पहना कर ऐसी नई सभ्यता के रंग में रंगना चाहते थे जिसके लिए रंग और कपड़े दोनों इंग्लैंड से मंगवाने थे। सभ्यता के रंग को चढ़ाने के लिए मानसिक परिवर्तन आवश्यक था। मानसिक परिवर्तन से सांस्कृतिक परिवर्तन अवश्य होना था और संस्कृति का साकार रूप सभ्यता के रूप में व्यक्त होना था। वह साकार रूप हिंदू कालेज और स्कॉटिश चर्च कालेज के युवकों के जीवन में दीख रहा था। मकाले वाणी और लेखनी दोनों के धनी थे। वाणी का चमत्कार वे 1833 में संसद में दिखा चुके थे। लेखनी भारत में आने पर उठाई और सीधा प्रहार करके लक्ष्यवेध कर डाला।

7. देखिए : मकाले, 'वर्क्स', XI, पृ० 584

10

लक्ष्य-वेध—मकाले का शिक्षा-प्रस्ताव

मकाले 1830 में पार्लमेंट में आए । 1832 और 1833 में उन्होंने रिफार्म बिल और कंपनी के चार्टर से संबद्ध इंडिया ऐक्ट (1834) पर काम किया । 1834 में ही वे भारत के गवर्नर-जनरल की कौंसिल के सदस्य बनाए गए । वे बोर्ड आफ कंट्रोल के मंत्री पहले ही रह चुके थे । जून 1834 में वे भारत पहुंचे । गवर्नर-जनरल की कौंसिल में वे विधि-सदस्य बने और साथ में सामान्य लोक-शिक्षा समिति के अध्यक्ष । भारत आने से पूर्व ही वे शिक्षा संबंधी सभी समस्याओं से परिचित थे । अपने धर्मगुरु चार्ल्स ग्रांट के शिष्य के रूप में उनके सुपुत्र चार्ल्स ग्रांट जूनियर (अध्यक्ष, बोर्ड आफ कंट्रोल) के साथ बोर्ड के सेक्रेटरी के रूप में कार्य करने के कारण, एवं व्हिग पार्टी के सदस्य के नाते उदार विचारधारा रखते हुए भारत शिक्षा नीति के संबंध में वे सजग और दृढ़संकल्प थे ।

मकाले भारत से अत्यंत प्यार भी करते थे, वैसे ही जैसे कोई बड़ा जमींदार अपनी जायदाद पर विहंगम दृष्टि डाल कर उस पर गर्व करता है । यहां की भाषा, सभ्यता, साहित्य और संस्कृति से उन्हें जितनी चिढ़ थी उतना ही प्यार और गर्व उनको यहां की भूमि और जन-समुदाय को देखकर ब्रिटेन की आर्थिक और राजनीतिक प्रगति की संभावनाओं पर था । वे पूरी तैयारी के साथ आए थे और आते ही वामा सरस्वती का आशीर्वाद लेकर वाग्युद्ध के लिए शिक्षा के क्षेत्र में उतर पड़े ।

अर्जुन की तरह सिवाय अपने लक्ष्य के उन्हें और कुछ नहीं दीखता था । अंग्रेजी भाषा, अंग्रेजी साहित्य के सिवाय उन्हें कोई और भाषा, साहित्य, संस्कृति इत्यादि कुछ दीखता ही नहीं था । और यदि दीखता भी था तो उसे तुच्छ समझकर अपनी पूरी शक्ति से गिरा देना चाहते थे । यदि हम उनके शिक्षा-प्रस्ताव का अध्ययन करें तो पता चलेगा कि उनके मन में इन बातों का विचार सर्वोपरि था :

1. भाषा
2. साहित्य
3. भाषा और साहित्य की वर्तमान स्थिति
4. भाषा और साहित्य की भावी संभावनाएं, अर्थात् उनका विकास और भावी शक्तियां ।

उन्हें केवल एक सुअवसर की प्रतीक्षा थी । वह उन्हें शीघ्र ही मिल गया ।

मकाले जब भारत पहुंचे तब अंग्रेजी शिक्षा पद्धति और भारतीय शिक्षा पद्धति के समर्थकों में विवाद चल रहा था । भारतीय पद्धति के समर्थक संस्कृत और अरबी भाषाओं के माध्यम से प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति को पुनः चलाना चाहते थे और उसी परंपरा के अंतर्गत पाश्चात्य विषयों को प्राचीन भाषा के माध्यम से पढ़ाने के पक्ष में थे । अंग्रेजी पद्धति के समर्थक इसके विपक्ष में थे । वे भारतीय पुराण और पौराणिक काव्य इत्यादि के विरोधी थे और सारी परंपरा को झूठा, अनैतिक और वाहियात समझते थे । अदालतों में चल रहा मुगलकालीन फारसी भाषा का प्रयोग उन्हें बिल्कुल पसंद नहीं था । उन्हीं के फारसी-विरोध के कारण प्रशासन में इतना परिवर्तन कर दिया गया था कि जिलास्तर तक की अदालती कार्यवाही उर्दू इत्यादि लोकभाषाओं में चलाई जाए । साथ में यह विवाद भी चल रहा था कि कलकत्ता मदरसा और बनारस संस्कृत कालेज में अंग्रेजी भाषा अनिवार्य रूप से पढ़ाई जाए या ऐच्छिक रूप से । भारतीय शिक्षा पद्धति के समर्थक केवल ऐच्छिक अंग्रेजी तक तैयार थे । अंग्रेजी के समर्थक उसे अनिवार्य रूप में चाहते थे । डायरेक्टर्ज के आदेशों और अंग्रेजी के राजभाषा बनाए जाने के संकेत मिलने के बावजूद भारतीय पक्ष ढीला नहीं पड़ा था । एच०टी० प्रिंसप तो शिक्षा समिति के मंत्री थे । वे स्वयं भारतीय भाषा और पद्धति के समर्थक थे । किंतु मकाले महोदय के आने के पश्चात् अंग्रेजीवादियों की आशाएं और हौसले बुलंद हो गए ।

दोनों पक्ष अपने विचार और संकल्प में दृढ़ थे । भारतीय पक्ष 1813 के चार्टर ऐक्ट की धारा 43 के आधार पर कहता था कि एक लाख रुपया प्राचीन साहित्य के विकास और उसी साहित्य के पंडितों के प्रोत्साहन पर व्यय किया जाना चाहिए । यदि विज्ञान पढ़ाना है तो पहले भारतीय भाषाओं में पाठ्य विषय का अनुवाद करो और फिर उसे पाठ्यक्रम में डालो ताकि वह प्राचीन माध्यम से ही पढ़ाया जा सके । कुछ लोग आधुनिक भाषाओं के माध्यम से पढ़ाने का समर्थन भी करते थे । वे कहते थे कि भारतीय लोगों के अपने विचारों, भावनाओं और परंपराओं की अवहेलना करना ठीक नहीं होगा । अस्तु जो भी उनका दृष्टिकोण शिक्षा-भाषा, शिक्षा-वस्तु और शिक्षा-उद्देश्य के संबंध में था उसका आधार 1813 का प्रस्ताव ही था । नवीनवादी (अंग्रेजीवादी) नई उभरती विचारधारा पर बल देते थे, और परंपरावादी प्राचीन भाषा-साहित्य संबंधी विचारधारा पर । भावी नीति की कोई रूपरेखा निश्चित रूप से सामने नहीं आ पा रही थी । परिणाम यह हुआ कि दैनिक काम-काज चलना भी कठिन हो गया ।

अंत में प्रश्न अंग्रेजी माध्यम पर आकर अटक गया । प्रश्न यह खड़ा हो गया कि शिक्षा में अंग्रेजी भाषा माध्यम अनिवार्य हो या ऐच्छिक । इसके अतिरिक्त संस्कृत, अरबी के साहित्य के अनुवाद और प्रकाशन पर रुपया खर्च किया जाए या नहीं ।[1] मकाले शिक्षा समिति के अध्यक्ष थे इसलिए बैंटिंक ने ये सारे प्रश्न और समस्याएं परामर्शार्थ उनके पास भेज दिए ।

मकाले तो पक्के अंग्रेजीवादी थे और भारतीय पक्ष के कट्टर विरोधी । उन्होंने पहले तो

1. देखिए : शार्प, 'सलेक्शंज फ्रॉम एज्यूकेशनल रिकार्ड्स', पार्ट I, पृ० 125-26, 132-36

भारतीय पक्ष के तर्क के आधार को ही नष्ट कर दिया ताकि आगे चलकर जो भी दलील वे अंग्रेजी पक्ष में देने वाले थे वह अपने आप में दृढ़ बनकर मान्यता प्राप्त कर सके । इसलिए पहले उन्होंने 1813 के चार्टर ऐक्ट की धारा 43 पर एक निर्णयात्मक टिप्पणी लिखी । उन्होंने कहा कि 43वीं धारा में प्रयोग किए 'लिट्रेचर' शब्द का आशय है 'इंग्लिश लिट्रेचर' । उसका आशय संस्कृत या अरबी साहित्य नहीं है । साथ में 'लर्निड् नेटिव्ज आफ इंडिया' का आशय है अंग्रेजी भाषा साहित्य और पाश्चात्य साइंस और दर्शन के पंडित, न कि केवल संस्कृत और अरबी भाषा और साहित्य के विद्वान । इस प्रकार 'रिवाइवल एंड इंप्रूवमेंट आफ लिट्रेचर' का अर्थ अपने आप हो गया—अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन का विकास और प्रसार । प्राचीन साहित्य का पुनरुद्धार कार्य समाप्त । मकाले जानते थे कि यदि 1813 के प्रस्ताव में से 'भारतीय भाषा और साहित्य एवं उसके पंडित' इस आशय रूपी आधारशिला को ही हटा दिया जाए तो शेष लड़ाई तो स्वतंत्र तर्क के आधार पर लड़ी जा सकेगी । वाग्युद्ध में तो वे निपुण थे ही ।

1813 के प्रस्ताव की धारा 43 की तोड़ा-मरोड़ी के बाद मकाले ने सारे प्रश्नों को एक ही बिंदु पर केंद्रित कर दिया : कौन-सी भाषा (साहित्य) जानने और पढ़ने योग्य है ? अरबी अथवा आधुनिक भारतीय भाषाएं अथवा अंग्रेजी ?

सबसे पहले उन्होंने हिंदी इत्यादि आधुनिक भारतीय भाषाओं को ही सामने से हटा दिया । उन्होंने शिक्षा समिति की चर्चा करते हुए लिखा कि सभी पक्ष एक बात पर तो सहमत दिखाई देते हैं और वह यह है कि जो भी भाषाएं भारत में प्रायः जनसामान्य में बोली जाती हैं उनमें न तो कोई साहित्यिक और वैज्ञानिक विषय-वस्तु है और न ही वे भाषा रूप में समृद्ध हैं । वे सभी इतनी निर्बल, अविकसित और गंवारू हैं कि जब तक किसी और भाषा की सहायता से उनका विकास करके उन्हें सशक्त नहीं बनाया जाएगा तब तक उनमें किसी भी समृद्ध साहित्य का अनुवाद करना संभव नहीं होगा ।[2] इस प्रकार नई भाषाएं तो एक ही वाक्य में रास्ते से हटा दी गईं ।

अंग्रेजी के विपक्ष में रह गईं संस्कृत और अरबी । मकाले ने मुख्य प्रहार संस्कृत भाषा, संस्कृत साहित्य और उनसे संबद्ध धर्मशास्त्र तथा धार्मिक परंपरा पर किया—संभवतः यह समझकर कि यदि संस्कृत को किसी प्रकार परास्त कर दिया गया तो अरबी तक पहुंचने की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी ।

कौन-सी भाषा पढ़ने और जानने योग्य है, इस प्रश्न को मकाले ने शिक्षा-माध्यम के साथ जोड़ दिया । संस्कृत और अरबी के पक्ष में जो लोग थे वे भी इन भाषाओं को शिक्षा के माध्यम रूप में ही अपनाए जाने पर बल दे रहे थे । इसलिए मकाले ने लिखा कि शिक्षा समिति के आधे सदस्य तो माध्यम रूप में अंग्रेजी के पक्ष में हैं और आधे बलपूर्वक संस्कृत और अरबी के पक्ष में हैं । प्रश्न तो सारा यह है कि कौन-सी भाषा जानने योग्य है ?[3]

इस प्रश्न में एक और प्रश्न निहित है । हमें उस पर विचार करना आवश्यक है । भाषा,

2, 3. देखिए : 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन रिपोर्ट', VI, पृ० 100

साहित्य और शिक्षा का उद्देश्य क्या है ? भारतीय परंपरा में इन सभी का उद्देश्य था धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष । पाश्चात्य परंपरा में उद्देश्य मुख्यतया अर्थ और काम था । केवल इतना ही कहना यदि ठीक न लगे, क्योंकि सेंट फ्रांसिस जैसे त्यागी और तपस्वी भी तो यूरोपियन क्रिश्चियन परंपरा की ही देन थे, फिर भी यह कहना तो गलत नहीं होगा कि क्रिश्चियन अहिंसा और अपरिग्रह के संदेश को यूरोपियन शक्ति-सामंतों और धर्माध्यक्षों के हिंसात्मक संघर्ष ने धूमिल कर डाला था । यह कहना प्रायः ठीक होगा कि भारत के आंतरिक दर्शन और बाह्य परिवेश में जैसे हमारी परंपरा रही है शांति, संतोष और अपरिग्रह, वैसे ही भयंकर प्रकृति और शक्ति व्यवस्था के परिवेश में यूरोप की परंपरा रही है शक्ति, संघर्ष और विस्तार ।

हम यह भी कह सकते हैं कि जैसे धर्म और मोक्ष की तलाश में भारत के लोग अर्थ और काम को प्रायः भूल बैठे, वैसे ही यूरोप के अर्थ और काम की तलाश में व्यस्त लोग धर्म और मोक्ष को भूल गए । सांस्कृतिक और ऐतिहासिक परंपराओं के इसी लंबे-चौड़े अंतर के आधार पर मकाले ने इस प्रश्न का उत्तर दिया कि कौन-सी भाषा को पढ़ना-पढ़ाना उचित और श्रेयस्कर होगा—संस्कृत या अंग्रेजी ?

मकाले का उत्तर—अंग्रेजी, निस्संदेह अंग्रेजी । मकाले यह मानते थे कि किसी भी भाषा और साहित्य के अध्ययन-अध्यापन का मूल्य उसकी आर्थिक और सामाजिक शक्तियों और उपलब्धियों में खोजना चाहिए । उन्होंने संस्कृत पढ़ने और पढ़ाने वालों की ओर संकेत किया और कहा कि इन सबके लिए इनकी शिक्षा और विद्या का कोई मूल्य नहीं है । इनकी विद्वत्ता इनके लिए एक भार ही नहीं अपितु अभिशाप बनकर रह गई है । वे जब तक पढ़ते है तब तक समाज पर बोझ बने रहते हैं और जब वे अपना अध्ययन समाप्त कर चुकते हैं तो उनकी विद्या इतनी बेकार और निरर्थक होती है कि जीवन पर्यंत वे या तो भूखे मरते हैं या समाज के आश्रय पर रहते हैं ।[4] मकाले निर्धनता से नफरत करते थे और यदि कोई भाषा या शिक्षा मनुष्य को आर्थिक समृद्धि और सामाजिक मान प्राप्त न करा सके तो वे उसका समर्थन करने के लिए कभी तैयार नहीं होते थे । केवल दान-दक्षिणा के आधार पर कोई शिक्षा पद्धति सफल नहीं हो सकती । केवल त्यागी और तपस्वी उत्पन्न करने वाली शिक्षा उनके विचार में शिक्षा नहीं थी । वे जानते थे कि शक्ति और संपन्नता केवल अंग्रेजी के माध्यम से ही प्राप्त होगी । अतएव अंग्रेजी, और कुछ नहीं ।

ऐसी बात नहीं है कि मकाले त्याग और तपस्या का आदर नहीं करते थे, करते थे । किंतु उसी त्याग और तपस्या का आदर करते थे जो इंग्लैंड के अग्रणी नेताओं, शासकों और योद्धाओं ने अपने देश के शक्ति-विस्तार के लिए प्रतिपक्षियों के साथ जूझते हुए युद्ध या प्रशासन के क्षेत्र में दिखाई थी । इंग्लैंड के नवीन और उभरते हुए इतिहास के चमकते हुए ऐसे त्यागी और तपस्वी सितारे थे—हेस्टिंग्ज़, क्लाइव, एल्फिंस्टन, मनरो इत्यादि । मकाले जब इनका चिंतन करते थे तो उनका हृदय हर्ष से गद्गद हो उठता था और श्रद्धा से उनका सिर झुक जाता था । वे लोग चरित्र के धनी थे । उन्होंने सब लोभ-लालच त्याग कर करोड़ों लोगों पर हुकूमत की, सेनाओं का नेतृत्व

4. देखिए : 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन रिपोर्ट', VI, पृ० 17

किया और विजय प्राप्त करके बड़े-बड़े सिरफिरे रजवाड़ों को सिर झुकाने पर मजबूर कर दिया। ये लोग बड़े-बड़े राजाओं के दरबार में रहकर तथा बड़े-बड़े जमींदारों के भाग्य का निर्णय करके जब स्वदेश लौटे तो क्या लेकर ? केवल चरित्र की संपत्ति, और कुछ नहीं।[5] मकाले त्याग और तपस्या का आदर तो करते थे किंतु केवल ब्रिटिश इतिहास में सराहनीय काम करने वाले वीरों का। इसके विरुद्ध उनके मतानुसार, संस्कृत के पढ़ने वाले त्यागी और तपस्वी नौजवान केवल कर्मकांड की खोखली और व्यर्थ की उलझनों में उलझे रहते थे, और अपने जीवन को केवल इतना सीखने में बर्बाद कर देते थे कि गधे को हाथ लग जाए तो शुद्ध कैसे हों या हाथ से कोई बकरी मर जाए तो पश्चात्ताप कैसे करें और कौन-से वेदमंत्र का जाप करें।[6] ऐसे त्याग, तपस्या और खोखले शिक्षाशास्त्रियों पर मकाले को शर्म आती थी।

मकाले भारत पर गर्व तो करते थे किंतु ब्रिटिश साम्राज्य के अंग के रूप में और विशेषकर अंग्रेज वीरों की अद्वितीय भारत विजय के स्थायी उपहार के रूप में। जब वे भारत की ओर देखते और भारत विजय का ध्यान करते तो कल्पना के बादलों में तैरने लगते या अतीत की गहराइयों में उतरकर उन वीरों का सिंहनाद सुनने लगते जिन्होंने भारत के इतिहास को एक अद्भुत मोड़ दिया था। सात समुद्र पार, धरती के दूसरे छोर पर, एक ऐसा देश जो यूरोप के लिए केवल परियों की कहानी का विषय बना हुआ था, ऐसी भूमि जिसे पश्चिमीय विजयाधीश छू नहीं पाए थे, जहां पर रोमन कदम नहीं रख पाए थे और सिकंदर महान की सेना ने आगे बढ़ने से इन्कार कर दिया था, जनधन में यूरोप के चार-चार देशों से बड़ा, रेवेन्यू की दृष्टि से फ्रांस को छोड़ दुनिया के किसी भी देश की अपेक्षा समृद्ध, जहां के लोग जाति, रंग, भाषा, सभ्यता, धर्म और आचरण सब तरह से भिन्न, ऐसे अद्भुत और विशाल देश पर हथेली के बराबर टापू से निकले मुट्ठी-भर अंग्रेज वीरों ने विजय प्राप्त कर ली : इंग्लैंड के वास्तविक इतिहास की यह गाथा परियों की कहानी से कम नहीं थी। बुद्धि काम नहीं करती, स्वयं इतिहास के पास इसका जवाब नहीं। 10 जुलाई, 1833 को भारत शासन संबंधी प्रस्ताव पर बोलते हुए मकाले ने ये शब्द कहे थे[7] :

जिस संस्कृति के पुजारी इतिहास को मोड़ न दे सकें, उस देश की भाषा, शिक्षा, सभ्यता सब बेकार। न ही उस देश का कोई इतिहास हो सकता है। किसी भी संस्कृति और उस संस्कृति की अभिव्यंजक भाषा, शिक्षा, साहित्य और सभ्यता की समृद्धि का अनुमान उस संस्कृति के अनुयायियों की उपलब्धियों से लगाया जा सकता है और मकाले के मतानुसार उनकी वास्तविक उपलब्धियों का अनुमान उनकी वर्तमान दशा और साहित्य में विद्यमान इतिहास से लगाया जा सकता है। मकाले ने शिक्षा-प्रस्ताव लिखते समय यही प्रतिमान सामने रखा और संस्कृत पंडितों की दयनीय निर्धनता को देखने के बाद संस्कृत साहित्य में विद्यमान इतिहास साहित्य को देखा।

5. मकाले, वर्क्स, XI, पृ० 567
6. देखिए : 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन रिपोर्ट', VI, पृ० 15
7. मकाले, वर्क्स, XI, पृ० 559

उन्हें दीखता भी क्या और कैसे ? इतिहास पौरुषेय ज्ञान है जो सामाजिक चेतना और चित्तद्वंद्वों की अभिव्यक्ति करता है। ऊंची उड़ान भरे तो भी इतिहास केवल युगधर्म का प्रवर्तक हो सकता है, सनातन का नहीं। भारत ने तो युगधर्म के माध्यम से भी सनातन की ही उपासना की है। सनातन अपौरुषेय और कालातीत है। हमारे इतिहास-पुराण भी युगीन के माध्यम से सनातन का प्रतिपादन करते हैं। यदि कोई भी इतिहास या पुराण ग्रंथ सनातन का प्रतिपादन नहीं करता तो केवल मात्र कहानी के रूप में मनोरंजन का साधन बनकर रह जाता है। हमारे लिए सर्वश्रेष्ठ ज्ञान वेद है और वेद अपौरुषेय ज्ञान है जो सार्वभौम और सर्वकालीन है। युगप्रवर्तक स्वामी दयानंद ने वेद की अपौरुषेयता को दूसरे शब्दों में जब व्यक्त किया तो यह कहा कि वेद में इतिहास नहीं है। उसी परंपरा में स्वामी विवेकानंद ने कहा कि मनुष्य की अंतिम उपलब्धि है ब्रह्म-प्राप्ति। इतिहास सामूहिक चित्तवृत्तियों के निरंतर प्रवाह का साकार है और ब्रह्म-प्राप्ति चित्तवृत्ति-निरोध और उसके पार निराकार में अवस्थान। मकाले के अनुरूप शब्दों में पौरुषेयता का अपौरुषेयता में विलय हो जाना अथवा ऐतिहासिक साहित्य का शून्य हो जाना। मकाले ने भारतीय साहित्य, जो देखा या नहीं देखा या उसके बारे में जो सुना या नहीं सुना, उसके आधार पर लिख मारा कि संस्कृत ग्रंथों से जितनी भी ऐतिहासिक सामग्री इकट्ठी की जा सकती है उसका मूल्य इतना भी नहीं है जितना इंग्लैंड के प्रारंभिक स्कूलों की छोटी पुस्तिकाओं में मिल सकता है।[8] भारत का धर्मक्षेत्र एक ओर था, मकाले का कुरुक्षेत्र दूसरी ओर।

मकाले ने संस्कृत इतिहास के मूल्यांकन के पश्चात् सारे संस्कृत साहित्य की तुलना सैक्सन और नार्मन साहित्य से कर डाली और लिख दिया कि समस्त संस्कृत साहित्य इतना समृद्ध नहीं है जितना हमारे सैक्सन नार्मन पूर्वजों का है। उदाहरणार्थ, इतिहास में तो वह और भी कम है।[9] अब भी मानो वे संस्कृत साहित्य का पूरा मूल्यांकन नहीं कर पाए थे, इसीलिए वे और आगे बढ़े और यहां तक लिख गए कि किसी भी यूरोपियन लाइब्रेरी की एक अलमारी में जो साहित्य रखा है वही सारे भारत और अरब देश के साहित्य के बराबर है।[10]

केवल एक प्रश्न और रह गया था। यदि ऐतिहासिक साहित्य अथवा कोई और काम का साहित्य बहुत थोड़ा है तो जो कुछ भी है वह कैसा है ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए उन्होंने एक ही वार से दो प्रहार किए—एक से तो संस्कृत साहित्य को और नीचे की ओर गिराया और दूसरे से संस्कृत के समर्थकों की कमर तोड़ी। संस्कृत के समर्थकों का कहना था कि अंग्रेजी पढ़ाना इसलिए ठीक नहीं होगा, क्योंकि भारत के लोग संस्कृत से श्रद्धापूर्वक जुड़े हैं और अंग्रेजी का विरोध करेंगे। अंग्रेजी के पक्ष में लोग आने तो लगे थे उत्साहपूर्वक किंतु फिर भी मकाले कोई प्रश्न खुला नहीं छोड़ना चाहते थे। इसलिए पहले उन्होंने अपने साथियों को उनके कर्तव्य की याद दिलाई। उन्होंने लिखा कि लोकशिक्षा बोर्ड होने के नाते उन्हें यह सोचना चाहिए कि क्या वे उस साहित्य के प्रकाशन में रुपया बर्बाद करें जिसका मूल्य इतना भी नहीं है जितना उस

8. 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन रिपोर्ट', VI, पृ० 10
9, 10. वही, पृ० 12 1

कागज का है जिस पर वह छपा है ? साथ में यह भी उन्होंने पूछा कि ऐसे साहित्य को पढ़ाने से क्या लाभ जिसमें झूठे इतिहास, झूठे ज्योतिष और झूठे आयुर्वेद के सिवाय और कुछ भी नहीं है ? क्या उसे केवल इसीलिए पढ़ाते चले जाएं कि वह एक झूठे धर्म से जुड़ा है और साथ में वाहियात अंधविश्वास को जन्म देता है ?[11]

संस्कृत भाषा, संस्कृत साहित्य, संस्कृत विद्वान और उनकी वर्तमान दयनीय दशा और भावी निराशा सबको अपने और बैटिंक के लिए बड़े ही नाटकीय ढंग से पेश कर चुकने के पश्चात् मकाले को अंग्रेजी के पक्ष को सबल रूप से सामने रखना था । उन्होंने बलपूर्वक लिखा कि अंग्रेजी भाषा के महत्त्व पर विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं है । पश्चिम की भाषाओं में भी उसका स्थान मुख्यतम है । इस भाषा में कल्पना साहित्य की ऐसी कृतियां विद्यमान हैं जो यूनान के महानतम ग्रंथों से कम नहीं है । इसमें साहित्य की सभी विधाओं के सुंदरतम माडल विद्यमान हैं, ऐसी ऐतिहासिक कृतियां जो कथा साहित्य के रूप में सर्वश्रेष्ठ हैं और आचार-संहिता और राजनीतिशास्त्र के रूप में अद्वितीय हैं । उनमें मानव जीवन और मानव स्वभाव के सही और सुंदर प्रतिबिंब सर्जित किए गए हैं । दर्शन, नीति, प्रशासन, विधि-विधान, व्यापार आदि सभी विषयों पर गूढ़ और मौलिक ग्रंथ उपलब्ध हैं । इसमें भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में वह सब तत्त्व-ज्ञान विद्यमान है जिसके आधार पर स्वास्थ्य-रक्षा, सुख-समृद्धि, बुद्धि-विकास इत्यादि के सभी साधन जुटाए जा सकते हैं । जो भी इस भाषा को जानता है उसे वह सारा ज्ञान भंडार खुले तौर पर उपलब्ध है जिसका सर्जन 90 पीढ़ियों से विद्या के क्षेत्र में शिरोमणि जातियों ने किया और जिसे उन्होंने सुरक्षित रखा है । निस्संदेह यह कहा जा सकता है कि इस भाषा में आज जो साहित्य उपलब्ध है वह संसार की सारी जातियों के समूचे साहित्य से श्रेष्ठ हैं ।[12]

अंग्रेजी में उपलब्ध साहित्य की साभिमान चर्चा करने के पश्चात् मकाले ने भारत में अंग्रेजी की सामयिक एवं भावी संभावनाओं की चर्चा की । उन्होंने लिखा कि भारत में अंग्रेजी शासक वर्ग की भाषा है । सरकारी संस्थानों में सेवारत भारतीय उच्च वर्ग की भाषा है । सारी पूर्वी दुनिया में अंग्रेजी व्यापार की भाषा बनने वाली है । दो बड़े यूरोपियन समाज जो दक्षिण अफ्रीका और आस्ट्रेलिया में उभर रहे हैं, और आए वर्ष भारत से महत्त्वपूर्ण संबंध जोड़ते जा रहे हैं उनकी भाषा भी अंग्रेजी है । चाहे हम अंग्रेजी साहित्य के वास्तविक महत्त्व को देखें या इस देश की स्थिति-विशेष का ध्यान करें, हम बलपूर्वक यह कह सकते हैं कि सारी विदेशी भाषाओं में केवल अंग्रेजी ही ऐसी भाषा है जो हमारे भारतीय शासित वर्ग के लिए लाभकारी होगी ।[13]

संस्कृत और अंग्रेजी की वर्तमान और भावी स्थिति का अपने ढंग से विश्लेषण करने के बाद मकाले जिस निष्कर्ष पर पहुंचे उसके आधार पर उन्होंने बैटिंक को यह सिफारिश की कि अंग्रेजी को शिक्षा माध्यम बना दिया जाए और अंग्रेजी शिक्षा पद्धति लागू कर दी जाए । किंतु समिति इस विषय में आधी-आधी बंटी हुई थी । तीन सदस्य भारतीय पद्धति के पक्ष में थे और तीन

11. 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन रिपोर्ट', VI, पृ० 17, 15
12, 13. वही, पृ० 11

अंग्रेजी पद्धति के पक्ष में । स्थितिवश मकाले को अध्यक्ष होने के नाते अपने कास्टिंग वोट का प्रयोग करना पड़ा । कास्टिंग वोट के उपयोग के बावजूद भी अंग्रेजी का प्रश्न मकाले के लिए जीवन-मरण का प्रश्न बना रहा । जब सिफारिश आगे भेजी गई तो कृत संकल्प होकर उन्होंने बैटिंक महोदय को साथ में यह लिख दिया कि यदि यह सिफारिश न मानी जा सके तो मुझे समिति की अध्यक्षता से निवृत्त कर दिया जाए ।[14] आखिरी दांव !

बैटिंक ने मकाले के प्रस्ताव पर विचार किया । ग्रांट के समय से ही हम सारी कहानी तो जानते ही हैं । 7 मार्च, 1835 को उन्होंने सिफारिश मान ली । उसी दिन गवर्नर-जनरल की ओर से एक अध्यादेश जारी कर दिया गया :

1. भारत सरकार का महान् उद्देश्य यह है कि भारतीय जनता में यूरोपियन साहित्य और विज्ञान का प्रसार किया जाए । तदर्थ जो धन शिक्षा के लिए निश्चित किया गया है वह केवल अंग्रेजी शिक्षा पर ही खर्च किया जाएगा ।
2. कोई भी देशीय स्कूल या कालेज तब तक बंद नहीं किया जाएगा जब तक जनता उसमें रुचि लेती दीखेगी । समिति के तत्त्वावधान में जितनी ऐसी संस्थाएं हैं उनके अध्यापकों तथा विद्यार्थियों को जो छात्रवृत्ति/अनुदान मिल रहा है वह मिलता रहेगा । किंतु किसी नए आने वाले विद्यार्थी को ऐसी छात्रवृत्ति नहीं मिलेगी क्योंकि ऐसा करने से शिक्षा के उस निष्प्राण विभाग को कृत्रिम शक्ति मिलेगी जो अन्यथा नई उपयोगी शिक्षा के सामने स्वयं अपने बल पर जीवित नहीं रह सकेगा । साथ ही जब कोई अध्यापक अपना स्थान छोड़ेगा तो सरकार को उसकी क्लास के बारे में रिपोर्ट दी जाएगी, ताकि सरकार द्वारा उसके रिक्त स्थान को भरने या न भरने का निर्णय लिया जा सके ।
3. अभी तक भारतीय साहित्य को छापने पर बहुत रुपया खर्च किया गया है । भविष्य में कोई धन इस काम पर व्यय नहीं किया जाएगा ।
4. जो भी धन शिक्षा के लिए उपलब्ध है वह सब भारतीय जनता को अंग्रेजी भाषा के माध्यम से अंग्रेजी साहित्य और विज्ञान पढ़ाने पर खर्च किया जाएगा । समिति को यह आदेश दिया जाता है कि वह शीघ्र इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कार्यक्रम बनाकर प्रस्तुत करे ।[15]

1813 से बाईस वर्ष बाद यह निर्णय लिया गया । इसका प्रभाव कितना स्थायी और दूरवर्ती होगा इसका अनुमान उस समय कोई भी साधारण व्यक्ति नहीं लगा सकता था । हां, यह बात पक्की हो गई कि भारतीय भाषाओं के द्वार सरकारी शिक्षा क्षेत्र में बंद हो गए और अंग्रेजी भाषा और शिक्षा के द्वार खोल दिए गए । भारत का अंग्रेजीकरण कर दिया गया ।

14. 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन रिपोर्ट', VI, पृ० 17
15. शार्प, 'सलेक्शंज फ्रॉम एज्यूकेशनल रिकार्ड्स', पार्ट I, पृ० 130-31

गवर्नर के अध्यादेश से ऐसा लगता है कि शिक्षा-क्षेत्र में भारतीय भाषाओं तथा अंग्रेजी के बीच असीम संघर्ष का नया वातावरण उत्पन्न हो गया । अंग्रेजी राज की छत्रछाया में केवल अंग्रेजी शिक्षा तो फूले-फलेगी किंतु भारतीय भाषाओं को कोई सहारा नहीं दिया जाएगा । राजभाषा और नौकरशाही की नई नीति तैयार हो रही थी और उसकी ओर डायरेक्टर्ज़ ने पहले कई बार संकेत भी किया था । इन संकेतों से और नए अध्यादेश से यह स्पष्ट हो गया कि अंग्रेजी पढ़ने वाले तो सरकारी शिक्षा, अंग्रेजी भाषा और सरकारी नौकरी-शिक्षा-भाषा की छत्रछाया में सुख की सांस लेंगे और केवल संस्कृत पढ़ने वाले चोटी-जनेऊ के बोझ से दबे सांस लेने को भी तरसेंगे । अध्यादेश में कह दिया था कि उनको प्रोत्साहन देने वाले कृत्रिम साधन छात्रवृत्ति, अनुदानादि आगे से नहीं दिए जाएंगे अर्थात् उनके पास से ऑक्सीजन हटा कर उन्हें अपनी मौत मरने का अवसर प्रदान किया जाएगा । भारत की आधुनिक भाषाओं को तो जंगली कहकर दुत्कार ही दिया गया था । संस्कृत और अरबी के लिए चालू छात्रवृत्ति और अनुदान के रूप में कुछ दिन की मोहलत मिल गई थी । वह यथासमय समाप्त हो गई । भविष्य में संस्कृत-अरबी प्रकाशन पर व्यय भी रोक दिया गया । केवल एक नया मंत्र उपयोगी था—आंग्लछायामृतम्, आंग्लछायामृतम् !

मकाले का एकमात्र लक्ष्य था भारतीयता का उन्मूलन और पाश्चात्य सभ्यता का बीजारोपण, और यह सब किया गया राज की सेवा में ।

11
राज की सेवा में

चलती का नाम गाड़ी । तर्क वह जो चले । शक्ति के सान्निध्य में उलटे पासे भी सीधे पड़ते दीखते हैं । स्वयं मकाले को अपने तर्क की कमजोरियां नहीं दीखीं । यदि हम उन कमजोरियों को देखें तो मकाले उन्नीसवीं शती के भोले कालिदास की तरह उसी शाखा को काटते दीखेंगे जिस पर वे बैठे थे । जादू यह रहा कि काटने पर भी शाखा कटी नहीं, साथ में राज की जड़ें और पक्की हो गईं ।

उदाहरणार्थ, मकाले ने प्रस्तावित शिक्षा पद्धति में दो भाषाओं को पूर्णतया रद्द कर दिया, एक तो आधुनिक भारतीय भाषाएं और दूसरी प्राचीन भाषाएं अर्थात् संस्कृत और अरबी । आधुनिक भाषाओं को वे अविकसित और जंगली मानते थे और संस्कृत तथा अरबी को व्यर्थ और अनुपयोगी । इसके अतिरिक्त वह यह भी मानते थे कि संस्कृत में जो भी ज्योतिष और आयुर्वेद आदि विज्ञान है वह सब झूठा है । इसी कारण वे संस्कृत, प्राचीन विद्या और हिंदी आदि नई भाषाओं के विरोधी थे । अस्तु । देखना यह है कि अविकसित और जंगली भाषाओं के प्रति, प्राचीन भाषाओं के प्रति, और ज्योतिषादि विद्याओं के प्रति उनका दृष्टिकोण क्या था । क्या यह वही था जो उनके शिक्षा-प्रस्ताव में इतने कठोर शब्दों में रखा गया था अथवा भारतेतर संदर्भ में, विशेषकर इंग्लैंड के संबंध में, इससे भिन्न था । यदि भिन्न था तो मानना पड़ेगा कि शिक्षा-प्रस्ताव में उनका दृष्टिकोण शिक्षा समिति के अध्यक्ष या शिक्षाशास्त्री का-सा न होकर एक प्रतिवादी राजनेता का था जो अपने पक्ष को कोई भी दलील देकर सिद्ध करना चाहते थे ।

एक बार संसद में ब्रिटिश शिक्षा पद्धति पर बोलते हुए मकाले ने प्राचीन भाषा, फलित ज्योतिष, कीमियाई विज्ञान और अविकसित भाषाओं की चर्चा की । उन्होंने यह तो माना कि इंग्लैंड की शिक्षा पद्धति के अनुसार नौजवानों को अपनी शिक्षा के दौरान मृत भाषाओं (अर्थात् ग्रीक और लैटिन) की ओर अत्यधिक ध्यान देना पड़ता है । उनका यह भी विचार था कि अंग्रेज नौजवानों की प्रशासन सेवा के लिए चुने जाने में सब से बड़ी योग्यता और आवश्यकता है विदेशी भाषाओं का ज्ञान । फिर भी उन्होंने यह कहा कि यह सब होते हुए भी क्लासिकल भाषाओं में निपुणता से अधिक इन नौजवानों की योग्यता की और कोई परीक्षा नहीं हो सकती । इस प्रकार मकाले ने प्रशासन सेवा के संबंध में प्राचीन भाषाओं की शिक्षा और योग्यता का पूर्णतया समर्थन किया । मकाले क्लासिकल भाषाओं के समर्थक थे । स्वयं विद्वान भी थे ।

मकाले यहीं नहीं रुके, वे आगे बढ़े । उन्होंने कहा कि किसी भी देश में, किसी भी समय,

कोई भी भाषाएं पढ़ाई जा रही हों, जो नौजवान उन्हीं भाषाओं में ऊंची योग्यता प्राप्त करेंगे वे अवश्यमेव उस देश और उस समय के युवक समाज के शिरोमणि होंगे । वे परम बुद्धिमान, परिश्रमी, महत्त्वाकांक्षी होते हुए परम आदरणीय स्थान के अधिकारी होंगे । यदि कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में न्यूटोनियन (आधुनिक) साइंस के स्थान पर टोलमाइक (मध्यकालीन) साइंस पढ़ाई जाए तो भी वहां का स्नातक असाधारण प्रतिभा का धनी होगा । यदि वह ग्रीक भाषा सीखने की बजाय चरोकी पढ़ेगा, उसमें उत्तम कविता लिखेगा और उसके व्याकरण को जानेगा तो वह उन सबसे अच्छा होगा जो चरोकी नहीं जानते । मकाले ने फलित ज्योतिष की चर्चा करते हुए कहा कि हमारी (ब्रिटिश) यूनिवर्सिटियों में फलित ज्योतिष भी पढ़ाई जाए तो जो नौजवान उत्तम जन्म-कुंडली बनाएगा वही सबसे अच्छा होगा । और यदि कीमियाई विज्ञान भी पढ़ाया जाए तो भी जो नौजवान पारसमणि बनाने में सबसे अधिक परिश्रम करेगा वही उत्तम होगा ।[1]

विचारणीय विषय यह है कि संस्कृत भाषा में उपलब्ध विज्ञान ग्रंथ, जो 1814 में 'एक्सलेंट ट्रिटीज़' कह दिए गए, और 1824 में वाहियात कह दिए गए, वे तो 1824 वाले ही स्वर में मकाले के शब्दों में बकवास बने रहे । किंतु वैसे ही विषय अर्थात् फलित ज्योतिष, कीमियागरी, मध्यकालीन गणित ज्योतिष, ग्रीक और लैटिन जिनको स्वयं मकाले मृतभाषा कहते थे, वे सब ब्रिटिश पद्धति के पाठ्य विषय के रूप में स्नातकों की उच्चतम योग्यता के मापदंड बन गए । और चरोकी भाषा तो 1825 में ही लिपिबद्ध की गई थी, 1835 से केवल दस वर्ष पहले, और थी भी एक अमरीकन कबीले की भाषा । फिर, भारत में ब्रिटिश शिक्षा पद्धति के अनुसार पढ़ाए जाने से प्रशासन-सेवा के लिए तैयार किए जाने वाले नौजवानों की शिक्षा का विषय भारतीय भाषाएं क्यों नहीं ? संस्कृत और अरबी भी तो क्लासिकल भाषाएं थीं, ग्रीक और लैटिन की तरह । और हिंदी इत्यादि चरोकी से गई-गुजरी तो नहीं थीं ?

मकाले के शब्दों पर विचार करने से इस प्रश्न का उत्तर मिल जाएगा । उनके मतानुसार पाठ्यक्रम की अपेक्षा शिक्षण पद्धति वास्तव में महत्त्वपूर्ण थी । यदि एक विद्यार्थी प्राचीन भाषा या इतिहास में अनुसंधान करे और दूसरा किसी आधुनिक भाषा या इतिहास में करे, तो योग्यता और मानसिक विकास की दृष्टि से उचित ट्रेनिंग के कारण दोनों की क्षमता का मूल्य बराबर होगा, हां यदि उनके काम का स्तर बराबर हो तो । मकाले के मत में शिक्षा का ध्येय था बौद्धिक विकास, चरित्र-निर्माण और जीवन की समस्याओं से जूझने की क्षमता । विषयाध्ययन का ध्येय यह नहीं है कि विद्यार्थी को उससे संबद्ध कुछ आंकड़ों की जानकारी दी जाए, वास्तविक लक्ष्य यह है कि उस विषय के अध्ययन की शैली ऐसी हो कि उसके माध्यम से उस विद्यार्थी की बौद्धिक और चारित्रिक शक्तियों का उद्बोधन किया जाए और उन्हें परिपक्व करके विद्यार्थी को जीवन क्षेत्र में प्रौढ़ स्तर तक पहुंचाया जाए और उसे स्वतंत्र रूप से आगे बढ़ने की क्षमता प्रदान की जाए । इंग्लैंड में मकाले अपनी पद्धति के समर्थक थे, इसी कारण उस पद्धत्ति के अंतर्गत किसी भी

1. मकाले, वर्क्स, XI, पृ० 572-73

विषय के समर्थक थे । दूसरे शब्दों में उनके लिए शैली मुख्य थी, विषय गौण । यदि भारत में वे अंग्रेजी पद्धति को लागू करवाना चाहते थे तो फिर यहां भी उन्हीं विषयों का समर्थन क्यों नहीं किया ? यहां भी तो ब्रिटिश पद्धति के अनुसार शैली मुख्य हो सकती थी ।

इस प्रश्न का उत्तर एक ही बनता है—वास्तव में भारत में ब्रिटिश पद्धति को लाना ही नहीं था । यहां तो अंग्रेजी के वेश में एक विशेष भारतीय पद्धति को लागू करना था, और संस्कृत, अरबी या नई भाषाएं उस पद्धति के अनुकूल थीं नहीं । इसीलिए मकाले ने अपने प्रस्ताव में उन विषयों में से एक का भी समर्थन नहीं किया और उन्हें अपनी नींद सुला दिया । ब्रिटिश पद्धति वास्तव में क्यों नहीं लागू की गई ? यह नई भारतीय पद्धति क्या थी ? उसका उद्देश्य क्या था ?

इस संदर्भ में हमें याद रखना चाहिए कि मकाले के मत के अनुसार शिक्षा पद्धति न तो स्वयंसिद्ध थी न स्वतः साध्य, वह तो केवल साधन थी । अतः शिक्षा का उद्देश्य और उस उद्देश्य के अनुरूप भावी लक्ष्य उनके लिए महत्त्वपूर्ण एवं विचारणीय विषय थे । हम पहले ही देख चुके हैं कि प्रारंभ से ही भारत में अंग्रेजी शिक्षा का एक मात्र उद्देश्य रहा था इंग्लैंड के राजनीतिक और व्यापार संबंधी हितों की रक्षा करना, उनकी सिद्धि के लिए राज की जड़ें पक्की करना और यहां की सभ्यता का परिवर्तन करके इंग्लैंड के माल की खपत के लिए क्षेत्र तैयार करना । मकाले ने अपने शिक्षा-प्रस्ताव के माध्यम से इसी विचारधारा को कार्यान्वित करने का प्रयास किया ।

इंग्लैंड और भारत में शिक्षा के उद्देश्य भिन्न थे । पंद्रहवीं शती से लेकर उन्नीसवीं शती तक अर्थात् मकाले के अपने समय तक इंग्लैंड में शिक्षा का उद्देश्य था प्रशासन कला का प्रशिक्षण और प्रशासक का चरित्र-निर्माण । रिनेसां के समय इंग्लैंड और सारे यूरोप में एक बड़ी भारी सांस्कृतिक क्रांति हुई थी जिसके फलस्वरूप मनुष्य का मध्यकालीन और बाइबल प्रतिपादित रूप पतित और अधम से ईशपुत्र के रूप में बदल गया था । ऐसा लगता था कि मनुष्य ने अपने आदि रूप को फिर से जागृत कर लिया, और जीवन को एक अभिशाप से वरदान में बदल लिया । शेक्सपियर ने अपने नाटकों में मनुष्य के इस रूप को चित्रित किया है । हां, यदि मनुष्य स्वयं गिरना चाहे तो पशु से बदतर शैतान के स्तर तक भी गिर सकता है । इसीलिए शिक्षा का नया उद्देश्य बन गया मानव के अपने ईशपुत्र रूप की पुनः प्राप्ति । किंतु सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों के कारण जनसाधारण को शिक्षा उपलब्ध थी नहीं । शिक्षा केवल उच्च वर्ग को ही उपलब्ध थी और वह वर्ग शासक वर्ग ही था । इसलिए अंततोगत्वा शिक्षा का उद्देश्य मानव स्वरूप की प्राप्ति के साथ-साथ शासक का चरित्र-निर्माण भी रहा । इसी को 'लिबरल एज्यूकेशन' का नाम दिया गया । शिक्षाशास्त्रियों का कहना है कि रिनेसां के समय जब मनुष्य की अपने आदि स्वरूप में पुनः व्यवस्थिति मान ली गई तब शिक्षा का उद्देश्य हो गया पूर्ण मानव की शिक्षा । किंतु आने वाली शताब्दियों में शनैः-शनैः वही उद्देश्य बदलता गया और शासक वर्ग की शासन कला की निपुणता के रूप में विकसित होता चला गया ।[2] इंग्लैंड के प्रशासक

2. देखिए : एड्वर्ड शॉर्ट, 'एज्यूकेशन इन ए चेंजिंग वर्ल्ड' (लंदन, 1971), पृ० 6-7

उसी पद्धति से होकर निकले थे। स्वयं मकाले भी उसी प्रशिक्षण-प्रक्रिया से गुजरे थे। भारत के अंग्रेज प्रशासक उसी शिक्षा पद्धति से शिक्षा प्राप्त करके भारत आए थे और उन्हीं के सहायक के रूप में भारतीय नौजवानों की जरूरत थी, सस्ते दामों पर।

किंतु भारत में शिक्षा का उद्देश्य प्रशासक को तैयार करना नहीं था। प्रशासक तो इंग्लैंड से तैयार होकर ही आते थे। यहां तो प्रशासकों के लिए सस्ते सहायकों की आवश्यकता थी। 1827 से 1830 तक डायरेक्टर्ज़ की ओर से बार-बार यह कहा जाता रहा कि भारतीयों को शिक्षा के माध्यम से सरकारी नौकरियों के लिए तैयार किया जाए। किंतु यह कभी नहीं कहा गया कि उनको ऊंची नौकरियां दी जाएंगी। 1833 के आस-पास यह कहा जा रहा था कि वह समय कभी नहीं आएगा जबकि भारतीयों को प्रशासन या फौज में ऊंचे पद दिए जाएंगे। मकाले स्वयं इस विषय पर जल्दी में कुछ कहना नहीं चाहते थे। वे कहते थे कि यह मामला बहुत नाजुक है। किंतु वे यह अवश्य मानते थे कि भारत के अपने हित में यह होगा कि ऊंचे पदों पर भारतीयों की नियुक्ति के बारे में फूंक-फूंक कर कदम उठाए जाएं, जल्दबाजी में नहीं। हां, यदि ऐसा समय कभी आ जाए कि भारत के अपने हित इस नीति में परिवर्तन की अपेक्षा करें और ब्रिटेन अपनी शक्ति के खोए जाने के भय से यह परिवर्तन करने से इंकार करे तो मकाले इस प्रकार की तुच्छ नीति से सहमत नहीं होंगे, वे इससे घृणा करते थे।[3]

किंतु प्रश्न तो यह है कि ऐसा समय कभी आना भी था या नहीं और इस बात का निर्णय करने वाला कौन था कि वह समय आ गया है या नहीं ? इसका निर्णय तो स्वयं ब्रिटिश सरकार को ही करना था। यह सभी को विदित है कि कांग्रेस की स्थापना के पश्चात् जब ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध आंदोलन प्रारंभ हुआ तो सरकार का कहना यही था कि चंद असंतुष्ट शिक्षा-प्राप्त लोग ऊंची नौकरियां प्राप्त करने के लिए या सरकार की ताकत में भागीदार बनने के लिए यह आंदोलन चला रहे हैं। मकाले के समय से करीब 100 वर्ष बाद तक सरकार को यह विश्वास नहीं हो पाया कि भारत में ऐसे शिक्षित लोग तैयार हो गए हैं जो ऊंचे पदों के प्रति न्याय कर सकते हैं। जब साइमन कमिशन भारत आया था तो उनको भी इस विषय पर ब्रिटिश सरकार को रिपोर्ट करना था।[4] मोटी बात यह है कि यदि मकाले और उनके समकालीन शासक वर्ग से या सरकार से पूछा जाता कि भारतीयों को कभी ऊंचे पद मिल सकेंगे या नहीं तो वे 'हां' की जगह कहते 'नहीं'। हां तो उन्होंने कहा भी नहीं।

मकाले के विचारों में भारतीयों की ऊंचे पदों पर नियुक्ति का प्रश्न एक और प्रश्न से जुड़ा हुआ था। वह प्रश्न यह था कि क्या कभी भारतीयों को देश के शासन-प्रशासन में प्रतिनिधित्व दिया जा सकेगा या नहीं ? मकाले इस प्रश्न पर 'हां' की अपेक्षा 'नहीं' के समर्थक थे। वे कहते थे कि भारतीय लोग एक ऐसी जाति के लोग हैं जिन्हें सशक्त लोगों के पैरों के नीचे कुचले जाने की आदत पड़ गई है और वे मानवीय व्यवहार को कमजोरी का प्रतीक मानते

3. मकाले, वर्क्स, XI, पृ० 571-83
4. 'इंडियन स्टेच्युटरी कमिशन रिपोर्ट' (लंदन, 1930), I, 378

हैं। यह विचारधारा करीब-करीब सभी अंग्रेज शासकों के दिमाग में बैठ गई थी। भारत शासन ऐक्ट पर बोलते हुए 1833 में उन्होंने कहा था कि हमें अत्यंत कठिन काम भारत में करना है। हमें एक गंदी चीज से अच्छी चीज पैदा करनी है, हमें भारतीयों को अच्छा शासन देना है और वे ऐसे लोग हैं जिनको स्वतंत्र शासन नहीं दिया जा सकता। मकाले के विचार के अनुसार यूरोप में तो ऐसी जातियां बसती थीं जिनमें से किसी भी जाति के जनसाधारण को शासन में भागीदार बनाया जा सकता था किंतु भारत में नहीं। मकाले मिल का हवाला देते हैं और कहते हैं कि स्वयं मिल जो शासन के अंदर जनता के प्रतिनिधित्व के पक्के समर्थक थे, वे भी कहते थे कि भारत में जनता के प्रतिनिधित्व का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए मकाले के मतानुसार भारत में एक ही प्रकार का शासन संभव था, वह था ब्रिटिश साम्राज्य और उस साम्राज्य की छत्रछाया में भारत के लोगों को उतने ही सुख और शांति से रहने का वरदान देना जितना उचित या संभव हो। मकाले प्रबल आशा करते थे कि भारत सदा ब्रिटिश साम्राज्य का अंग बनकर रहेगा। वह इंग्लैंड के शत्रुओं से युद्ध करेगा और इंग्लैंड के मित्रों से शांति संबंध जोड़ेगा। भारत की रक्षा ब्रिटिश नेवी के द्वारा की जाएगी और अंग्रेजी सेना, जिसमें कुछ भारतीय सिपाही भी होंगे, भारत में स्थित रहेगी।[5] यदि भारतीय सेना में भारतीय लोग मात्र सिपाही का स्थान पा सकने के योग्य थे तो प्रशासन में उन्हें अफसरी या अधिकार कहां से मिलते ?

जैसे मकाले के विचारों के अनुसार ऊंचे पदों पर भारतीयों की नियुक्ति या शासन में उनका भागीदार होना नाजुक प्रश्न थे उसी तरह भारत कभी राज में प्रतिनिधित्व इत्यादि की मांग करेगा या नहीं अथवा स्वतंत्रता या स्वतंत्र निर्णयाधिकार की मांग कर सकेगा या नहीं, यह प्रश्न भी उनके लिए गंभीर था। उनके अनुसार भारत की किस्मत का अंतिम फैसला तो भविष्य के अंधकार में निहित था। समाज और सृष्टि के वे नियम जिनके अनुसार इसका उत्थान या पतन हुआ या होना था वे नियम भी किसी को मालूम नहीं थे। हो सकता है कि अंग्रेजी शिक्षा के कारण भारत इतनी बौद्धिक और चारित्रिक उन्नति कर ले कि वर्तमान ब्रिटिश ढांचे से निकलने की मांग करे और अपने आप को स्वायत्त शासन के योग्य समझकर यूरोपियन प्रकार का शासन मांगने लगे। यदि ऐसा दिन आने भी लगा तो मकाले उसे रोकने या टालने के पक्ष में नहीं थे। ऐसा दिन ब्रिटिश इतिहास में सबसे अधिक गौरव का दिन होगा।[6] उस दिन को कौन टाल सकता था ? नियति तो नियति है। किंतु फिर भी आशा बलवती बनी रही।

इस प्रकार मकाले के सामने दुपहली समस्या खड़ी हो गई जिसका हल वे शिक्षा के माध्यम से निकालना चाहते थे। एक तो यह कि भारत शताब्दियों तक, वास्तव में सदा के लिए, ब्रिटिश साम्राज्य का अंग बना रहेगा। इसलिए किस प्रकार उसे अपने अधिकार में रखा जाए ? दूसरी यह कि यदि कभी भारतीयों को शासन में भागीदार बनाना पड़ा तो कौन-से भारतीयों को किस प्रकार शासन में भागीदार बनाया जाए ? अंत में यदि भारत को स्वतंत्रता

5. मकाले, वर्क्स, XI, पृ० 555-56
6. वही, पृ० 586

प्रदान करनी ही पड़े तो कौन वे लोग होंगे जो इस देश की बागडोर को संभालेंगे और किस वैधानिक ढांचे में ताकि इंग्लैंड की जड़ें भारत में फिर भी पक्की बनी रहें और संबंध टूटें नहीं। किस प्रकार भारत से इंग्लैंड को राजनीतिक और व्यापारी शक्ति मिलती रहे, साम्राज्य के अंदर और बाहर दोनों अवस्थाओं में ? इस उद्देश्य की पूर्ति का माध्यम उन्होंने शिक्षा को बनाया और इसी उद्देश्य को सामने रखकर उन्होंने शिक्षा की रूपरेखा बनाई।

ब्रिटिश शिक्षाशास्त्रियों अर्थात् मकाले और बाद में कर्ज़न आदि के सामने एक और प्रतिमान भी रहा। शिक्षा की रूपरेखा भारत के लोगों के चरित्र को देखकर भी बनाई जाए, ऐसी उनकी मान्यता थी। वे भारतीय लोगों को बहुत ही कमजोर और कायर मानते थे। उनके मुकाबले में वे अंग्रेज जाति को शारीरिक, बौद्धिक और नैतिक दृष्टि से बहुत ऊंची मानते थे। इस मान्यता का सबसे बड़ा प्रमाण उनके लिए यह था कि मुट्ठी-भर अंग्रेज समुद्र पार करके करोड़ों के जनसमूह पर राज्य करने में सफल हो रहे थे। यदि अंग्रेज जाति भारतीयों से बेजोड़ तरीके से चरित्र में ऊंची न होती तो यह कैसे संभव हो सकता था ?[7] उनकी बुद्धि यही आश्चर्यमय प्रश्न उठाती रही, उत्तर इतिहास से मिलता रहा।

इन कारणों से भारत में लागू होने वाली शिक्षा पद्धति अंग्रेजी पद्धति होते हुए भी इंग्लैंड में चल रही ब्रिटिश पद्धति जैसी नहीं हो सकती थी। यहां की पद्धति का जैसे साम्राज्यवादी उद्देश्य था वैसे ही उसका लक्ष्य भी भिन्न था। ब्रिटिश पद्धति का लक्ष्य था शासक वर्ग का निर्माण, भारत में अंग्रेजी पद्धति का लक्ष्य था शासित वर्ग का निर्माण।

भारतीय शासित वर्ग से सबसे पहली अपेक्षा थी कर्मचारियों की जो मामूली वेतन के बदले कलम घिसाते रहें और अफसरों की डांट-डपट खाते हुए सरकारी काम करते रहें। इनके जीवन का चित्रण बहुत समय पश्चात् राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने 'भारत-भारती' में किया। इस वर्ग का काम था सरकार की मदद करना, पैसे बचाने में। 1827 में डायरेक्टर्ज़ ने लिखा था कि भारतीयों को नौकरी में लिए बिना भारत का प्रशासन चलाना असंभव होगा। हेस्टिंग्ज़ के समय कलकत्ता मदरसा और संस्कृत कालेज में जो 'मोहम्मदन जेंटलमैन' परिवारों के युवक या पंडित वर्ग के युवक शिक्षा प्राप्त करने वाले थे उनसे अपेक्षा की जाती थी कि वे या तो अदालतों में अफसरों के ऐसे उच्च स्थान प्राप्त करेंगे जहां उनको ऊंची तनख्वाह मिलेगी या वे हिंदू विधि-शास्त्र के पंडित बनकर अंग्रेज न्यायाधीशों की सहायता करेंगे। 1827 में जो पत्र लिखा गया था उसकी भाषा दूसरी शैली की थी। उसमें लिखा था कि अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से जिन नौजवानों को शिक्षा मिलेगी उनका नैतिक जीवन ऊंचा होगा और उनमें से ऐसे नौकर सरकार को मिल पाएंगे जिनके ऊपर विश्वास करके उनको सरकारी काम दिए जा सकेंगे। इन लोगों को अंग्रेजी भाषा की कामचलाऊ योग्यता पर्याप्त थी। अंग्रेजी भाषा का दफ्तरी ज्ञान और कंपनी सरकार का विश्वासपात्र होना, शिक्षित वर्ग के लिए आदर्श उपलब्धि मानी गई।

इन मामूली नौकरियों से ऊपर जाने की योग्यता प्रथम तो भारतीयों में थी ही नहीं, मकाले

7. मकाले, वर्क्स, XI, पृ० 565

ऐसा मानते थे। जब वे ऐसा कहते तो जातिवाद के सुर में बहकने लगते। वे कहते थे कि अंग्रेज तो उच्चतर जाति से संबंध रखते हैं, इसी कारण वे उच्चतर ज्ञान और चरित्र के धनी हैं। भारतीय एक तुच्छ जाति से संबंध रखते हैं और मकाले यहां तक कह गए कि अंग्रेज शासक यदि कोई गलती भी कर बैठे हैं, जो उन्हें शोभा नहीं देती, तो केवल इस कारण कर बैठे हैं कि घटिया लोगों के संपर्क में आने के कारण ऐसा सीख गए।[8]

फिर भी भारतीय जनता को साथ रखने के लिए कुछ ऐसे भारतीयों की आवश्यकता तो थी ही जो सरकार का काम करें और जनता के मन में सरकार के प्रति सद्भावना पैदा करके उनको कृतज्ञता भाव से सरकार के निकट ले आएं और वहीं स्थित-व्यवस्थित रखें। इन्हीं लोगों को एक और काम भी करना था। अंग्रेजी पढ़कर अंग्रेजी की शब्दावली की सहायता से भारतीय भाषाओं को समृद्ध बनाना था ताकि उनके माध्यम से वे आधुनिक शिक्षा जनसाधारण तक पहुंचा सकें।[9] ये ही लोग जनता तक नई सभ्यता का संदेश पहुंचाने वाले थे।

इस उच्चवर्ग की शिक्षा ब्रिटिश परंपरा के अनुसार प्रशासक वर्ग की-सी हो सकती थी, या नहीं ? मकाले के विचारों के अनुसार, नहीं हो सकती थी। ब्रिटिश अफसर चाहे इंग्लैंड में हो चाहे भारत में, उसकी उच्चस्तरीय शिक्षा एवं उच्चतर बुद्धि और चरित्र के कारण उससे अपेक्षा यही की जाती थी कि वह स्वतंत्र निर्णय लेगा, जैसा स्वतंत्र समाज में उचित है वैसा। किंतु भारतीय शिक्षा-प्राप्त लब्धप्रतिष्ठ नौजवान स्वतंत्र निर्णय लेने के लिए नहीं था, वह केवल सरकार का संदेशवाहक था अर्थात् जो कुछ वह पढ़ ले या जो उसे सुना दिया जाए उसी को आगे पहुंचा दे। मकाले केवल इतनी ही अपेक्षा करते थे, अधिक नहीं। क्यों ?

भारत और इंग्लैंड के बीच मकाले को सब से बड़ा जो अंतर दीखता था वह था सांस्कृतिक अंतर। इंग्लैंड या अंग्रेज जाति पर गर्व होने का जो कारण था वह भी सांस्कृतिक ही था। उनको अपनी ग्रीक-रोमन, सैक्सन-ईसाई और अंग्रेजी परंपरा पर बड़ा भारी गर्व था। जब भी उन्हें भारत का खयाल आता और वहां पर अंग्रेजी राज का ध्यान करके अपनी जाति पर गर्व होता तो तत्काल उसी सांस्कृतिक अंतर का ध्यान करते और कहते कि यह इस संस्कृति की ही देन है कि मुट्ठी-भर अंग्रेज इतने बड़े देश पर राज कर रहे है। किंतु शासक एवं धार्मिक परंपरा के अनुयायी होने के नाते उनको यह बात खलती ही रहती कि भारत के लोगों की जाति, रंग, सभ्यता, आचरण, धर्म सबके सब हम से भिन्न हैं।[10] प्रारंभ से ही अंग्रेज सरकार को यह बात भी खल रही थी कि यदि भारत में कोई परेशानी या भय सरकार को हुआ तो इसी धार्मिक और सांस्कृतिक अंतर के कारण होगा। यदि उस भय को मिटाना है तो शिक्षा का पहला लक्ष्य होना चाहिए भारत पर सांस्कृतिक विजय। इस विजय से भारत के उद्धार और इंग्लैंड की शाश्वत विजय इन दोनों मंजिलों तक पहुंचने की आशा उनको थी। इसलिए उन्होंने बलपूर्वक कहा कि शिक्षा के माध्यम

8. मकाले, वर्क्स, XI, पृ० 565, 569
9. 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन रिपोर्ट', VI, पृ० 16
10. मकाले, वर्क्स, XI, पृ० 559

से हमें भारत में ऐसे वर्ग का निर्माण करना है जो हमारे और करोड़ों शासित जनता के बीच की कड़ी बनकर संचार और संगठन का माध्यम बन सके। ये लोग रक्त और रंग में भारतीय होंगे किंतु आचार-विचार, वाणी और व्यवहार में अंग्रेज।[11] इस प्रकार अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त वर्ग की संस्कृति और सभ्यता के परिवर्तन का पूरा प्रोग्राम राज की शाश्वत सेवा करने के लिए मकाले महोदय ने बनाया।

मकाले का विचार था कि अंग्रेजी भाषा और साहित्य भारत की सोई सड़ी सभ्यता के लिए वह काम करेंगे जो ग्रीक और लैटिन भाषा और साहित्य ने सोलहवीं शती में इंग्लैंड के लिए किया था। इंग्लैंड में क्लासिकल साहित्य की प्रेरणा से एस्कम और मौर इत्यादि विद्वानों का उद्भव हुआ था। उसी प्रकार अंग्रेजी भाषा और साहित्य-ज्ञान भारत में क्लासिकल साहित्य और संस्कृति का रोल अदा करके यहां जागृति पैदा करेगा और एक नई सभ्यता और संस्कृति को जन्म देगा।[12] मकाले का विचार था कि अंग्रेजियत के रंग में रंगा यह भारत सदा के लिए इंग्लैंड के साथ शासन-सूत्र में बंधा रहेगा। ग्रांट ने इसी बात को दूसरे शब्दों में कहा था, "शिक्षा के माध्यम से भारत के लोगों का धर्म-परिवर्तन हो जाएगा। वे ईसाई बन जाएंगे और एक प्रकार से इंग्लैंड के साथ एक नए धार्मिक परिवार के सदस्य बनकर जुड़े रहेंगे।" मकाले ने धर्म या धर्म-परिवर्तन की चर्चा तो खुलकर नहीं की किंतु भारतीय धर्म को झूठा कहकर उस परिवर्तन की ओर संकेत अवश्य कर दिया। शेष बात वे मन में रख गए और एक वर्ष के बाद अपने पिता को पत्र में लिखकर कह दी। मकाले संस्कृति-परिवर्तन को धर्म-परिवर्तन का प्रबल साधन मानते थे और वास्तव में तो संस्कृति-सभ्यता-परिवर्तन को धर्म-परिवर्तन का पर्याय ही मानते थे। इस वैचारिक और सांस्कृतिक धर्म-परिवर्तन के लिए उन्होंने तीस वर्ष का समय रखा था।

साम्राज्यवाद के हाथ और हथियार दोनों लंबे होते हैं। पहले हथियार की लड़ाई से साम्राज्य-विस्तार होता था। यूनानियों, रोमनों और अंग्रेजों के साम्राज्य-युद्ध सेना की सहायता से लड़े गए थे। मकाले ने सेना विजय के पश्चात् उसी के स्थान पर विचार-युद्ध तथा मानसिक विजय का सुझाव दिया। आज का साम्राज्य-युद्ध वित्त और विचार दोनों के माध्यम से लड़ा जाता है। मकाले ने खुले शब्दों में इस नए युद्ध का सुझाव दिया था। हम देख चुके हैं कि प्रारंभ से ही ब्रिटेन को दो प्रकार की चिंता थी, एक भारत-विजय अर्थात् साम्राज्य-विस्तार और दूसरी साम्राज्य-सुरक्षा। उसी मानसिक विजय की ओर मकाले ने ध्यान आकृष्ट किया। उन्होंने लिखा कि एक विजय ऐसी है जिसकी पराजय कभी नहीं होती, एक साम्राज्य ऐसा भी है जो अवनति के सभी प्राकृतिक या सामाजिक कारणों से मुक्त है। मानो 'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि'—ऐसा बोले। यह विजय थी बर्बर बाहुबल के ऊपर शांत-क्रांत बुद्धि-शक्ति की विजय, मानसिक विजय जो वैचारिक क्रांति पैदा करती है और जिसका ह्रास कभी नहीं होता। मकाले को इस नई भारत-विजय का रूप दिखाई देता था। उन्होंने कहा कि हमारी कला, साहित्य, आचार-संहिता और विधि-विधान का

11. 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन रिपोर्ट', VI, 16
12. वही, पृ० 12

नया साम्राज्य भारत में अक्षुण्ण और एकछत्र राज बनके सदा कायम रहेगा।[13]

मकाले महोदय का दृढ़ विश्वास था कि यदि कभी अंग्रेजों को भारत छोड़ना पड़ा तो अंग्रेजी सभ्यता के रंग में रंगे पाश्चात्य संस्कृति के पुजारी, अंग्रेजी माध्यम से सोचने, बोलने वाले ये सांवले साहिब उस साम्राज्य की रक्षा करते रहेंगे। ये लोग शारीरिक, मानसिक, आर्थिक और सामाजिक रूप से ब्रिटिश साम्राज्य के अंग बनकर रहेंगे और कभी भी भारत को ब्रिटेन से अलग नहीं होने देंगे—ऐसी पक्की आशा मकाले करते थे। सांस्कृतिक सूत्रों में बंधा यही भारत ब्रिटेन के माल की खपत के लिए एक विशाल और स्थायी मार्किट के रूप में भी बना रहेगा। ये नए क्षत्रिय और संकर ब्राह्मण मकाले महोदय को भारत में नजर आ रहे थे जो नए कालेजों में शिक्षा प्राप्त करने के बाद बीफ-हैंबरगर और बीयर के मग हाथ में लेकर नई आजादी की तरफ कदम बढ़ा रहे थे। ये ही नए साम्राज्य के नए उत्तराधिकारी के रूप में साम्राज्य की भावी आशाओं के प्रतीक भी थे और मकाले के अनुसार इन्हीं लोगों को भारत के शासन की बागडोर सौंपी जानी थी—यदि नियति का यही विधान था तो!

यहां पर मकाले के प्रस्ताव के बीस वर्ष बाद की चर्चा करना उचित लगता है। चार्ल्स ट्रेवेल्यन मकाले के ब्रदर-इन-ला थे। उन्होंने 1838 में 'एज्यूकेशन आव् दि पीपल् आव् इंडिया' नाम की एक पुस्तक भी लिखी थी और एक प्रयास यह भी किया था कि सारी भारतीय भाषाओं की लिपि एक बन जाए। 1853 में कंपनी चार्टर के नवीनीकरण के समय भारत के शिक्षा संबंधी विषयों पर फिर से विचार किया गया था और ट्रेवेल्यन ने भी समिति के सामने अपने विचार व्यक्त किए थे। इसी विचार-विमर्श के पश्चात् 1854 में चार्ल्स वुड के द्वारा वह वृहत् कार्यक्रम लेख भेजा गया था जिसे 'वुड्ज डिस्पैच' और 'मैग्ना कार्टा आफ इंडियन एज्यूकेशन' का नाम दिया जाता है। चार्ल्स ट्रेवेल्यन इस विचार के थे कि अंग्रेजी राज को यदि कोई खतरा कभी होगा तो अनपढ़ भारतीयों से होगा, शिक्षित भारतीयों से नहीं। यह बात उन्होंने 1857 से ठीक चार वर्ष पूर्व 1853 में कही थी जो किसी भविष्यवाणी से कम नहीं थी। अतः ट्रेवेल्यन ने यह सुझाव दिया कि भारत में अंग्रेजी भाषा और साहित्य उसी प्रकार पढ़ाया जाए जिस प्रकार किसी समय में ब्रिटेन में रोमन भाषा और साहित्य पढ़ाए गए थे। पहली शती (ई०पू०) से 440 ई० तक ब्रिटेन में रोमनों का राज था। रोमन भाषा और साहित्य पढ़कर ब्रिटेन के लोग रोमन सभ्यता और संस्कृति के रंग में रंगे गए और उनको रोमन आचार-विचार और दिनचर्या का चस्का पड़ गया। किंतु 410 में रोमन अपने देश वापस चले गए क्योंकि वे जर्मन आक्रमणों से अपने देश की रक्षा करना चाहते थे। जब वे जाने लगे तो ब्रिटेन के लोगों ने उनको रोकने का भरसक प्रयत्न किया और कहा कि आप न जाइए क्योंकि आपके बिना अकेले हमसे काम चलने वाला नहीं है। बाद में रोमन वापस भी आए किंतु वह दूसरी कहानी है। ट्रेवेल्यन ने ब्रिटिश इतिहास का हवाला देकर यह कहा कि जैसे रोमन भाषा-साहित्य पढ़े-लिखे ब्रिटिश वर्ग को रोमन लोगों की आवश्यकता रही और जैसे ब्रिटेन के शिक्षित वर्ग ने रोमनों को रोकने का प्रयास किया था

13. मकाले, वर्क्स, XI, पृ० 586

वैसे ही यदि किसी समय हम वहां से चलने भी लगे तो भारत का शिक्षित वर्ग हमें भी रोकने का प्रयास करेगा । और यदि हम चले भी आए तो भी भारत के लोग मानसिक और वैचारिक रूप से अपने आर्थिक और सामाजिक विकास के लिए हम पर सदा निर्भर करते रहेंगे । उस समय शासक रूप में तो हमें कोई लाभ नहीं हो सकेगा किंतु मित्र रूप में तो होगा ही ।[14] इसी भावी मैत्री के आंचल में मकाले ने सांवले साहबों के सौजन्य से मानसिक और सांस्कृतिक ब्रिटिश साम्राज्य की शाश्वत स्थापना की कल्पना की थी ।

यहां पर एक और बात याद आ रही है, ट्रेवेल्यन के कारण । झूठ-सच का निर्णय तो हो नहीं सकता किंतु बात रोचक है । लैरी कालिंज़ और डामिनिकी लापीरे ने लार्ड माउंटबेटन पर एक पुस्तक लिखी है, जिसका नाम है 'माउंटबेटन एंड इनडिपेंडेंट इंडिया : 16 अगस्त, 1947—18 जून, 1948' (विकास, 1984) । लार्ड माउंटबेटन भारत के अंतिम वाइसराय थे और स्वतंत्र भारत के पहले गवर्नर-जनरल । लेखकों ने माउंटबेटन के साथ एक भेंट की चर्चा की है और माउंटबेटन ने जो उनको बताया वह भी लिखा है । वे कहते हैं कि माउंटबेटन ने उनको यह बताया था कि भारत जब स्वतंत्र हुआ तो पंडित नेहरू और सरदार पटेल मेरे आस पाए और कहने लगे कि हमें केवल स्वतंत्रता की लड़ाई लड़ने का अनुभव है, हमें प्रशासन का अनुभव तो है नहीं । इसलिए हमारी ओर से इस देश को चलाने के लिए आप रुक जाइए । माउंटबेटन रुक गए ।[15] इस समय न तो माउंटबेटन हैं, न पंडित जी और न ही सरदार किंतु लिखने वाले तो लिख गए, कहने वाले कह भी गए—यदि कहा हो तो—और यह तो तथ्य है ही कि माउंटबेटन रुके थे । ट्रेवेल्यन के शब्दों में स्वतंत्र भारत में अंग्रेज का राज तो रहा ही । और अब यह देखने की बात है कि आज जो शासन-प्रशासन चल रहा है उसमें कहां तक अंग्रेजी और पाश्चात्य विचारधारा काम कर रही है और कहां तक भारतीय विचारधारा भारतीय दृष्टिकोण से क्रियाशील है । अपने अंतिम दिनों में अर्थात् स्वतंत्र भारत के प्रारंभ में ही गांधी जी देश के शासन से दूर क्यों हो गए थे ? गांधी जी को विदेशी वस्त्रों की होली क्यों जलानी पड़ी थी और कटिवस्त्र पहन कर चरखा क्यों कातना पड़ा था ? इन प्रश्नों का उत्तर मकाले, ट्रेवेल्यन और चार्ल्स ग्रांट के लेखों से और अंग्रेजी शिक्षा-साम्राज्य के पन्नों से खोजा जा सकता है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्रिटेन में प्रचलित शिक्षा-पद्धति और भारत में चलाई जाने वाली अंग्रेजी शिक्षा पद्धति के उद्देश्य और लक्ष्य दोनों भिन्न थे । ब्रिटिश पद्धति का उद्देश्य था स्वतंत्र ब्रिटेन की सेवा और साम्राज्य-विस्तार, उसका लक्ष्य था देशभक्त और स्वतंत्र वृत्ति वीर शासकों और प्रशासकों का निर्माण । भारतीय अंग्रेजी शिक्षा पद्धति का उद्देश्य था साम्राज्य-सेवा और तदर्थ राजभक्त दासवृत्ति सेवकों का निर्माण । इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए आवश्यक था कि शिक्षार्थियों के मन, वचन और कर्म को बदलकर उनका सांस्कृतिक परिवर्तन कर दिया जाए,

14. 'द एज्यूकेशन आफ दि पीपल आफ इंडिया' (लंदन, 1838), पृ० 194-95 एवं सुंदरलाल, 'भारत में अंग्रेजी राज' (इलाहाबाद, 1938), III, पृ० 1148-50

15. देखिए : 'टाइम्ज़ आफ इंडिया' (दिल्ली, 15-4-84), रफीक जकरिया द्वारा लिखित रिव्यू ।

धार्मिक परिवर्तन भी किया जा सके तो सबसे अच्छा । इसी कारण भारतीय भाषा, साहित्य, इतिहास और परंपरा, धर्म और संस्कृति इत्यादि सब पाठ्यक्रम से अलग कर दिए गए । कलकत्ता मदरसा और संस्कृत कालेज में नया प्रवेश पाने वाले विद्यार्थियों की छात्रवृत्तियां बंद कर दी गईं । छोड़कर जाने वाले संस्कृत और अरबी के प्राध्यापकों के स्थान खाली रखे गए और संस्कृत-अरबी की पुस्तकों का प्रकाशन बंद कर दिया गया ।

केवल अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजी-साहित्य । अब देखना यह है कि प्रारंभ से दुहाई तो दी जा रही थी अंग्रेजी भाषा और उसके माध्यम से विज्ञान की शिक्षा की, फिर यह साहित्य पर इतना बल क्यों ? और साइंस टेक्नोलजी इत्यादि का क्या बना ? साइंस के स्थान पर साहित्य इसलिए रखा गया कि साइंस की भाषा, चाहे वह कोई सी हो, निर्वर्ण होती है अर्थात् उसमें कोई सभ्यता या संस्कृति या धर्म संबंधी भावनात्मक रंग नहीं होता । इसके विपरीत मकाले के प्रस्ताव के अनुसार भारतीय शिक्षार्थी वर्ग पर तो अंग्रेजियत का रंग चढ़ाना था । साहित्य मनुष्य की भावनाओं को छूता है, और नौजवानों के स्वप्नों के संसार में अंग्रेजी जैसा समृद्ध लौकिक साहित्य तो उनकी भावनाओं को बिजली की तरह छूता है । अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन से यह अपेक्षा नहीं की जाती थी कि विद्यार्थियों की भावनाओं की झंकार उनको भावना के आदि स्रोत से जोड़ेगी—आदि स्रोत, शाश्वत ब्रह्म और शुद्ध चेतना के माध्यम से सृष्टि और इतिहास के परिवेश में उसकी अभिव्यक्ति । यदि भारतीय शिक्षा भारतीय दर्शननिष्ठ शिक्षा होती तो वह भारतीय भाषा, साहित्य, इतिहास एवं ज्ञान-विज्ञान के रूप में निराकार के साकार और साकार के सर्जन की कला-शिक्षा होती । यदि वह ब्रिटिश लिबरल पद्धति की शिक्षा भी होती तो ग्रीक, लैटिन, संस्कृत, अरबी, अंग्रेजी, हिंदी, चरोकी इत्यादि किसी भी भाषा, साहित्य या विज्ञान के माध्यम से स्वतंत्र वृत्ति-प्रशासन-वर्ग-निर्माणाभिमुखी शिक्षा होती । किंतु भारतीय शिक्षार्थियों से तो इतनी अपेक्षा की ही नहीं जा रही थी । उनसे तो अपेक्षा यह की जाती थी कि साहित्यिक भावनाएं अंग्रेजी परिवेश में उनको अंग्रेजी आचार-विचार, सभ्यता, संस्कृति और धर्म से जोड़ेंगी और मौलिक भारतीयता से तोड़ेंगी । अंग्रेजी भाषा, साहित्य, ईसाइयत, साम्राज्य और पाश्चात्य सभ्यता-संस्कृति ये सब एक ही संदेश की विभिन्न अभिव्यक्तियों के रूप में सामने आएंगे, ऐसी आशा थी । इसीलिए मकाले ने केवल मात्र अंग्रेजी भाषा और साहित्य के दांव पर समिति के अध्यक्ष पद को भी लगा दिया था । मकाले का लक्ष्य एक था : भारतीयता का उन्मूलन और पाश्चात्य संस्कृति का बीजारोपण ।[16] एकमात्र अंग्रेजी के माध्यम से ।

16. देखिए : नार्मन जैफर्ज़, जॉन प्रेस द्वारा संपादित 'कामनवैल्थ लिट्रेचर' (लंदन, 1965), भूमिका, पृ० 15

12
एकैवेति चरैवेति

मकाले का प्रस्ताव गवर्नर-जनरल द्वारा 7 मार्च, 1835 को स्वीकार कर लिया गया। एच० टी० प्रिंसप उस समय शिक्षा समिति के सचिव थे। प्रस्ताव की स्वीकृति के पश्चात् उन्होंने रोषपूर्वक अपनी असहमति प्रकट की किंतु उस पर कोई ध्यान नहीं दिया गया।

प्रिंसप भारतीय भाषा और शिक्षा पद्धति के समर्थक थे। वे भाषा और शिक्षा पद्धति के साथ-साथ भारतीय साहित्य, सभ्यता और संस्कृति के भी समर्थक थे। वे और उनके साथी ऐसा मानते थे कि भारतीय भाषा, साहित्य और संस्कृति ही भारत में सरकारी शिक्षा के आधार माने जाने चाहिए। वे यह तो मानते थे कि भारत उस समय किसी प्रकार से भी उन्नति के पथ पर अग्रसर नहीं था, किंतु यह भी मानते थे कि जातीय और देशीय भाषा साहित्य और संस्कृति के अंकुर तो मनुष्य के मानस-पटल पर संस्कार रूप में विद्यमान रहते ही हैं। इसी मनोवैज्ञानिक तथ्य को लेकर प्रिंसप और उनके साथी ऐसा कहते थे कि शिक्षा देते समय पहले इन संस्कारों का उद्‌बोधन करना चाहिए और उसके पश्चात् यूरोपियन साइंस और साहित्य से विचार लेकर इन बुनियादी संस्कारों और विचारों में नई शक्ति और स्फूर्ति का संचार किया जाना चाहिए। प्रिंसप और उनके साथियों के यूरोपियन साइंस और साहित्य की सहायता से भारतीय शिक्षा और साहित्य के पुनर्नवन के सिद्धांत को 'ग्राफ्ट सिद्धांत' का नाम दिया गया है। बैंटिंक द्वारा मकाले के प्रस्ताव की स्वीकृति के साथ ही 'ग्राफ्ट सिद्धांत' भी समाप्त हो गया।

'ग्राफ्ट सिद्धांत' के साथ ही एक और सिद्धांत भी सामने आया था, और वह था विकास सिद्धांत। विकास सिद्धांत के समर्थक थे विलियम एडम। विलियम एडम प्रिंसप से भी आगे बढ़कर भारतीय भाषा, साहित्य, शिक्षा और व्यवस्था के समर्थक थे।[1] एडम महोदय का कहना था कि प्रथम तो प्रारंभिक शिक्षा सामग्री भारत में ही उपलब्ध है, उसी का पूरा-पूरा उपयोग-प्रयोग करना चाहिए, और उसके पश्चात्, किंतु उसी के परिवर्द्धन के रूप में, उस सामग्री और उन व्यवस्थाओं की सहायता लेनी चाहिए जो यूरोप के अनुभव और इतिहास से उपलब्ध हो सकती हैं। विकासार्थ भारतीय सामग्री और व्यवस्था के ऊपर यूरोपियन सामग्री और व्यवस्था का पैवंद चढ़ा देना समय की मांग थी।[2] प्रिंसप और उनके साथी भारतीय शिक्षा पद्धति, भाषा और

1. देखिए : बी०सी० जोशी-संपादित 'राममोहन राय', पृ० 25
2. सर रिचर्ड टेम्पल, जेम्ज़ टॉमसन (एसेक्स, 1882), पृ० 29

साहित्य के महत्त्व को तो जानते थे और यूरोपियन भाषा, शिक्षा और व्यवस्था से सहायतार्थ सामग्री लेकर भारतीय बूटे पर पैवंद चढ़ाने के महत्त्व को भी मानते थे। किंतु उनमें अंतर यह था कि एडम भारतीय समाज की बुनियादी सामग्री और व्यवस्था पर अधिक बल देते थे। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि वे अंग्रेजों के अंग्रेज रूप में काम करने की बजाय इस बात पर जोर देते थे कि अंग्रेज भारत में भारतीय बनकर भारतीयों के साथ काम करें। इसी कारण उनके सिद्धांत को 'विकास-सिद्धांत' कहा गया है और इसी भारत-प्रेम के कारण निखालिस अंग्रेज उनको 'दूसरा पतित एडम' कहा करते थे।

विलियम एडम ने अपने जो विचार बनाए थे वे बंगाल में प्रारंभिक शिक्षा पद्धति के सर्वेक्षण के आधार पर बनाएं थे। विलियम बैंटिंक ने एडम को बंगाल के गांव-गांव का सर्वेक्षण करने का काम दिया था। एडम ने सर्वेक्षण किया और उसके आधार पर एक रिपोर्ट तैयार की। इस सर्वेक्षण के दौरान एडम बंगाल में जनता के काफी निकट आ गए थे और उनके जीवन की आंतरिक और वास्तविक समस्याओं को समझ कर उनकी वैयक्तिक और सामाजिक तह तक पहुंच गए थे। भारतीयों के प्रति उनका दृष्टिकोण तिरस्कारपूर्ण नहीं था बल्कि प्रेम और सद्‌भावनापूर्ण था। इस प्रकार की सद्‌भावना के साथ-साथ एडम मकाले महोदय से सर्वथा भिन्न प्रकृति और विचारधारा रखते थे। मकाले भारत और भारतीयता को ब्रिटिश दृष्टिकोण से देखते थे। एडम अंग्रेज होते हुए भी उनको भारतीय दृष्टिकोण से देखते थे। इसीलिए उन्होंने भारत में ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रतिपादित शिक्षा पद्धति को भी भारतीय दृष्टिकोण से ही देखा।

मकाले के प्रस्ताव के अनुसार भारतीय शिक्षा पद्धति पूर्णतया अंग्रेजी पद्धति होनी चाहिए थी। एडम के मतानुसार वह आधारभूत रूप से भारतीय होनी चाहिए थी। मकाले के अनुसार शिक्षा केवल वर्ग विशेष के लिए होनी चाहिए थी किंतु एडम के मतानुसार शिक्षा जनसाधारण के लिए आवश्यक थी। मकाले का विचार था कि इसी शिक्षा-प्राप्त वर्ग विशेष के माध्यम से जनता सरकार के निकट आएगी। एडम का विचार था कि ऐसी शिक्षा से सरकार और जनता के बीच का फासला और बढ़ जाएगा। इसीलिए एडम ने यह सुझाव दिया था कि सरकार को भारतीय जनता के साथ मिलकर शिक्षा कार्य करना चाहिए, उनको दूर रख के नहीं। एडम का विश्वास था कि यदि भारत के लिए काम करना है और सफलतापूर्वक करना है तो हमें उनको स्वेच्छा से और समझदारी से काम करने के लिए अपने साथ जोड़ना पड़ेगा। संक्षेप में कहना यह है कि हमें ऐसे ढंग से काम करना है कि वे हमारे नेतृत्व में अपनी उन्नति स्वयं कर सकें। और ऐसा तभी हो सकता है जब हम स्वयं अपने आप को और अपनी उन्नति को उनके और उनकी उन्नति एवं परंपरा के साथ जोड़ें।[3]

मकाले के शिक्षा प्रस्ताव के अनुसार अंग्रेजी शिक्षा को भारत की परंपरा के किसी भी अंग अर्थात् संस्था, संस्थान या व्यवस्था से नहीं जोड़ा जाना था। मकाले मार्का शिक्षा सर्वथा विदेशी प्रकार की शिक्षा थी। एडम का विश्वास था कि भारत की शिक्षा भारत के समाज और सभ्यता

3. एडम्ज़ रिपोर्ट्स (कलकत्ता संस्करण), पृ० 5, 8, 9

के अनुरूप होनी चाहिए और उसका आधार, प्रकार और व्यवस्था पूर्णतया भारतीय होनी चाहिए । उन्हीं के अपने शब्दों में, ऐसी व्यवस्था जिस हद तक भी विद्यमान हो, जैसी अवस्था में हो, उन्नतिशील हो, अवनतिग्रस्त हो अथवा खड़े पानी की तरह से खड़ी ही हो, वही व्यवस्था उसी हालत में इस देश की शिक्षा की बुनियाद और आधार बन सकेगी । उस बुनियाद को हम गहरी बना सकते हैं, चौड़ी कर सकते हैं, विशाल बना सकते हैं और उस पर बनी इमारत को सुंदर बना सकते हैं, किंतु बुनियाद को कदापि नहीं बदल सकते । बुनियाद तो वही रहेगी और उसी पर भवन बनना चाहिए । एडम के मतानुसार समाज, परंपरा, शिक्षा व्यवस्था और नए उद्देश्य और नए लक्ष्य ये सब समाज के जीवन के मिले-जुले तथ्य हैं और एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं । इनको अलग-अलग नहीं करना चाहिए ।

एडम ने अपनी रिपोर्ट में लिखा कि सभी लोग, विशेषकर बिना पढ़े या कम पढ़े-लिखे लोग व्यवस्था और परंपरा के रूप और आत्मा दोनों को एक जैसा ही महत्त्व देते हैं । रूप सदा उनके अपने रीति-रिवाज के अनुरूप होते हैं । किंतु सुधारक जब आते हैं तो बहुधा पुरानी रूढ़ियों को अर्थात् परंपरा से चली आ रही व्यवस्था को भंग कर के तोड़-फोड़ कर डालते हैं । परिणाम यह होता है कि लोग ऐसे सुधार का विरोध करते हैं । एडम ने यह सुझाव दिया कि हमें भारतीय लोगों के विरोध से बचना चाहिए और उनकी परंपरा का उपयोग करना चाहिए । उन्होंने कहा कि वे परंपराएं प्रारंभ में कैसी ही रही हों फिर भी समय के गुजरने के साथ लोगों के आचार-विचार, शील-स्वभाव और चरित्र के अनुकूल बन चुकी हैं, और यदि हम कोई अन्य प्रकार की व्यवस्था कायम करेंगे तो वह लोगों के उतना अनुकूल नहीं बैठेगी । इसलिए हम जो भी योजना शिक्षा के विकास और उन्नति के लिए बनाएं, वह स्थायी रूप में सफल तभी होगी जबकि वह वर्तमान परंपरा पर आधारित होगी, क्योंकि ऐसी परंपरा प्राचीन काल से चली आ रही है, लोग उसे भली प्रकार से जानते हैं और उसके प्रति श्रद्धा की भावना रखते हैं ।[4]

मकाले ने अपने प्रस्ताव में फिल्टरेशन सिद्धांत का सुझाव दिया था । उनका कहना था—अंग्रेजी से विचार उच्च शिक्षित वर्ग को मिलेंगे और उनसे छन-छन कर नीचे छोटे वर्ग तक पहुंचेंगे । किंतु एडम इस सिद्धांत के समर्थक नहीं थे । उनका मानना था कि शिक्षा उत्तराभिमुखी होनी चाहिए अर्थात् व्यवस्था की दिशा नीचे से ऊपर को होनी चाहिए न कि अधोमुखी—ऊपर से नीचे की ओर आने वाली । उन्होंने कहा कि उन्नति व्यक्ति से प्रारंभ होती है और विकसित होते-होते समाज तक पहुंचती है । यह माना कि जो व्यक्ति समाज को प्रेरणा देते हैं वे निस्संदेह समाज के ऊंचे अर्थात् बुद्धिजीवी वर्ग में ही मिलते हैं । किंतु इस देश की एक विशेषता है, और वह यह कि आवश्यक नहीं कि बुद्धिजीवी लोग सर्वथा या कम से कम मुख्यतया उस वर्ग से ही आएं जो सामाजिक स्तर अथवा धन की दृष्टि से ऊंचा हो । हमारी व्यवस्था के लिए यह भी आवश्यक नहीं कि हम पहले बड़े क्षेत्रों में काम करें और फिर छोटे-छोटे स्थानों को लेकर काम करें । हमें इससे उलट करना चाहिए । प्रत्येक उच्च शिक्षा संस्थान की सफलता इस बात पर

4. 'एडम्ज़ रिपोर्ट्स' (कलकत्ता संस्करण), पृ० 5, 8, 9

निर्भर करेगी कि उसमें विद्यार्थी छोटी संस्थाओं से आएं । इसी कारण हमें छोटी पाठशालाओं की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए । बच्चों को वर्णमाला सीखने के लिए कालेज में जाने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए । ऊंची और पक्की इमारत के लिए बुनियाद चौड़ी और गहरी होनी चाहिए । भारतीय शिक्षा की बुनियाद भी यहां के बृहज्जनसमुदाय पर रखी जानी चाहिए, वर्ग विशेष पर नहीं । शिक्षा का पुनर्निर्माण करने में हर प्रकार के संस्थान और हर स्तर के शिक्षण को मिलाकर बड़े सुंदर और स्वस्थ परिणाम तक पहुंचा जा सकता है ।[5]

एडम प्रथम सोपान से प्रारंभ करके ऊंचे सोपान तक पहुंचने में विश्वास करते थे । छोटे से छोटा व्यक्ति, छोटे से छोटा वर्ग, प्राथमिक संस्थान, साधारण रीति-रिवाज जो जनसामान्य के दिल में घर कर चुके थे, साधारण स्थानीय अध्यापक, ये सब उनकी दृष्टि में महत्त्व रखते थे । इनसे प्रारंभ करके ही और इनको साथ लेकर इन्हीं के बीच गुजरते हुए शिक्षा के उच्चतम स्तर तक पहुंचना संभव था । यही अच्छा भी होता, क्योंकि यह पद्धति नई होते हुए भी समाज और उनकी परंपरा के बीच से ही उभरकर विकास को प्राप्त होती । इसको सफल बनाने के लिए भी जनसाधारण को साथ लेना उचित था और यदि वे साथ होते तो जनता और सरकार के दोनों पारस्परिक सहयोग से एक नई शिक्षा पद्धति का विकास हो जाता । इस पद्धति में स्थानीय भाषा, स्थानीय और परंपरागत सभी सामग्री का उचित प्रयोग हो जाना था और नई परिस्थितियों, नई आवश्यकताओं के अनुसार सरकार और पश्चिमीय उपलब्धियों के सहयोग और सहायता से स्थानीय परंपरा का पुनर्नवन होकर एक नवीन और सशक्त प्रणाली का जन्म हो जाता । यह प्रणाली भारतीय और अंग्रेजी दोनों प्रणालियों का समन्वय होकर एक नए स्वस्थ समाज और सामाजिक व्यवस्था को जन्म दे सकती थी और भविष्य के लिए उसका सतत निर्माण भी करती रहती ।

एडम की रिपोर्ट और उनके प्रस्ताव पर एक सज्जन शेक्सपियर के विचार लिये गए थे, जो उन्होंने अपनी टिप्पणी में लिख दिए । टिप्पणी समेत यह रिपोर्ट मकाले के सामने रखी गई । मकाले के विचार तो उनके प्रस्ताव में व्यक्त किए ही जा चुके थे और गवर्नर-जनरल द्वारा स्वीकृत भी हो चुके थे । एडम पूर्व-पश्चिम की बात कर रहे थे और मकाले केवल पश्चिम की, और पश्चिम के साथ एडम के पूर्व संबंधी विचारों का कोई मेल था नहीं । उन्होंने एडम के साथ असहमति प्रकट करते हुए लिखा कि एडम द्वारा सुझाए गए लंबे-चौड़े क्रियात्मक प्रोग्राम को हाथ में लेने के लिए हम अभी तैयार नहीं हैं । मुझे ऐसा कोई भी तरीका नहीं सूझ रहा जिससे हम वर्तमान प्राथमिक स्कूलों के अध्यापकों की योग्यता को बढ़ा सकें या उनके स्थान पर दूसरे अधिक योग्यता प्राप्त अध्यापकों को ले सकें । मकाले को अध्यापकों की कमी दीखी और उन्होंने यह महसूस किया कि यह कमी तो समय लेगी और पता नहीं कब पूरी हो सकेगी । किंतु उन्होंने कहा कि एक पीढ़ी के समय में हम अगली पीढ़ी के लिए अध्यापक तैयार कर सकते है । एक पीढ़ी के समय में यदि हम सुशिक्षित बंगालियों की एक क्लास अर्थात् वर्ग तैयार कर सकेंगे तो वे यथा समय वर्तमान अयोग्य अध्यापकों का स्थान ले लेंगे और यह परिवर्तन अशांतिपूर्वक भी

5. 'एडम्ज़ रिपोर्ट्स' (कलकत्ता संस्करण), पृ० 357-58

नहीं होगा। जहां तक उन स्कूल मास्टरों का संबंध है जो पहले ही अपनी जगह बैठे हैं उनको कोई नई शिक्षा (अर्थात् ट्रेनिंग) देना संभव नहीं है। एडम ने सुझाव दिया था कि वर्तमान अध्यापकों को ही नई शिक्षा देकर उन्हीं से काम आगे चलाया जाए। शेक्सपियर एडम के इस विचार से सहमत नहीं हुए थे। मकाले ने भी शेक्सपियर से ही सहमति प्रकट की। वर्तमान प्रारंभिक स्कूलों में नए अध्यापक भेजने के लिए मकाले तैयार नहीं हुए। उन्होंने लिख दिया कि यदि हम चाहें भी तो ऐसा नहीं कर सकते क्योंकि हमारे पास आदमी नहीं हैं और पैसा तो है ही नहीं।[6]

एडम ने यह सुझाया कि किसी प्रकार जनता की शिक्षा जनता के सहयोग से भारतीय परंपरा के जारी रहते संपन्न हो सकती है। मकाले ने अपने विचारानुरूप उस पर नकारात्मक सम्मति दे दी। अब टीका-टिप्पणी समेत एडम की रिपोर्ट गवर्नर-जनरल लार्ड आकलैंड के सामने रखी गई। आकलैंड महोदय ने उसे पूरे तौर पर चौपट कर दिया और इस ढंग से उसे रद्द किया कि वह आगे भी कभी सांस न ले सके। पहले तो उन्होंने एडम और उनकी रिपोर्ट की अंग्रेजी शैली में प्रशंसा की और अंग्रेजी शैली में ही जनता के बीच शिक्षा-अभाव पर हार्दिक दुख प्रकट किया। किंतु दुखी के दुख पर और उस शिक्षा-अभाव के दुख से परेशान एडम महोदय की परेशानी पर कोई चिंता व्यक्त नहीं की, उन्हें कोई चिंता हुई भी नहीं। हां, उन्होंने यह अवश्य कहा कि ऐसे भयंकर शिक्षा-अभाव को दूर करने के लिए धनी-मानी उदार लोग उत्साहपूर्वक मैदान में आएं तो कितना अच्छा हो। उन्होंने मकाले के साथ सहमति प्रकट करते हुए लिखा कि वह समय कभी नहीं आएगा जब सरकार इस उदार वर्ग के साथ इस पुण्य कार्य में सम्मिलित हो सकेगी। क्योंकि अभी सफलता की आशा की किरण कोई दीख नहीं पा रही। एडम ने यह लिखा था कि जनता में शिक्षा का अभाव इतना अधिक है कि उन्हें यह भी पता नहीं है कि अज्ञान के कारण उन्हें कितनी हानि हो रही है और साथ में वे इतने गरीब हैं कि उनमें शिक्षा-अभाव का निराकरण करने के लिए कोई भी समर्थ नहीं है। एडम ने तो यह सुझाने का प्रयास किया था कि ऐसे निस्सहाय वर्ग की सहायता करना पुण्य का काम होगा। किंतु लार्ड आकलैंड ने केवल यह आश्वासन देकर संतोष कर लिया कि यदि हालत इतनी नाजुक है तो ऐसे मरीज को हमें भी हाथ नहीं लगाना चाहिए। उन्होंने लिखा कि इतने कष्टप्रद क्षेत्र में प्रवेश करके सरकार को अपना प्रयास विफल नहीं करना चाहिए। साथ में यह भी लिखा कि इस पिछड़े जनसमुदाय को थोड़ा बहुत ज्ञान हम दे भी पाए तो भी उससे भारत के लोगों की कोई विशेष उन्नति होने से रही। इसलिए पहला कदम सरकार का यही होना चाहिए कि भारत के ऊंचे और मध्यम वर्ग को उच्च शिक्षा दी जाए और उनमें अच्छी भावना पैदा की जाए। ऐसा लिख चुकने के बाद भी उन्होंने जनता को भुलाया नहीं। उन्होंने जोरदार शब्दों में लिख दिया कि जब कभी उपयुक्त समय आने पर एडम द्वारा प्रस्तावित स्कीम को हाथ में लिया जाए तो उसे बड़े पैमाने पर और पूरे उत्साह के साथ हाथ में लिया जाए। उन्होंने अंत में यह भी लिख दिया कि यह

6. 'एडम्ज़ रिपोर्ट्स', पृ० IX, 1-III

स्कीम उस समय तक हाथ में न ली जाए जब तक कि सरकार को यह विश्वास न हो जाए कि इस स्कीम के परिनिरीक्षण के लिए सरकार पूर्णतया और उत्साहपूर्वक साधन-संपन्न है।[7]

सरकार जन-सेवा और जन-शिक्षा के लिए साधन-संपन्न हो पाई या नहीं यह सबकी जानी-पहचानी बात है। वर्तमान समय के लिए तो शिक्षार्थियों की लिस्ट में से जनसामान्य का नाम काट ही दिया गया, केवल उच्च वर्ग और मध्यम वर्ग का नाम रह गया। भारतीय परंपरा का नाम भी मिटा दिया गया। केवल अंग्रेजी परंपरा का भारतीयकरण करके उसे ही इंपोर्ट करने का प्रोग्राम बनाया गया। मकाले, बैटिंक, आकलैंड सभी राज-सेवा में रत थे और नई शिक्षा पद्धति के माध्यम से (पद्धति मेड इन इंग्लैंड नहीं, बल्कि मेड ऐज़ इन इंग्लैंड) राज-सेवारत स्नातकों के निर्माण के लिए ऊंचे शिक्षालयों को खोलने या खुलवाने का प्रयास करने लगे।

पूरे कार्यक्रम में केवल एक कमी रह गई थी। अंग्रेजी अभी सरकारी आदेश के द्वारा राजभाषा नहीं बनी थी। 1837 में बंगाल में अंग्रेजी को राजभाषा बना दिया गया। 1844 में लार्ड हार्डिंग की ओर से एक घोषणा-पत्र जारी किया गया जिसके द्वारा सरकारी नौकरी के लिए कर्मचारियों का चयन केवल अंग्रेजी भाषा-ज्ञान और अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्ति के आधार पर किया जाने लगा। इस घोषणा में कहा गया कि बंगाल में शिक्षा की वर्तमान स्थिति पर गवर्नर-जनरल ने विचार किया है। वे इस मत के हैं कि अंग्रेजी शिक्षा को यथासंभव प्रोत्साहन देना अपेक्षित है। तदर्थ अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त युवकों को सरकारी सेवा का समुचित अवसर प्रदान किया जाना चाहिए। इससे न केवल उनको अपनी व्यक्तिगत उपलब्धियों का फल मिलेगा बल्कि सरकार को भी उनकी सेवाओं से शीघ्रतम और अधिकतम लाभ उठाने का अवसर मिलेगा। पिछले कुछ वर्षों में सरकार एवं प्राइवेट व्यक्तियों और संस्थाओं ने जन-शिक्षा के क्षेत्र में जो कार्य किया है वह भी इस प्रकार फलीभूत हो पाएगा। अतः गवर्नर-जनरल का आदेश है कि सरकारी सेवा में नियुक्ति के समय प्रत्येक स्थान पर जहां तक संभव हो पहले उन युवकों का चयन किया जाए जिन्होंने सरकार या प्राइवेट व्यक्तियों द्वारा स्थापित संस्थाओं में अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त की है और विशेषकर उनका चयन किया जाए जिन्होंने असाधारण योग्यता अर्जित की है।[8]

केवल अंग्रेजी भाषा, अंग्रेजी शिक्षा, अंग्रेजी सेवा, स्वयं-सेवा, राज-सेवा जीवन के नए प्रतिमान बन गए। दूसरी ओर साम्राज्यवादी आशाएं भी किसी न किसी रूप में फलीभूत होने लगीं। मकाले एक पीढ़ी बाद के परिणामों की ओर संकेत कर चुके थे। 1863 में एच०एच० विल्सन ने राजभक्त स्नातकों के बारे में कहा कि अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त नौजवानों के मन में अपने देश के लिए कोई सहानुभूति या सद्भावना नहीं रह गई है।[9]

7. 'एडम्ज़ रिपोर्ट्स', पृ० IX, 1-III
8. उद्धृत : नूरुल्ला और नायक, 'ए हिस्ट्री आफ एज्यूकेशन इन इंडिया', पृ० 146
9. सुंदरलाल, 'भारत में अंग्रेजी राज', III, पृ० 1144, 1148

13

स्व-भाव और पर-भाव

मनुष्य स्वयं से झूठ नहीं बोल सकता, वह स्व-भाव से सत्यभाषी है । मनुष्य स्व-भाव से मिथ्याचारी भी नहीं है । मन की गहराइयों में उतरकर वह जिन विचारों, भावनाओं और जीवन-तथ्यों को देखता है उन्हीं को स्वयं के लिए अभिव्यक्त और कार्यान्वित करता है । अपने परिवेश के संपर्क में आना भी उसके लिए स्वाभाविक और आवश्यक है । किंतु जैसे-जैसे वह अपने परिवेश से जूझता है तैसे-तैसे उसके अपने स्व-भाव और परिवेश के पर-भाव में संघर्ष होता है और कई बार उसका स्व-भाव पर-भाव के नीचे दबने लगता है । तब उस पर-भाव के दबाव में स्व-भाव की अवहेलना करके उसे मिथ्याभाषण और मिथ्याचार दोनों करने पड़ जाते हैं । भारत में स्थित अंग्रेजी सत्ता और अंग्रेज सत्ताधारी अपने परिवेश से जूझ रहे थे और साथ ही नई परिस्थितियों का निर्माण भी कर रहे थे । स्थितिवश उनको पर-भाव के नीचे दबना पड़ा । स्व-भाव और पर-भाव का यह द्वंद्व हमें आरंभ से ही दिखाई देता है, विशेषकर शिक्षा और भाषा के क्षेत्र में । निर्द्वंद्व होने की शक्ति वे नहीं जुटा पाए, सत्ता से मजबूर थे । यह मजबूरी विशेषकर भारतीय भाषाओं के विषय में दीखती है ।

चार्ल्स ग्रांट भी कभी-कभी स्वच्छ स्वभाव से समस्याओं पर विचार करते और सही हल सुझा देते थे । एक बार भारत की शिक्षा के संदर्भ में उन्होंने कहा कि विदेश में शिक्षा-प्रसार के दो तरीके हैं, एक तो विदेशियों की अपनी भाषा के माध्यम से, और दूसरा हमारी विदेशी भाषा के माध्यम से । साधारणतया जब विदेशी लोग शिक्षा-प्रचार करते हैं तो शिक्षार्थियों की अपनी भाषा के माध्यम से करते हैं । कारण स्वाभाविक है और अनिवार्य भी : किसी और भाषा के माध्यम से वे उन्हें कुछ समझा ही नहीं सकते थे । यह विचार उन्होंने भारत के संबंध में व्यक्त किया था । उनके विचारानुसार अंग्रेज अध्यापक बिना किसी कठिनाई के 'विदेशी भाषा' अर्थात् भारतीय भाषा सीख सकते । अतः वे भारतीयों को शिक्षा देने के लिए तैयार किए जा सकते थे और उसी समय में भारतीयों को भी शिक्षा देने के लिए तैयार किया जा सकता था । यही तरीका किसी और तरीके की अपेक्षा शीघ्रतर कार्यान्वित किया जा सकता था । साथ में यह लाभ भी था कि शिक्षा वस्तु का चयन भी अंग्रेज अध्यापक स्वयं कर सकते थे । इस तरीके का नाम था अंतःसंचार और इसके लिए अध्यापक को द्विभाषी होना आवश्यक था ।[1]

1. उद्धत : नूरुल्ला और नायक, 'ए हिस्ट्री आफ एज्यूकेशन इन इंडिया', पृ० 72

किंतु सत्ता-परिस्थितिवश ग्रांट महोदय को स्व-भाव और प्रकृति दोनों को भूल जाना पड़ा । उन्होंने सोचा कि ऐसे तो निरंतर अनुवाद अथवा भाषा रूपांतर की समस्या खड़ी हो जाएगी । जब भी पढ़ाना अपेक्षित होगा अध्यापक को शब्दांतर करते ही रहना पड़ेगा और जितना भी शब्दांतर वह करेगा उसका वहीं समापन हो जाएगा अर्थात् यही शब्दांतर करते रहना पड़ेगा । शिक्षार्थियों को उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं मिलेगा । आगे क्या है यह वे शब्दांतर के बिना जान ही नहीं पाएंगे । इसके विपरीत यदि वे अंग्रेजी भाषा को ही सीख-समझ लें तो जो कुछ भी उस भाषा में लिखा है वह सारा उनको उपलब्ध हो सकता है । इसी कारण ग्रांट ने कहा कि अंग्रेजी शिक्षा अंग्रेजी भाषा के माध्यम से दी जाए ।[2] वे यह भूल गए कि जैसे अंग्रेजी में पुस्तकें उपलब्ध थीं वैसे ही भारतीय भाषा में भी तो उपलब्ध कराई जा सकती थीं । वे यह भी भूल गए कि अंग्रेजी माध्यम से पढ़ने के समय शिक्षक के स्थान पर विद्यार्थी को निरंतर अनुवाद करते रहना पड़ेगा । पहले तो एक शिक्षक को अनुवाद करना था, अब सैकड़ों विद्यार्थियों को करना पड़ेगा । पर-भाव अर्थात् राज के आवेश में आकर वे शिक्षण के स्वाभाविक क्रम को भूल गए । स्वाभाविक भाषा तो मातृभाषा ही है । वह नहीं तो द्विभाषा प्रक्रिया का सहारा लिया जाना चाहिए । विदेशी भाषा तो स्वतः तीसरे स्थान पर आती है । ग्रांट ने यह क्रम उलट दिया और अंग्रेजी को प्रथम और मुख्य स्थान दे दिया । उनके मतानुसार समय आने पर हिंदू इस योग्य हो जाने थे कि अंग्रेजी के माध्यम से पढ़-पढ़ा सकें । एक पीढ़ी के समय के पश्चात् अंग्रेजी सारे भारत की शासन और शिक्षा की भाषा हो जाएगी, ऐसी आशा थी और इस भाषा-परिवर्तन का कारण पूरे तौर पर केवल राजनीतिक था ।[3] पहले तो एक पीढ़ी के समय में भारतीय भाषा-भाषी अध्यापक तैयार हो जाने थे, अब सारे शिक्षा-जगत को विदेशी भाषा से जूझना पड़ेगा । खेद की बात यह है कि राजनीतिक कारण भारत की स्वाभाविक भाषा और शिक्षा दोनों को ले बैठे ।

एल्फिंस्टन जैसे लब्ध-प्रतिष्ठ शिक्षाशास्त्री राजनीतिक कारणों से भारत की स्वाभाविक भाषा के पक्ष को छोड़कर अंग्रेजीवादी हो बैठे । वे ऐसा मानते थे कि अंग्रेजी कभी भी भारत के जनसाधारण की भाषा नहीं हो पाएगी । दुनिया में ऐसा कभी भी और कहीं भी नहीं हुआ ।[4] वे यह भी मानते थे कि भारतीय जनता की शिक्षा यदि सफल होगी तो केवल भारतीय भाषाओं के माध्यम से अन्यथा नहीं । और ऐसा मानते हुए भी वे अंग्रेजी की सिफ़ारिश कर बैठे । उदाहरणार्थ बंबई नेटिव स्कूल सोसाइटी का मत इस विषय में देखने योग्य है । सोसाइटी के मत में पाश्चात्य विचार (विद्या) भारतीय विद्यार्थियों तक केवल उनकी मातृभाषा के माध्यम से ही पहुंचाए जा सकते थे । इसलिए यदि यह विषयवस्तु भारतीय भाषा में लिखित रूपों में चयन कर ली जाए तो विद्यार्थी और अध्यापक दोनों का समय बर्बाद होने से बच जाएगा । सोसाइटी की मान्यता यह थी कि यूरोप का साहित्य, साइंस और आचार-संहिता कभी भी अंग्रेजी भाषा के माध्यम से

2. सय्यद महमूद, 'हिस्ट्री आफ इंग्लिश एज्यूकेशन इन इंडिया', पृ० 11-13
3. उद्धत : नूरुल्ला और नायक, 'ए हिस्ट्री आफ एज्यूकेशन इन इंडिया', पृ० 73
4. वसु, 'इंडिया एज्यूकेशन इन पार्लमेंटरी पेपर्ज़', पृ० I. 290

भारतीयों तक नहीं पहुंचाए जा सकेंगे ।[5] राजनीतिक कारणों से यह सीधा-सच्चा विचार भी छोड़ दिया गया । अंग्रेजी न तो भारतीयों को आएगी, न वहां की भाषाओं को उखाड़ पाएगी, यह मानते हुए भी एल्फिंस्टन महोदय अंग्रेजी की सिफारिश कर बैठे, केवल इस कारण कि अंग्रेजी भाषा भारत में अंग्रेजी राज का स्थायी प्रतीक बनकर रहेगी ।

स्वयं मकाले जब हृदय के अंतराल में झांकते थे तो भावविभोर हो उठते थे । भारत का अध्ययन करते तो कल्पना के पर्दे खोलकर झूलने लगते थे । वे याद करते धान के लहलहाते खेत, तरंग-भरे जलाशय, विशाल वृक्ष, जिन्होंने मुगल साम्राज्य को जड़ें पकड़ते देखा था और जिनकी छाया में गांव के लोग बैठते थे, छप्पर वाली छत, किसान की कुटिया, मस्जिद के मीनार और मक्काभिमुख नमाज़ पढ़ता इमाम, मृदंग की गूंज, फरफराते झंडे, आभूषित मूर्तियां, नृत्यमस्त देवकन्याएं, ग्राम सुंदरी सिर पर कलश लिए ताल की सीढ़ियां उतरती या नदिया की ओर बढ़ती हुई, शांत चेहरे, लंबी दाढ़ियां, केसरिया धूमिल रेखाएं, बसंती पगड़ियां, झूलते अंगरखे, लंबे भाले, रुपहली गदाएं[6], ये सब उनको प्रेरणा देती थीं । फिर उन्होंने इस देश को बर्बर क्यों कहा ? केवल पर-भाव के कारण, स्व-भाव के कारण नहीं । उन्होंने 7-3-1835 का प्रस्ताव लिखने के बाद भी 3-7-1836 को लिखा था कि जब किसी भारतीय बच्चे को अंग्रेजी माध्यम से पढ़ाया जाएगा तो वह भी मातृभाषा से ही पढ़ेगा । यह आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है । बच्चे को विदेशी भाषा पढ़ाने का क्या अर्थ है ? केवल इतना कि विदेशी भाषा के कौन-से शब्द उसकी अपनी मातृभाषा के पर्यायवाची शब्दों के बराबर हैं और विषय-वस्तु का विदेशी भाषा से अपनी भाषा में अनुवाद करना । आज के संदर्भ में हम कह सकते हैं कि मकाले अंग्रेजी पढ़ाने के डायरेक्ट मैथड में विश्वास नहीं करते थे । वे कहते थे कि सीधे तो हम केवल एक भाषा ही सीख सकते हैं और वह है हमारी मातृभाषा । मातृभाषा सीखते समय हम शब्द और अर्थ के सीधे संबंध को स्वाभाविक रूप में देखते हैं । किंतु इसके बाद जो भी भाषा हम सीखते है वह मातृभाषा और दूसरी भाषा के शब्दों के बीच पर्यायवाचन को समझकर ही सीखते हैं ।[7] मकाले के मतानुसार सीधी तो एक ही भाषा सीखी जाती है । शेष सब अनुवाद-माध्यम से सीखी जाती हैं । मकाले स्वाभाविक भाषा के तथ्यों को जानते हुए भी राजनीतिवश अंग्रेज़ी का समर्थन कर बैठे और शिक्षा के स्थान पर विदेशी शब्दाडंबर की योजना बना बैठे । राजनीति की सेवा में वे अपने दिल की आवाज को दबा गए ।

मकाले के 1835 के प्रस्ताव के पश्चात लोक शिक्षा समिति ने 1836 में भारतीय भाषाओं के प्रति अपनी नीति के विषय में लिखा है कि हम भारतीय भाषाओं के विकास के महत्व को भली भांति समझते है । हम यह भी मानते हैं कि 7-3-1835 का प्रस्ताव हमें ऐसा करने से नहीं रोकता और हम इसी विचार के आधार पर काम कर रहे हैं । 1835 के प्रस्ताव से पहले

5. नुरुल्ला और नायक, 'ए हिस्ट्री आफ एज्यूकेशन इन इंडिया', पृ० 98
6. मकाले, वर्क्स, IX, पृ० 513-14
7. मकाले, 'मिनिट्स आन एज्यूकेशन', संकलित वुडरो (1862), पृ० 41

जो विचार-विनिमय हुआ था उसमें भारतीय भाषाओं के महत्त्व को सभी ने मोटे तौर पर पूर्णरूप से माना था । सरकार के पास तो केवल अंग्रेजी और प्राचीन भाषाओं के सापेक्ष महत्व का प्रश्न ही निर्णयार्थ भेजा गया था । इसलिए हम यह समझते हैं कि शिक्षा प्रस्ताव में 'यूरोपियन साहित्य और साइंस', 'केवल अंग्रेजी शिक्षा' और 'अंग्रेजी भाषा के माध्यम से भारतीय जनता को अंग्रेजी साहित्य और साइंस का ज्ञान देना' इन शब्दों का आशय केवल इतना है कि हमारे शिक्षा संस्थानों में जो भारतीय विद्यार्थी शिक्षा पा रहे हैं उनकी शिक्षा में संस्कृत और अरबी के माध्यम से, पूर्वी ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा की अपेक्षा अंग्रेजी भाषा के माध्यम से, यूरोपियन विद्या के शिक्षण को अधिमान मिले । जनसाधारण को जो भी शिक्षा दी जा सकती है वह किस भाषा के माध्यम से दी जाए, इस विषय से इन शब्दों का कोई संबंध नहीं है । शिक्षा प्रस्ताव पर निर्णय के दौरान यदि अंग्रेजी को अस्वीकार कर दिया जाता और प्राचीन भाषाओं को स्वीकार कर लिया जाता तो भी जनसाधारण को तो भारतीय भाषाओं के माध्यम से ही शिक्षा मिलनी थी । हमारा मत यह है कि अंततोगत्वा हमारा ध्येय यह है कि भारतीय साहित्य का निर्माण किया जाए और उसी दिशा में सारा प्रयास और सारे साधन जुटाए जाएं ।[8]

हम यह कह सकते है कि यह वैचारिक खींचातानी केवल शब्दों के आधार पर की गई थी । 1835 में भी मकाले के प्रस्ताव से दो सप्ताह पहले कमिटी के सामने यह तथ्य आ चुका था कि बंगाल में शिक्षा के क्षेत्र में जो कमजोरियां आ रही हैं उनमें सबसे बड़ी यह है कि शिक्षा में बंगाली भाषा की ओर ध्यान नहीं दिया जा रहा । यह बात सेक्रेटरी की 1833 की रिपोर्ट में कही गई थी । उस रिपोर्ट पर कमिटी ने जो टिप्पणी दी थी उस में दो बातें विशेष हैं : एक तो यह कि बंगला माध्यम से विद्यार्थियों की शिक्षा-उपलब्धियां संतोषजनक हैं और दूसरी यह कि बंगला संबंधी जो सुझाव दिए गए हैं हम उनसे सहमत होकर उनको स्वीकार करते हैं ।[9] यदि मोटे तौर पर विद्यार्थियों की उपलब्धियों को संतोषजनक मान लिया गया था तो फिर बंगला संबंधी सुझाव तो और भी अधिक महत्त्व के हो गए । फिर कुछ दिन पश्चात् ही मकाले के प्रस्ताव में यह कह दिया गया कि भारतीय भाषाएं तो केवल जंगली भाषाओं की तरह अविकसित अवस्था में हैं । शिक्षा के क्षेत्र में राजनीतिक आधार पर खेंचातानी के वातावरण में भारतीय भाषाओं की ओर ध्यान कैसे दिया जाता ?

1836 में मकाले स्वयं कमिटी के अध्यक्ष थे । कमिटी की रिपोर्ट में भारतीय भाषा संबंधी जो बातें कही गई थीं उन पर क्या कार्यवाही की गई यह देखने की बात है । कमिटी की रिपोर्ट और मान्यताओं के आधार पर ही 1839 में भारतीय भाषा को शिक्षा-माध्यम बनाने के संबंध में एक प्रस्ताव लार्ड आकलैंड के सामने रखा गया । मकाले द्वारा तो कुछ किया जाना था ही नहीं, वे तो केवल अंग्रेजी-भक्त थे । वे भारतीय भाषाओं को इतना तुच्छ और हेय मानते थे कि उनके संबंध में किसी सुझाव का कोई मूल्य उनके लिए था ही नहीं । आकलैंड मोटे कामों

8. चार्ल्स ट्रेवेल्यन, 'द एज्यूकेशन आफ दि पीपल् आफ इंडिया', पृ० 22-23
9. 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन रिपोर्ट', I, पृ० 230

में दक्ष थे और बारीकियों की ओर ध्यान देने की उनकी न इच्छा थी न आदत । इसलिए प्रस्ताव इस आधार पर रखा गया कि यदि भारतीय भाषाओं को शिक्षा-माध्यम बना दिया गया तो पुस्तकों के तैयार करने में जो पैसा प्रारंभ में खर्च होगा उसके बाद पैसा और समय दोनों की बचत होगी । लार्ड आकलैंड ने इन सभी बातों को अपनी टिप्पणी में दुहराया, विशेषकर इस बात को कि यदि बंगला माध्यम से शिक्षण किया गया तो अंग्रेज अध्यापक के स्थान पर हिंदुस्तानी अध्यापक काम कर लेगा । रुपए की बचत होगी क्योंकि अंग्रेज को तो हिंदुस्तानी की अपेक्षा दो या तीन गुणा वेतन देना पड़ता है । इससे उन नौजवानों को भी काम मिल जाएगा जिन्होंने इंग्लिश कालेज में शिक्षा प्राप्त की है । एक सुझाव यह भी दिया गया था कि अंग्रेजी-निपुण ये अध्यापक जहां भारतीय भाषा के माध्यम से साहित्य और साइंस पढ़ाएंगे वहां भारतीय स्कूलों में विद्यार्थियों को प्रारंभिक इंग्लिश भी पढ़ा लेंगे । ये सुझाव बहुत ही सुंदर थे । इनके अनुसार शिक्षा विषय तो भारतीय भाषा-माध्यम से पढ़ाए जाने चाहिए थे, यही 1836 के कमिटी के सुझाव के अनुरूप भी था, साथ में अंग्रेजी भी भाषा के रूप में पढ़ाई जानी थी । यह सब सरकार की प्रशासन संबंधी आवश्यकताओं के अनुरूप ही था । शिक्षा और भाषा दोनों सुचारु रूप से चलते । किंतु आकलैंड महोदय ने केवल एकैवेति सिद्धांत को माना और वही एक नीति निर्धारित कर दी । अतः सारे सुझावों पर ध्यान देने के उपरांत उन्होंने लिखा कि मैंने डिस्ट्रिक्ट स्कूलों में भारतीय भाषा को शिक्षा-माध्यम के रूप में लागू किए जाने पर विचार किया है किंतु सिद्धांत रूप में, क्योंकि यह परिवर्तन बहुत जल्दी तो किया भी नहीं जा सकता । प्रथम तो पुस्तकें ही तैयार नहीं हैं । दूसरे, इन पुस्तकों को पढ़ाने के लिए अध्यापक भी तैयार नहीं किए गए । तीसरे, इन सब संभावनाओं के प्रतिपक्ष एक पद्धति अपना ली गई है और उसे बदलने का अभी कोई सबल कारण दीखता नहीं । इसलिए उचित केवल यही है कि उसी पद्धति को आगे चलाकर देखा जाए और जो-जो सुधार उसमें हो सकते हैं उन्हीं को करके देखा जाए ।

इसके साथ-साथ आकलैंड महोदय ने शिक्षा के क्षेत्र में किए जा रहे दो बड़े प्रयोगों की चर्चा की, एक बंगाल में और दूसरा बंबई में । बंगाल में शिक्षा अंग्रेजी के माध्यम से दी जा रही थी और बंबई में प्रायः मराठी के माध्यम से दी जा रही थी । आकलैंड ने कहा कि इन दोनों प्रयोगों को ध्यान से देखा जाए और दोनों को पूर्ण रूप से विकसित होने दिया जाए । हो सकता है कि बंगाल में शिक्षा प्रक्रिया में विद्योपार्जन की कुछ ऐसी सुविधाएं रोक ली गई हों जिन्हें खुला छोड़ देना चाहिए था क्योंकि संभव है कि उनसे लाभ होता । यह भी संभव है कि बंबई के देहाती स्कूलों में शिक्षा-स्तर नीचा रह गया हो और वहीं पर रुक भी गया हो । हो सकता है कि बंबई पद्धति के नियामक सिद्धांतों में कोई ऐसी बात हो जो विद्यार्थियों, शिक्षकों, और स्वयं पद्धति को उन्नति और प्रगति करने के लिए आंतरिक प्रेरणा दे सके ।[10] हमारे विचार के अनुसार बात तो उचित थी किंतु दोनों प्रयोगों के सफलता या विफलता तक पहुंचने के लिए प्रतीक्षा करना तो सरकार का कर्तव्य था । प्रतीक्षा की गई या नहीं ? प्रतीक्षा ही तो नहीं की गई ।

10. उद्धृत : नुरुल्ला और नायक, 'ए हिस्ट्री आफ एज्यूकेशन इन इंडिया', पृ० 146

बंगाल शिक्षा पद्धति के संबंध में एक और ठोस प्रस्ताव आकलैंड महोदय के सामने रखा गया । प्रश्न यह था कि जिला स्कूलों में बंगला को शिक्षा-माध्यम बना दिया जाए या नहीं ? लार्ड आकलैंड ने इस विषय पर जब विचार किया तो प्रश्न यह उठा दिया कि अंग्रेजी शिक्षा की अपेक्षा बंगला स्वीकार्य होगी या नहीं ? उनको कोई भी कारण ऐसा नहीं दीखा जिसके आधार पर वे यह कह सकते कि बंगला स्वीकार्य होगी । उन्होंने यह कह दिया कि विद्यार्थी केवल भारतीय भाषा पढ़ना-लिखना सीखने के लिए हमारे स्कूलों में नहीं आएंगे ! उन्होंने लिखा कि यह एक सच्चाई है कि जीवन में कोई छोटा-मोटा काम ले पाने के लिए केवल अंग्रेजी का ज्ञान प्राप्त कर लेना विद्यार्थियों का ध्येय बन चुका है । यह भी सौभाग्य का विषय है कि इस ध्येय की प्राप्ति के लिए प्रयास करते हुए वे एक ऐसे रास्ते पर आ जाते हैं जहां से उन्हें आगे और ऊंचे जाने की भी प्रेरणा मिल सकती है । भारतीय माध्यम से साधारण शिक्षा प्राप्त करने के लिए संभवतः उतने विद्यार्थी भी शायद नहीं आएं जितने इस समय अंग्रेजी के लिए आते हैं । फैसला सुना दिया गया ।[11]

बंगाल में अंग्रेजी-माध्यम शिक्षा प्रयोग सफल होने से पहले ही सफल मान लिया गया । यहां सफलता के प्रतिमान पर ध्यान देना आवश्यक दीखता है । प्रश्न है, शिक्षा क्या है ? उसका उद्देश्य क्या है ? प्रकृति को पराकाष्ठा तक पहुंचाने की प्रक्रिया है शिक्षा । मनुष्य को स्वभावोन्मुख रखते-रखते उसका दिशा-निदेश शिक्षा प्रक्रिया का काम है । परंपरा और समाज व्यवस्था दोनों के संदर्भ में मनुष्य अपने कृतित्व की सिद्धि कर सके यही स्वस्थ शिक्षा-प्रणाली का मुख्य उद्देश्य है । सत्य, प्रेम, श्रद्धा, उन्नति, सामाजिकता, कृतित्व—ये मनुष्य के स्वाभाविक गुण हैं । समाज और शिक्षा दोनों का काम है कि इस दिशा में व्यक्ति को प्रेरणा दी जाए । इस प्रेरणा का माध्यम है मातृभाषा । इसके निमित्त हैं माता-पिता, आचार्य, समाज और समस्त मानवता, मातृभूमि । इन्हीं से प्रेरणा लेकर व्यक्ति अपने स्व-भाव के ही अनुसार राष्ट्रीय स्तर से अंतर्राष्ट्रीय और पूर्ण मानवीय स्तर तक उठ सकता है । किंतु अंग्रेजी पद्धति के अंदर तो स्व-भाव के स्थान पर पर-भाव आ गया । शिक्षा का ध्येय हो गया व्यवसाय, और प्रेरणा-स्रोत हो गया सरकार । नौकरी और रोटी के लिए तो अपने आप से भी संघर्ष करना पड़ सकता है, समाज और परंपरा तो दूर की बात है । भारत में जितने भी धर्म-परिवर्तन हुए वे कितने आत्मानुरूप थे और कितने व्यवसायानुरूप, यह खोज का विषय है । बंगाल में जो बंगला-प्रयोग किया जा रहा था और जिसे सफल घोषित होने से पहले ही विफल कर दिया गया वह स्वाभाविक नहीं था, वह पारभाविक था । स्वयं अंग्रेजी शिक्षाशास्त्रियों और प्रशासकों के कथन और कर्म दोनों से यही सिद्ध होता है । बंबई में हो रहे प्रयोग का परिणाम अभी आना था । वास्तव में स्व-भाव और पर-भाव के संघर्ष का सच्चा और नंगा रूप देखना हो तो बंबई प्रयोग पर दिए गए निर्णय में देखना चाहिए ।

11. उद्धृत : नुरुल्ला और नायक, 'ए हिस्ट्री आफ एज्यूकेशन इन इंडिया', पृ० 148

14
समरथ का परनाला

बंगाल में नई शिक्षा का जो प्रयोग चल रहा था उसके दो पहलू सामने आए थे : एक था शिक्षा-भाषा और दूसरा भाषा-शिक्षा। शिक्षा-भाषा स्वाभाविक हो और इसी कारण मातृभाषा ही शिक्षा-माध्यम के रूप में स्वीकार हो, यह एक समस्या सामने आई थी। किंतु इस शिक्षा का रूप सांस्कृतिक, सामाजिक और परंपरा के अनुसार हो या व्यावसायिक यह दूसरी समस्या थी। व्यावसायिक पक्ष के सामने आते ही निर्णय भाषा-शिक्षा के पक्ष में हो गया। भाषा-शिक्षा अंग्रेजी के रूप में ही मान्य थी क्योंकि एक ओर तो विद्यार्थियों को जीविका के लिए शिक्षा चाहिए थी और दूसरी ओर सरकार को राजभक्ति की ओर शिक्षित वर्ग के मन को मोड़ देना था। शिक्षा और भाषा के मौलिक तथ्यों को जीविका और राजभक्ति की वेदी पर चढ़ा दिया गया।

बंबई में भी अंग्रेजी और मराठी के बीच विवाद चल रहा था। बोर्ड आफ एज्यूकेशन में उसी प्रकार मतभेद चल रहा था जैसे सामान्य लोकशिक्षा समिति में पहले चला था। अध्यक्ष श्री अर्सकिन पैरी अंग्रेजी के पक्ष में थे। कर्नल जार्विस और सर जगन्नाथ शंकरसेठ जो बोर्ड के सदस्य थे, वे मराठी के पक्ष में थे। एक और सज्जन कैप्टेन कैंडी भी मराठी के पक्ष में थे।

कैप्टेन कैंडी मनोवैज्ञानिक आधार पर भारतीय भाषा (मराठी) के पक्ष में थे और ऐतिहासिक और सामाजिक आधार पर संस्कृत और अंग्रेजी के पक्ष में थे। उन्होंने शिक्षा-प्रक्रिया और भाषा-विकास के विषय में जो विचार व्यक्त किए वे तर्कसंगत थे और मनोवैज्ञानिक और सामाजिक तथ्यों पर आधारित थे। उन्होंने लिखा कि यदि भारत के लिए बौद्धिक और नैतिक विकास का योजनाबद्ध कार्यक्रम बनाना है तो अंग्रेजी को उचित स्थान और महत्त्व मिलना तो चाहिए किंतु आवश्यकता से अधिक और अनुचित प्रोत्साहन उसे नहीं दिया जाना चाहिए। योजना के अंग हैं विचार और शिक्षा की विषय-वस्तु। इन्हीं के रूप में अंग्रेजी का योगदान हो सकता है न कि शिक्षा-भाषा के रूप में। जिस भाषा के माध्यम से जनता की शिक्षा हो सकती है वह न तो अंग्रेजी हो सकती है न संस्कृत, वह केवल उनकी अपनी भारतीय भाषा हो सकती है। संस्कृत वह विशाल भंडार है जहां से भारतीय भाषाओं के अंदर शक्ति और सौंदर्य का संचार हो सकता है। अतः संस्कृत का अध्ययन आवश्यक है। किंतु केवल उसी भंडार में से आज के लिए शिक्षा-विषयक सामग्री नहीं मिल सकती, न ही संस्कृत जनशिक्षा का माध्यम बन सकती है; थोड़े व्यक्तियों की शिक्षा का भले ही बन सके। यह कहने के पश्चात् कैप्टेन कैंडी ने सुझाव दिया कि शिक्षा विषय-वस्तु अर्थात् विचार और ज्ञान तो अंग्रेजीबद्ध साहित्य से लेना

पड़ेगा और शिक्षा के द्वारा उस ज्ञान-विचार वस्तु को जनता तक पहुंचाने के लिए उनकी अपनी भाषा को माध्यम बनाना होगा। भारतीय भाषा का विकास करके उसे माध्यम रूप में सशक्त बनाने के लिए संस्कृत का प्रयोग करना होगा। जिस भी व्यक्ति के पास आधुनिक भारतीय भाषा, अंग्रेजी और संस्कृत भाषाओं का ज्ञान होगा वह अपने देशवासियों की असीम सेवा कर सकेगा।[1]

बंबई में यह विवाद लगभग दस वर्ष तक चलता रहा। बंबई शिक्षा बोर्ड के अध्यक्ष पैरी महोदय ने बोर्ड की 1845 की रिपोर्ट में अपने भाषा संबंधी विचार व्यक्त किए। उन्होंने यह चर्चा शिक्षा के संबंध में नहीं की बल्कि शासन के संबंध में की। उन्होंने कहा कि इसमें कोई संदेह नहीं और सरकार को पूर्णतया ज्ञात है कि सरकार और जनता के बीच जितना निकट का संचार-संबंध होगा दोनों के लिए उतना ही श्रेयस्कर होगा। केवल निकटवर्ती संचार-प्रक्रिया से ही शिकायतें सुनी जा सकती हैं और दूर की जा सकती हैं। परंपरागत संचार के द्वारा ही सामान्य सुधार संबंधी सरकार के विचारों को समझा जा सकता है और बिचौलियों की ठगी और भ्रष्टाचार को रोका जा सकता है। इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर सरकार ने जोर दिया है कि हमारे यूरोपियन कर्मचारी भारतीय भाषाएं सीखें। हां, यदि भारतीय लोग अंग्रेजी भाषा सीख लें तो इस दिशा में और भी अच्छे परिणाम प्राप्त किए जा सकते हैं।[2]

स्पष्ट दीखता है कि अध्यक्ष महोदय चाहते थे कि अंग्रेजों के भारतीय भाषा सीखने की बजाय भारतीय अंग्रेजी सीखें। ऐसा कहने के लिए थोड़ी चिकनी-चुपड़ी भी लगानी पड़ी। लिखा है कि भाषा सीखने में अंग्रेज बड़े ही खराब हैं और स्काटलैंड वाले उनसे भी गए गुजरे हैं। इसके अतिरिक्त वे पूर्वी भाषाएं बड़ी आयु में सीखते हैं जबकि जिह्वादि वाक्-संबंधी अंग और बोलने का तरीका पक चुकते हैं। बूढ़े तोते सीखते नहीं। हिंदुस्तानियों में भाषा सीखने की अद्भुत क्षमता है। ठेठ किसान वर्ग से ऊपर के सभी लोग कम से कम दो भाषाएं तो जानते ही हैं। जो भी अंग्रेजी सीखते हैं वे विदेशी भाषा सीखने के लिए जो सबसे अच्छा समय (अर्थात् आयु) है तभी प्रारंभ करते हैं। इस समय यद्यपि सरकारी सेवारत यूरोपियनों के लिए भारती का ज्ञान अनिवार्य है और भारतीयों को अंग्रेजी सीखने के लिए सरकार ने कोई विशेष प्रोत्साहन भी नहीं दिया है फिर भी एक अंग्रेज की अपेक्षा (जो गुजराती या मराठी में ठीक तरह पत्र लिख सकता है) पचास हिंदुस्तानी ऐसे हैं जो तत्काल ही शुद्ध अंग्रेजी में पत्र लिख सकते हैं। हम यह तो नहीं कहते कि यूरोपियनों की भारतीय भाषा सीखने की जो जिम्मेदारी है उसे किसी प्रकार भी कम होने दिया जाए किंतु समय की मांग यह है कि भारतीयों को अंग्रेजी सीखने का प्रोत्साहन दिया जाए। उनको सरकार के निकट लाने का यही एक तरीका है।[3] शिक्षा बोर्ड के अध्यक्ष शिक्षा और शिक्षा

1. उद्धृत : नूरुल्ला और नायक, 'ए हिस्ट्री आफ एज्यूकेशन इन इंडिया', पृ० 99-100—यह उद्धरण शिक्षा बोर्ड की 1840-41 की रिपोर्ट से लिया गया है।
2. 'बम्बई शिक्षा बोर्ड रिपोर्ट 1849', परिशिष्ट, पैरा 25
3. वही।

भाषा की बात नहीं कर रहे थे। वे शासन और नीति की बात कर रहे थे और तदर्थ शासन-भाषा और भाषा-शिक्षा की बात कर रहे थे।

कर्नल जार्विस शिक्षा-प्रेमी थे और मनोवैज्ञानिक तथ्यों को पहचानते थे। यदि वे भी शासक की तरह बात करते तो मशीन की तरह बोलते। वे ऐसा मानते थे कि शिक्षा वास्तव में मानव के अनुभव के विकास और विस्तार की प्रक्रिया है। अनुभव का संबंध मन और बुद्धि से है। अतएव शिक्षा और शिक्षा-माध्यम दोनों का शिक्षार्थी के अनुभव, मन और बुद्धि से स्वाभाविक संबंध होना चाहिए अन्यथा शिक्षा केवल परिचयात्मक और अधिक से अधिक व्यवसायात्मक होकर रह जाएगी और मनुष्य के अंतरात्मा को नहीं छू पाएगी। उन्होंने कहा कि शिक्षा का माध्यम केवल वह भाषा होनी चाहिए जो बच्चे के मन और बुद्धि में समा गई हो। इसलिए अंग्रेजी को भारतीयों के बौद्धिक विकास का माध्यम बनाने का अर्थ है उनको वास्तविक शिक्षा से वंचित रखना। हां, यदि अंग्रेजी से भारतीयों का इतना गहरा संपर्क हो सके कि उनकी अपनी भाषा पीछे छूट जाए और वे अंग्रेजी में ही सोचना प्रारंभ कर दें तो दूसरी बात है। परंतु यह हो नहीं सकता। फिर भी यह विचित्र बात है कि अंग्रेजी को भारतीयों की एकमात्र भाषा बनाने के इतने कड़े प्रयास किए जा रहे हैं। ऐसे अतिवादी विचार पर ध्यान देना आवश्यक तो नहीं है, फिर भी इतना कह देना तो उचित ही रहेगा कि जैसे-जैसे शिक्षा को मात्र अंग्रेजी तक सीमित रखेंगे वैसे ही स्वयं शिक्षा भी केवल चंद क्लर्कों और छोटे-मोटे सरकारी और प्राइवेट एजेंटों तक सीमित रह जाएगी। कुछ थोड़े से लोग, शिक्षित और प्रबुद्ध अवश्य होंगे किंतु वे भी उसी शिक्षा और प्रबोध के कारण अपने साथियों से कट जाएंगे।[4]

कर्नल जार्विस ने जो बात कही ऐसा लगता है कि वह भारत की परंपरा की गहनतम कंदराओं में से निकल के आई थी। मानो वे यह कह रहे थे : मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद। शिक्षा की भाषा हार्दिक संवेदना की भाषा होनी चाहिए, वही भाषा जो—जैसे गांधी जी ने बाद में कहा—बच्चे को मां के दूध के साथ मिली है। उन्होंने कहा कि हमें शिक्षा-प्रक्रिया में उस भाषा का आह्वान करना चाहिए जो लोक कवि और कथाकार की गाथाओं में मिलती है। और उसी भाषा को एक नई दिशा देनी चाहिए क्योंकि इसी प्रकार भारतीय समाज के लिए हम एक नए साहित्य और नई सनैतिकता का सर्जन एवं निर्माण कर पाएंगे। अन्यथा सरकारी विधान में अंग्रेजी की छत्रछाया के नीचे उनका विकास और उन्नति अवरुद्ध हो जाएगी। उन्होंने दो टूक बात कही : अंग्रेजी के माध्यम से हम भारत के लोगों को कोई जागृति प्रदान नहीं कर सकते, उनकी शिक्षा केवल उस भाषा के माध्यम से हो सकती है जो उनके आत्मा की आवाज है जिसे वे पहचानते हैं और जिसका प्रयोग करते हैं। इसलिए यदि यूरोपियन शिक्षा वस्तु उन तक पहुंचाना है तो उसी भाषा में सीधा अनुवाद करके पहुंचाना चाहिए। और यह और भी अच्छा हो कि यूरोपियन विचार, भावनाएं और तथ्य भारतीय भाषा वेश में मौलिक रूप से लेकर उन तक पहुंचे। प्रारंभ में तो अनुवाद ही करना पड़ेगा। तत्पश्चात् यूरोपियन विषय-वस्तु का भारतीय

4. रिची, 'एज्यूकेशनल रिकार्ड्स', II, पृ० 11-13

रूपांतर काम में लाना होगा। अंततोगत्वा भारत के लोग स्वयं अपने नए साहित्य का सर्जन करेंगे जो इंग्लिश स्रोत से निकलेगा और उनके अनुरूप भी होगा किंतु मात्र शब्दांतर न होकर सर्जनात्मक और रचनात्मक होगा।[5] जार्विस महोदय के मतानुसार भाषा और साहित्य तैयार माल के रूप में इम्पोर्ट नहीं किए जा सकते, कच्चा माल इम्पोर्ट करके उसे भारत के अनुरूप अवश्य बनाया जा सकता था।

प्रारंभ से, विशेषकर एल्फिस्टन, राममोहन राय और तत्पश्चात् मकाले के मतानुसार भी, एक विचारधारा निरंतर चलती रही थी और वह यह थी कि अंग्रेजी को एक क्लासिकल भाषा के रूप में पढ़ाया जाए। योजना केवल वर्ग-विशेष को पढ़ाने की थी। विचार यह था कि जैसे यूरोप में लैटिन और भारत में संस्कृत पढ़ाई जाती थी वैसे ही नए भारत में अंग्रेजी पढ़ाई जाए। साथ में यह भी कहा गया कि अंग्रेजी तो माडर्न भाषा है और देश की उन्नति केवल एक माडर्न भाषा के माध्यम से ही हो सकती है। संस्कृत के माध्यम से संभव ही नहीं है। बनारस संस्कृत कालेज खोले जाने की योजना का राजा राममोहन राय ने विरोध किया था और लार्ड एमहर्स्ट को लिखा था कि भारत की दशा उन्नीसवीं शती में एकदम ही थी जैसे मध्ययुग के अंत में यूरोप की थी। यूरोप को माडर्न बनाने के लिए लैटिन को छोड़ना पड़ा था। सारे यूरोप ने माडर्न भाषाओं को अपना लिया था। राममोहन राय ने कहा कि जैसे यूरोप ने लैटिन को छोड़ दिया था वैसे ही भारत को भी संस्कृत को छोड़ना पड़ेगा, माडर्न भाषा को अपनाना पड़ेगा। उनके मतानुसार वह माडर्न भाषा थी अंग्रेजी। इस दलील के अंदर जैसे हम पहले कह चुके है एक आंतरिक विरोध आ गया था जिसे कोई भी उस समय नहीं देख पाया। राममोहन राय भी नहीं देख सके। संस्कृत इसलिए नहीं पढ़ाना कि वह क्लासिकल है माडर्न नहीं है, और अंग्रेजी इसलिए पढ़ाना है कि वह माडर्न है क्लासिकल नहीं, और फिर भी उसे क्लासिकल भाषा के रूप में पढ़ाना है। जैसे अंग्रेजी तो खांड की रोटी बन गई। माडर्न मानो तो माडर्न है, क्लासिकल मानो तो क्लासिकल है। इस आंतरिक विरोध को जार्विस महोदय ने देखा था और बड़े सबल शब्दों में व्यक्त किया था। उन्होंने कहा था कि यदि भारत में शिक्षा अंग्रेजी के माध्यम से दी गई तो भारत वैसे ही वैचारिक गुलामी की जंजीरों में जकड़ जाएगा जैसे मध्यकाल में यूरोप और इंग्लैंड लैटिन की जंजीरों में जकड़े हुए थे। यदि भारत को नया जीवन और नई शक्ति की आवश्यकता है तो वह केवल भारत की अपनी आधुनिक भाषाओं के माध्यम से ही पूरी हो सकती है। वह शक्ति केवल संस्कृत के माध्यम से भी नहीं मिल सकती। उनके मत में संस्कृत तो लैटिन की समकक्ष थी किंतु अंग्रेजी भारतीय भाषाओं की समकक्ष नहीं थी। इंग्लैंड में अंग्रेजी की समकक्ष थी भारत में भारती, अर्थात् भारतीय आधुनिक भाषाएं। यह दलील सही थी, तर्कसंगत थी, आज भी सच्ची है।

भारत में सरकार द्वारा अंग्रेजी भाषा को प्रमुख भाषा और आवश्यक बौद्धिक और व्यावसायिक योग्यता मानक के रूप में स्वीकारा जा रहा था। जार्विस महोदय ने लिखा कि यदि

5. रिची, 'एज्यूकेशनल रिकार्ड्स', II, पृ० 11-13

भारत में अंग्रेजी को ही प्रमुख भाषा माना गया तो ऐसा लेगा कि हम अपने तीन सौ वर्ष के यूरोपियन इतिहास से कोई लाभ नहीं उठाना चाहते और वह अनुभव हमारे लिए व्यर्थ हो गया है। तीन सौ वर्ष पूर्व केवल लैटिन ही एकमात्र यूरोपियन साहित्य की भाषा थी। परिणामस्वरूप लौकिक एवं पारलौकिक ज्ञान कतिपय विद्वानों और साहित्यकारों तक ही सीमित रह गया। उस समय जनभाषाएं गंवारू बोलियां समझी जाती थीं और ये सब लैटिन के आधिपत्य के बोझ से दबी हुई थीं। फिर समय आया और लैटिन का आधिपत्य समाप्त हो गया। यूरोप की नई और तत्कालीन भाषाएं आजाद हो गई और तभी जनसाधारण को अपनी भाषा के माध्यम से ज्ञानार्जन का सुअवसर मिला। विद्या किसी एक व्यक्ति या वर्ग-विशेष की बपौती नहीं रही। उसका साधारणीकरण हो गया। क्या भारत में हम उस इतिहास को नकार दें ? क्या मुट्ठी-भर शासकों की भाषा को करोड़ों के इस विशाल जनसमुदाय के सिर पर लाद दें ? नहीं। मैं तो यह कहूंगा कि हमारा प्रमुख और परम कर्त्तव्य यह है कि हम भारत की आधुनिक भाषाओं का विकास करें और उन्हें अपने बचपन से निकल कर प्रौढ़ अवस्था तक पहुंचने का अवसर दें। अपनी समकक्ष क्लासिकल भाषाओं की सहायता से वे समृद्ध बन जाएंगी और अद्भुत अभिव्यंजना शक्ति को प्राप्त होंगी जो आज उनमें नहीं है। विचारों और विचारांशों का परस्पर सहयोग और संबंध, उनका सूक्ष्म वैभिन्य और क्रमांतर तर्क-वितर्क प्रक्रिया के विभिन्न सोपान, मानसिक और बौद्धिक व्यवहार की अभिव्यक्ति, सहज और सरलतम विचार से लेकर सूक्ष्मतम विचारों की अभिव्यक्ति कर पाना भाषा की प्रौढ़ता का प्रमाण है, वही भारतीय भाषाएं प्राप्त कर लेंगी।[6]

जार्विस महोदय की विचारधारा अद्भुत थी। अंग्रेज तो अंग्रेज, राममोहन राय भी अंग्रेजी के रोमांस में बह गए थे। आर्थर मेह्यू ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'द एज्यूकेशन आफ इंडिया' (1926) में भारत में अंग्रेजी शिक्षा-माध्यम पर एक बड़ी रोचक टिप्पणी की है। वे कहते हैं कि भारत में अंग्रेजी को शिक्षा-माध्यम बनाना बिल्कुल वैसा ही था जैसे इंग्लैंड में शिक्षा का माध्यम संस्कृत या हिंदी को बना देना। लैटिन तो सारे यूरोप की परंपरा का अंग थी और अंग्रेजी की मां नहीं तो सगी मौसी तो अवश्य थी। लैटिन की देन अंग्रेजी को वही है जो संस्कृत की देन हिंदी आदि को है। भारतीय भाषाओं और अंग्रेजी, अथवा संस्कृत और अंग्रेजी, का तो बहुत ही दूर का संबंध है और दोनों की वाक्य-रचना बिल्कुल भिन्न है। भारत में अंग्रेजी की तुलना इंग्लैंड में लैटिन से नहीं बल्कि इंग्लैंड में भारतीय भाषा से करनी चाहिए। थोड़ी देर के लिए साम्राज्य को भूल जाएं तो दोनों स्थितियां वाहियात मालूम होती हैं।

अंत में जार्विस महोदय ने एक प्रश्न पूछा : क्या आप ब्रिटिश कपड़े के साथ-साथ अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजी साहित्य को भी इम्पोर्ट करना चाहते हैं ? क्या आपकी योजना यह है कि कपड़े की तरह से प्रत्येक भारतवासी अंग्रेजी भाषा और साहित्य का भी प्रयोग करे ? किसी भी विचारशील आदमी को यह बात गलत मालूम होगी। यदि भारतीय लोगों का कभी कोई अपना साहित्य होना है तो यहीं से उपजेगा। विषय-वस्तु तो काफी हद तक यूरोपियन हो सकती है किंतु

6. रिची, 'एज्यूकेशनल रिकार्ड्स', II, पृ० 11-13

उसकी कताई-बुनाई भारतीय विषय-वस्तु के साथ मिलाकर भारत में होनी चाहिए और फैशन तो भारतीय होना ही चाहिए।[7] जार्विस महोदय के विचार, तर्क तथा शैली अकाट्य थी लेकिन उन्हें काटने की आवश्यकता किसी को थी नहीं। जार्विस महोदय ने ये विचार 1845 की बोर्ड-रिपोर्ट पर अध्यक्ष के निर्णय पर टिप्पणी करते हुए व्यक्त किए थे। इनका महत्त्व केवल वैचारिक रहा।

दूसरे सज्जन जिन्होंने अध्यक्ष के निर्णय के साथ विरोध प्रकट किया सर जगन्नाथ शंकरसेठ थे। अध्यक्ष महोदय ने बोर्ड की 1845 की रिपोर्ट पर नोट दिया था कि हमें भारतीय भाषा के शिक्षा-माध्यम बनाने और भारतीय साहित्य के निर्माण का पूरा-पूरा ध्यान है। किंतु सर जगन्नाथ को यह लगा कि वास्तव में भारतीय भाषा को उतना प्रोत्साहन नहीं दिया जा रहा था जितना आवश्यक था। भारतीय भाषा के अध्यापकों का वेतन कम था और विद्यार्थियों को छात्रवृत्तियां भी नहीं दी जा रही थीं। अतः उन्होंने बोर्ड के अध्यक्ष एवं गवर्नर महोदय को यह लिखा कि सरकार को यदि जनता की शिक्षा के लिए काम करना है तो वह केवल भारतीय भाषा के माध्यम से किया जा सकता है। यह काम अंग्रेजी के माध्यम से नहीं किया जा सकता क्योंकि अंग्रेजी और उनकी अपनी भाषा में बहुत अधिक अंतर है। उन्होंने कहा कि प्रारंभ में तो सरकार ने जनता की शिक्षा के लिए भारतीय भाषा को ही अपनाया था। एल्फिंस्टन महोदय ने भी इसी दिशा में प्रयास किया था। बाद में जब धनी-मानी लोगों ने एल्फिंस्टन प्रोफेसरशिप्स के लिए दान दिया तो इसी आशय से दिया था कि भारतीय भाषा की अवहेलना नहीं की जाएगी। अपितु उसका विकास किया जाएगा। कुछ समय के लिए भारतीय दिशा में प्रयास किया गया और वह सफल भी हुआ किंतु बाद में छोड़ दिया गया। परिणामस्वरूप ये भाषाएं पिछड़ी अवस्था में ही पड़ी रहीं और अब उन्हें यूरोपियन साइंस साहित्य इत्यादि के माध्यम रूप में सशक्त बनाने के लिए बड़े भारी प्रयास की आवश्यकता है जो जनशिक्षा के हित में अवश्यमेव किया जाना चाहिए।

सर जगन्नाथ यह नहीं चाहते थे कि अंग्रेजी की अवहेलना की जाए। वे दोनों भाषाओं की शिक्षा में विश्वास रखते थे, किंतु उनका कहना था कि भारतीय भाषा को छोड़कर अंग्रेजी की शिक्षा न तो उचित होगी और न सफल होगी। वे कहते थे कि पहले भारतीय भाषा की शिक्षा पक्की होनी चाहिए और उसका विकास भी होना चाहिए। अंग्रेजी आए किंतु मातृभाषा के पश्चात् और उसी के आधार पर। यदि पहली भाषा के पश्चात् अंग्रेजी का अध्ययन दूसरी भाषा के रूप में किया जाएगा तो अंग्रेजी जल्दी आएगी और शिक्षा की गति भी दस गुणा बढ़ जाएगी। किंतु किसी हालत में और कभी भी अंग्रेजी भारतीय भाषा का स्थान नहीं ले पाएगी और न वह जनता की शिक्षा का माध्यम बन पाएगी, क्योंकि वह जनता से बहुत दूर की चीज़ है।[8]

सरकार और सर जगन्नाथ वास्तव में दो अलग-अलग बातें कर रहे थे। सर जगन्नाथ तो शिक्षा और शिक्षा-भाषा की बात कर रहे थे और सरकार भाषा-शिक्षा में रुचि रखती थी। सर

7. रिची, 'एज्यूकेशनल रिकार्ड्स', II, पृ० 11-13
8. वही, पृ० 16-17

जगन्नाथ जनशिक्षा की बात कर रहे थे और सरकार केवल वर्ग-विशेष की शिक्षा की। सर जगन्नाथ जनसेवा की बात कर रहे थे और सरकार राजसेवा की। अतः दोनों का तालमेल बैठ नहीं सकता था। परिस्थितियां भी काफी हद तक भारतीय भाषा के अनुकूल नहीं थीं। स्वयं सर जगन्नाथ ने माना था और बिना संकोच के माना था कि अंग्रेजी भाषा और साहित्य का ज्ञान प्राप्त करने की लोगों के मन में बड़ी उत्कट इच्छा थी। यह इच्छा थी भी बड़े पैमाने पर और माता-पिता बड़ी उत्सुकता से अपने बच्चों को भारतीय स्कूलों से हटाकर अंग्रेजी स्कूलों में प्रवेश दिलाना चाह रहे थे। उन सबका ध्येय एक ही था : सरकारी नौकरी और यूरोपियन लोगों से संपर्क जोड़ने का माध्यम जुटाना। सर जगन्नाथ ने यह सब कुछ देखा तो, किंतु वे इस बरसाती बाढ़ के साथ बहना नहीं चाहते थे और सामयिक से शाश्वत की ओर उठना चाहते थे। अतः उन्होंने निर्भीक होकर लिखा कि समस्त देश की भाषा को बदलना असंभव और आशातीत है। सारी जनता में कितने लोग अंग्रेजी जानते हैं या जानने की आशा कर सकते हैं ? बहुत थोड़े, केवल नगण्य।[9]

सिद्धांत रूप में भारतीय भाषावादी और अंग्रेजीवादी तथ्यों में विशेष भेद नहीं था—केवल ग्रांट इत्यादि को छोड़कर। हम देख चुके हैं कि स्वयं मकाले ने अपने प्रस्ताव के एक वर्ष पश्चात् ही सामान्य लोकशिक्षा समिति के अध्यक्ष के नाते यह माना था कि अंततोगत्वा समिति का उद्देश्य है भारतीय साहित्य का निर्माण। यह बात आकलैंड भी मानते थे और बंबई के गवर्नर भी मानते थे। ये सिद्धांत थे :

1. जनता की शिक्षा 'भारतीय भाषा के माध्यम से', तदर्थ भारतीय भाषाओं का विकास, और भारतीय साहित्य का निर्माण।
2. अंग्रेजी भाषा नई शिक्षा के उपयुक्त यूरोपियन शिक्षा विषय-वस्तु का स्रोत है और भारतीय भाषाओं के विकास का साधन।
3. जनशिक्षा केवल अंग्रेजी के माध्यम से नहीं हो सकती, केवल भारतीय भाषा के माध्यम से हो सकती है।
4. नए शिक्षार्थी भारतीय भाषा और अंग्रेजी दोनों सीखें तो उपयुक्त रहेगा।

यह सब मानते हुए भी सरकारी शिक्षा-नीति में केवल अंग्रेजी को स्थान मिला। कैप्टेन कैंडी, कर्नल जार्विस और सर जगन्नाथ इन सबके विचार और सुझाव कोई काम न कर सके।

बंबई गवर्नमेंट आर्डर इस प्रकार पास किया गया : (नंबर केवल विषय-विश्लेषण के लिए लगा दिए गए है) :

1. गवर्नर महोदय के मत में यदि कोई भी भारतीय और अंग्रेजी स्कूलों के विद्यार्थियों की अपने शिक्षा-विषयों में प्राप्त योग्यता का निरीक्षण करे और दोनों की तुलना करे तो उसे विश्वास हो जाएगा कि भारतीय स्कूलों के विद्यार्थियों का ज्ञान अधिक पक्का और यथार्थ है।
2. वे भारतीय भाषा के पक्ष में इस बात से भी सहमत हैं और उन्हें यह मानने में तनिक भी संकोच नहीं है कि जनता की शिक्षा के क्षेत्र में सरकार का सारा प्रयास उस भाषा के विकास में लगाया जाना चाहिए जिसे बच्चे बचपन से ही जानते है।
3. साथ ही साथ वे विद्यार्थियों को हर संभव अवसर दिलाएंगे कि बच्चे ऊंची शिक्षा अंग्रेजी के माध्यम से प्राप्त कर सकें।

9. रिची, 'एज्यूकेशनल रिकार्ड्स', II, पृ० 16-17

अभी तक अंग्रेजी की शिक्षा की ओर सबसे अधिक ध्यान दिया गया है, किंतु पूर्व इसके कि भारतीय लोग बुद्धि-विकास और नैतिकता की नई दिशा में अग्रसर हों और नई शिक्षा की गहरी और पक्की छाप भारतीयों के मन पर लगे यह आवश्यक होगा कि इस शिक्षा प्रक्रिया को पलट दिया जाए।

1. जनता में स्वस्थ और युक्तियुक्त शिक्षा के प्रचार के लिए भारतीय भाषा को शिक्षा-माध्यम बनाया जाए।
2. यह आवश्यक होगा कि ग्राम और जिला स्कूल जहां पर भारतीय माध्यम प्रचलित है उनका स्तर और कार्यक्षमता बढ़ाने के लिए विशेष प्रयास किया जाए।
3. भारती स्कूलों की क्षमता को बढ़ाने के लिए अत्यावश्यक है कि उच्च शिक्षा-प्राप्त अध्यापकों की एक श्रेणी तैयार की जाए और उनकी ऊंची योग्यता के अनुरूप उनका वेतन भी बढ़ाया जाए क्योंकि इस समय तो उनको बहुत ही थोड़ा वेतन मिल रहा है।

कुछ लोगों का विचार है कि भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षा-प्रचार संभव नहीं है। उनके मतानुसार कारण ये हैं :

1. शिक्षा-प्रचारार्थ भारतीय भाषा में कोई साहित्य उपलब्ध नहीं है।
2. साहित्याभाव की पूर्ति अनुवाद से भी नहीं की जा सकती।

गवर्नर महोदय के मतानुसार अनुवाद संबंधी कठिनाइयां अतिशयोक्ति दिखाई देती हैं। वर्षों पूर्व जो काम कर्नल जार्विस और डा० मेकलेनन के उत्साहपूर्ण प्रयासों से संभव हो सका था वह अब भी हो सकता है, केवल भारतीयों और भारतीय भाषाओं के विकास और उन्नति के प्रति सच्ची लगन की आवश्यकता है।

पर्याप्त मात्रा में अपेक्षित साहित्य और पुस्तकें उपलब्ध कराने का उत्तरदायित्व सरकार पर है। सरकार इस बात के लिए तैयार है कि कर्नल जार्विस द्वारा प्रस्तावित तरीके से शुल्क देकर अथवा अपने ही अफसरों की देख-रेख में अनुवाद करवाने के अच्छे से अच्छे तरीकों पर विचार करने को तैयार है।

यह सारा विचार करने के पश्चात् निष्कर्ष रूप में यह निर्णय लिया गया है कि

1. वर्तमान पद्धति (अर्थात् अंग्रेजी शिक्षा पद्धति) यथासंभव अच्छी से अच्छी हालत में चलाई जानी चाहिए । जो कोई भी अंग्रेजी भाषा-माध्यम से अंग्रेजी शिक्षा से लाभान्वित होना चाहें उन्हें प्रवेश दिया जाए ।
2. भारतीय भाषा क्लासों और भारतीय स्कूलों के माध्यम से शिक्षा-प्रचार में मुख्यतम और अधिकतम प्रयास किए जाएं ।
3. भारतीय भाषा में अच्छे प्रारंभिक ग्रंथ साइंस, साहित्य और नीतिशास्त्र विषयों पर उपलब्ध कराए जाएं ।
4. अंग्रेजी भाषा के माध्यम से शिक्षा-प्रचार का कार्य प्रत्येक सूबे में एक स्कूल और प्रेजीडेंसी में कालेज तक सीमित रखा जाए ।
5. वहां भी (अर्थात् अंग्रेजी स्कूल और कालेज में) जैसे-जैसे अनुवाद की सुविधा प्राप्त हो वैसे-वैसे उच्चतर विषय भारतीय भाषा के माध्यम से भी पढ़ाए जाएं ।[10]

गवर्नर महोदय के आदेश के अंदर सिद्धांत रूप में भारतीय भाषा के पक्ष में सारी बातें आ गई थीं । ऐसा लगता है कि अंततोगत्वा सरकार का सारा प्रयास भारतीय भाषा, साहित्य और शिक्षा की दिशा में ही लगना था । किंतु हुआ यही कि कहने को तो आप ठीक कह रहे हैं और आपकी सारी बातें मान्य हैं किंतु परनाला तो यहीं गिरेगा अर्थात् अंग्रेजी शिक्षा अंग्रेजी भाषा के माध्यम से चल रही है और चलती रहेगी । शेष चिंता ? कौन जाने ? कैप्टेन कैंडी, कर्नल जार्विस, सर जगन्नाथ सब एकसाथ नत्थी कर दिए गए ।

15

शिक्षा-परिपत्र (1854)

1835 के मंकाले के शिक्षा-प्रस्ताव के उन्नीस वर्ष पश्चात् और 1857 के स्वतंत्रता आंदोलन से तीन वर्ष पहले कंपनी के डायरेक्टर्ज़ की ओर से 19-7-1854 को एक परिपत्र गवर्नर-जनरल के पास भेजा गया । उस समय सर चार्ल्स वुड बोर्ड आफ कंट्रोल के अध्यक्ष थे । यह परिपत्र उन्हीं की अध्यक्षता में भेजा गया था । इसीलिए इसको 'वुड्ज़ डिस्पैच' का नाम दिया गया है । यह परिपत्र इतना बृहद् विषयक है कि इसको 'मैगनाकार्टा आफ इंडियन एज्यूकेशन' भी कहा गया है । ऐसा भी कहा गया है कि इस परिपत्र से पहले जो सोचा गया था और किया गया था उस सबका सार इसमें है और इसके बाद जो कुछ सोचा गया या किया गया उस सबका सार भी इसी में है । संक्षेपतः समस्त अंग्रेजी शिक्षा का आद्योपांत सूत्रपात शिक्षा-परिपत्र (1854) में है ।

1793 से लेकर, वास्तव में उससे भी पहले से, 1853 तक आए बीस वर्ष जब कंपनी का चार्टर पार्लमेंट के सामने पुनर्नवीनीकरण के लिए आया तभी शिक्षा के विषय पर विचार किया गया । और जब उस पर विचार किया गया तभी राज संबंधी विषयों पर विचार किया गया । 1853 में भी उसी प्रकार राज और शिक्षा, दोनों विषयों पर राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से विचार किया गया ।

1853 के आस-पास एक और समस्या सरकार के सामने आ रही थी : क्या अंग्रेजी सरकार को भारत की जनता ने स्वीकार कर लिया है ? इसका उत्तर साफ नहीं मिल रहा था । पुराने समय की अपेक्षा राज-प्रशासन को कार्यकुशल और न्यायप्रिय तो माना जा रहा था किंतु फिर भी बहुत लोगों को रह-रह के पुराने समय की याद तो आती ही रहती थी । इसके अतिरिक्त केवल प्रशासन संबंधी कारणों से स्वराज को भुलाना कठिन है क्योंकि विदेशी राज की शासन व्यवस्था स्वराज का स्थान नहीं ले सकती । कैम्ब्रिज इतिहास में इस विषय की चर्चा की गई है । सर जॉन स्ट्रेची, पश्चिमोत्तरीय सीमाप्रांत के एक कुशल अंग्रेज प्रशासक थे । उनके प्रशासन क्षेत्र में से कुछ गांव एक रियासत में वापस किए जाने थे । रियासत का शासन बहुत ही अच्छा था । फिर भी लोग उधर जाने को तैयार नहीं थे और उन्होंने इस हस्तांतरण का कड़ा विरोध किया था । यह सब कुछ होते हुए भी स्ट्रेची महोदय का कहना था कि हमारी सरकार से प्यार किसी को नहीं था । भारत को प्रसन्न रखने के लिए मात्र प्रशासन में दक्षता से आगे कुछ और भी चाहिए था और शासन के अतिरिक्त कुछ और सरकार के पास था नहीं ।[1] यह बात 1857 से

1. 'दि कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया', II, पृ० 169-70

चार वर्ष पूर्व की ही तो है।

अंग्रेज प्रशासक, अफसर, फौजी, पादरी कोई भी भारतीयों से तो मिलते ही नहीं थे। मुगल और दूसरे शासक बाहर से आए और यहां बस गए। अंग्रेज बसने के लिए भारत नहीं आए। ग्रांट और मकाले के भारत संबंधी विचार और भावना हम पहले ही देख चुके हैं। मकाले और उनके आस-पास ऐसे अफसर थे जिनकी ट्रेनिंग हेलीब्री कालेज में हुई थी और वे भारतीयों से केवल नफरत करते थे। वे कहते थे कि हिंदुस्तानी कपटी, पाखंडी, विश्वासघाती, मिथ्याचारी, निर्मम, कायर और मानसिक और शारीरिक दोनों तरह से इतने गंदे हैं कि वे केवल घृणा के पात्र है।[2] यह मनोवृत्ति करीब-करीब सभी अंग्रेजों की थी। यहां तक कि पादरी भी तरह-तरह के भाषण भारतीय धर्म और संस्कृति के विरुद्ध देते रहते थे। जनसाधारण इन सभी लोगों में और सरकार में कोई अंतर नहीं समझते थे। इसलिए वे इस विदेशी सरकार से चिंतित रहते थे। चार्ल्स ट्रेवेल्यन ने 1853 में ठीक ही कहा था कि हिंदू और मुसलमान दोनों में पढ़े-लिखे लोगों की अपेक्षा अनपढ़ लोग अधिक खतरनाक हैं क्योंकि वे दोनों अंग्रेज को अपना शत्रु समझते है। मुसलमान उसे काफिर कहते और हिंदू मलेच्छ। इसी कारण ट्रेवेल्यन का कहना था कि यदि भारतीयों को अपनी पूर्वकालीन स्वतंत्रता पर सोचते रहने दिया गया तो उनके मन में केवल एक बात रहेगी, और वह यह कि अंग्रेजों को निकाल कर बाहर फेंक दो। ठेठ हिंदुस्तानी देशभक्त को देशभक्ति का केवल यही एक रूप मालूम है।[3]

उधर कंपनी डायरेक्टर्ज़ को भी यह चिंता प्रारंभ से ही लगी रही थी कि भारत के लोगों की सद्भावना प्राप्त करके राज की बुनियाद को पक्का किया जाए। साथ में अपने व्यापारी हितों की भी रक्षा की जाए। अतः 1853-54 में भी शिक्षा का यही उद्देश्य समझ कर विचार किया गया। अंग्रेज शासकों को मालूम था कि अंग्रेजी पढ़े-लिखे भारतीयों के मन में तो भारत के लिए कोई भावना रह नहीं गई थी। हम एच०एच० विल्सन के शब्दों को पहले ही उद्धृत कर चुके है।

सबसे बड़ी चिंता एवं उद्देश्य जो शिक्षा-परिपत्र में व्यक्त किया गया वह यह था कि भारतीय जनता के मन में सामान्य रूप से अंग्रेज सरकार के प्रति सद्भावना कैसे उत्पन्न की जाए? यह पहले की भांति शिक्षा के माध्यम से ही किया जा सकता था। अभी तक शिक्षा के माध्यम से जो काम किया गया था वह काफी नहीं था। एक तो काम ही किसी विशेष स्तर का नहीं हुआ था, दूसरे सारा रुपया अंग्रेजी शिक्षा पर खर्च किया जा रहा था, अरबी, संस्कृत या भारतीय भाषाओं पर कोई पैसा खर्च ही नहीं होना था। अंग्रेजी में भी जो काम हुआ था वह भी थोड़ा ही था। बंगाल में प्रत्येक जिला नगर में इंग्लिश या एंग्लो-वर्नेक्युलर स्कूल खोले गए थे। मिशन स्कूल भी अंग्रेजी पढ़ाते थे। एंग्लो-वर्नेक्युलर स्कूल इंग्लिश के अतिरिक्त भारतीय भाषा भी पढ़ाते थे किंतु सबसे अधिक विद्यार्थी अंग्रेजी स्कूलों में जाते थे, विशेषकर सरकारी

2. माइकल एडवर्ड्ज, 'ब्रिटिश इंडिया', पृ० 57-58
3. देखिए : सुंदरलाल, 'भारत में अंग्रेजी राज', III, पृ० 1148

स्कूलों में क्योंकि वहां के विद्यार्थियों को नौकरी जल्दी मिलती थी। 1845 में सरकारी स्कूलों में कुल मिलाकर 17,360 विद्यार्थी थे और 30,000 मिशन स्कूलों में थे। कालेज शिक्षा का स्तर ऊंचा था। 1845 से 1849 तक चार वर्ष में कुछ 36 विद्यार्थियों ने परीक्षा पास की थी। मुसलमान अंग्रेजी को नहीं अपना रहे थे। 1837 में जब अंग्रेजी को सरकारी दफ्तरों की भाषा घोषित किया गया तो 8000 मुसलमानों ने कलकत्ते में इसका विरोध किया था। बंगाल से बाहर अंग्रेजी का विरोध अधिक था। विहार के मुसलमान इसका विरोध कर रहे थे और 1858 तक पटना स्थित स्कूल इंसपेक्टर के दफ्तर को शैतान का दफ्तर कहा जाता था। बंबई में अंग्रेजी की मांग कम थी। केवल दस स्कूल 1850 तक खुले थे और उनमें 2000 विद्यार्थी थे। मद्रास में 1854 तक केवल तीन स्कूल थे। इनके अतिरिक्त कई मिशनरी स्कूल तो थे किंतु वहां ईसाइयत का बोलबाला था। इसलिए उच्च वर्ग के लोग अधिक संख्या में वहां जाने के लिए उत्सुक नहीं थे। उत्तर-पश्चिम सीमाप्रांत में लेफ्टिनेंट गवर्नर जेम्ज़ टॉमसन के द्वारा केवल भारतीय भाषा में शिक्षा देने का प्रयास किया जा रहा था। 1856 तक करीब दस लाख की आबादी पर एक स्कूल खुल पाया था।[4] इतनी फीकी शिक्षा और उसके भी विरोध के कारण कोई सद्भावना सरकार के प्रति उत्पन्न होना कठिन था। साथ में जो अंग्रेजी पढ़े-लिखे नौजवान भी जनता और सरकार के बीच की कड़ी नहीं बन पा रहे थे उनके प्रति भी जनता में भय या ईर्ष्या तो हो सकती थी पर आदर या प्रेम तो नहीं।

सरकार के प्रति सद्भावना वास्तव में सरकार द्वारा जनता की राजनीतिक शिक्षा का महत्त्वपूर्ण अंग था। यदि वही नहीं हो पाई तो राज की सेवा शिक्षा-माध्यम से होगी नहीं। मकाले और ग्रांट तो चाहते थे कि एक पीढ़ी के समय अर्थात् पच्चीस-तीस वर्ष में धर्म-परिवर्तन या संस्कृति-परिवर्तन के कारण देश का सांस्कृतिक और राजनीतिक नक्शा ही पलट जाएगा। सो तो हुआ नहीं। वास्तव में 1838 में चार्ल्स ट्रेवेल्यन ने जो बात अपनी पुस्तक में लिखी थी वह ठीक थी। उन्होंने लिखा था कि किसी भी जाति की राजनीतिक शिक्षा में समय लगता है। यदि हम भारतीयों को राजनीतिक शिक्षा दे सकेंगे तो ही हम सुरक्षित रहेंगे। शिक्षित वर्ग को जब यह महसूस हो जाएगा कि उनके देश की उन्नति हमारे सिद्धांतों के आधार पर हमारे संरक्षण में ही हो सकती है तो वे हमारे साथ बंधे चले आएंगे और हमसे बंधे रहेंगे।[5] शिक्षा, शासन और व्यापार यही नई त्रिवेणी बन गई।

यह तो रही केवल राजनीतिक शिक्षा की बात। अभी तो अंग्रेजी शिक्षा के साथ-साथ अंग्रेजी सभ्यता का चस्का भी डालना था। ट्रेवेल्यन ने उस पर भी पूरा परामर्श दिया। उन्होंने ब्रिटेन में रोमन राज्य का हवाला देकर कहा कि ब्रिटेन के रोमन गवर्नर ज्यूल्यस अग्रीकोला की नीति यह थी कि ब्रिटेन के उच्च वर्ग के बच्चों को रोमन साहित्य और साइंस की शिक्षा देकर उनके मन में रोमन सभ्यता के संस्कार डालकर रोमन विलास का चस्का डाल दिया जाए। ऐसा

4. माइकल एडवर्ड्ज, 'ब्रिटिश इंडिया', पृ० 118-20
5. 'एज्यूकेशन ऑफ द पीपल आफ इंडिया', पृ० 194-95

ही किया गया और इसका परिणाम रोमन साम्राज्य के लिए बहुत सुंदर निकला। ट्रेवेल्यन ने सरकार की महत्त्वाकांक्षा को ललकारा और कहा कि उत्तम साधन होते हुए भी यदि आज हम ऐसा भारत में न कर पाए तो हमारे लिए बड़ी शर्म की बात होगी।[6] ट्रेवेल्यन और अलेक्जांडर डफ़ दोनों ब्रिटिश सरकार के विश्वसनीय परामर्शदाता थे।

कंपनी को ब्रिटिश माल की खपत के लिए विस्तृत मार्केट की आवश्यकता थी। व्यापार चिंता तो कंपनी के बनने के समय से पहले से ही थी। ब्रिटिश शिक्षा-नीतिशास्त्री ग्रांट, मकाले और ट्रेवेल्यन इत्यादि इस पर बल दे चुके थे। डायरेक्टर्ज़ ने इस बात को पूर्णतया सामने रखा और परिपत्र के चौथे अनुच्छेद में कहा। सद्भावना की बात दूसरे अनुच्छेद में कही गई थी। इन दोनों बातों के अतिरिक्त 1827 से एक महत्त्वपूर्ण लक्ष्य और भी सामने रहा था और वह था सरकार के लिए सस्ते अंग्रेजीविद् स्वामिभक्त नौकर तैयार करना। यह बात तीसरे पैरे में कही गई थी। ये तीनों बातें अंश रूप में दी जाती हैं।

शिक्षा और सद्भावना : बहुत सारे उन विषयों के बीच जिनकी ओर हमारा ध्यान जा रहा है शिक्षा सर्वोच्च स्थान रखती है। यह हमारा परम पावन कर्तव्य है कि जहां तक हमसे बन सके हम भारत के निवासियों को वे सारी नैतिक और आर्थिक उपलब्धियां प्राप्त करा सकें जो कि जीवनोपयोगी शिक्षा के माध्यम से मिलती हैं और भगवान की छत्रछाया में इंग्लैंड के साथ संबंध होने के कारण जिनकी इच्छा भारत कर सकता है। यद्यपि बहुत सारी घिनौनी रीतियां और रूढ़ियां तो ब्रिटेन के सशक्त और सफल प्रभाव के कारण समाप्त हो गई हैं तथापि इन प्रयासों के फलस्वरूप पक्की उपलब्धियां तो तभी होंगी जबकि भारतीय जनमानस इनको स्थायी रूप से सद्भावना के आधार पर स्वीकार कर लेगा। ऐसी सद्भावना केवल शिक्षा के प्रचार से ही उत्पन्न की जा सकती है (पैरा-2)।

शिक्षा और सेवक : हमने शिक्षा के प्रचार को सदा विशेष महत्त्व का विषय समझा है क्योंकि शिक्षा से ही शिक्षार्थियों की बौद्धिक और नैतिक उन्नति की आशा की जा सकती है। इन्हीं शिक्षा-प्राप्त लोगों में से आपको ऐसे सेवक मिल सकते हैं जिनकी ईमानदारी पर विश्वास करके आप उनको महत्त्वपूर्ण स्थान दे सकते हैं। भारत में जनता के सारे हित और कल्याण सरकारी महकमों में काम कर रहे अफसरों की योग्यता और सच्चरित्र पर ही निर्भर करते हैं (पैरा-3)। शिक्षा के माध्यम से विश्वासपात्र अफसरों का निर्माण करके प्रशासन के द्वारा जनहित करना और जनता की सद्भावना का अर्जन करना यह हमारा परम कर्तव्य है।

शिक्षा और व्यापार : भारत में शिक्षा-प्रसार के लिए जो प्रयत्न किए जा रहे हैं इंग्लैंड उनकी सफलता के लिए अत्यंत चिंतित है। साथ में यूरोपियन शिक्षा-प्रसार के साथ हमारे गहरे आर्थिक हित भी जुड़े हुए हैं। जहां-जहां यह शिक्षा पहुंचेगी वहां-वहां लोगों को यह पता चलेगा कि श्रम और पूंजी के प्रयोग से कैसे चमत्कारी परिणाम प्राप्त किए जा सकते हैं। वे अपने देश की वृहत् पूंजी और समस्त संसाधनों का विकास करने में हमारा अनुकरण करेंगे। इसी शिक्षा

6. सुंदरलाल, 'भारत में अंग्रेजी राज', III, पृ० 1149-50

से उनका मार्गदर्शन होगा और आहिस्ता-आहिस्ता किंतु अवश्यमेव उनको वे सारे लाभ और सुविधाएं मिलेंगी जो कि धन और व्यापार के स्वस्थ परिवर्द्धन से प्राप्त होती हैं। साथ ही साथ हमें अधिकाधिक उस कच्चे माल की पक्की सप्लाई भी होती रहेगी जोकि हमारे कारखानों के लिए आवश्यक है अथवा जिसको हमारी जनता के सारे वर्ग अत्यंत अधिक मात्रा में प्रयोग करते हैं। हमारे कारखानों में जो माल बनता है उसकी खपत भारत में होगी और इतनी प्रचुर मात्रा में मांग होगी कि वह मांग सदा बनी रहेगी और बढ़ती भी रहेगी (पैरा-4)।

वास्तव में 1857 के बाद सरकार ने यह भरसक प्रयत्न किया कि भारत की जनता को संगठित किया जाए ताकि वे न केवल राजनीतिक क्षेत्र में अपितु आर्थिक क्षेत्र में भी सरकार और ब्रिटेन की सेवा करें। 1858 में ही सर चार्ल्स वुड ने भारत सरकार को इस विषय में लिखा। कुछ भारतीयों ने सरकार को आवेदन-पत्र दिए थे कि जो भूमि खाली पड़ी है वह हमें कृषि के लिए दे दी जाए। सर चार्ल्स ने लिखा कि इन लोगों की प्रार्थना पर सहानुभूतिपूर्वक विचार किया जाए ताकि वे इस भूमि पर कपास एवं दूसरी ऐसी फसल उगा सकें जिसका निर्यात कच्चे माल के रूप में ब्रिटेन के कारखानों के लिए किया जा सके।[7] प्रार्थियों को भूमि दे दी गई। 1862 में सर चार्ल्स ने फिर लिखा और सुझाव दिया कि यदि इन जमीनों पर मालिकों का पक्का कब्जा मान लिया गया तो उन्हें सरकारी अफसरों के हस्तक्षेप से काफी हद तक मुक्ति मिल जाएगी। यद्यपि ये लोग भिन्न कौमों और धर्मों के हैं फिर भी वे एक नया वर्ग बनकर ब्रिटिश सरकार के साथ बंध जाएंगे। यदि कायदे-कानून सही बना दिए गए तो ब्रिटिश साम्राज्य के सामान्य आर्थिक साधन बहुत बढ़ जाएंगे। 1871 में सभी भूमीदारों को यह छूट दे दी गई कि वे एक बार ही उचित मात्रा में रुपया देकर भूमि के पूरे और पक्के मालिक बन जाएं। ऐसा ही हुआ और सरकार का राजनीतिक ध्येय पूरा हो गया।[8]

इस प्रकार सारा प्रोग्राम यों बना कि बुद्धि-विकास के लिए विचारों का आयात, चारित्रिक विकास के लिए सरकार का विश्वासपात्र बनकर ईमानदारी से नौकरी करना और आर्थिक विकास के लिए कच्चे माल का निर्यात और पक्के माल का आयात और खपत। इसके लिए सभ्यता-परिवर्तन और उसके कारण ऐश-आराम की सामग्री की आवश्यकता और आराम का जीवन बिताने के कारण अंग्रेजी सरकार के प्रति सद्भावना और कृतज्ञता-भाव। उसी सद्भावना और कृतज्ञता-भाव को आधार बनाकर राज की जड़ें पक्की करना—चाहे राजनीतिक आधार पर अथवा आर्थिक आधार पर अथवा सांस्कृतिक आधार पर और अंततोगत्वा सर्वांगीण आधार पर भारत को इंग्लैंड का अभिन्न किंतु अधोभोगी अंग बना देना। भारत के लिए जनहित के वेश में जनस्तर पर तापसवृत्ति के स्थान पर भोगवृत्ति का पाठ यहां से प्रारंभ होता है। उसी भोगवृत्ति का स्वतंत्र नामकरण हमने स्वयं किया : स्टैंडर्ड आव् लिविंग। मिनिमम स्टैंडर्ड नहीं।

7. 'इंडिया आफिस रेवेन्यू डिस्पैच टु इंडिया', 31-12-1858, सं० 2, पैरा-1, उद्धृत : एडवर्ड्ज, 'ब्रिटिश इंडिया', पृ० 212
8. 'इंडिया आफिस कलेक्शंज टु रेवन्यु डिस्पैच', 9-7-1862, सं० 2, पैरा-1; उद्धृत : एडवर्ड्ज, 'ब्रिटिश इंडिया', पृ० 212

शिक्षा के उद्देश्य तो वही रहे जो पहले से ही थे किंतु परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए परिपत्र की भाषा और आशय दोनों में परिवर्तन कर दिया गया। ग्रांट और मकाले का तो कहना था कि शिक्षा की रूपरेखा का निर्णय विजेता रूप में शासक वर्ग स्वयं करेगा। उनके मतानुसार भारतीय लोग अपने हितों को नहीं समझते थे और यदि वे समझने का दावा भी करते थे तो उन्हें सोचने का अधिकार ही नहीं था। उन्होंने भारतीय धर्म, संस्कृति, भाषा, साहित्य इत्यादि के संबंध में भी बहुत-सी अभद्र बातें कही थीं। उस शैली की आवश्यकता अब नहीं थी। समय बदल चुका था। परिपत्र में जितनी बातें कही गई हैं वे सारी औचित्य और सौजन्य भाव से कही गई हैं। जो भी पद्धति, नीति अथवा कार्यक्रम उसमें दिया गया है उसमें स्वयं भारतीयों को भागीदार बनाया गया है, ऐसा दीखता है। सरकार का काम उनकी सेवा तथा सहायता करना है, ऐसा भी लगता है। साथ में जो नीति पहले निर्धारित की गई थी उसमें भी कुछ विशेष परिवर्तन दीखते हैं। फिर भी औचित्य और सौजन्य के वेश में उद्देश्य वही पुराने हैं।

परिपत्र के अंत में सारी जिम्मेदारी जनता पर छोड़ दी गई है, ऐसा आभास होता है। अंतिम अनुच्छेद में यह लिखा गया है कि सरकार होने के नाते हम केवल लोगों के अपने प्रयत्नों को एक दिशा और व्यवस्था दे सकते हैं और जहां उनको आवश्यकता हो वहां उनकी सहायता कर सकते हैं। अर्थात् वास्तविक काम करना केवल जनता के अपने हाथ की बात है। अंत में परिणाम भी उनके ऊपर निर्भर करता है। इसी पैरे में सरकारी खर्चे की बात भी कही गई है। 1813 के प्रस्ताव जैसी बजट शेष की बात को वे भूले नहीं। लिखा है, हमें ज्ञात है कि शिक्षा के इस प्रोग्राम पर पहले की अपेक्षा बहुत अधिक रुपया व्यय होगा जो जनता पर टैक्स लगाकर ही प्राप्त किया जा सकेगा किंतु फिर भी हमें पूर्ण विश्वास है कि शिक्षा पर जो रुपया खर्च होगा वह देश की समुन्नति के रूप में वसूल हो जाएगा। शिक्षा के प्रचार से लोगों की आदतों में सुव्यवस्था आएगी, वे परिश्रम करना सीखेंगे, जीवन में उपयोगी सुविधाओं के लिए इच्छा बढ़ेगी और उनकी प्राप्ति के लिए काम करेंगे, देश की समृद्धि बढ़ेगी और लोग खुशहाल रहेंगे। इस प्रकार शिक्षा, शिक्षा व्यय इत्यादि की सारी जिम्मेदारी जनता पर डाल दी गई और व्यवस्था-निर्धारण और दिशा-निदेश अपने पास रख लिया गया। वास्तविक बात तो दिशा-निदेश की है, काम तो कारिंदे ही करते हैं।

मकाले के प्रस्ताव के अनुसार वर्ग विशेष की शिक्षा के ऊपर बल दिया जाना था। अब यह बात साफ कर दी गई कि सरकारी शिक्षा का लक्ष्य यह है कि जनता के सारे वर्गों में यूरोपियन विषयों की शिक्षा का प्रचार किया जाए। (पैरा-97) अब से पूर्व का शिक्षा का जो भी कार्यक्रम चलाया गया था उससे भारतीय जनता के कुछ सीमित वर्ग ने अंग्रेजी साहित्य और यूरोपियन साइंस का ज्ञान पर्याप्त स्तर का प्राप्त कर लिया था किंतु डायरेक्टर्ज़ को इस बात से संतोष नहीं हुआ क्योंकि इस शिक्षा का ज्ञान बहुत थोड़े-से लोगों तक पहुंचा था। इसलिए उन्होंने यह इच्छा प्रकट की कि कुछ साधारण स्तर की यूरोपियन शिक्षा के साधन जनता के सारे वर्गों को उपलब्ध कराए जाएं ताकि जिस अवस्था में भी भारतीय लोग हों वे उसी अवस्था में इससे लाभ

उठा सकें। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक था कि भारतीयों को यूरोपियन ग्रंथों से परिचित कराया जाए और जिन-जिन विषयों का ज्ञान उनको अपेक्षित है तद्विषयक यूरोपियन विचार और यूरोपियन श्रम और उसकी उपलब्धियों का सारा ज्ञान उन तक पहुंचाया जाए। नई शिक्षा पद्धति का यह नया लक्ष्य पैरा-10 में बताया गया है। पैरा-47 में यह कहा गया है कि इस पद्धति का प्रारंभ प्राथमिक शिक्षा से होगा और इसका समापन लिबरल परंपरा की यूनिवर्सिटी शिक्षा और यूनिवर्सिटी परीक्षा के साथ होगा।

यूरोपियन विषयों की शिक्षा के साथ माध्यम का प्रश्न जुड़ा था। अभी तक तो सरकारी शिक्षा अंग्रेजी के माध्यम से अंग्रेजी स्कूलों और कालेजों में दी जा रही थी। लार्ड आकलैंड ने भारतीय भाषाओं का नाम काट ही दिया था। जब उनके सामने यह प्रश्न रखा गया कि जिला स्कूलों में भारतीय भाषा की शिक्षा दी जाए या केवल अंग्रेजी की ? तो उन्होंने लिखा था कि हमारे स्कूलों में बच्चे भारती के लिए नहीं अंग्रेजी भाषा पढ़ने के लिए आएंगे। उन्हें तो नए ज्ञान और नए विचारों की भूख थी। विशेषकर उन्हें अंग्रेजी भाषा के ज्ञान की इच्छा थी चाहे वह ज्ञान कितना ही साधारण स्तर का क्यों न हो। कारण ? यही कि उसी थोड़े से ज्ञान से भी वे अपने जीवन में कोई काम अर्थात् नौकरी प्राप्त करने की आशा कर सकते हैं। लार्ड आकलैंड ने यह भी कह दिया कि भारतीय भाषा हमारे स्कूलों में पढ़ाई गई तो हमारे स्कूलों में बच्चे आना बंद कर देंगे।[9] 1853-54 में इस नीति का विरोध किया गया। डायरेक्टर्ज़ ने यह नोट किया कि बंगाल और मद्रास में प्रारंभिक शिक्षा की ओर ध्यान नहीं दिया गया (पैरा-96)। जहां कहीं प्रारंभिक शिक्षा की ओर ध्यान दिया गया उस काम के लिए उनकी ओर से साधुवाद दिया गया (पैरा-91, 93, 96)। ऐसा प्रयास बंबई और उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रांत में किया गया था। परिपत्र में इस बात पर बल दिया गया है कि जो कोई भी है, जहां भी है और जैसा है उसे अपनी अवस्था और आवश्यकता के अनुसार यूरोपियन शिक्षा दी जाए और उसके प्रबंध के लिए रुपया देने का आश्वासन भी दिया गया। इस कारण अंग्रेजी और भारतीय भाषा दोनों को शिक्षा का माध्यम स्वीकार किया गया। यह कहा गया कि पाश्चात्य शिक्षा का माध्यम ऊंचे विद्यालयों में अर्थात् हाई स्कूलों और कालेजों में अंग्रेजी होगा और जनसाधारण के लिए छोटे स्कूलों में भारतीय भाषा होगा (पैरा-97)।

अभी तक तो हिंदी, बंगाली अथवा गुजराती की ओर ध्यान नहीं दिया गया था। वास्तव में मकाले और आकलैंड के बाद तो ऐसा लगता था कि सारे शिक्षा-क्षेत्र में केवल अंग्रेजी ही फैल जाएगी और शिक्षा और प्रशासन की भाषा होने के कारण भारत की भाषाओं को उखाड़ फेंकेगी और उनकी जगह ले लेगी। इस विषय पर पैरा-13 में बड़े साफ शब्दों में यह कहा गया कि भारतीय भाषाओं के स्थान पर अंग्रेजी को ले आना न हमारी इच्छा है और न ही हमारा उद्देश्य है। हमने भारतीय भाषाओं के प्रयोग के महत्त्व को समझा है क्योंकि इन्हीं भाषाओं को भारत का

9. देखिए : नुरुल्ला और नायक, 'हिस्ट्री आफ एज्यूकेशन इन इंडिया', पृ० 146

विशाल जनसमुदाय समझता है । इसी कारण अदालतों में न्याय-प्रक्रिया के माध्यम के रूप में और सरकारी अफसरों और जनता के बीच संपर्क-भाषा के रूप में हमने फारसी की जगह अंग्रेजी को नहीं रखा बल्कि भारतीय भाषाओं को रखा है । यहां की जनता उन सब कठिनाइयों का सामना नहीं कर सकती जो कि एक विदेशी भाषा के पढ़ने में आया करती है और न ही उनके पास अंग्रेजी पढ़ने के साधन हैं । अतः यूरोपियन-विषयक शिक्षा उनको भारतीय भाषाओं के माध्यम से दी जाए और इसी कारण से सामान्य शिक्षा पद्धति के अंदर उनके अध्ययन पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है । पैरा-14 में यह कहा गया कि अंग्रेजी भाषा किसी पर जबरदस्ती न थोपी जाए । सारी शिक्षा पद्धति के अंदर अंग्रेजी केवल वहां पढ़ाई जाए जहां उसके लिए मांग हो । किंतु अंग्रेजी की शिक्षा के साथ-साथ स्थानीय भाषा की ओर भी ध्यान दिया जाए और उस सामान्य शिक्षा की ओर भी ध्यान दिया जाए जो स्थानीय भाषा के माध्यम से दी जा सकती है । जैसे अंग्रेजी में योग्यता-प्राप्त विद्यार्थियों के लिए एक संपूर्ण शिक्षा-माध्यम के रूप में अंग्रेजी चले वैसे ही कम योग्यता-प्राप्त किंतु बड़ी श्रेणियों में साधारण शिक्षा का माध्यम भारतीय भाषाएं होना चाहिए ।

भारतीय भाषाओं को शिक्षा के माध्यम के रूप में स्वीकार तो कर लिया गया, शिक्षा पद्धति में अंग्रेजी के साथ-साथ उनके अध्ययन की ओर ध्यान देने का आदेश भी दे दिया गया, किंतु यूरोपियन विषयों पर न तो उस समय इन भाषाओं में पुस्तकें थीं और न ही उन्हें पढ़ाने वाले भारतीय भाषा-भाषी अध्यापक थे । इस समस्या का हल पहले तो यह सुझाया गया कि द्विभाषी प्राध्यापकों की सहायता से आधुनिक विषयों की शिक्षा दी जाए । पैरा-14 में ही यह कहा गया कि जो अध्यापक अंग्रेजी में निपुण हों और भारतीय भाषा में भी योग्यता-प्राप्त हों वे स्वयं पहले अंग्रेजी के माध्यम से नवीनतम विषयों का ज्ञान प्राप्त करें और फिर उसे स्थानीय भाषा के माध्यम से विद्यार्थियों तक पहुंचाएं । इसके पश्चात् जैसे-जैसे भारतीय भाषाओं के महत्त्व को समझा जाएगा वैसे-वैसे भारतीय साहित्य की उन्नति होती चली जाएगी । पहले तो भारतीय भाषाओं में अंग्रेजी ग्रंथों के अनुवाद किए जाएंगे और उसके पश्चात् अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त विद्वान् अपनी देशीय भाषाओं में स्वतंत्र ग्रंथों की रचना करेंगे । डायरेक्टर्ज़ ने यह आशा व्यक्त की कि अंग्रेजी और भारतीय भाषाएं दोनों ही साथ-साथ शिक्षा का माध्यम होंगी और दोनों ही साथ-साथ भारत में उन्नति और विकास को प्राप्त होंगी । साथ में यह आशा भी की गई थी कि प्रत्येक स्कूल में कम से कम एक द्विभाषी अध्यापक रहेगा जो इस काम को संपन्न करने में सहायक होगा ।

मकाले चाहते थे कि सरकार और जनता के बीच अंग्रेजी जानने वालों का एक ऐसा वर्ग खड़ा किया जाए जो रंग से तो भारतीय अवश्य हो किंतु मानसिक रूप से अंग्रेज हो । प्रत्यक्ष रूप से राजभक्त बन कर ये लोग राज के प्रहरी बनेंगे और जनता को राज के प्रति वफादार बनाएंगे । 1854 के परिपत्र के अनुसार विशेषकर ट्रेवेल्यन के ऐतिहासिक वक्तव्य के संदर्भ में अंग्रेजीविद् राजसेवक अवश्यमेव राजभक्त होंगे यह आशा तो की ही गई थी किंतु इनके ऊपर रंग केवल शिक्षा का ही चढ़ना था । भारत से विमुख होकर प्रत्यक्ष रूप से राजसेवा की आशा

उनसे नहीं की गई थी । ये तो विचार और शिक्षा के माध्यम से राज की जनता के बीच की कड़ी बनकर दोनों को निकट लाएंगे ऐसी आशा की गई थी । ये शिक्षित लोग ऐसे होने थे जो जनता की भावना को जानते हों, उन पर प्रभाव या प्रभुत्व रखते हों और उनको सही रास्ते पर चलने की प्रेरणा दे सकते हों । उनसे यह आशा की गई थी कि वे लोगों के मन में यह बिठा देंगे कि लिबरल शिक्षा से क्या लाभ हैं और उससे क्रियात्मक जीवन में क्या-क्या उपलब्धियां प्राप्त की जा सकती हैं । यह सेवा अप्रत्यक्ष रूप से राजसेवा थी । मकाले जो काम प्रत्यक्ष रूप से करवाना चाहते थे, 1854 में वही काम अप्रत्यक्ष रूप से किए जाने की आशा की गई थी ।

यदि हम शिक्षा के क्षेत्र में 1781 या 1793 या 1835 की अपेक्षा 1854 के संदर्भ में भारतीयता की दिशा में प्रगति का सिंहावलोकन करें तो हम देखेंगे कि शिक्षा का बहुत भारतीयकरण हो गया । साथ-साथ उसमें व्यवस्था भी आ गई । 1835 की अपेक्षा मुख्य अंतर यह आया कि :

1. अंग्रेजी के साथ-साथ भारतीय भाषाओं को भी शिक्षा पद्धति में स्थान दिया गया । भारतीय भाषाओं को विषय एवं माध्यम के रूप में स्वीकार किया गया ।
2. भारतीय भाषाओं के विकास के साधनों पर विचार किया गया । विकास के स्रोत अंग्रेजी एवं प्राचीन भाषाओं अर्थात् संस्कृत, अरबी को माना गया । अंग्रेजी को पाश्चात्य विचारों की कुंजी कहा गया जैसे 60 वर्ष पूर्व ग्रांट ने भी कहा था । अंग्रेजीविद् विद्वानों से यह अपेक्षा की गई थी कि वे अंग्रेजी में पढ़कर उन्हीं विषयों को भारतीय भाषाओं में व्यक्त करेंगे । इस प्रकार अंग्रेजी को लाइब्रेरी भाषा के रूप में स्वीकार किया गया । यही बात 110 वर्ष पश्चात् शिक्षा आयोग ने 1964 में कहीं ।
3. केवल उच्च वर्ग को ही शिक्षा का पात्र नहीं माना गया । उच्च वर्ग समेत सारी जनता को शिक्षा का पात्र माना गया ।
4. अंग्रेजीविद् वर्ग को सांवले अंग्रेज के रूप में प्रत्यक्ष सरकारी एजेंट मानकर राजभक्त मानने की बजाय उनको जनता का अंग मानकर शिक्षा-प्रचार के माध्यम से अप्रत्यक्ष रूप में राजसेवा का साधन माना गया ।
5. साधारण जनता की शिक्षा के लिए भारती स्कूल और अंग्रेजी में योग्यता प्राप्त या योग्यता के इच्छुक विद्यार्थियों के लिए अंग्रेजी स्कूलों की व्यवस्था की गई ।
6. उच्च शिक्षा के लिए यूनिवर्सिटियों की व्यवस्था की गई ।
7. शिक्षा के संचालन के लिए शिक्षा विभाग की व्यवस्था की गई और गैरसरकारी स्कूलों के लिए ग्रांट/सहायता की व्यवस्था की गई ।

शिक्षा का भारतीयकरण तो हुआ किंतु दिशा-निदेश किधर था ? जिधर पहले था—शिक्षा, भाषा, सभ्यता, राज, व्यापार और ब्रिटिश साम्राज्य ये लक्ष्य और अंतिम उद्देश्य ज्यों के त्यों बने रहे ।

16
छतर बिनु छाया

चले सो गाड़ी, बहे सो नदिया। खड़े छकड़े को जंग लगने लगता है और ठहरा पानी सड़ने लगता है। कंपनी सरकार ने भारत को खड़ी अवस्था में देखा और उसे इंग्लैंड और अंग्रेजी की दिशा में गति देने का आयोजन किया। प्रारंभ में तो भारतीय भाषा और भारतीय संस्कृति दोनों को नकार दिया गया। किंतु 1854 में ऐसा लगा कि भारत को अपनी दिशा में गति देने का प्रयास किया जा रहा है। भारतीय भाषा में जनता की शिक्षा की ओर जो संकेत किया गया था उससे ऐसा ही लगता था। किंतु लगभग तीस वर्ष के पश्चात् जब सरकार के इस नए प्रयास का मूल्यांकन किया गया तो यह पाया गया कि शिक्षा-भारती की दिशा में कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया गया। इस प्रयत्न-शैथिल्य का कारण कहीं शिक्षा परिपत्र में ही तो नहीं था ? ऐसा तो नहीं कि गतिशील दीखते हुए भी यह नई योजना स्वयं अपनी ही गति के अवरोध का कारण बन गई हो ? विचारणीय यह है कि इस नई पद्धति के अंतराल में दिशाएं और प्रेरणाएं क्या थीं ?

शिक्षा पद्धति समाज व्यवस्था का अंग होती है और समाज विकास का प्रेरणा-स्रोत। व्यक्ति और समाज का क्या संबंध है और उसे कैसे दृढ़ एवं सशक्त बनाया जाए यह भी शिक्षा पद्धति और शिक्षा-प्रक्रिया का अभिन्न अंग होता है। परंपरा और व्यवस्था, संस्कृति और सभ्यता जीवन के अधुनावर्ती छोर पर मिलते हैं और मानव की वैयक्तिक और सामूहिक दृष्टि, कृति और संवेदना से शक्ति ग्रहण करते हुए भावी जीवन की ओर अग्रसर होते हैं। शिक्षा मनुष्य के वैयक्तिक और सामूहिक जीवन के निरंतर प्रवाह की संजीवनी है। नए विचार शिक्षा और प्रगति दोनों के लिए आवश्यक हैं। नई प्रेरणाएं भी आवश्यक हैं क्योंकि वे दोनों जीवन के विकास और परंपरा के पुनर्नवन का प्रतीक हैं। किंतु जब तक दृष्टि, कृति और भावना इन तीनों के अंदर उनका समावेश नहीं होगा, वे वैयक्तिक जीवन को लंगड़ा बना देंगे और वैयक्तिक और सामाजिक व्यवस्था में विषमता पैदा करके परंपरा और व्यवस्था में नया असंतुलन खड़ा कर देंगे। विचार-संचार जब तक जीवन-संचार बनकर जीवन-प्रवाह का अंग नहीं बनता वह समाज को कोई नई दिशा और नई शक्ति नहीं दे सकता। एडम महोदय ने बैंटिंक के समय बंगाल की सामयिक शिक्षा-प्रणाली पर जो रिपोर्ट लिखी थी उसमें उन्होंने यह सुझाव दिया था कि यदि नई शिक्षा-प्रणाली को सफल बनाना है तो उसे समाज की पारंपरिक व्यवस्था और भावनाओं से जोड़ना पड़ेगा। मकाले के सुझाव पर एडम की रिपोर्ट पर ध्यान नहीं दिया गया, क्योंकि नई दिशा का उद्देश्य तो केवल राजसेवा और वर्ग-विशेष का अंग्रेजीकरण था। जब उसी समस्या

पर 1854 में पुनर्विचार किया गया तो मात्र वर्ग-विशेष के स्थान पर जनता भी उभरकर आ गई और अंग्रेजी भाषा के साथ-साथ भारतीय भाषा को भी स्थान मिला। किंतु भारत की भावना और परंपरा के साथ कोई नया संबंध नहीं जोड़ा गया क्योंकि शिक्षा के आधारभूत लक्ष्य तो अब भी राजसेवा और सभ्यता-परिवर्तन ही रहे। उद्देश्य भी वही रहा—ब्रिटिश साम्राज्य, नए औचित्य और सौजन्य की छत्रछाया के साथ। छत्र उनका, छाया हमारी।

अठारहवीं और उन्नीसवीं शती में समाज और व्यक्ति दोनों में ही नए जीवन के सूत्रपात की आवश्यकता तो थी। 1813 के शिक्षा प्रस्ताव के आस-पास अंग्रेजी शासकों ने शिक्षा की स्थिति की ओर कंपनी सरकार का ध्यान दिलाया। ग्राम पाठशालाएं तो थीं किंतु उनका स्तर केवल दैनिक ग्राम्य जीवन के अनुरूप था अर्थात् मामूली लिखना-पढ़ना और छोटा-मोटा हिसाब-किताब। उस पर कोई विशेष व्यय भी नहीं होता था। केवल एक-दो मुट्ठी आटा या अनाज से लेकर अधिक से अधिक एक रुपया प्रतिमास तक का खर्च। शायद ही कोई ऐसा गांव हो जिसमें ऐसी पाठशाला न हो। एडम महोदय का सुझाव यह था कि इन्हीं पाठशालाओं के सुधार से प्रारंभ करके जनमानस और परंपरा को साथ लेकर ही ऊंचे स्तर की शिक्षा तक पहुंचा जाए। इन पाठशालाओं के अतिरिक्त संस्कृत और अरबी की पाठशालाएं भी थीं जिनमें हिंदू और मुसलमान पंडितों और मौलवियों को तैयार किया जाता था। इस पद्धति की विशेषता यह थी कि हिंदू और मुसलमानों की धर्म-संबंधी शिक्षा के अलग-अलग होते हुए भी उनके दैनिक जीवन में कोई भेदभाव उत्पन्न नहीं होता था क्योंकि उन सबके रहने-सहने के ढंग और वेशभूषा में वर्गीकरण नहीं था। सभ्यता-संस्कृति के दृष्टिकोण से भी उनमें कोई अंतर नहीं था। सबका उठना-बैठना, खाना-पीना एक जैसा ही था। संक्षेप में यह कि ठेठ भारतीय समाज में शासक और शासित, शिक्षित और अशिक्षित वर्ग में कोई सांस्कृतिक अंतर नहीं था।

तत्कालीन समाज प्रगतिशील होने की अपेक्षा स्थितिशील समाज था। पुरानी परंपरा अपना स्वास्थ्य खो चुकी थी और रूढ़ि बनकर रह गई थी। ऐसी ही रूढ़ियों की ओर मकाले ने बलपूर्वक संकेत किया था। जातिवाद और अंधविश्वास शिखर पर था। किंतु इन सामाजिक और धार्मिक रूढ़ियों के रहते हुए भी आर्थिक रूप से जनता उतनी दुखी नहीं थी जितनी हम आज समझने लगे हैं कि वे थे। यहां पर न केवल कृषि अपितु शिल्प-कला भी ऊंचे स्तर पर थी। एम० मार्टिन अपनी पुस्तक 'इंडियन एम्पायर' में लिखते हैं कि एक समय था जब ढाके की मलमल (जो मकड़ी के जाले जैसी पतली थी), कश्मीर के शाल और दिल्ली के रेशमी ब्रोकेड रोमन राजभवनों में राजसुंदरियों के यौवन की शोभा बनते थे। यह वह समय था जब लंदन का यहां नाम भी न था और ब्रिटेन के बर्बर लोग जंगलों में शरीर को रंगों से ढांपते थे। उस समय भारत सबसे बड़ी व्यापार मंडी के रूप में संसार में विख्यात था। इसका अर्थ यह हुआ कि स्थितिशील और प्रगतिशील समाज के बीच की भी एक कड़ी है और वह है व्यवस्थितिशील समाज। भारत ऐसा ही था। तभी उसी के आस-पास यूरोप में औद्योगिक क्रांति हो गई। विशेषकर इंग्लैंड ने अद्भुत उन्नति की और अपने पक्के माल को भारत के बाजारों में धकेल दिया। उन्होंने न केवल

माल को ही धकेला अपितु भारतीय शिल्पकार को सरकार और राजनीति के जोर से दबाया ही नहीं बल्कि तोड़कर रख दिया।

राजकीय बल का प्रयोग इसलिए करना पड़ा कि अंग्रेजी कारखाने अपने आप में भारतीय शिल्प से टक्कर नहीं ले पा रहे थे। इस अनैतिक स्पर्धा का परिणाम यह हुआ कि भारत का शिल्पकार खेतिहर मजदूर बनके रह गया। ऐसा होने पर ही भारत व्यवस्थितिशील समाज से बदलकर स्थितिशील बन गया—पानी की तरह ठहर गया। भारत की आर्थिक कमर को और भी तोड़ने के लिए, और ब्रिटिश उद्योग को और अधिक सशक्त करने के लिए, एवं सरकार की जड़ों को सदा के लिए पक्का रखने के लिए मकाले-मंत्र के आधार पर ही अंग्रेजी शिक्षा योजना को जारी रखा गया। 1854 के प्रस्ताव को ध्यान से पढ़ने से ज्ञात होता है कि यह पत्र शिक्षा भारती के वेश में छाया भारती का रूप बन गया।

हम पहले कह चुके हैं कि नए शिक्षा-प्रस्ताव के उद्देश्य एवं प्रेरणा-स्रोत पुराने ही रहे थे—एक राजसेवा और दूसरा ब्रिटिश व्यापार का प्रसार। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए दो लक्ष्य निर्धारित किए गए—एक राजसेवी वर्ग का निर्माण और दूसरा संस्कृति-सभ्यता-साधन-परिवर्तन। दोनों लक्ष्यों की सिद्धि का एक ही तरीका अपनाया गया—अंग्रेजी शिक्षा। वही जो पहले था, केवल शैली अवश्य बदली थी। एक ही नई कड़ी जोड़ी गई थी—भोगवृत्ति, आराम का जीवन।

शिक्षा पद्धति में भारतीय भाषाओं को स्थान दिया गया। किंतु भारतीय भाषा का मूल्यांकन ऐसे ढंग से किया गया कि उससे उन्हें शिक्षा में स्थान मिलना कठिन हो गया। शिक्षा विषय तो पाश्चात्य विज्ञान ही रहा किंतु पाश्चात्य विज्ञान की पुस्तकें भारतीय भाषा में थीं ही नहीं। न तो पाश्चात्य वैज्ञानिक पुस्तकों के अनुवाद थे और न रूपांतर, और मूल ग्रंथ तो थे ही नहीं। इसलिए भारतीय भाषा को शिक्षा-माध्यम के रूप में अत्यंत निर्बल समझा गया। इसके अतिरिक्त प्राचीन भाषाओं में पाश्चात्य विज्ञान-विषयक ग्रंथ नहीं थे। यदि होते तो उन्हीं का अनुवाद कर लिया जाता। किंतु यह भी मात्र एक संभावना ही थी, वास्तविकता कैसे हो सकती थी? 1813 के पश्चात् ओरियंटलिस्ट विचारधारा के अनुसार प्राचीन भाषाओं अर्थात् संस्कृत या अरबी को शिक्षा-माध्यम के रूप में अपनाया जा सकता था, किंतु यह विचारधारा भी छोड़ दी गई थी। इस विचारधारा के छोड़ दिए जाने पर भी प्रशासन को साधुवाद दिया गया। प्राचीन भाषाओं का अध्ययन तो मकाले के शिक्षा-प्रस्ताव के पश्चात् प्रायः समाप्त ही हो गया था और 1854 में उसकी ओर ध्यान दिलाया नहीं गया। यह तो कहा गया कि भारतीय भाषाओं के विकास के लिए संस्कृत से सहायता लेनी चाहिए किंतु अंग्रेजी पद्धति में संस्कृत के विद्वानों के लिए कोई स्थान था ही नहीं। अंग्रेजी को पाश्चात्य विचारों की कुंजी समझकर यह सुझाव तो दिया गया कि अंग्रेजी की सहायता से भारती का विकास किया जाए और एक अध्यापक इस काम के लिए रखा जाए; किंतु भारती के लिए ऐसा कोई प्रयास नहीं किया गया। आशा तो व्यक्त की गई कि अंग्रेजी के साथ-साथ भारतीय भाषा को भी भाषा और माध्यम के रूप में अपनाया जाए और विकसित किया जाए किंतु उसके लिए कोई ठोस कार्यक्रम न सुझाया गया, न बनाया गया।

अंग्रेजी की स्थिति और व्यवस्था दोनों संतोषजनक ही नहीं अपितु सशक्त थीं। भारतीय भाषाओं को यूरोपियन विज्ञान के अध्यापन एवं प्रसार का निर्बल माध्यम माना गया, अंग्रेजी को अत्यंत सबल, संपन्न और पूर्ण साधन माना गया (पैरा-14)। 1854 से पूर्व केवल अंग्रेजी भाषा और शिक्षा की ओर ध्यान दिया गया था और उसके कारण भारतीय भाषाओं की अवहेलना की गई थी। इस नीति के प्रति धीमा-सा रोष प्रकट किया गया, किंतु वर्ग-विशेष की अंग्रेजी शिक्षा के प्रति संतोष ही प्रकट किया गया (पैरा-12, 40) उस धीमे रोष के ऊपर भी मक्खन चढ़ाने के लिए यह कह दिया गया कि डायरेक्टर्ज़ सरकार के अंग्रेजी-सेवी प्रयास एवं सफलता के महत्त्व को कम नहीं कर रहे हैं, केवल यह कहना चाहते हैं कि अभी तक भारतीय भाषा और जनशिक्षा की ओर ध्यान नहीं दिया गया है (पैरा-40)। जैसे भारतीय भाषा में अंग्रेजी-विषयक पुस्तकों की अनुपलब्धि की ओर संकेत किया गया वैसे ही इस तथ्य पर भी बल दिया गया कि इसी कारण शिक्षा-प्राप्ति के लिए सबसे पहले अंग्रेजी भाषा का ज्ञान आवश्यक है। साथ में यह भी कह दिया गया कि अंग्रेजी भाषा पाश्चात्य साहित्य की कुंजी है और इसी कारण उच्चस्तरीय शिक्षा प्राप्त करने के लिए अंग्रेजी भाषा का ज्ञान सदा के लिए आवश्यक और अपेक्षित रहेगा (पैरा-11)। एक ओर तो यह कहा गया कि अंग्रेजी स्कूलों में जो विद्यार्थी पढ़ते हैं उनका ध्येय विद्या-प्राप्ति के स्थान पर केवल अंग्रेजी भाषा में साधारण-सी योग्यता प्राप्त करना ही बन गया है, दूसरी ओर साथ ही यह भी कह दिया गया कि हम यह भी मानते हैं कि अंग्रेजी भाषा के बोल सकने और लिख सकने की योग्यता का भी अपना महत्त्व है (पैरा-12)। पैरा-39 में यह कहा गया कि अभी तक सरकार का ध्यान केवल अंग्रेजी स्कूलों की ओर ही गया है और केवल उच्च वर्ग की शिक्षा पर ही सारा रुपया खर्च कर दिया गया है, किंतु साथ ही पैरा-40 में यह भी लिख दिया गया कि उच्च वर्ग की अंग्रेजी शिक्षा के लिए जो भी प्रयास किया गया वह ठीक ही रहा, क्योंकि इस शिक्षा का प्रभाव आहिस्ता-आहिस्ता सभी वर्गों में फैल जाएगा। जहां रुपया खर्च करने का प्रश्न आया वहां यह कहा गया कि अंग्रेजी स्कूल और कालेजों की स्थापना करके हमने यह मार्ग-निर्देश कर दिया है कि भारत में लिबरल शिक्षा का प्रसार कैसे होगा और कैसे होना चाहिए, और इसके अतिरिक्त यूनिवर्सिटियों की स्थापना भी की जाएगी जिसके द्वारा भारतीय लोग उच्चतम शिक्षा प्राप्त करके जीवन में ऊंचे से ऊंचे स्थानों पर पहुंच सकेंगे (पैरा-40)। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि भारतीय भाषाओं की सेवा के संबंध में जो कुछ भी कहा गया हो और अंग्रेजी के प्रति जो भी नीति संबंधी असंतोष व्यक्त किया गया हो, अंततोगत्वा अंग्रेजी की उपलब्धियों के प्रति हार्दिक संतोष व्यक्त किया गया। पैरा-10 में यह कहा गया कि हमें अंग्रेजी साहित्य और यूरोपियन विज्ञान के क्षेत्र में भारतीयों की उपलब्धियों के अत्यंत संतोषजनक प्रमाण मिले हैं। इससे अधिक साधुवाद अंग्रेजी पद्धति को नहीं दिया जा सकता था।

1854 के प्रस्ताव के अनुसार शिक्षा-भाषा, शिक्षा-वस्तु, शिक्षा-संस्थान और शिक्षित वर्ग—इन सबके अंदर एक छोटे-बड़े का वर्गभेद पैदा हो गया। भारतीय भाषाएं निर्बल और अविकसित होने के कारण छोटी मानी गईं और अंग्रेजी को समृद्ध और संपन्न भाषा माना

गया । अंग्रेजी पूर्ण और भारतीय अपूर्ण । पूर्णता और अपूर्णता का प्रतिमान भाषा-व्यक्त विषय-वस्तु को माना गया । शिक्षा की विषय-वस्तु था अंग्रेजी साहित्य और पाश्चात्य विज्ञान और वह भारतीय भाषाओं में उपलब्ध था ही नहीं । यह बात भुला दी गई कि प्रत्येक भाषा में उसी के अनुरूप विषय-वस्तु हुआ करती है । प्रत्येक भाषा में अपने ही प्रकार का शब्द-अर्थ-ज्ञान का समन्वय हुआ करता है । इन तीनों के समन्वय में एक विषमता जोड़ दी गई अर्थात् भारतीय भाषाओं की समृद्धि का प्रतिमान यह बन गया कि उनमें पाश्चात्य साहित्य-विज्ञान संबंधी शब्द एवं शब्द-रचना हो । सो तो किसी भी विदेशी भाषा में नहीं होता । यदि अंग्रेजी में वेदांत को ढूंढ़ें तो अंग्रेजी भी संपन्न भाषा नहीं कहला सकेगी और यदि यह कहा जाए कि वेदांत का अनुवाद अंग्रेजी में हो तो गया, तो इसका उत्तर यह है कि ऐसे तो पाश्चात्य विज्ञान का अनुवाद भारतीय भाषा में भी हो सकता था—केवल करने की इच्छा और करने वाले चाहिए थे । नहीं हुआ तो इस कारण कि साधन नहीं जुटाए गए । साधन इसलिए नहीं जुटाए गए कि न इच्छा थी, न आवश्यकता । किंतु इस तथ्य को भुलाकर अंग्रेजी को एक नई ब्रह्मवाणी का स्थान दे दिया गया ।

इसके पश्चात् विषय-वस्तु का भी वर्गीकरण कर दिया गया । यह साफ लिखा गया कि अंग्रेजी स्कूलों में जो शिक्षा दी जाती है वह निस्संदेह उस शिक्षा से बहुत ऊंची है जो भारतीय भाषा-स्कूलों में दी जाती है (पैरा-44) । अतः भारतीय स्कूलों में जो शिक्षा दी जाएगी वह होगी तो पाश्चात्य ढंग की किंतु नीचे स्तर की होगी (पैरा-10) । अतः जो विद्यार्थी अंग्रेजी भाषा में इतनी योग्यता प्राप्त कर चुके है कि उसके माध्यम से शिक्षा प्राप्त कर सकें वे तो अंग्रेजी स्कूलों में ऊंची अर्थात् अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करें और इस वर्ग-विशेष के अतिरिक्त जो साधारण बच्चे है, जो अंग्रेजी कम जानते हैं, या नहीं जानते, वे भारतीय स्कूलों में थोड़ा नीचे स्तर की शिक्षा भारती माध्यम से प्राप्त करें (पैरा-14) । विद्यार्थियों का यह दुरंगा वर्गीकरण न केवल अंग्रेजी भाषा की उपलब्धि-अनुपलब्धि तथा योग्यता के आधार पर ही हुआ, वह आर्थिक आधार पर भी हुआ । उस विशाल जनसमुदाय की शिक्षा, जो अपनी आर्थिक सामर्थ्यहीनता के कारण किसी भी प्रकार के शिक्षा साधन जुटाने में सक्षम नहीं था, भारतीय भाषा स्कूलों में उनकी अपनी आर्थिक-सामाजिक क्षमता और आवश्यकता के अनुसार होनी चाहिए, ऐसी योजना भी बनाई गई (पैरा-41) । भाषा और शिक्षा-वस्तु के आधार पर विद्यार्थियों का जो वर्गीकरण किया गया था वही उनकी परिस्थितियों से भी जोड़ दिया गया । जिनकी परिस्थितियां अच्छी हैं वे अंग्रेजी माध्यम से अंग्रेजी स्कूलों में पढ़ेंगे और जिनकी परिस्थितियां उनको ऊंची शिक्षा प्राप्त करने की इजाजत नहीं देतीं अथवा जो अंग्रेजी पढ़ने में कठिनाइयों का सामना नहीं कर सकते वे भारतीय भाषा स्कूलों में पढ़ेंगे (पैरा-13) । इस प्रकार अंग्रेजी और भारतीय भाषा का संबंध विद्यार्थियों की योग्यता के अतिरिक्त उनके भाग्य से भी जोड़ दिया गया ।

बात और भी आगे बढ़ी । स्कूलों का वर्गीकरण हो गया । एक तो अंग्रेजी मीडियम स्कूल जहां पर ऊंचे स्तर की शिक्षा दी जाती थी और दूसरे छोटे स्तर के स्कूल जिनमें भारतीय भाषा के

माध्यम से जो भी शिक्षा दी जा सकती थी वह दी जाती थी । 'छोटे स्तर' के लिए अधिक से अधिक पैरा-43 में अंग्रेजी शब्द 'इनफीरियर' का प्रयोग किया गया है जिसका अनुवाद 'घटिया' भी किया जा सकता है । कहने का तात्पर्य यह है कि जनसाधारण के मन में यही था कि अंग्रेजी के स्कूल 'ऊंचे' और भारतीय भाषा के स्कूल 'नीचे' या यों कह सकते है कि छोटे स्कूलों की शिक्षा, विद्यार्थी, स्तर सब 'घटिया', और बड़े स्कूलों के विद्यार्थी, शिक्षा, स्तर, भाषा सब बढ़िया । यही वर्गीकरण आज तक चलता आ रहा है । हम स्वतंत्रता के कई दशकों के पश्चात् भी अंग्रेजी मीडियम स्कूल, अंग्रेजी मीडियम शिक्षा और शिक्षण और अंग्रेजीविद् विद्यार्थियों को ऊंचा समझते हैं और भारतीय मीडियम शिक्षा और शिक्षा संस्थानों को उतने आदर की दृष्टि से नहीं देखते । बहुत सारे स्कूल तो ऊंचे इसलिए बन जाते हैं कि अंग्रेजी माध्यम के कारण उनकी फीस ऊंची होती है । अर्थात् वर्गीकरण चल रहा है । जितनी ऊंची फीस, उतना ही ऊंचा स्कूल !

यह वर्गीकरण केवल भाषा, शिक्षा, या आर्थिक-सामाजिक स्तर के आधार पर नहीं हुआ । इन सबसे अधिक तो यह समाज और सरकार में शक्ति तथा प्रतिष्ठा-प्राप्ति की संभावना के आधार पर हुआ । 1830 के आस-पास तो अंग्रेजी शिक्षा उच्च वर्ग के बच्चों को देने की योजना थी । अब शिक्षा के द्वारा एक नए उच्च वर्ग के निर्माण की योजना बन गई । यह नया वर्ग यदि परंपरागत ऊंचा वर्ग होता तो और भी अच्छा होता । साधारणतया हुआ भी ऐसा ही क्योंकि अब तो पारंपरिक प्रतिष्ठा के साथ नई प्रशासन संबंधी प्रतिष्ठा भी जुड़ गई । अंग्रेजीविद् वर्ग को इस नई प्रतिष्ठा की उपलब्धि सरकारी नौकरी के माध्यम से हुई । 1827 से ही यह योजना बन गई थी । मकाले के प्रस्ताव के अनुसार अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से राजभक्त नौकरों की एक श्रेणी का निर्माण किया जाना था । फिर 1837 में अंग्रेजी प्रशासन की भाषा बन गई । 1844 में लार्ड हार्डिंग का अध्यादेश जारी किया गया जिसके अनुसार नौकरी केवल अंग्रेजीविद् प्रत्याशियों को ही मिलने वाली थी । जब 1854 में इसी पृष्ठभूमि में शिक्षा और नौकरी के विषयों पर विचार किया गया तो यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया कि हार्डिंग के अध्यादेश का आशय यह था कि नौकरी के लिए प्रत्याशियों के चयन में अशिक्षितों की अपेक्षा सुशिक्षित प्रत्याशियों को स्थान दिया जाए (पैरा-73) । पैरा-75 में यह स्पष्ट किया गया कि चयन की नीति यह रहेगी कि जहां प्रत्याशियों की और योग्यताएं और उपलब्धियां बराबर होंगी वहां उन प्रत्याशियों को लिया जाएगा जिन्होंने अच्छी शिक्षा प्राप्त की है, चाहे वह किसी स्थान में किसी भी तरीके से प्राप्त की हो । इस स्पष्टीकरण से ऐसा लगता है कि सरकार की चयन-नीति बड़ी उदार हो गई थी । वास्तव में ऐसा था कुछ नहीं । हम पहले ही देख चुके हैं कि अच्छी शिक्षा तो समझी जाती थी केवल अंग्रेजी शिक्षा । भारती माध्यम से तो केवल उनकी शिक्षा होनी थी जो हर तरह से साधनहीन थे । इस कारण 'किसी भी तरीके से शिक्षा प्राप्त की हो', ये शब्द तो व्यर्थ ही गए । हां, कागज का पेट भरने के लिए ठीक थे । वास्तव में स्थान संबंधी शब्द अनावश्यक भी थे । उस समय की बात तो छोड़ो, आज भी किसने कौन-से स्कूल या कालेज में शिक्षा प्राप्त की है यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है ।

1854 के प्रस्ताव के अनुसार चयन का तरीका भी बदल ग या था। चयन का अधिकार (पैरा-76) पूर्णरूप से सरकारी विभागों के प्रमुख अफसरों को दे दिया गया। प्रत्याशी के सर्टीफिकेट, डिग्री और श्रेणी को योग्यता का आधार मान लिया गया। सरकारी भाषा अंग्रेजी थी। अच्छी शिक्षा का अर्थ था अंग्रेजी शिक्षा। बिना अंग्रेजी के तो क्लर्क की नौकरी भी संभव नहीं था। खलासी, खानसामा या अर्दली-चपरासी की नौकरियों की बात दूसरी है। आज भी बिना भारतीय भाषा के ज्ञान के अंग्रेजीविद् को नौकरी मिल सकती है लेकिन केवल भारतीयविद् और अंग्रेजी-विहीन को क्लर्की भी नहीं मिल सकती। छोटे-मोटे अफसरों का यह एक नया प्रशासक वर्ग बन रहा था जो अंग्रेज अफसर को सलाम करने के साथ-साथ भारतीय जनता को ठोकर मारने को उद्यत रहता था। इन्हीं लोगों के संबंध में 1863 में एच०एच० विल्सन ने कहा था कि इन अंग्रेजी-शिक्षित नौजवानों के मन में भारत एवं भारतीय जनमानस के प्रति कोई भावना नहीं रह गई थी। शासन-शक्ति की छाया में शासन-साधन के अतिरिक्त और कोई चीज नहीं पनप सकती।

अंग्रेजी भाषा, अंग्रेजी शिक्षा, अंग्रेजी सभ्यता अर्थात् अंग्रेजी और अंग्रेजियत को पक्का करने का तरीका प्रारंभ से ही अंग्रेजी धर्म अर्थात् ईसाइयत को समझा गया था। ईसाई रंग को भारत की जनता ने प्रारंभ से ही चुनौती भी दी थी। इसी चुनौती की पराकाष्ठा बना 1857 का आंदोलन। इस चुनौती का भान सरकार को पहले हो चुका था। इसी कारण 1854 के शिक्षा-चार्टर में शिक्षा और धर्म-परिवर्तन के परस्पर संबंध पर विचार किया गया। पैरा-84 में जनता की शिक्षा एवं ईसाई धर्म संबंधी शंकाओं की चर्चा की गई है और उनका समाधान करने के लिए सरकारी स्कूलों के बारे में यह लिखा गया है कि वे तो भारत की सारी जनता के लिए खोले गए हैं। इसलिए यह अनिवार्य है कि उनमें जो शिक्षा दी जाए वह पूर्णरूपेण धर्मनिरपेक्ष हो। किंतु यह बात पूरे तौर पर सत्य नहीं है। सरकारी स्कूलों में भी बाइबल इत्यादि धार्मिक साहित्य पुस्तकालय में रखा होता था और क्लास के समय के अतिरिक्त समय में यदि विद्यार्थी पढ़ना चाहें और अध्यापक पढ़ाना चाहें तो ईसाइयत की शिक्षा ऐच्छिक रूप से ली-दी जा सकती थी। निरीक्षण के समय धर्म-शिक्षा की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था और न ही धर्म-शिक्षा का सरकारी अनुदान पर कोई प्रभाव पड़ता था। साथ में स्कूल यदि चाहें तो स्वयं निरीक्षकों का चयन भी अपनी इच्छा से कर सकते थे। बस मिशनरीज की तो मनमानी हो गई। इतनी खुली छूट तो उन्हें कभी मिली ही न थी। पैरा-50 में मिशनरीज़ को विशेष साधुवाद दिया गया है। जिन अनभिज्ञ अथवा अंधविश्वास-ग्रस्त लोगों को मिशनरियों ने शिक्षा के साथ धर्म-शिक्षा का ज्ञान दिया उन्होंने ठेठ उसी शिक्षा का प्रचार किया जो कि सरकार करना चाहती है। अर्थात् धर्मनिरपेक्ष शिक्षा के होते हुए भी ईसाइयत भाषा और शिक्षा के साथ जुड़ी ही रही। 1854 से 1880 तक जितने भी स्कूल थे वे या तो सरकारी थे या मिशनरियों के थे। परिस्थितिवश शिक्षा का एक ही तरीका था और एक ही स्थान। तरीका था अंग्रेजी और स्थान सरकारी या मिशन स्कूल। डी०ए०वी० या सनातन धर्म स्कूल तो बाद में बने और उन्होंने सरकारी अनुदान नहीं

लिया। मिशन और धर्म-शिक्षा संबंधी जो भी प्रावधान किया गया था वह अलेक्जांडर डफ़ के परामर्श से हुआ था।[1]

यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि 1854 के परिपत्र में भारतीय भाषाओं का प्रावधान होते हुए भी शिक्षा पद्धति में उसका क्रियात्मक प्रावधान नहीं हो पाया। 1882 में जब पहला शिक्षा आयोग बैठा तो उन्होंने देखा कि 181 स्कूल तो अंग्रेजी माध्यम से पढ़ाते थे और केवल 4 थे जो भारतीय माध्यम से पढ़ा रहे थे। अंग्रेजी में भी, जैसे लार्ड आकलैंड ने नोट किया था और शिक्षा चार्टर के पैरा-12 में लिखा गया था, विद्यार्थी केवल मामूली पढ़ने के ही इच्छुक थे और वह भी केवल नौकरी के लिए। अर्थात् अंग्रेजी भाषा शिक्षा का माध्यम न बनकर केवल नौकरी का माध्यम बन गई। हां, नौकरी का बाजार खूब गरम रहा। बंगाल सरकार के माल विभाग के रिकार्ड के अनुसार और देश के विभिन्न भागों से प्राप्त रिपोर्टों के आधार पर पैरा-73 में यह कहा गया कि कमी नौकरियों की नहीं रही बल्कि नौकरी के पात्र सुशिक्षित युवकों की रही। 1844 के बाद जितने भी युवक शिक्षा पूरी करके निकले सबको नौकरी मिल गई। हां, परीक्षा पास करने वालों की संख्या बहुत ही कम थी।

1854 के शिक्षा-चार्टर ने शिक्षा भारती का रूप तो लिया। उसमें जनसाधारण की शिक्षा का प्रावधान भी किया गया। भारतीय भाषाओं को अंग्रेजी के साथ-साथ शिक्षा-विषय और शिक्षा-माध्यम बनाने का भी प्रावधान किया गया। अंग्रेजी और प्राचीन भाषाओं की सहायता से तथा अनुवाद, रूपांतर एवं मूल कृतियों से भारतीय भाषाओं के विकास करने का आश्वासन दिया गया। अंग्रेजी स्कूलों के साथ-साथ भारतीय स्कूलों की स्थापना का प्रावधान किया गया। साथ में यह भी कहा गया कि भारतीय और अंग्रेजी स्कूलों में जो खाई इस समय है वह पाटी जाएगी। स्कूलों के लिए सरकारी अनुदान का प्रावधान किया गया। उच्चतम शिक्षा देने के लिए विश्वविद्यालयों की स्थापना का आश्वासन दिया गया। शिक्षा का सुचारु रूप से संचालन करने के लिए शिक्षा विभाग की स्थापना की गई। ये सब बातें देखने से पता चलता है कि शिक्षा-चार्टर सारे देश की शिक्षा का सही आधार बन सकता था और भारतीय और अंग्रेजी दोनों भाषाओं के माध्यम से भारतीय और अंग्रेजी दोनों प्रकार के स्कूलों में द्विभाषायी भाषा-नीति के द्वारा वास्तव में राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति को जन्म दे सकता था, यह संभावना थी।

संभावना तो थी, वास्तविकता कितनी थी? 1854 के तीन वर्ष पश्चात् ही 1857 का आंदोलन छिड़ गया। अतः 1857 के बाद शिक्षा विषय पर पुनः विचार किया गया और 1859 में ब्रिटिश सरकार की ओर से यह लिखा गया कि जनता की भारतीय भाषा के माध्यम से शिक्षा के लिए सरकारी अनुदान का जो सिस्टम अभी तक चला आ रहा है वह ठीक नहीं है। अतः भारतीय स्कूलों को कोई ग्रांट नहीं दी गई। इसके साथ-साथ अंग्रेजी स्कूलों को ग्रांट दी गई और बहुत सारे स्कूलों और कालेजों की स्थापना के प्रस्ताव भी भारतीयों की ओर से व्यक्तिगत या संस्था के स्तर पर दिए गए। ये स्कूल या कालेज 1859 तक बन तो नहीं पाए थे, कारण तो

1. रिक्टर, 'ए हिस्ट्री आफ मिशंज़ इन इंडिया', पृ० 180

1857 का आंदोलन और उसके बाद की परिस्थितियों में ही ढूंढ़े जा सकते हैं। लेकिन यह बात स्पष्ट है कि अगले वर्ष तक सरकार ने बंगाल में प्रत्यक्ष और विशेषकर परोक्ष रूप से केवल अंग्रेजी स्कूल खुलवाने के लिए ही प्रोत्साहन और अनुदान दिया।[2] अतः भारतीय शिक्षा ठप ही रही। केवल अंग्रेजी का प्रचार ही किया गया। 1882 तक 181 स्कूल अंग्रेजी के थे और केवल चार भारतीय भाषा के। उन 181 में से 156 स्कूल प्राइवेट प्रबंध के अंतर्गत काम कर रहे थे और 96 को ग्रांट मिल रही थी।[3] इस प्रकार भारतीय और अंग्रेजी भाषा तथा भारतीय और अंग्रेजी स्कूलों के बीच जो खाई थी और जिसे पाटना था उस खाई को पाटने की बजाय मिटा ही दिया गया।

जनता और जनभाषा को नई शिक्षा योजना ने अलग एक ओर छोड़ दिया। भारतीय परंपरा, व्यवस्था, संस्कृति, सभ्यता सबके सब शिक्षा से टूट गए। नई शिक्षा का मार्ग भारतीय संस्कार, भावना और कृति सबसे अलग हो गया। अब देखना यह होगा कि इस नए रास्ते से कोई नई दृष्टि, नई कृति या नई भावना का समावेश विद्यार्थियों के जीवन में हुआ या नहीं। इसका उत्तर स्वयं शिक्षा चार्टर के पैरा-70-71 से मिलता है। जब पाश्चात्य विषय संबंधी भारतीय भाषा में पुस्तकों की समस्या उठाई गई तो इस बात पर बल दिया गया कि अंग्रेजी पुस्तकों के समानांतर भारतीय भाषा में यदि पुस्तकें तैयार करनी हैं तो अंग्रेजी विषय-वस्तु का केवल अंग्रेजी शब्दों और मुहावरों के पर्यायवाची भारतीय शब्दों और मुहावरों में ही अनुवाद नहीं करना बल्कि भारतीय विचार और भावना को छू लेने वाली भाषा में करना चाहिए। इसके अतिरिक्त विषय-वस्तु भी भारतीय संवेदना और इतिहास अर्थात् परंपरा के अनुरूप होना चाहिए। देखने की बात यह है कि भारतीय भाषा से इतनी संवेदनशीलता और विद्यार्थियों के साथ पारंपरिक निकटता की अपेक्षा की गई थी तो वही निकटता और संवेदनशीलता विद्यार्थियों के लिए अंग्रेजी में कैसे मिल सकती थी? भारतीय विद्यार्थियों और विदेशी भाषा में कोई निकटता हो ही नहीं सकती थी। परिणाम यह हुआ कि अंग्रेजी शिक्षा बच्चों के दिल और दिमाग दोनों से दूर की चीज बनी रही। केवल अंग्रेजी के शब्दों का लिखना, पढ़ना और हो सके तो बोलना, यही शिक्षा का ध्येय बनकर रह गया। जैसे ही अंग्रेजी का उदय हुआ, भारतीय भाषाएं और नीचे चली गईं। खड़ा पानी तो सड़ेगा ही। जैसे ही अंग्रेजी की तोता रटंत शुरू हुई बुद्धि का परिष्कार दूर की बात हो गई। कहां दृष्टि, कहां कृति, कहां संवेदना और कहां नवजीवन-संचार? अंग्रेजी की छाया में सब कुछ दबता चला गया—केवल सरकार को छोड़कर।

यदि मान भी लिया जाए कि विद्यार्थियों को अंग्रेजी के माध्यम से एक नवजीवन-संदेश मिला तो यह भी मानना पड़ेगा कि उनके मानसिक विकास की दिशा भी बदल गई। एक तो सरकारी 'पावर' का नशा और दूसरा ऐश-आराम का चस्का। जैसे शिक्षा चार्टर के पैरा-4 में कहा गया था—अंग्रेज को अपने माल की खपत के लिए मार्केट चाहिए था और कच्चे माल की सप्लाई करने वाले किसान मजदूर। इस अर्थ की सिद्धि के लिए चाहिए था एक सामर्थ्यसिद्ध

2. 3. देखिए : 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन रिपोर्ट', I. पृ० 88-89

वर्ग और किसान मजदूरों की भीड़। इसलिए जनशिक्षा की समस्या को 1854 में छूने के बाद 1859 में अपने हाल पर छोड़ दिया गया, किंतु अंग्रेजी शिक्षा जोर-शोर से जारी रखी गई। परिणाम यह हुआ कि एक ओर तो भारतीय परंपरा और संस्कृति से नाता टूटा और दूसरी ओर सरकारी 'पावर' नई सभ्यता और नए साधनों से नाता जुड़ा। ध्यान रहे कि नेहरू जी ने जनमानस को कैसे छुआ था। 1934-35 में जब मैं तीसरी या चौथी श्रेणी में पढ़ता था तो गांव में हमें बतलाया गया था कि नेहरू जी बड़ी सड़क से खुली गाड़ी में सफर करने वाले हैं। हम एक मील भाग-दौड़कर सड़क पर दर्शनार्थ पहुंचे। उसी समय कई साथियों ने हमें बतलाया कि किसी समय पंडित जी के कपड़े पैरिस से धुल कर आया करते थे। नेहरू जी ने अपनी आत्मकथा में इस बात को कितना ही नकारा हो फिर भी यह बात जनता के मन से निकली नहीं और उनके अद्भुत नेतृत्व के साथ-साथ पैरिस-त्याग उनके चमत्कार का प्रतिमान बन गया। 1962 में चीन कांड के आस-पास मैने बी०बी०सी० लंदन का नेहरू जी पर 'पैनोरामा' शृंखला में एक प्रोग्राम देखा। शीर्षक था 'द मैन आफ टू वर्ल्ड्ज़' अर्थात् (पूर्व-पश्चिम) 'दो जहां का आदमी'। श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित का इंटरव्यू दिखाया गया। श्रीमती पंडित ने अपने स्वर्गीय पिता की चर्चा करते हुए हार्दिक और रोमांचक संवेदनपूर्वक यह बताया कि हमारे पिताजी को इंपोर्टेड क्राकरी, कटलरी और टेपेस्ट्री का जादू का-सा शौक था। ये शब्द सुनकर मुझे मकाले की याद आई। मकाले शिक्षा के माध्यम से ब्रांडक्लाथ, टेपेस्ट्री और कटलरी ही तो बेचना चाहते थे। स्वयं नेहरू जी ने लिखा है कि जब मैं पूर्व में होता हूं तो पश्चिम याद आता है और जब पश्चिम में होता हूं तो पूर्व याद आता है। नेहरू जी तो अपने नैतिक और सांस्कृतिक बल के कारण इस दुविधा से किसी तरह निकल गए। गांधी जी ने जब विदेशी कपड़ों की होली जलाई थी तो उन्होंने देश को मानसिक गुलामी से छुड़ाने के लिए स्वदेशी आत्मा को ललकारा था। महामना तो किसी तरह तर गए किंतु सुमनों को तो यह दुविधा ले ही बैठी। ऐसे दुविधाग्रस्त लोगों का सूर्य केवल पश्चिम से निकलने लगा। प्रकृति का नियम है कि शाम के सवेरे में तो अंधेरा ही अंधेरा रहेगा।

17
बरगद और बूटे

लक्ष्य की ओर अपने पथ पर बढ़ता हुआ पथिक । अतिश्रांत । छाया उसके लिए अमृत है । लक्ष्य-विहीन पथभ्रष्ट यात्री । आक्लांत । वही छाया उसके लिए है मात्र अंधेरा और कुछ नहीं । बरगद की छाया में विश्रांत पथिक नई शक्ति और नए जीवन का अनुभव करता है किंतु लक्ष्य-विहीन को रास्ता ही नहीं सूझता । बरगद की छाया में छोटे-छोटे बूटे दम तोड़ने लगते हैं । 1854 के आस-पास जैसे अंग्रेजी सत्ता ने एकछत्र राज का रूप धारण किया, भारत की जनता विकलांग-सी होने लगी । वैसे ही राज से शक्ति प्राप्त करके अंग्रेजी भाषा भी एक इंपोर्टेड बरगद का रूप धारण करने लगी । जैसे-जैसे बरगद ने जड़ें पकड़ीं भारती बूटे सूखने लगे । भारतीय भाषाओं को धूप मिली न पानी । धूप तो बरगद ने रोक ली, पानी देना छाया में बैठने वाले भूल गए । उन्होंने देखा तो अवश्य कि पंखुड़ियां बिखरने वाली हैं, किंतु करते क्या ? वे न थे मालिक, न रहे माली, स्वयं भटके हुए थे । उन्हें न विश्राम मिला न रास्ता, न लक्ष्य । केवल छाया में ही चकराते रहे । बूटे सूखते चले गए ।

शिक्षा और शासन दोनों की मालिक तो सरकार थी । 1835 से अंग्रेजी शिक्षा का माध्यम बन चुकी थी । 1837 में राजभाषा भी अंग्रेजी बन गई । किसी भी व्यवस्थित समाज में प्रशासन सबसे बड़ा व्यवसाय हुआ करता है और राजभाषा का ज्ञान सबसे बड़ी योग्यता । अंग्रेजी को नौकरी के लिए सर्वोत्तम योग्यता मानकर 1844 में उसे मानो कल्पतरु का रूप दे दिया गया । सभी उसकी छाया में बैठने लगे । प्रारंभ से ही अंग्रेजी को पाश्चात्य विज्ञान और साहित्य की कुंजी मान कर उच्चतम योग्यता की कसौटी भी मान लिया गया था । ग्रांट, मकाले, हार्डिंग तीनों ने ऐसी घोषणा की थी । 1854 के शिक्षा भारती परिपत्र में तो उसे चाबी मानने के साथ-साथ उच्च ज्ञान-विज्ञान की कसौटी ही नहीं योग्यता का प्रतीक भी मान लिया गया (पैरा-11, 44) । यहां तक कि स्कूलों में भी एक प्रकार का रंगभेद आ गया । ऊंची शिक्षा के ऊंचे-ऊंचे स्कूल अंग्रेजी के, और वे थे उच्च वर्ग के लिए अर्थात् जो उनमें पढ़ेंगे वे उच्च वर्ग के लोग होंगे और साधारण शिक्षा के छोटे स्कूल भारती के जिन में वे छोटे लोग पढ़ें जो पैसे अथवा अंग्रेजी के क्षेत्र में पिछड़े हों (पैरा-43, 41) । यह आश्वासन भी दे दिया गया कि ऊंचे पद के लिए उच्च शिक्षा की आवश्यकता रहेगी और ऊंची शिक्षा के लिए अंग्रेजी भाषा अनिवार्य रूप से सदा के लिए आवश्यक रहेगी (पैरा-40-11) । विश्वविद्यालय स्थापित करने का आश्वासन दिया गया था (पैरा-40) और 1857 में कलकत्ता, मद्रास और मुंबई में विश्वविद्यालय खोल भी दिए

गए । साथ में यह भी विश्वास के साथ कह दिया गया कि भारत के कुछ भागों में अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार के लिए किसी कृत्रिम प्रोत्साहन की आवश्यकता नहीं रहेगी । रहती भी क्यों ? ऊंचा पद किसे नहीं चाहिए ? जिसे ऊंचा पद चाहिए वह ऊंची शिक्षा प्राप्त करे । जिसे ऊंची शिक्षा चाहिए वह अंग्रेजी भाषा की शिक्षा प्राप्त करे । अंग्रेजी तो मानो स्वर्ग-द्वार की चाबी बन गई । ऐश-आराम की बात तो पहले ही कही जा चुकी थी । प्रत्येक मां उस दिन की प्रतीक्षा करती थी जब उसके बेटे को ऐसी नौकरी मिले कि वह सफेद कमीज पहने, टाई लगाए कुर्सी पर बैठा हो और ऊपर पंखा चल रहा हो ।

अंग्रेजी के लिए मांग बढ़ने लगी । साथ-साथ अंग्रेजी स्कूलों और कालेजों की संख्या बढ़ने लगी । लंदन में 1909 में छपे 'इम्पीरियल गजेटीयर आफ इंडिया' में दिए गए आंकड़ों के अनुसार अंग्रेजी राज में चल रहे स्कूलों और कालेजों की संख्या इस प्रकार थी । (IV, पृ० 456) :

1. सेकंडरी स्कूल :

वर्ष	स्कूल संख्या	विद्यार्थी संख्या
1860-61	142	23165
1870-71	3146	206300
1881-82	4122	256242
1891-92	4872	473291

2. कालेज :

वर्ष	स्कूल संख्या	विद्यार्थी-संख्या
1860-61	17	3182
1870-71	44	3994
1881-82	67	6037
1891-92	104	12985

भारतीय भाषाओं के विकास और शिक्षा-माध्यम के रूप में प्रयोग के लिए सरकार द्वारा वायदे तो बहुत किए गए थे किंतु इरादे कोई नहीं किए गए । इरादे किए भी गए तो केवल लिखित में, वास्तव में काम कोई नहीं किया गया । सरकार ने तो शिक्षा और भाषा दोनों समस्याओं को मांग और महत्त्व के आधार पर छोड़कर अपने उत्तरदायित्व से हाथ धो लिए । जनता ने शिक्षा और भाषा दोनों के महत्त्व का निर्णय उनके व्यावसायिक मूल्य के आधार पर कर लिया । मांग अंग्रेजी की थी और खपत अंग्रेजी वालों की । तो भारती और भारती वालों को कौन पूछता ? उनकी न मांग रही न प्रयोग । भाषा का विकास तो प्रयोग से ही होता है । प्रयोग रहा नहीं तो विकास कैसे होता ? यदि होना भी था तो भी नहीं हुआ ।

विकास हो सकता था क्योंकि उनके विकास की क्षमता थी पर करता कौन ? जितनी क्षमता थी उसकी भी भावी संभावनाएं कम हो गईं । मुंबई में चल रहे स्कूलों की चर्चा हम पहले कर चुके हैं । फिर भी कई स्कूल ऐसे थे जिनमें छठी से लेकर दसवीं तक भारती माध्यम से पढ़ाई

चल रही थी । इन स्कूलों में ठेठ आधुनिक विषय भी पढ़ाए जा रहे थे जैसे ब्रिटिश इतिहास, भारतीय इतिहास, भूगोल, ज्योतिष, प्राकृतिक दर्शन (साइंस), बीजगणित, यूक्लिडियन ज्यामिति, त्रिकोणमिति । इस प्रकार के 216 स्कूल मुंबई में थे । किंतु अंग्रेजी के लिए मांग इतनी प्रबल थी कि ये स्कूल कुछ वर्षों में ही बंद कर देने पड़े । मुंबई और बंगाल में कुछ आयुर्वेदिक विद्यालय थे जिनमें भारती के माध्यम से शिक्षा दी जा रही थी, क्योंकि आयुर्वेद का आधार संस्कृत ग्रंथ हैं और संस्कृत भारतीय भाषाओं की जननी है । इन संस्थाओं में दी जा रही शिक्षा मेडिकल कालेज में दी जा रही शिक्षा के स्तर की तो नहीं थी किंतु फिर भी वह शिक्षा पर्याप्त स्तर की थी और उसके द्वारा ऐसे चिकित्सक तैयार किए जाते थे जिनकी नियुक्ति सरकार के चिकित्सा विभाग में द्वितीय श्रेणी के पदों पर की जाती थी । संस्कृत साहित्य के आधार पर ऐसे आयुर्वेद ग्रंथों की रचना भारती में की गई थी जो ग्रंथ इन आयुर्वेद कालेजों में पढ़ाए जा रहे थे । ग्रांट मेडिकल कालेज मुंबई के कुछ प्रसिद्ध डाक्टरों ने भी आयुर्वेद विषयों पर मराठी में पुस्तकें लिखी थीं । इन सभी पुस्तकों का स्तर ऊंचा था । भारती माध्यम से आयुर्वेद शिक्षा को प्रोत्साहन देने के लिए सर जगन्नाथ और उनके साथियों ने पुरस्कारों और छात्रवृत्तियों का प्रबंध भी कराया । किंतु बाजार तो केवल अंग्रेजी का गरम था । आहिस्ता-आहिस्ता भारती माध्यम से आयुर्वेद शिक्षा का महत्त्व कम होता चला गया और सरकारी चिकित्सा विभाग में भी आयुर्वेद स्नातकों का महत्त्व कम होता चला गया । जब भारती माध्यम और आयुर्वेद शिक्षा का आर्थिक महत्त्व नहीं रहा तो यह शिक्षा प्रोग्राम ही 1880 तक समाप्त कर दिया गया ।

भाषा का विकास मानसिक और बौद्धिक विकास का ध्वन्यात्मक रूपांतर है । उदाहरणार्थ साइंस के द्वारा जैसे-जैसे नए तथ्यों की खोज की जाती है वैसे-वैसे तदनुरूप नए शब्दों का निर्माण भी करना पड़ता है । दर्शन के माध्यम से जैसे-जैसे नए विचार सामने आते हैं वैसे-वैसे उनकी अभिव्यक्ति के लिए नए शब्द भी बनाने पड़ते हैं । नए तथ्यों और उनके पारस्परिक संबंधों के अनुरूप ही नए शब्दों का निर्माण किया जाता है । अंग्रेजी में साइंस की शब्दावली का आधार ग्रीक और लैटिन भाषाएं हैं, जिनके आधार पर आज भी नए शब्दों का निर्माण किया जा रहा है । इसी भाषाविज्ञान के आधार पर डॉ० रघुवीर ने हिंदी में विज्ञान-विषयक शब्दकोश संस्कृत के आधार पर तैयार किया था । किंतु यह प्रक्रिया अनुसंधान से अधिक संबंध रखती है । उन्नीसवीं शती के भारत में तो सभी यूरोपियन विषय ऐसे थे जिन्हें पढ़ाने के लिए अंग्रेजी में तो शब्दावली तैयार थी किंतु उन्हीं को भारती माध्यम से पढ़ाने के लिए नई शब्दावली की अपेक्षा थी । सभी अंग्रेज शासक और शिक्षाशास्त्री भाषा संबंधी इस समस्या से परिचित थे । सभी ने इस दिशा में भारतीय भाषाओं का विकास करने के वायदे भी किए थे । विकास के मुख्यतया तीन तरीके सामने आए थे : अनुवाद रूपांतर और मूल रचना ।

भाषा-निर्माण की आवश्यकता उच्च शिक्षा के स्तर पर पड़ती है क्योंकि प्रारंभिक स्कूल में जिस स्तर की शिक्षा होती है उस स्तर पर तो केवल साधारण दैनिक जीवन संबंधी तथ्य और प्रक्रियाएं ही सामने आती हैं । प्राइमरी शिक्षा साधारणतया दैनिक जीवन के अनुभव का ही

संवर्द्धन करती है । इसी कारण साधारण शब्दावली से ही काम चल सकता है । किंतु हाई स्कूल और विशेषकर कालेज-स्तर पर तो उच्चस्तरीय शिक्षा के लिए उच्चस्तरीय भाषा की आवश्यकता होती है । इसलिए भाषा का विकास तो तभी होगा जब उसे उच्चस्तरीय शिक्षा का माध्यम बनाया जाए । अंग्रेजी काल में 1854 तक भारती-विकास संबंधी जो वायदे किए गए थे वे तभी पूरे हो सकते थे जबकि उसे उच्च शिक्षा का माध्यम बनाया जाता और तदर्थ उसमें अनुवाद, रूपांतर और मूल साहित्य तैयार कराया जाता । क्या भारतीय भाषाएं कालेज स्तर पर शिक्षा-माध्यम बन पाईं ? विकास का प्रश्न तो उसके साथ उठेगा । आवश्यकता के बिना आविष्कार होता नहीं । हां, जिज्ञासा के कारण आविष्कार हो सकता है, घटनावश भी हो सकता है । किंतु भारती का विकास बिना आवश्यकता के क्यों होता ? और आवश्यकता का मापदंड प्रतिमान क्या है ? यह भी देखना होगा । देखना यह है कि हाई स्कूल और कालेज स्तर पर भारती को शिक्षा-माध्यम अथवा शिक्षा-विषय के रूप में मान्यता मिली या नहीं ? और यदि नहीं मिली तो क्यों नहीं ?

कलकत्ता विश्वविद्यालय में प्रारंभ में हाई स्कूल के परीक्षार्थियों को यह छूट दी गई कि वे इतिहास, भूगोल और गणित के पर्चे भारती अथवा अंग्रेजी किसी भी भाषा में दे सकते हैं अर्थात् भारती को ऐच्छिक परीक्षा-माध्यम के रूप में स्वीकार किया गया था । किंतु 1861-62 में यह छूट रद्द कर दी गई और यह नियम बना दिया गया कि प्रत्येक विषय में प्रश्नपत्रों के उत्तर केवल अंग्रेजी में ही लिखे जाएंगे जब तक कि पत्र में ही किसी दूसरी भाषा का विकल्प न दिया गया हो । 1862 के बाद 1906 में हाई स्कूल परीक्षा के स्तर पर भारती को विषय के रूप में अनिवार्य बनाया गया और परीक्षार्थियों को यह छूट दी गई कि वे इतिहास का पर्चा अंग्रेजी के अतिरिक्त भारती में भी लिख सकते हैं ।

यूनिवर्सिटी स्तर पर प्रारंभ से ही यह नियम बनाया गया था कि विद्यार्थी मैट्रिक से बी०ए० तक एक आधुनिक भारती भाषा शिक्षा विषय के रूप में ले सकते हैं । ऐसा बंबई और कलकत्ता दोनों विश्वविद्यालयों में था । किंतु 1862 में ही एक समस्या खड़ी कर दी गई । उस समय सर अलेग्जांडर ग्रांट शिक्षा-निदेशक थे । उन्होंने सेनिट में एक प्रस्ताव रखा । प्रस्ताव यह था कि मैट्रिक को छोड़कर सारी यूनिवर्सिटी परीक्षाओं में से भारतीय भाषाओं को हटा दिया जाए । प्रस्ताव में यह भी कहा गया था कि मैट्रिक में भी उनका अध्ययन केवल ऐच्छिक हो । उनके प्रस्ताव के कारण वे ही थे जो ग्रांट (1793) से लेकर आज तक अर्थात् दो सौ वर्ष से दिए जा रहे हैं । कारण ये बताए गए थे :

1. मराठी या किसी भारतीय भाषा में प्राप्तव्य पुस्तकों का स्तर इतना नीचा है कि उन्हें बी०ए० पाठ्यक्रम में परीक्षार्थ लगाना वैसा ही होगा जैसाकि कैम्ब्रिज और आक्सफोर्ड विश्वविद्यालयों की परीक्षा के लिए 'जैक दि ज्याएंट किलर' को लगाना ।
2. जिन प्राचीन कवियों ने इन भाषाओं में लिखा है उनके काव्य को विश्वविद्यालय की परीक्षाओं के लिए पढ़ना व्यर्थ है ।
3. आधुनिक भारतीय भाषाओं का विकास करना विश्वविद्यालयों का काम नहीं है ।

उनका इसमें कोई दायित्व नहीं है ।

4. यदि आधुनिक भाषाओं को पाठ्यक्रम से हटा दिया गया तो प्राचीन भाषाओं के अध्ययन के लिए समय मिल जाएगा ।[1]

किसी ने भी यह याद नहीं रखा कि ग्रांट, मकाले, सामान्य शिक्षा समिति और 1854 के शिक्षा भारती प्रस्ताव के अनुसार भारतीय भाषाओं का विकास करना सरकार का दायित्व था । किसी ने यह नहीं सोचा कि यदि यूनिवर्सिटी में साहित्य-निर्माण नहीं होगा तो और कहां होगा ? सर अलेग्जांडर का प्रस्ताव पास हो गया । आधुनिक भारती को विश्वविद्यालय पाठ्यक्रम से हटा दिया गया । केवल मैट्रिक स्तर पर ऐच्छिक रूप में छोड़ दिया गया । 1864 में कलकत्ता विश्वविद्यालय के बी०ए० प्रथम वर्ष के पाठ्यक्रम से भारती को हटा दिया गया और उसके स्थान पर प्राचीन भाषा को अनिवार्य बना दिया गया । केवल 1870 में बी०ए० प्रथम स्तर पर अंग्रेजी से भारती में अनुवाद का एक पत्र रखा गया और 1879 में महिलाओं को यह छूट दी गई कि वे प्राचीन भाषा के स्थान पर भारती भाषा ले लें । वहीं 1906 में बी०ए० में भारती निबंध का पर्चा अनिवार्य रूप में रखा गया और बी०एस-सी० फाइनल और इंटरमीडिएट स्तर पर भी भारती निबंध लगा दिया गया था ।[2]

यहां पर दो बातें नोट करने की हैं : एक तो यह कि पहले बट हुआ या बीज, और दूसरी यह कि यदि भारती भाषा बी०ए० स्तर पर पढ़ाई जाए तो उसका पाठ्य-स्तर क्या हो ।

पहले बट हुआ या बीज ? प्रारंभ से आज तक यही दलील दी जाती रही है : भारती को पाठ्यक्रम में इसलिए नहीं रखा जा सकता कि उसमें साहित्य उपलब्ध नहीं है और साहित्य इसलिए उपलब्ध नहीं है कि उसे कभी प्रयोग में ही नहीं लाया गया । भाषा लैबोरेटरी या ग्रीन हाउस में नहीं बनती । वह प्रयोग क्षेत्र में ही उपजती है, और यदि लैबोरेटरी में भी बनती है तो ऐसे जैसे रूसी भाषा का विकास 1917 की क्रांति के पश्चात् प्रथम तीस वर्षों में किया गया । किंतु वैसी व्यवस्था भारत में नहीं थी और आज तक हो नहीं पाई । अंग्रेजी सरकार यदि चाहती तो अपने आदेश के अनुसार कर सकती थी किंतु उस सरकार को भारती से दिलचस्पी नहीं थी । भारत सरकार इस स्थिति में आज तक हो नहीं पाई कि वह आदेशानुसार या नीति-अनुसार भारतीय भाषाओं का विकास करा सके । व्यवस्थित समाज में शिक्षा, शिक्षाभाषा और राजभाषा का बड़ा गहरा संबंध होता है । हमारी व्यवस्था आज भी ब्रिटिश काल जैसी ही चली आ रही है । दलील पुरानी है और अब भी वही है, यद्यपि सरकार और शासन दोनों बदल चुके हैं ।

दूसरी बात यह है कि यदि भारती को विश्वविद्यालय स्तर पर पढ़ाया जाता है जैसा कि आजकल भारत के सभी विश्वविद्यालयों में पढ़ाया जा रहा है तो उसका स्तर क्या हो ? क्या उसका स्तर वही हो जो अंग्रेजी का होता है ? हम देख रहे है कि भारती में पांचवीं कक्षा से लेकर बी०ए० तक वही मुहावरे, वही निबंध लिखवाए जाते हैं जैसे अंग्रेजी भाषा में । किंतु अंग्रेजी तो

1. देखिए : नुरुल्ला और नायक, 'ए हिस्ट्री आफ एज्यूकेशन इन इंडिया', पृ० 292
2. देखिए : 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन, रिपोर्ट', II, पृ० 159

विदेशी भाषा है जबकि भारती विद्यार्थियों की मातृभाषा है । अतः बी०ए० स्तर पर भारती का स्तर अंग्रेजी से कहीं ऊंचा होना चाहिए जो इंग्लैंड के विश्वविद्यालयों में अंग्रेजी का होता है । यदि इंग्लैंड के विश्वविद्यालयों के बी०ए० अंग्रेजी के पर्चे और भारतीय विश्वविद्यालयों के बी०ए० हिंदी के पर्चे देखे जाएं तो दोनों के बीच बहुत बड़ा अंतर दीखेगा । यदि हमने स्वयं भारती का स्तर वही रखा जो दूसरी अर्थात् विदेशी भाषा का रखते हैं तो भारती का विकास कैसे होगा ? भारती का स्तर अंग्रेजी की अपेक्षा बहुत कसा हुआ होना चाहिए । उदाहरणार्थ, यह कहा जा सकता है कि भारती का अध्ययन वैज्ञानिक एवं साहित्यिक दृष्टिकोण से किया जाना चाहिए । मुहावरे और चिट्ठियां तो दसवीं कक्षा तक काफी होने चाहिए । और यदि पत्र और निबंध लिखने पर कोई प्रश्न पूछे जाते हैं तो उनका स्तर उच्चतम प्रतियोगितात्मक परीक्षा वाला होना चाहिए । ऐसा नहीं हो रहा । प्रारंभ से ही नहीं किया गया । 1854 में ही भारती एवं शिक्षा दोनों ही छायाग्रस्त हो गई थीं । 1854 के पश्चात् भी केवल वाक्-सेवा के अतिरिक्त कुछ नहीं किया गया । हां, अंग्रेजी के साथ-साथ भारती के प्रयोग और विकास का वायदा अवश्य किया गया था ।

अंग्रेजी के राजभाषा और जीविका साधन बन जाने के कारण शिक्षा का रूप और ध्येय दोनों ही बदल गए । विश्वविद्यालयों की स्थापना के बाद तो स्थिति और भी बदल गई । प्रारंभ में अंग्रेजी केवल माध्यम के रूप में प्रयोग में लाई जाने वाली थी, शिक्षा वस्तु नहीं थी । शिक्षा-वस्तु तो यूरोपियन साहित्य और साइंस था । राजभाषा बनने के बाद अंग्रेजी भाषा जीविका का साधन बन गई । इसलिए मात्र अंग्रेजी ज्ञान ही शिक्षा-वस्तु बन गया । लार्ड आकलैंड ने 1839 में यही देखा था और 1854 में भी यही कहा गया था । विश्वविद्यालयों की स्थापना के बाद अंग्रेजी उच्चतम शिक्षा का माध्यम बन गई । विश्वविद्यालय में प्रवेश मिलता था हाई स्कूल के आधार पर । इस कारण हाई स्कूल परीक्षा एंट्रेंस परीक्षा कहलाने लगी । इसी करण हाई स्कूल तक शिक्षा और शिक्षार्थी की सारी शक्ति अंग्रेजी पर ही लगने लगी । 1882 तक स्थिति ऐसी बन गई थी :

1. बच्चे केवल दो या चार वर्ष तक भारती का अध्ययन करते थे, तत्पश्चात अंग्रेजी पढ़ते थे ।
2. भारती में अधिक से अधिक मिडल तक शिक्षा मिल सकती थी । भारती स्कूलों में ऐसा था ।
3. प्रथम दो या चार वर्ष भारती पढ़ लेने के पश्चात् दो या तीन वर्ष तक बच्चे अंग्रेजी भाषा को विषय के रूप में पढ़ते । इन दो या तीन वर्षों के बाद बच्चे अंग्रेजी का प्रयोग माध्यम रूप में करते । हाई स्कूल में शिक्षा-माध्यम केवल अंग्रेजी था ।
4. क्योंकि भारती केवल प्रारंभिक दो या चार वर्ष तक ही पढ़ते थे इसलिए विद्यार्थी पर्याप्त योग्यता प्राप्त नहीं कर पाते थे । अंग्रेजी को भी दो या तीन वर्ष पढ़ लेने के पश्चात् वे माध्यम रूप में प्रयोग करते । अतः सिर पर दुगुना बोझ आ जाता था । अंग्रेजी पूरे तौर पर जानते नहीं थे, भारती का प्रयोग कर नहीं सकते थे और

साथ में सारे विषय भी पढ़ने पड़ते और वे भी अंग्रेजी माध्यम से । अतः इस बोझ के नीचे दबते चले जाते ।

स्कूल अपने ढंग का तर्क देते । उनका कहना था कि क्योंकि हाई स्कूल परीक्षा और शिक्षा दोनों का माध्यम अंग्रेजी है इसलिए विद्यार्थियों का अंग्रेजी में निपुण होना अत्यंत आवश्यक है और क्योंकि जितना ज्यादा भाषा का प्रयोग वे करेंगे उतना ही अधिक उन्हें भाषा का ज्ञान होगा इसलिए उन्हें अंग्रेजी को माध्यम रूप में प्रयोग का अधिकतम अवसर मिलना चाहिए । इसीलिए जितना शीघ्र अंग्रेजी को माध्यम रूप में प्रयोग किया जाएगा उतना ही अच्छा है । इस तर्क के नीचे आकर भारती को तो मानो अपने ही घर से निकलना पड़ा । पहले दो या चार वर्षों को छोड़कर सारे शिक्षा-जगत पर अंग्रेजी ही अंग्रेजी छा गई ।

1882 में भारतीय शिक्षा कमिशन बैठाया गया । कमिशन का काम यह देखना था कि 1854 के शिक्षा भारती प्रोग्राम में जो उद्देश्य, नीति एवं पद्धति और प्रक्रिया कहे गए थे वे पूरे हुए या नहीं ।

कमिशन ने स्कूलों के इस तर्क को रद्द कर दिया कि जितना भाषा प्रयोग अधिक होगा उतना ही भाषा ज्ञान और शिक्षा स्तर ऊंचा होगा । उस समय कलकत्ते में बड़े अच्छे मिडल स्कूल थे जिनमें शिक्षा केवल भारती माध्यम से दी जाती थी । ये बच्चे भी आठवीं कक्षा के बाद हाई स्कूल में जाते थे, केवल अंग्रेजी के लिए उन्हें विशेष परिश्रम करना पड़ता था । कमिशन ने यह देखा कि ये बच्चे हाई स्कूल परीक्षा में अच्छा परिणाम लाते थे अपेक्षाकृत उनके जो अंग्रेजी माध्यम से जल्दी पढ़ना प्रारंभ कर देते थे । निष्कर्ष यह निकला कि स्कूलों का तर्क गलत प्रमाणित हुआ । इस आधार पर कमिशन ने यह प्रश्न उठा दिया कि स्कूल में शिक्षा का माध्यम क्या हो और अंग्रेजी कैसे और किस रूप में पढ़ाई जाए । कमिशन का मत यह बना कि विद्यार्थियों को विभिन्न विषय उनकी अपनी भारती भाषा के माध्यम से पढ़ाए जाएं और साथ में अंग्रेजी भी भाषा के रूप में पढ़ाई जाए अर्थात् शिक्षा का माध्यम तो भारती हो और अंग्रेजी को द्वितीय भाषा के रूप में पढ़ाया जाए । इस प्रकार विद्यार्थी को जीवनोपयोगी ज्ञान तो अपनी भाषा के माध्यम से मिल जाए और साथ में अंग्रेजी भाषा का ज्ञान भी मिल जाए । अंग्रेजी का ज्ञान भले ही सीमित हो किंतु वह उतना ही उसके लिए अपने जीवन में लाभदायक रहेगा ।

कमिशन ने यह मत बनाकर भी कुछ नहीं कहा । मोटी बात यह है कि बरगद को कौन उखाड़े ? उखड़ेंगे तो केवल बूटे । कमिशन ने यह लिखा कि अंग्रेजी शिक्षा पद्धति से शिक्षा-प्राप्त विद्यार्थी को यदि मामूली-सी अंग्रेजी भी आती हो तो भी वह उसके लिए अमूल्य है, न केवल अपने जीवन-यापन के लिए, और अपने सामाजिक परिवेश में, अपितु इस कारण भी कि उसकी प्राप्ति के लिए उसने भरसक मानसिक प्रयत्न किया है । जीवन-यापन, सामाजिक परिवेश में मान और मानसिक व्यायाम—यदि अंग्रेजी इन सभी का साधन अथवा प्रतीक है तो फिर सिसकते-सिसकते भी प्रयास करना पड़े तो भी नौकरी से अच्छा प्रसाद क्या मिल सकता है और प्रसाद तो केवल चखने के लिए होता है, पेट भरने के लिए थोड़ा ही ! और फिर नए देवता तो

केवल अंग्रेजी ही समझते थे । कमिशन ने सिफारिश भी अजीब ढंग की की । लिखा कि हम कोई निश्चित सिफारिश तो नहीं करते किंतु स्थानीय सरकारी विभाग और अनुदान-प्राप्त स्कूलों के प्रबंधकों से अनुरोध करते हैं कि उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखा जाए ।[3] खोदा पहाड़ निकला चूहा भी नहीं ।

1882 में सेकंडरी शिक्षा का उद्देश्य मात्र अंग्रेजी भाषा की योग्यता रह गया था । कलकत्ता यूनिवर्सिटी की मैट्रिकुलेशन परीक्षा का उद्देश्य इस प्रकार था :

1. (क) साफ, सादा और सही अंग्रेजी लिखने की योग्यता ।
   (ख) परिचित विषयों पर सादा आधुनिक अंग्रेजी को ठीक-ठीक समझने की क्षमता ।
2. मैट्रिकुलेशन परीक्षा का उद्देश्य परीक्षार्थी की यूनिवर्सिटी कोर्स के अध्ययन के लिए अपेक्षित योग्यता का परीक्षण होगा ।

सेकंडरी शिक्षा और मैट्रिक परीक्षा केवल अंग्रेजी भाषा का पर्याय बन गई । 1882 के शिक्षा कमिशन ने इस स्थिति का कोई निराकरण नहीं सुझाया । 1902 तक स्थिति जैसी की तैसी बनी रही । स्कूल स्तर पर भारती माध्यम से अध्यापन का कोई प्रबंध नहीं किया गया । वास्तव में भारती माध्यम का विचार ही छोड़ दिया गया और मात्र अंग्रेजी शिक्षा ही सेकंडरी शिक्षा का मुख्य उद्देश्य बनी रही ।[4]

1882 में शिक्षा कमिशन ने मात्र अंग्रेजी के स्थान पर ठोस और वास्तविक शिक्षण का तो कोई सुझाव नहीं दिया किंतु एंट्रेंस परीक्षा के साथ-साथ उसका एक विकल्प अवश्य सुझाया । यह वैकल्पिक परीक्षा व्यावहारिक और व्यावसायिक प्रकार की होनी थी और साहित्येतर विषयों पर आधारित थी । यह आशा की गई कि व्यावसायिक क्षेत्र में इस परीक्षा का अपना ही महत्त्व होगा । यह सुझाव भी दिया गया कि इस परीक्षा के लिए पाठ्यक्रम बनाते समय रेलवे कंपनियों, बैंकों और अन्य व्यावसायिक संस्थानों का पूरा परामर्श और सहयोग लिया जाए । इस विकल्प में समयानुसार एक कमी थी । मैट्रिक परीक्षा तो यूनिवर्सिटी के लिए प्रवेश परीक्षा बन चुकी थी । क्या इस वैकल्पिक परीक्षा को देने वाले परीक्षार्थी यूनिवर्सिटी शिक्षा से वंचित रह जाएंगे ? इस समस्या का भी समाधान अपेक्षित था । साथ ही यह प्रश्न भी था कि इस कोर्स को पास करने वाले विद्यार्थी सरकारी नौकरी प्राप्त कर पाएंगे या नहीं ? कमिशन ने यह सिफारिश की कि यदि किसी विद्यार्थी ने एंट्रेंस परीक्षा दी हो अथवा यह वैकल्पिक परीक्षा पास की हो तो उसे ही सरकारी पद के योग्य समझा जाए ।[5]

नौकरी की समस्या का हल तो सुझाया गया । किंतु यूनिवर्सिटी प्रवेश का प्रश्न तो फिर

---

3. देखिए : 'भारतीय शिक्षा कमिशन रिपोर्ट' (1882), पृ० 210-11
4. नूरुल्ला और नायक, 'ए हिस्ट्री आफ एज्यूकेशन इन इंडिया', पृ० 304
5. 'भारतीय शिक्षा कमिशन रिपोर्ट' (1882), पृ० 221-22

भी खड़ा ही रहा। इसलिए जहां-जहां भी यह विकल्प लागू किया गया वहीं अंग्रेजी को अनिवार्य विषय का स्थान दिया गया और भारती को केवल दूसरी भाषा का स्थान मिला। 1889 में मद्रास सरकार ने अपर सेकंडरी कोर्स लागू किया। उसी वर्ष बंबई सरकार ने स्कूल फाइनल परीक्षा चालू की जिसके आधार पर छोटी सरकारी नौकरी मिल सकती थी। अलाहाबाद यूनिवर्सिटी ने फाइनल स्कूल परीक्षा का आयोजन किया। पंजाब में एक विशेष साइंस मैट्रिक कोर्स चालू किया गया और साथ-साथ क्लासिकल और कमर्शल परीक्षाएं भी आरंभ कर दी गईं। बंगाल में भी विशेष कमर्शल और इंजीनियरिंग कोर्स बनाकर चालू किए गए। किंतु ये कोर्स समाज में स्वीकार नहीं हो पाए क्योंकि इनके आधार पर विश्वविद्यालय में प्रवेश नहीं मिल पाता था। विश्वविद्यालय के लिए तो एंट्रेंस परीक्षा ही अपेक्षित थी। एंट्रेंस, अंग्रेजी, स्वर्गद्वार!

भारती भाषाएं सभी छायाग्रस्त हो गईं। 1901 में शिमला शिक्षा कान्फ्रेंस में लार्ड कर्जन ने ठीक कहा : "जब मकाले की तीव्र वाणी की गर्म हवा भारत की भाषाओं और भारती पाठ्य पुस्तकों पर से गुजरी है जनता की मातृभाषा और शिक्षा दोनों झुलसकर रह गई हैं, और सांस लेने को तरस रही हैं।"[6] 1902 में इंडियन यूनिवर्सिटीज कमिशन बैठा दिया गया। कमिशन का काम था विश्वविद्यालय शिक्षा के स्तर को ऊंचा करने और विद्या-प्रचार की उन्नति के तरीके सुझाना।

कमिशन ने भारतीय भाषाओं की ओर ध्यान दिया तो देखा कि विश्वविद्यालयों में भारती भाषाओं के अध्ययन की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया और यही कारण है कि भारतीय ग्रेज्युएट्स को अपनी मातृभाषाओं का कोई ज्ञान नहीं है।

भारतीय भाषाओं को विश्वविद्यालयों में क्या स्थान एवं महत्त्व प्राप्त था यह भी कमिशन ने देखा। सो यह था :

1. **मैट्रिकुलेशन स्तर पर :** अंग्रेजी तो प्रथम भाषा अनिवार्य रूप में थी। एक दूसरी भाषा अनिवार्य थी। यह भाषा थी 'पूर्वीय अथवा यूरोपियन क्लासिकल भाषा अथवा कोई भारतीय या यूरोपियन प्रचलित भाषा। इसका अर्थ यह हुआ कि भारती विषय हो तो सकती थी किंतु उसके साथ-साथ पूर्वी क्लासिकल भाषा (संस्कृत, फारसी इत्यादि), यूरोपियन क्लासिकल (लैटिन इत्यादि) और यूरोपियन माडर्न भाषा (फ्रेंच इत्यादि) भी ली जा सकती थी। पंजाब और अलाहाबाद में भारतीय भाषा का चयन संभव नहीं था क्योंकि पाठ्यक्रम में भारतीय भाषा रखी नहीं गई थी। पंजाब में यदि कोई विद्यार्थी पांचवां अतिरिक्त विषय लेता तो वह कोई दूसरी क्लासिकल भाषा या भारतीय भाषा या साइंस ले सकता था। संक्षेप में मैट्रिक स्तर पर यह आवश्यक नहीं था कि कोई भारतीय भाषा ली जाए।
2. **इंटरमीडिएट स्तर पर :** अंग्रेजी प्रथम भाषा के रूप में अनिवार्य थी। अंग्रेजी के अतिरिक्त एक और 'दूसरी भाषा' अनिवार्य रूप से लेनी पड़ती थी जो कि कोई पूर्वी या पश्चिमी क्लासिकल या प्रचलित यूरोपियन भाषा हो सकती थी। इसका अर्थ यह हुआ कि कोई प्रचलित भारतीय भाषा इस स्तर पर पाठ्यक्रम में नहीं थी। केवल मद्रास में भारतीय भाषा ऐच्छिक रूप से ली जा सकती थी। पंजाब में प्रचलित यूरोपियन भाषा लेने का अवसर नहीं दिया गया था। इसका अर्थ यह हुआ कि मद्रास के अतिरिक्त और कहीं भी प्रचलित भारतीय का अध्ययन नहीं हो सकता था।
3. **बी०ए० स्तर पर :** केवल मद्रास में यह संभावना थी कि विद्यार्थी क्लासिकल भाषा के स्थान पर प्रचलित भारती ऐच्छिक रूप से ले सकें। इसका अर्थ यह हुआ कि मद्रास को छोड़कर किसी भी विश्वविद्यालय में भारती के अध्ययन की कोई संभावना नहीं थी। हाई स्कूल स्तर पर भी भारती भाषा का अध्ययन अनिवार्य नहीं था। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि प्रथम श्रेणी से बी०ए० तक चौदह वर्ष के अध्ययन काल में प्रारंभ के दो या चार वर्ष को छोड़कर भारती भाषा का अध्ययन हो ही नहीं रहा था।

6. सर टामस रैले, 'लार्ड कर्ज़न इन इंडिया' (1898—1905); 'ए सलेक्शन आफ हिज स्पीचिज़' (लंदन, 1906) पृ० 350

अब प्रश्न यह उठता है कि कमिशन ने इस दिशा में ध्यान तो दिया। उन्होंने यह कहा कि भारतीय ग्रेज्युएट को अपनी भाषा का कोई ज्ञान नहीं। लार्ड कर्ज़न ने भी मकाले का नाम लेकर भारती भाषाओं की वाक्सेवा करने की कोशिश की। किंतु लार्ड कर्ज़न और कमिशन इन दोनों ने सुझाव क्या दिया? कर्ज़न स्वयं यह मानते थे कि जो मनुष्य अपनी भाषा को अच्छी तरह नहीं जानता वह कोई विदेशी भाषा भी नहीं सीख सकता। अर्थात् भारतीयों को अंग्रेजी सीखने के लिए यह आवश्यक है कि वे पहले अपनी भाषा को साधिकार जानें।

यह जानते हुए भी और समस्त भारतीय शिक्षा-जगत के मालिक होते हुए भी लार्ड कर्ज़न और उनके कमिशन के सदस्य कोई काम का सुझाव नहीं दे सके। अपनी रिपोर्ट के पैरा-94 में केवल अपना मत इस प्रकार प्रकट किया :

1. एंट्रेंस परीक्षा से ऊपर किसी भारतीय विश्वविद्यालय के अंदर भारतीय प्रचलित भाषा को क्लासिकल भाषा के साथ-साथ पाठ्य विषय के रूप में स्वीकृति न दी जाए।
2. एम०ए० परीक्षा के स्तर पर अंग्रेजी के साथ भारतीय भाषा को भी पाठ्यक्रम का अंग बनाया जाए जैसा बंबई विश्वविद्यालय में हो रहा है। भारतीय भाषा में एम०ए० परीक्षा का स्तर इतना ऊंचा रखा जाए कि उसको प्राप्त करने के लिए परीक्षार्थी को अपने विषय का संपूर्ण अध्ययन करना आवश्यक हो जाए। जो विद्यार्थी अपना सामान्य अध्ययन समाप्त कर चुके हैं उनको यदि इस प्रकार का अध्ययन करने का प्रोत्साहन दिया जाएगा तो भारतीय भाषाओं के विकास और परिष्कार में बड़ी सहायता मिलेगी।

कमिशन ने यह सुझाव भी दिया कि विश्वविद्यालयों में भारती के प्रोफेसर नियुक्त किए जाएं और भारतीय भाषाओं में ऊंचे स्तर के ग्रंथ लिखने के लिए पुरस्कार दिए जाएं।

पंजाब में एक नया प्रयोग किया जा रहा था। नई पद्धति से भारतीय साहित्य और भाषा में एम०ए० के साथ-साथ प्राचीन एवं नई भाषाओं में ओरियंटल परीक्षाएं देकर एम०ओ०एल० की उपाधि प्राप्त की जा सकती थी। ये परीक्षाएं और इनके लिए अध्ययन-शैली पूर्णतया भारतीय प्रकार की थीं। परीक्षाएं थीं : शास्त्री, अदीब और मुंशी। पाठ्य विषय थे संस्कृत, उर्दू और फारसी भाषा और साहित्य। इन परीक्षाओं का स्तर बी०ए० और एम०ए० के बराबर था और अध्ययन-अध्यापन शैली पूर्णतया भारतीय थी। यदि इस शैली का सशक्त विकास किया जा सकता तो यह शैली पूर्णरूप से अंग्रेजी शैली का स्थान ले सकती थी और इन भाषाओं का भी विकास और परिष्कार आधुनिक परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुरूप हो सकता था। आज भी ये परीक्षाएं चल रही हैं। इनकी परंपरागत शैली का विश्वविद्यालयों की आधुनिक शैली के साथ कुछ मेल तो हो रहा है किंतु पूरे तौर पर अभी नहीं हो पा रहा। बीसवीं शती के प्रारंभ में हो जाता तो अभी तक इस शैली का पूर्ण विकास हो जाता। इस प्रयोग का मूल्यांकन 1902 के कमिशन को करना था।

कमिशन ने पंजाब शैली को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने पंजाब प्रयोग की विशेषता पर ध्यान अवश्य दिया। उन्होंने इस बात पर भी ध्यान दिया कि इन परीक्षाओं और पाठ्यक्रमों के अध्ययन का माध्यम भारतीय भाषा था। फिर भी उन्होंने इस प्रयोग को सफल नहीं माना और यह कहा कि इस प्रयोग का अभी तक कोई आशाजनक परिणाम नहीं निकला है। इस पद्धति की कई त्रुटियां भी देखी गईं। त्रुटियां ये थीं कि उचित पाठ्य पुस्तकें नहीं मिल पा रही थीं और विषय संबंधी पाश्चात्य ज्ञान को भारती के माध्यम से पढ़ाने वाले अध्यापक भी नहीं मिल रहे थे। यूनिवर्सिटी ने जब इस पद्धति का आयोजन किया था तो ठीक प्रकार की पाठ्य पुस्तकें तैयार कराने की योजना भी बनाई गई थी किंतु कोई प्रयास इस दिशा में किया गया हो ऐसा कुछ भी देखने को नहीं मिला (रिपोर्ट, पैरा-97)। इस प्रयोग को कुछ शब्दों में साधुवाद तो दिया गया किंतु भविष्य के लिए कोई शुभकामनाएं नहीं दी जा सकीं। केवल यह कहा गया कि परिणामों को देखकर यह तो नहीं कहा जा सकता कि यह प्रयोग सफल रहा है। हां, इसकी भावी संभावनाएं हो सकती हैं, पर वे क्या होंगी अभी कुछ नहीं कहा जा सकता (पैरा-98)।

संक्षेप में : स्नातकों को भारती नहीं आती। आनी चाहिए क्योंकि जो अपनी भाषा को नहीं जानता वह अंग्रेजी के प्रति भी न्याय नहीं कर सकता। विश्वविद्यालयों में भारती के अध्ययन की ओर ध्यान भी नहीं दिया गया। 1854 के शिक्षा प्रस्ताव के अनुसार अंग्रेजी के साथ-साथ भारती का भी भाषा और शिक्षा-माध्यम के रूप में विकास किया जाना चाहिए था। 1882 के आयोग ने भी सरकार का ध्यान दिलाया था कि इस दिशा में कुछ नहीं किया गया। वही आयोग सुझाव देने में असमर्थ रहा। 1902 के आयोग का काम यह था कि यूनिवर्सिटी में शिक्षा का स्तर अर्थात् अध्यापन और अध्ययन दोनों का स्तर ऊंचा कैसे हो। आयोग ने यह भी जान लिया कि शिक्षा का स्तर इस कारण ऊंचा नहीं हो रहा कि विद्यार्थी अंग्रेजी को भाषा रूप में पढ़ते हैं किंतु इस भाषा को समझने के योग्य होने से पहले ही दूसरे विषय अंग्रेजी के माध्यम से पढ़ने लगते हैं। बहुत सारे विद्यार्थी बी०ए० कोर्स में से गुजर जाते है किंतु उन्हें लिखना नहीं आता और बोलना तो आता ही नहीं (पैरा-24)। कमिशन के सामने तथ्य थे और 60 या 70 वर्ष से लोग सिर पटक-पटक कर कहते रहे थे कि जो विद्यार्थी स्कूल में अपने विषय भारती के माध्यम से पढ़ते हैं उनका ज्ञान निस्संदेह कहीं अच्छा है अपेक्षाकृत उनके जिन्होंने अपने विषय अंग्रेजी के माध्यम से पढ़े हैं। यह सारा कुछ होते हुए भी कमिशन ने यह कह दिया कि :

भारती को स्कूल स्तर पर अधिक से अधिक क्लासिकल भाषा के साथ-साथ दूसरी भाषा के रूप में पढ़ाया जाए।

पंजाब में एक प्रयोग अच्छा किया गया किंतु बजाय इसके कि उसे आगे बढ़ाने के तरीके सुझाए जाते यह कह दिया गया कि उसके परिणाम अभी अनिश्चित हैं।

भारती भाषा को आगे बढ़ाने का कोई उपाय ? सुझाव दिया गया कि एम०ए० में अंग्रेजी के साथ-साथ भारती भी प्रारंभ की जाए। यह किसी को नहीं सूझा कि जब बी०ए० में भारती भाषा कोई नहीं पढ़ रहा तो एम०ए० में कोई क्या कर लेगा ?

भारती के साथ एक अन्याय प्रारंभ से ही किया गया और वह आज तक जारी है। जनभाषा होते हुए भी उसे स्वयंसिद्ध और स्वयंसत्यनिष्ठ नहीं माना गया। उसे किसी दूसरी भाषा के साथ रखकर तुलनात्मक दृष्टिकोण से देखा गया और उस तुलनात्मक स्थिति में उसका जनभाषा के रूप में अपना महत्त्व खो गया। उसे सदा अंग्रेजी या संस्कृत के साथ रखकर देखा गया। मकाले ने तो संस्कृत को भी अंग्रेजी के साथ रखकर तुलनात्मक दृष्टिकोण से देखा था। तुलनात्मक स्थिति में विषय का अपना महत्त्व तो लोप हो जाता है और तुलना के प्रतिमान अन्य विषयवर्ती बन जाते हैं। 1902 के आयोग ने भी ऐसा ही किया। उन्होंने भारती को संस्कृत के साथ रख दिया। आयोग ने इस विषय में अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया :

हम भारती भाषाओं के सक्षम अध्ययन के पक्ष में हैं। हमें विश्वास है कि उसकी आवश्यकता है। किंतु किन्हीं कारणों से हम ऐसा मानते हैं कि यदि विद्यार्थियों को क्लासिकल भाषा के स्थान पर भारती को पढ़ने की इजाजत दे दी गई तो शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य पूरा नहीं होगा। सामान्य शिक्षा के दृष्टिकोण से यह ठीक नहीं रहेगा। क्लासिकल भाषा में उपलब्ध साहित्य अत्यंत समृद्ध साहित्य है। वह भाषा मानव जाति की किसी न किसी महान शाखा के दर्शन और कर्म के इतिहास की अभिव्यक्ति करती है। यदि विद्यार्थियों को क्लासिकल भाषा के स्थान पर भारती विषयांतर की इजाजत दे दी गई तो वे उस दर्शन और इतिहास से वंचित रह जाएंगे। भारती भाषाओं के विषयांतर का सबल पक्ष लेने वाले भी इस बात को मानते हैं कि किसी भी प्रचलित भारती भाषा में ऐसा समृद्ध साहित्य नहीं है जैसा कि संस्कृत में है। दूसरी बात यह है कि भारती के अध्ययन के लिए अपेक्षित मानसिक योग्यता से संस्कृत के लिए अपेक्षित मानसिक योग्यता का स्तर बहुत ऊंचा है। अतः संस्कृत अध्ययन के द्वारा कहीं ऊंचे स्तर की प्राप्ति की जा सकती है। तीसरी बात यह है कि क्लासिकल भाषा के अध्ययन से तत्संबद्ध भारती भाषाओं का विकास भी होगा। बंबई और बंगाल में मद्रास की अपेक्षा भारती

भाषा का अधिक विकास क्यों हुआ ? केवल इसी कारण ।

कमिशन के इस तुलनात्मक वक्तव्य के कारण प्राचीन और प्रचलित भाषाओं में एक नई स्पर्धा खड़ी हो गई जो आगे चलकर प्राचीन और प्रचलित भाषाओं और उनके विद्यार्थियों एवं अध्यापकों के बीच ईर्ष्या का कारण बन गई । स्कूल में जहां भी हिंदी और संस्कृत के बीच एक भाषा के विषय रूप में चयन का प्रश्न आता तो यही समझा जाता था कि विशेष योग्यता वाले छात्र संस्कृत लेंगे और साधारण योग्यता वाले छात्र हिंदी लेंगे । यह बात आज भी ज्यों की त्यों बनी हुई है । जब तक विश्वविद्यालयों में स्वतंत्र रूप से भारती भाषाओं के विभागों की स्थापना नहीं हुई थी तब तक भारती भाषा संस्कृत विभाग का ही अंग हुआ करती थी और संस्कृत विभागाध्यक्ष भारती भाषा के अध्यक्ष भी होते थे । उस समय के पश्चात् जब भारती भाषाओं के स्वतंत्र विभागों की स्थापना हो गई तो कई बार ऐसा हुआ कि भारती विभाग ने सोचा कि भारती भाषा का विकास स्वतंत्र रूप से होना चाहिए और वह तभी होगा जब कि पारंपरिक प्राचीन भाषा से नाता तोड़ लिया जाए । अर्थात् एक ओर तो यह समझा गया कि बच्चे के जन्म के पश्चात् भी मात्र मां की सेवा करने से अनायास ही बच्चे का विकास हो जाएगा दूसरी ओर यह प्रयास किया गया कि बच्चे को युवावस्था तक ले जाने के लिए न केवल स्वतंत्र भोजन की आवश्यकता है बल्कि प्रकृति के नियमानुसार गर्भावस्था और शैशवावस्था में मां से प्राप्त संस्कारों और वृत्तियों को नकारना भी आवश्यक है । देखा तो यह जाना चाहिए था कि मां का स्थान मां का है और संतान का स्थान अपना है । दोनों का महत्त्व अपना-अपना है । मानसिक और आत्मिक रूप से संतान मां का दूसरा रूप होती है और उसका अपना विकास भी मां का ही विकास है । किंतु ऐसा सोचा ही नहीं गया । सोचा यह गया कि यदि छायाग्रस्त बूटे सूखने लगे हैं तो उसी पुराने बरगद को पानी देना पर्याप्त है जिसके बीज झड़कर अंकुरित हो चुके हैं और पत्ते निकाल चुके हैं । इन नए बूटों को न पानी दिया गया, न स्थानांतरित किया गया ।

बूटे यदि पुकारते ही रहें तो ? तो भी प्रमुख माली कभी पानी नहीं देता । वह छोटे माली को आज्ञा देता है, अमुक बूटे को पानी दो । ऐसा ही यूनिवर्सिटी आयोग ने किया । यूनिवर्सिटी तो कुछ कर नहीं सकती, स्कूल भले ही कुछ कर सकें :

> यूनिवर्सिटी के करने से कुछ नहीं होगा जब तक कि स्कूलों में भारती का सुचारु रूप से शिक्षण न किया जाए । इस समय अधिकतर तो इस विषय की अवहेलना की जा रही है । अध्यापक अयोग्य हैं और उन्हें बहुत थोड़ा वेतन दिया जाता है । अंग्रेजी की भांति भारती के लिए अच्छे अध्यापकों की नियुक्ति मूल आवश्यकता है । आवश्यक यह है कि स्कूल कोर्स की समाप्ति पर प्रत्येक विद्यार्थी भारती विषय में ऐसी कड़ी परीक्षा दे जिससे यह प्रमाणित हो जाए कि उसे अपनी भाषा का सम्यक् ज्ञान है जो उसके लिए अपने विचारों और भावों की उचित और आसानी से अभिव्यक्ति करने के लिए पर्याप्त है (पैरा-96) ।

यूनिवर्सिटी का इस प्रकार हाथ उठा लेना अपने उत्तरदायित्व और शिक्षा-नेतृत्व से मुंह

मोड़ लेने के समान था । आज भी यूनिवर्सिटी का लगभग यही दृष्टिकोण है । यह ठीक है कि भाषा की बुनियादी योग्यता देना तो स्कूलों का काम था लेकिन बच्चा स्कूल में तो कुल छः या सात वर्ष ही पढ़ता था । पहले दो या चार वर्ष केवल भारती, फिर दो या तीन वर्ष अंग्रेजी के साथ दूसरी भाषा के रूप में, उसके पश्चात् अंग्रेजी माध्यम प्रारंभ हो जाता था । और दूसरी भाषा के रूप में भारती के साथ-साथ प्राचीन भाषा भी ली जा सकती थी । इन पांच या सात वर्षों में अंग्रेजी के बोझ से बचकर भारती में कोई क्या कर लेता ? इसके अतिरिक्त सामान्य शिक्षा दृष्टिकोण से संस्कृत की अपेक्षा भारती को छोटा भी बना दिया गया ।

इस बात को समझने के लिए हमें इंग्लैंड और यूरोप में प्रचलित भाषाओं की तुलना में क्लासिकल भाषाओं को दिए गए सम्मान को ध्यान में रखना पड़ेगा । उन्नीसवीं शती के अंत में विद्वान् तो इस मत के थे कि सामान्य शिक्षा में क्लासिकल भाषा का महत्त्व मानसिक विकास के लिए प्रचलित भाषा की अपेक्षा अधिक था । मानसिक विकास के लिए प्रचलित भाषाओं के अध्ययन को निरर्थक समझा जाता था । वास्तव में प्रचलित भाषाओं को न केवल निरर्थक अपितु हानिकारक समझा जाता था क्योंकि उससे मन चंचल और छिछोरा बन जाता है । हेनरी स्वीट जैसे प्रचलित भाषाओं के समर्थक भी यह मानते थे कि प्रचलित भाषाओं का अध्ययन करना ही है तो गंभीरतापूर्वक करना चाहिए क्योंकि प्रचलित भाषाओं का सतही अध्ययन मन को छिछला बना देता है जैसे किसी भी विषय का सतही अध्ययन मन को छिछला बना ही देता है । स्वीट यह भी अवश्य मानते थे कि प्राचीन भाषाओं का अध्ययन भी सतही, सीमित और अवैज्ञानिक ढंग से किया जा सकता है ।[7] ऐसे विद्वान् भी थे जो केवल प्रचलित भाषाओं को ही महत्त्व देते थे और शिक्षा से प्राचीन भाषाओं के बहिष्कार में विश्वास करते थे । किंतु फिर भी परंपरावश प्राचीन भाषाओं का महत्त्व प्रचलित भाषाओं की अपेक्षा अधिक था । इसी कारण संभवतः 1902 के आयोग ने प्राचीन भाषा को प्रचलित भाषा की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया । इस परिप्रेक्ष्य में और अंग्रेजी और संस्कृत की तुलना में प्रचलित भारती के लिए स्कूल क्या कर लेते ? कालेज और विश्वविद्यालयों को कोई सीधी जिम्मेदारी तो दी नहीं गई । किंतु यह सुझा दिया गया कि यदि प्रचलित भाषा का अध्ययन किया जाना है तो गंभीरतापूर्वक और उचित प्रकार से किया जाना चाहिए । इसी कारण सुझाव यह दिया गया कि प्रचलित भाषा का अध्ययन एम०ए० स्तर पर किया जाए ।

शिक्षा आयोग ने वास्तविक समस्या को मोड़ दे दिया । प्रश्न यह नहीं था कि प्राचीन भाषा या प्रचलित भाषा के अध्ययन से मानसिक विकास होगा या नहीं या कितना होगा । प्रश्न था कि शिक्षा का स्तर ऊंचा कैसे हो । यह जानते हुए भी कि विद्यार्थियों की शिक्षा मातृभाषा के माध्यम से अधिक सफल होती है उन्होंने इस वास्तविक समस्या के बारे में कुछ नहीं कहा और समस्या को यह मोड़ दे दिया कि प्रचलित और प्राचीन दोनों भारती भाषाओं में से कौन-सी के अध्ययन से मानसिक विकास अधिक होगा । समस्या को यह मोड़ दे देने के बाद भी और यह

7. हेनरी स्वीट, 'प्रैक्टिकल स्टडी आफ लैंग्वेजिज' (लंदन, 1964), पृ० 271, 276

भी जानते हुए कि अंग्रेजी के माध्यम से उनका मानसिक विकास नहीं हो रहा और उनकी शिक्षा निष्फल हो रही है, उन्होंने अंग्रेजी माध्यम के औचित्य या अनौचित्य या सफलता या विफलता के संबंध में कोई ठोस विचार या सुझाव नहीं दिया। स्थिति जैसी थी वैसी ही रही—चले सो गाड़ी और बहे सो नदिया। अंग्रेजी चलती रही, फैलती रही। बरगद की छाया में बूटे सूखते रहे।

स्कूल और यूनिवर्सिटी दोनों की अग्रिम भाषा रही अंग्रेजी। भारती प्रथम दो-चार श्रेणियों तक सीमित रह गई। भाषा का विकास जनमानस्-विकास के साथ होता है। वास्तव में मानस-विकास और भाषा-विकास दोनों साथ-साथ होते हैं। एक के बिना दूसरा नहीं होता और दोनों का विकास दर्शन और चिंतन के बिना नहीं होता। बुद्धिजीवियों की आकांक्षाएं तो अंग्रेजी की छाया में लीन हो चुकी थीं और वे छाया में बैठे शब्दों से जूझते सरकारी वैभव के सपने लेने लगे थे। अंग्रेजी बरगद की छाया में देसी बूटे सूखते रहे। 1854 के शिक्षा भारती प्रस्ताव के सही 50 वर्ष बाद 1904 में सरकार ने भारती संबंधी आश्वासन को दुहराया और साथ में भाषा-विकास संबंधी एक सही बात कह दी : सरकार की नीति कभी भी यह नहीं रही कि भारतीय भाषाओं के स्थान पर अंग्रेजी को लाया जाए। यदि शिक्षित वर्ग अपनी भाषाओं का विकास नहीं करेंगे तो वे मात्र गंवारू बोलियों के स्तर पर जा टिकेंगी। उनके नाम के अनुरूप उनमें कोई साहित्य नहीं होगा। बात ठीक थी। बूटों के स्थान पर बरगद कैसे आता, बरगद बरगद ही रहा, बूटे बूटे ही रहे। पानी देने वाले सपने ले रहे थे। बूटे सूखते चले गए। 1904 के ही प्रस्ताव में यह भी माना गया कि यह सत्य है कि अंग्रेजी का जो बाजारी मूल्य है उसके कारण एवं इस कारण कि वह हाई स्कूल (अंतिम परीक्षा) का माध्यम है सेकंडरी स्कूलों पर यह दबाव पड़ता है कि वे अंग्रेजी का भाषा रूप में अध्यापन और शिक्षा-माध्यम के रूप में प्रयोग उचित समय से पहले ही प्रारंभ कर दें और इसी कारण इन स्कूलों में भारती का अध्ययन पीछे धकेल दिया जाता है।[8] बड़े की धक्काशाही चली, छोटे की कौन चलने देता ?

8. उद्धृत : 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन रिपोर्ट', II, पृ० 238-39

18
धान के छिलके

शिक्षा मानसिक विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया का रचनात्मक अनुशीलन है। मानसिक विकास का प्रथम सोपान है प्रकृति और परिवेश, दूसरा सोपान है परिवार और परंपरा, और तीसरा सोपान है स्वाध्याय और प्रवचन। ये तीनों परिवेश-संबंधी हैं। मानसिक सोपान हैं : प्रकृति, अनुभूति, कृति।

1. अचेतन अनुभव → किंचिचेतन (प्रकृति)
2. किंचिचेतन → चेतन अनुभव (अनुभूति)
3. चेतन अनुभव → रचनात्मक, सर्जनात्मक कृति (अनुभूति, स्वाध्याय, प्रवचन)

1+2 → भोक्तृत्व : भोग की चेतना

3 : कर्तृत्व → निर्माण-चित्तम् (चेतना+कर्म)

मनुष्य परिवेश और परंपरा को नया मोड़ भी दे सकता है।

ये तीनों सोपान एक-दूसरे से भिन्न नहीं हैं। वे एक-दूसरे में सन्निहित रहते हैं। उदाहरणार्थ, मानवीय जीवन और विकास में प्रकृति और परिवेश की जो देन है वह परिवार और परंपरा के स्तर पर निरंतर बनी रहती है। इसके अतिरिक्त परिवार और परंपरा की जो देन है वह स्वाध्याय और प्रवचन के स्तर पर निरंतर बनी रहती है। कोई पारिवारिक परंपरा एवं स्वाध्याय-प्रवचन प्रक्रिया यदि नैसर्गिक प्रवाह से दूर या उलट मार्ग पर चलेगी तो दूषित हो जाएगी। साथ ही साथ यह भी सत्य है कि केवल प्रकृति और परिवेश तक सीमित रहने वाला व्यक्ति मात्र प्राकृत मानव अर्थात् नोबल सैविज बन कर रह जाएगा और स्वाध्याय प्रवचन-हीन मनुष्य परंपरा तक सीमित रह कर मात्र रूढ़िवादी बनकर रह जाएगा। इन तीनों अंगों या सोपानों पर आधारित संपूर्ण शिक्षा-प्रक्रिया की अधिष्ठात्री देवी कमलासना हंसवाहिनी सरस्वती है जो मानव के मानसिक विकास और संस्कृति की पराकाष्ठा का प्रतीक है। मनुष्य का जीवन सत्यम् शिवम् सुंदरम् का समागम है और सच्चिदानंद के दर्शन से ही सिद्ध होता है। शिक्षा इस अनुभूति और सिद्धि का माध्यम है, सरस्वती उसकी आराध्य देवी है। शिक्षा-प्रक्रिया के द्वारा सुसंस्कृत मानव कीचड़ से श्वेत कमल का सर्जन कर सकता है। विवेक-बुद्धि का धनी, वह सत्य और असत्य, धर्म और अधर्म, इष्ट और अनिष्ट के अंतर को समझता हुआ सन्मार्ग पर चल सकता है और अपने जीवन के माधुर्य और लालित्य की वीणा की झंकार से अपने परिवेश को

मधुमय बना देता है। कलात्मक जीवन की छटा उसके सौरभ से खिलती है। ऐसे महामानव संगति, संवाद और संचिंतन के द्वारा सामूहिक जीवन को सुरभिमय बना देते हैं। उसी सुरभि का नाम है संस्कृति। प्रकृति, परंपरा और संस्कृति संपन्न जीवन के अंग हैं। स्वाध्याय और प्रवचन इनका संचार-स्रोत है। संचार के बिना प्रकृति नैसर्गिक न रहकर केवल जड़ बनकर रह जाती है, परंपरा क्रियात्मक न रहकर रूढ़ि बनकर खड़ी रह जाती है और संस्कृति सर्जनात्मक न रहकर अंधविश्वास बनकर भटकने लगती है। नवजीवन का माध्यम है शिक्षा का संचार। शिक्षा और संचार का माध्यम है भाषा। शिक्षा, भाषा, समाज और संस्कृति इन चारों का अटूट संबंध है। भाषा की अधिष्ठात्री देवी भी सरस्वती है।

मानसिक विकास के अंतर्गत बुद्धि, भाव और भाषा इन तीनों का विकास आता है। बुद्धि, भाव और भाषा प्रकृति की विशेष देन हैं। इन्हीं के कारण मनुष्य दूसरे प्राणियों से विशिष्ट है। ये प्रकृति की देन तो अवश्य हैं किंतु इनका विकास सरस्वती के आशीर्वाद से होता है। सरस्वती वास्तव में प्रकृति का ही उत्कृष्ट रूप है। मानव को जन्म देने वाली मां तो प्रकृति और सरस्वती दोनों की प्रतीक है। भाषा मां की देन है। गांधी जी ने ठीक कहा था कि जैसे बच्चे के शरीर में मां के दूध का संचार होता है वैसे ही उसके मन में मां की लोरी के साथ मातृभाषा का संचार होता है। सृष्टि के प्रारंभ में भी आदि मां के हृदय से आदि ऋषियों के मन में आदि भाषा का संचार हुआ था। आदि सूत्रों का ज्ञान भी मानव को आदि पिता शिव के डमरू की डुंकार से ही हुआ था। शिव और शक्ति आदि स्रष्टा के ही दो रूप हैं जो हमारी मानवीय कल्पना और साहित्य के आधारस्तंभ हैं। संभवतः इसी कारण आदि साहित्य में शिक्षा के संबंध में कहा गया है कि 'मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद'। प्रकृति से प्रवचन पर्यंत शिक्षा की सारी प्रक्रिया माता-पिता और आचार्य के सान्निध्य में उन्हीं के सम्मुख एवं उन्हीं के श्रीमुख से संपन्न होती है। बुद्धि, भाव और भाषा इनकी प्राप्ति प्राकृत तो अवश्य है किंतु इनका विकास और परिष्कार शिक्षा के द्वारा होता है। जो प्रक्रिया प्रकृति मां की गोद में आरंभ होती है वह सरस्वती मां के मंदिर में संपन्न होती है अर्थात् सरस्वती के आशीर्वाद से प्राकृत संस्कृत बन जाती है। जो शिक्षा संस्थान किसी न किसी रूप में सरस्वती मंदिर का रूपांतर नहीं है उसमें कहीं न कहीं, कोई न कोई खोट अवश्य है और रहता है।

बुद्धि, भाव और भाषा के साथ-साथ एवं इनके अतिरिक्त और इनसे ऊपर मनुष्य को प्रकृति की सबसे बड़ी देन है चेतना। चेतना चेतन का स्वाभाविक गुण है। चित्त चेतना का पटल है। चेतनापटल चित्त का केवल आंशिक भाग है क्योंकि चित्त का पटल तो स्मृति और संस्कार की अवचेतन और अचेतन गहराइयों तक पहुंचता है। चेतनापटल इन गहराइयों को छू भी नहीं पाता। चेतना में ही बुद्धि, भाव और भाषा का समन्वय होता है। इस नाते समस्त शिक्षा-प्रक्रिया चेतना का ही विस्तार और परिष्कार है। विस्तार से ज्ञान की वृद्धि होती है और परिष्कार से समाज और संस्कृति की उन्नति होती है।

जीवन के संदर्भ में चेतना स्वयं अपना विषय नहीं होती। उसे अपना कार्य अर्थात् अनुभूति

या अभिव्यक्ति करने के लिए अन्य वस्तु की अपेक्षा होती है। उदाहरण के तौर पर हम कह सकते हैं कि हमारे प्राकृतिक और सामाजिक परिवेश में एक ओर तो फल-पत्ते, जीव-जंतु, नदी-नाले, पृथ्वी-आकाश इत्यादि हैं तो दूसरी ओर घर-बाहर, खान-पान की सामग्री, हाट-बाजार और पास-पड़ोसी हैं। ये सब हमारे अनुभव का विषय हैं और यह अनुभव हमारे बुद्धिपटल पर अर्थात् चेतना में अंकित होता चला जाता है। माता-पिता या औरों से हम इन वस्तुओं के नाम भी सुनते हैं और उन नामों को भी अपने बुद्धिपटल पर अंकित कर लेते हैं। यही पटल अब हमारा स्मृतिपटल बन जाता है। शनैः-शनैः हम स्थूल से सूक्ष्म की ओर चलने लगते हैं। रिश्ते-नाते, अच्छा-बुरा, प्राकृतिक और सामाजिक तथ्यों के परस्पर संबंध और उनके बढ़ने-घटने की प्रक्रिया हमारे बुद्धिपटल पर विषय-वस्तु और उसके नामों के साथ अंकित होती रहती है। यह सब हमारी अनुभूति का क्षेत्र है। इस अनुभूति के आधार पर हमारे बुद्धिपटल/स्मृतिपटल पर इन दो के अतिरिक्त एक और चीज अंकित हो गई है। ये मिलाकर तीन चीजें बनती हैं। एक विषय-वस्तु और उसका रूप आकार इत्यादि, दूसरी उसका नाम, और तीसरी उस वस्तु और उसके नाम का संबंध एवं समन्वित रूप अर्थात् अर्थ। वस्तु, रिश्ते-नाते, नियम और प्रक्रियाएं, विचार ये सब अनुभव की स्थूल और सूक्ष्म सामग्री हैं। इन सबके नाम उसी सामग्री के ध्वन्यात्मक रूपांतर हैं और इसी वास्तविक और ध्वन्यात्मक सामग्री का समन्वित रूपांतर भाषा है।

अब भाषा के दो रूप हो गए : एक व्यक्त अर्थात् ध्वन्यात्मक और दूसरा अव्यक्त किंतु वक्तव्य अर्थात् मानसिक। मानसिक विकास की यह प्रक्रिया अनुभव पर आधारित है और प्राकृत एवं स्वाभाविक है और साथ में भाषायी विकास की द्योतक भी है। यह प्रक्रिया व्यक्तिगत है किंतु साथ-साथ समाज से संबद्ध भी है। अनुभवगत और अनुभवगम्य सारी विषय-वस्तु का शाब्दिक रूपांतर तो हमें माता-पिता या अपने परिवेश में रहने वाले दूसरे व्यक्तियों से ही मिलता है। उनके साथ वार्तालाप में हम उन्हीं शब्दों का उन्हीं अर्थों में प्रयोग करते है अन्यथा हम अपनी बात उन तक पहुंचा नहीं सकते। इस प्रकार भाषा हमारी वैयक्तिक और सामाजिक चेतना का अमूल्य धन है। भाषा ही हमारी वैयक्तिक अभिव्यक्ति और संचार का साधन है। यही आनुभविक चेतना भाषा समेत हमारे बुद्धिपटल से अवचेतन और अचेतन की गहराइयों में, गूढ़ स्मृति और संस्कारों में, छन-छनकर उतरती रहती है। इस प्रकार भाषा की शाखाएं यदि हमारे परिवेश तक फैली हैं तो उसकी जड़ें हमारे वैयक्तिक और सामूहिक स्मृति-संस्कार और अचेतन की असीम गहराइयों तक उतरी होती हैं। हमारी परंपरा (धार्मिक, सांस्कृतिक और सामाजिक) इन्हीं स्मृति संस्कारों की सामूहिक अभिव्यक्ति है। भाषा हमारे वैयक्तिक एवं सामूहिक परिवेश के अंतिम छोर तक पहुंचती है और अतीत की गहराइयों को छूती है। हम कौन हैं, क्या हैं, कहां हैं, कहां से आए हैं, किधर जा रहे हैं, कहां पहुंचना है और क्यों पहुंचना है, ये सारे प्रश्न उठाए जा चुके हैं, उठाए जाते हैं। इनका उत्तर खोजने का प्रयास भी किया गया है और किया जा रहा है। भाषा में ये प्रश्न, उत्तर और प्रयास सब विहित हैं। अतः हम यह भी कह सकते है कि किसी

भी व्यक्ति एवं समाज के अतीत, अनागत और वर्तमान की झलक उस व्यक्ति और समाज की भाषा में लक्षित हुआ करती है। इसी कारण भाषा हमारी चेतना अर्थात् मानसिक विकास का परम साधन है। शब्द को ऋषियों ने ब्रह्म की संज्ञा भी दी है। जो हमारी आत्मा है वही हमारी भाषा की आत्मा भी है!

मानसिक विकास केवल व्यक्तिगत और ऐंद्रिय अनुभूति के आधार पर ही नहीं होता। यदि केवल ऐसा ही होता तो सृष्टि का प्रत्येक मनुष्य वहीं से प्रारंभ करता और लगभग वहीं पर छोड़ देता जहां से औरों ने प्रारंभ किया और जहां उन्होंने छोड़ा। सभ्यता, साइंस, संस्कृति, साहित्य इत्यादि का जो विकास हुआ वह नहीं हो पाता। विकास वास्तव में व्यक्तिगत भी है और सामूहिक भी है। व्यक्तिगत विकास व्यक्तिगत अनुभव से प्रारंभ तो होता है किंतु एक विशेष स्तर पर पहुंचने के पश्चात् हम अपने पूर्वतर अनुभव का उपयोग लेने लगते हैं। साइंस और साहित्य मानव मात्र की सामूहिक धरोहर है और एक वैज्ञानिक वहां से काम प्रारंभ करता है जहां दूसरों ने छोड़ा है। दूसरों के अनुभव एवं ज्ञान का उपयोग हम भाषा के माध्यम से ही कर पाते हैं। हमारा कुल मिलाकर जो भी इस प्रकार अनुभव होता है वह दृष्ट और आनुश्रविक दो प्रकार का होता है। आनुश्रविक अनुभव स्वाध्याय और प्रवचन के द्वारा संपन्न होता है और इन दोनों का माध्यम है भाषा। दृष्ट अनुभव तो स्वाभाविक होता ही है, आनुश्रविक अनुभव भी स्वाभाविक अनुभव का संवर्द्धन होना चाहिए क्योंकि यदि वह अस्वाभाविक हो, मानसिक विकास या तो होगा नहीं और यदि कुछ संभावना होगी भी तो ऐसी होगी कि सीखने वाला रास्ते में ही टूट जाएगा। आनुश्रविक अनुभव की प्रक्रिया स्वाभाविक प्रक्रिया का ही अनुशीलन होना चाहिए। आनुश्रविक अनुभव बिना वस्तु-दर्शन के सम्यक्-संपन्न नहीं होता।

आनुश्रविक अनुभव अथवा स्वाध्याय और प्रवचन ये ही शिक्षा के साधन हैं। इस प्रकार शिक्षा मनुष्य के स्वाभाविक अनुभव का संवर्द्धन ही है। इसीलिए हमने प्रारंभ में कहा है कि शिक्षा मानसिक विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया का रचनात्मक अनुशीलन है। शिक्षा को सुंदर और सिद्धिपरक बनाने के लिए यह आवश्यक है कि सारी शिक्षण-प्रक्रिया स्वाभाविक हो। विषय-वस्तु अर्थात् कोर्स और पाठ्य पुस्तकें समाज सभ्यता, संस्कृति और परंपरा के अनुकूल हों। भाषा विद्यार्थी की बुद्धि और भावों को छूने वाली हो जो कि शब्द, अर्थ और वस्तु तीनों को अनायास ही उसके मानसपटल पर उतार दे। वास्तविक ज्ञान का अर्थ ही यह है कि वह केवल शब्दों तक ही सीमित नहीं रहता अपितु शब्दों के माध्यम से विद्यार्थी को वस्तु-ज्ञान तक पहुंचा देता है। वस्तु-शून्य ज्ञान केवल शब्दाडंबर होता है और विद्यार्थी के लिए जानलेवा जंजाल बन जाता है जो ज्यादा देर तक बुद्धि में नहीं टिकता। शिक्षा-भाषा मातृभाषा ही हो सकती है क्योंकि उसी का संबंध उसके परिवेश के साथ होता है और वही उसकी भावनाओं और संस्कारों को छूने वाली होती है। इसके अतिरिक्त केवल उसी भाषा में उसके मानसपटल पर शब्द, अर्थ और वस्तु का संश्लिष्ट रूप अंकित होता है। यदि कोई और भाषा विशेषकर विदेशी भाषा शिक्षा का माध्यम हो तो विद्यार्थी सीधा विषय-वस्तु या ज्ञान-वस्तु तक नहीं पहुंच

पाएगा क्योंकि उसके लिए वह भाषा तो वस्तु-शून्य है। इसलिए पहले वह विदेशी भाषा के समानार्थ मातृभाषा में विद्यमान शब्दों तक पहुंचेगा और उनके माध्यम से वास्तविक ज्ञान तक पहुंचेगा। यह प्रक्रिया स्वाभाविक नहीं है, इसलिए मानसिक विकास में यह अवरोध खड़ा कर देती है। शिक्षा वास्तविक नहीं हो पाती और विद्यार्थी तेली के बैल की तरह चलते-चलते भी आगे नहीं बढ़ पाता। जो कुछ वह सुनता है उसे जब तक वह अपनी भाषा में परिणत करता है तब तक सुनाने वाला कहीं से कहीं पहुंच जाता है। स्वाध्याय वह करता नहीं, प्रवचन निष्फल हो जाता है। शिक्षक भले ही अपनी ओर से मोती बिखेरे, पर ये हंस तो उन्हें पहचानते नहीं। पहचानने वाले तो हजारों मील दूर उड़ते हैं। यहां के मोतियों की चमक और है, उसे शिक्षक नहीं पहचानता। शिक्षक के मोतियों को विद्यार्थी नहीं पहचानते। मोतियों की दलाली में भी काले हाथ! बूर के पकौड़ों से पेट नहीं भरता।

यह वैचारिक चर्चा कुछ लंबी हो गई किंतु यह आवश्यक जान पड़ती है। कारण दो हैं: एक तो यह कि जब से भारत में अंग्रेजी शिक्षा लागू करने का प्रस्ताव किया गया तभी से प्रस्तावक और अंग्रेज शिक्षाशास्त्री यह जानते थे कि भारत में शिक्षा का स्वाभाविक माध्यम केवल भारती हो सकता है। इसका अर्थ है कि वे यह भी जानते थे कि अंग्रेजी माध्यम यहां पर अस्वाभाविक अर्थात् पारभाविक होगा। हम पहले ही स्वाभाविक और पारभाविक विषय की चर्चा कर चुके हैं। यह जानते हुए भी उन्होंने अंग्रेजी माध्यम को लागू किया, पारभाविक कारणों से। अब अस्वाभाविक माध्यम के पश्चात् यह स्वाभाविक था कि शिक्षा का स्तर नीचे गिरे। हम यह सुनते-सुनते थक चुके हैं कि भारत में शिक्षा का स्तर नीचा है और गिरता जा रहा है। हम यह भी सुनते आ रहे हैं कि भारत में अंग्रेजी भाषा का स्तर गिर रहा है। दूसरा कारण एक प्रश्न है कि अंग्रेजी और शिक्षा का स्तर कब से गिर रहा है? कहीं उसी समय से तो नहीं गिर रहा जबकि अंग्रेजी को लागू किया गया था? इससे हमें यह देखने में सहायता मिलेगी कि कमजोरी विद्यार्थियों में है या पद्धति में। और फिर हम संभवतः यह देख पाएंगे कि इस कमजोरी का सही इलाज क्या है।

अंग्रेजी शिक्षा का प्रथम प्रस्ताव चार्ल्स ग्रांट ने तैयार किया था जो उन्होंने 1793 में पार्लमेंट के सामने रखा था। ग्रांट चाहते थे कि शिक्षा के विषय हों अंग्रेजी साहित्य और साइंस और माध्यम हो अंग्रेजी भाषा। उन्हीं के अपने विचार के अनुसार शिक्षा का स्वाभाविक माध्यम केवल भारती ही था। उनके विचार में भारती माध्यम केवल स्वाभाविक ही नहीं, आवश्यक भी था क्योंकि यह आशा करना व्यर्थ था कि भारतीय विद्यार्थी किसी और माध्यम से शिक्षा विषयों को समझ लेंगे। उन्होंने अंग्रेजी माध्यम का प्रस्ताव केवल राजनीतिक कारणों से किया था।[1] ग्रांट महोदय के मानस-पुत्र थे लार्ड मकाले जिन्होंने अंग्रेजी बरगद का जंगी बूटा लगाया था। उन्होंने अंग्रेजी माध्यम लागू तो करवा दिया किंतु वे जानते थे कि अंग्रेजी में पढ़ाने का भी अनिवार्य अर्थ यही होगा कि विद्यार्थी पढ़ेंगे भारती में ही, क्योंकि पहले वे अंग्रेजी शब्दों का पर्याय ढूंढेंगे अपनी

1. सय्यद महमूद, 'हिस्ट्री आफ इंग्लिश एज्यूकेशन इन इंडिया', पृ० 11-13

भाषा में और तत्पश्चात् विषय-वस्तु को समझेंगे । मकाले की स्वयं मान्यता यह थी कि हमारी वास्तविक भाषा तो हमारी मातृभाषा ही होती है । हम अपने परिवेश में जिन वस्तुओं को देखते हैं उन्हीं के नाम अपनी मातृभाषा में सीखते है । बाद में हम जो भी भाषा सीखते हैं वह वास्तविक नहीं होती, केवल प्रथम भाषा के शब्दों का पर्याय-रूपांतर होती है ।[2] एल्फिस्टन ने कहा था कि पाश्चात्य विचारों को भारतीयों तक यदि सुगम और पक्के तरीके से पहुंचाना है तो उसका केवल एक ही माध्यम है और वह है विद्यार्थियों की मातृभाषा । अंग्रेजी माध्यम भारत में कभी सफल नहीं होगा ।[3] बंबई के गवर्नर महोदय ने जब अंग्रेजी माध्यम का आदेश जारी किया तो उस आदेश में ही कहा गया कि उनके विचारानुसार भारत के लोगों की शिक्षा उसी भाषा में देने के लिए प्रयास किए जाने चाहिए जिस भाषा को वे बचपन से जानते हैं ।[4] भारतीय शिक्षा आयोग (1882) के मत में भी भारती माध्यम ही उचित था । बार-बार यह कहा गया कि शिक्षा का माध्यम केवल वह भाषा होनी चाहिए जो उन्होंने शैशव अवस्था से सीखी हो, जिसमें वे अपने परिवेश के फूल-पत्तों को और घर-बाहर को जानते हों और जिसके माध्यम से वे सोचते हों और अपनी भावनाओं को व्यक्त करते हों । बंबई के कैप्टेन कैंडी, कर्नल जार्विस और सर जगन्नाथ यह कहते-कहते थक गए । किंतु भारती न माध्यम बनाई गई, न उसका विकास किया गया ।

यह भी जानी-मानी बात थी कि जिन विद्यार्थियों ने भारती के माध्यम से शिक्षा प्राप्त की थी उन्होंने अच्छे परिणाम दिखाए अपेक्षाकृत उनके जिन्होंने अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा ग्रहण की थी । 1882 के शिक्षा आयोग के अनुसार जो विद्यार्थी भारती के माध्यम से पढ़कर हाईस्कूल में आए थे उनका मैट्रिक परिणाम उन विद्यार्थियों से अच्छा था जो अंग्रेजी स्कूलों से आए थे । 1913 के भारत सरकार के शिक्षा प्रस्ताव में यह माना गया था कि भारतो माध्यम से पढ़े विद्यार्थियों का मानसिक और बौद्धिक स्तर निस्संदेह बहुत ही ऊंचा था । 1915 में इस विषय पर जब वाइसराय महोदय की असेंबली में बहस हुई तो निरपवाद रूप से यह माना गया कि जिन बच्चों की शिक्षा भारती माध्यम से हुई थी उनका मानसिक स्तर उन बच्चों से बहुत ऊंचा था जिनकी शिक्षा मिडिल स्कूल में अंग्रेजी के माध्यम से हुई थी ।[5]

बच्चे अंग्रेजी से जूझते रहे और अध्यापक बच्चों से । दोनों की इस गौर लीला की एक झलक पंजाब की रंगभूमि से मिलती है । 1849 में अमृतसर में एक सरकारी स्कूल खुला । स्कूल की रिपोर्ट में अंग्रेजी के संबंध में कहा गया कि इस विभाग ने बड़ी उन्नति की है जैसी कि आशा की गई थी । स्कूल खुलने से पहले अमृतसर के बहुत लोगों ने अंग्रेजी अध्ययन के लिए बड़ी प्रबल इच्छा प्रकट की थी । रीडिंग, स्पेलिंग और लेखन, हिसाब, प्रारंभिक ज्यामिति और भूगोल कोर्स में रखे गए हैं । बहुत-से धनी-मानी पंजाबी सज्जन अपने बच्चों को प्राइवेट अंग्रेजी पढ़वाते हैं और बहुत सारे बंगाली महाशय जो टूटी-फूटी अंग्रेजी जानते हैं वे अंग्रेजी टीचर के रूप में नौकरी पा लेते हैं ।[6]

2. 'मिनिट्स आन एज्यूकेशन इन इंडिया', संकलित एच० वुडरो (1862), पृ० 41
3. उद्धृत : नूरुल्ला और नायक, 'ए हिस्ट्री ऑफ एज्यूकेशन इन इंडिया', पृ० 98
4. रिची, 'एज्यूकेशनल रिकार्ड्स', II, पृ० 19-20
5. उद्धृत : तुलसीराम, 'ट्रेडिंग इन लैंग्वेज' (दिल्ली, 1983), पृ० 191

एक नमूना अंग्रेजी अध्यापक का भी देखने योग्य है जो मार्क ट्वेन की पुस्तक 'फालोविंग द इक्वेटर' से मिलता है । मार्क ट्वेन 1895 में भारत-यात्रा पर आए थे और उन्होंने गौरवर्ग भारतीयों को अंग्रेजी के नीचे पिसते देखा था । उन्होंने अंग्रेजी अध्यापक के लिए दी गई एक प्रार्थना का उद्धरण दिया है । एक महत्त्वाकांक्षी नौजवान लिखता है :

> My dear Sir or Gentlemen, that your Patitioner has much qualification in the language of English to instruct the young boys; I was given to understand that your of suitable children has to acquire the knowledge of English language.[7]

एक नौजवान परीक्षा में पास होने के लिए परीक्षक महोदय से याचना कर रहा है :

> Oh my dear father examiner you my father and you kindly give me a number of pass you my great father. Sir which Sir Isaac Newton and other experienced mathematicians cannot understand I being third of Entrance class can understand these which is too impossible to imagine.[8]

एक श्रीमान पास तो हो गए । अब वह नौकरी की खोज में निकले । प्रार्थना-पत्र नीचे उद्धृत है :

> I pray please to give me some action for I am very poor boy...you give the telegraph office, and another work what is your work.[9]

मार्क ट्वेन ने जब नौजवानों की यह दशा देखी तो उन्हें हंसी आई और साथ में रोना भी । कुछ परिणाम तो बड़े ही आश्चर्यजनक थे जैसे आज भी होते हैं । शेर का शिकार तो एक-दो निशानेबाज ही करते हैं, शेष भीड़ तो मात्र ढोल पीटने के लिए जाती है । मार्क ट्वेन कहते हैं कि अंग्रेजी की दुनिया में जो नौजवान धकेले जा रहे थे वे यदि छोटा शिकार करने निकलते तो उनके हित में होता किंतु अंग्रेजी की तलाश में तो वे केवल समय ही बर्बाद कर रहे थे ।[10]

किसान फसल काट कर खलिहान में लाया । गहटा चलाया । दाने और छिलके अलग-अलग किए । बरसाया । बच्चे अनाज तक पहुंच नहीं पाए । छिलके बटोरते रहे ।

मां ने अनाज पिसवाया । आटा छाना । बूर अलग किया । रोटियां बनाईं । बच्चे का हाथ रोटियों तक नहीं पहुंचा । बूर फांकता रहा ।

चावल और छिलका, गेहूं और बूर—ये साथ-साथ रहते हैं । अलग-अलग होने पर दाने से पेट भरता है, आटे से पेट भरता है, छिलके या बूर से नहीं ।

शब्द और अर्थ का वही संबंध है जो चावल और छिलके का है । शब्द रूप है तो अर्थ

6. रिची, 'एज्यूकेशनल रिकार्ड्स', II, पृ० 280
7. मार्क ट्वेन, 'फौलोविंग द इक्वेटर' (न्यूयार्क, 1923), II, पृ० 276-77
8. वही, पृ० 281-82
9, 10. वही, पृ० 281-82

उसकी आत्मा । शब्द अकेला वैसा ही है जैसा चावल के बिना छिलका या गिरी के बिना बूर । अंग्रेजी पढ़ने वाले नौजवान अर्थ तक नहीं पहुंच पाए केवल शब्दों से जूझते रहे । कलकत्ता यूनिवर्सिटी का परिणाम प्रतिशत इस प्रकार रहा :

	1898-1903	1904
मैट्रिक	47.4	37.8
एफ०ए०	36.2	33.8
बी०ए०	21.9	10.1

1902 में जो भारतीय यूनिवर्सिटी कमिशन बैठाया गया था उसकी रिपोर्ट के अनुसार भारतीय ग्रेज्युएट्स की योग्यता अत्यंत नीचे स्तर की थी । कारण ? विदेशी भाषा । कमिशन ने अपनी रिपोर्ट के पैरा-17 में लिखा था, "विदेशी भाषा में शिक्षा-ग्रहण करने के कारण विद्यार्थी को जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है हम उन्हें भली भांति जानते हैं । हमें याद है कि जब यूरोप के विद्यार्थी क्लासिकल भाषा (लैटिन) के माध्यम से सारी शिक्षा ग्रहण करते थे तो वे लैटिन में गलतियां तो करते थे किंतु बोल अवश्य लेते थे । किंतु भारत में सारी कठिनाइयों को यदि ध्यान में रख भी लें तब भी यह सुनकर बड़ा अफसोस होता है कि बहुधा भारतीय बी०ए० के पास वह योग्यता नहीं होती जो उसे अपनी जीवनचर्या के लिए अपेक्षित है ।" अंग्रेजी की तुलना लैटिन के साथ इसलिए की गई कि अंग्रेजी तो यहां क्लासिकल भाषा की तरह पढ़ाई जा रही थी ।

यह भी कहा जा सकता है कि अंग्रेजी तो केवल नौकरी के लिए भाषा के रूप में वैसे ही पढ़ी जा रही थी जैसे मुगल काल में फारसी । तो भी देखें कि विद्यार्थियों की भाषा-योग्यता कैसी थी । अपनी रिपोर्ट के पैरा-24 में उन्होंने लिखा : "यद्यपि मैट्रिकुलेशन कोर्स में अंग्रेजी को प्रमुख स्थान दिया गया है तो भी परिणाम बड़े ही निराशाजनक हैं । मैट्रिक के पश्चात् विद्यार्थी जब कालेज में पहुंचते हैं तो वे अंग्रेजी में लेक्चर नहीं समझ पाते । कुछ विद्यार्थी तो ऐसे हैं जो कुछ समय के पश्चात् इस कठिनाई से पार हो जाते हैं किंतु अधिकतर ऐसे हैं कि वे यूनिवर्सिटी कोर्स से गुजर जाते हैं फिर भी भाषा में अधिकार-प्राप्ति के आस-पास भी नहीं पहुंच पाते । और बहुत सारे तो ऐसे है जो डिग्री भी प्राप्त कर लेते हैं किंतु अंग्रेजी में एक पत्र भी ठीक नहीं लिख सकते । और जो अंग्रेजी लिखने और बोलने में योग्यता-प्राप्त हैं भी उनका भी उच्चारण ऐसा है कि न ही सुनें तो अच्छा है ।"

यदि अंग्रेजी नहीं आई तो भारती तो उनकी अपनी भाषा थी । ग्रेज्युएट को अपनी भाषा तो आनी ही चाहिए । आदमी देसी, चाल अंग्रेजी, अपनी भी भूल गया । अंग्रेजी पढ़ी, वह आई नहीं, भारती पढ़ी नहीं, वह आती कैसे ? गली-गलियारे के स्तर तक ही रह गई । कमिशन को खेद के साथ यह कहना पड़ा कि शिक्षा में भारती भाषाओं की अवहेलना की गई है और बहुत सारे ग्रेज्युएट्स ऐसे है जिन्हें अपनी मातृभाषा का ज्ञान केवल नाम मात्र को ही है । भारत के नौजवान अपने ही घर में अपनी ही मां की गोद में भाषा-विहीन हो गए । माइकल वेस्ट ने ऐसे

लोगों को 'लैंग्वेजलैस' की संज्ञा दी है ।

मनुष्य की अनुभूति, चिंतन, शिक्षण और सर्जन ये सब उसके परिवेश और परंपरा से जुड़े होते हैं । परिवेश, परंपरा और भाषा उसके चिंतन में सन्निविष्ट होते हैं । अनुभूति, चिंतन, भाषा और अभिव्यक्ति इन सबका आंतरिक गठन एक होता है । इन सबके बाह्य लक्षण भी एक जैसे होते हैं । विदेशी भाषा का आंतरिक गठन और बाह्य लक्षण दोनों ही विदेशी होते है जिनका देशी भाषा से कोई तालमेल नहीं होता—यदि तालमेल होता है तो वह भाषा विदेशी नहीं केवल अपनी भाषा का रूपांतर होती है । भारतीय भाषाओं का गठन और संबंध अंग्रेजी के गठन और लक्षण से भिन्न है । अब भारतीय विद्यार्थियों की अनुभूति तो भारतीय परंपरा और भाषा के अनुरूप है । अंग्रेजी में समझना और लिखना पड़ रहा है । एक भारतीय नौजवान का स्वाभिमान यदि जोर मारे तो वह कह उठेगा कि 'मैं आपके नीचे नहीं हूं ।' बात सही है और भाषा में कहीं कोई त्रुटि नहीं है । किंतु वही स्वाभिमान अंग्रेजी में जोर मारे, तो ? मैंने स्वयं देखा कि एक नौजवान ने कहा, "आइ एम नाट योर अंडर (I am not your under)" यह भारतीय अंग्रेजी है, इससे कौन इनकार कर सकता है ? फिर भी अंग्रेजी नहीं है । आप समझते है, फिर भी इसे भाषा नहीं मानते । अटपटी लगती है ।

मार्क ट्वेन को भारतीय विद्यार्थियों की अंग्रेजी अटपटी लगी । उन्होंने इस बात को समझने का प्रयत्न भी किया । उन्होंने लिखा है कि वे बच्चे एक भाषा में सोचते थे और दूसरी भाषा में लिखते थे अर्थात् अपनी मातृभाषा में सोचते थे और अंग्रेजी में लिखते थे ।[11]

एक भाषा में सोचना और दूसरी में लिखना—तुरंत पकड़े जाएंगे । मैं स्वयं भुगत चुका हूं । 1949 में दिल्ली विश्वविद्यालय से अंग्रेजी एम०ए० फर्स्ट क्लास फर्स्ट पाकर और ग्यारह वर्ष हंसराज कालेज में एम०ए० तक अंग्रेजी पढ़ाकर मैं 1960 में पी-एच०डी० करने के लिए लंदन विश्वविद्यालय पहुंचा । क्वीन मेरी कालेज के प्रोफेसर नार्मन कैलन के सान्निध्य में मुझे स्वाध्याय का सुअवसर मिला । डेढ़ वर्ष तक अंग्रेजों के बीच रहता रहा, उनके साथ बोलता रहा, ब्रिटिश म्यूजियम पुस्तकालय में पढ़ता रहा और लिखता रहा । पहला अध्याय लिखकर मैंने प्रोफेसर महोदय को दिया । प्रोफेसर कैलन अत्यंत सहृदय शिक्षक थे । उन्होंने ध्यान से पढ़ा और अमूल्य सुझाव भी दिए । जब मिले तो मानो एक बात कहने की प्रतीक्षा में ही थे । बोले : "क्या तुम हिंदी में सोचते हो ?" मेरा तो मस्तिष्क घूम गया, मानो पैरों तले से धरती निकल गई । किंतु अगले क्षण ही मां ने मेरा मानसिक संतुलन लौटा दिया । मैंने उत्तर दिया : "जी हां, और मै तो इससे भी बुरा करता हूं ।" प्रोफेसर बोले : "वह क्या ?" मैंने कहा : "वही जो सारे भारतीय करते हैं । जब हम अंग्रेजी में लिखते है तो हिंदी में सोचते है और जब हिंदी में लिखते है तो अंग्रेजी में सोचते है ।"

खेद की बात यह है कि हमारे देश में मात्र अंग्रेजी भाषा का ज्ञान शिक्षा का पर्याय बन गया । आज भी वही बात है । 1963 में मै जब इंग्लैड से लौटकर अपने गांव पहुंचा तो वहां

11. 'फैलोविंग द इक्वेटर', II, पृ० 175-76

के लोगों ने पहला प्रश्न किया कि "विलायत के बारे में कोई विशेष बात बताओ।" मैंने कहा कि "विशेष बात यह है कि बच्चे से लेकर बूढ़े तक सब अंग्रेजी बोलते हैं।" उन्होंने दांतों तले अंगुली दबाई और कहने लगे कि वास्तव में बड़ा ही अद्भुत देश है, सब अंग्रेजी बोलते हैं। हमें यह पता ही नहीं है कि अंग्रेजी जगत में ही आधे लोग प्रायः अशिक्षित हैं। मैंने लंदन में ही जब अपना शोध-प्रबंध एक अंग्रेज टाइपिस्ट को दिया तो कुछ पृष्ठ टाइप करने के बाद उसने पूछा कि क्या अंग्रेजी आपकी मातृभाषा है ? मैंने कहा, नहीं। अंग्रेजी तो मेरी चौथी भाषा है। किंतु मैंने उससे पूछा कि तुमने यह प्रश्न क्यों किया ? उसने उत्तर दिया कि जो कुछ आपने लिखा है उसमें से आधे से ज्यादा मेरी समझ में नहीं आता। हो सकता है कि क्योंकि टाइपिस्ट एक स्कूल पास ही लड़की थी इसलिए उसे मेरी अंग्रेजी अंग्रेजी लगी हो। हो सकता है कि दो वर्ष में मेरी अंग्रेजी में कुछ अंग्रेजी परिवर्तन आ भी गया हो। फिर भी भारतीय अंग्रेजी को अंग्रेजी बनाने के लिए यदि दो वर्ष इंग्लैंड में रहना आवश्यक हो तो इतना महंगा सौदा कौन करे ? और करे भी, मेरी तरह से, तो प्रोफेसर कैलन तो फिर भी नहीं बन सकता।

भारतीय अंग्रेजी को अटपटी (फनी) के साथ-साथ 'दर्शनीय' (लुकी) भी कहा गया है। ये मार्क ट्वेन के ही शब्द हैं। एक भाषा में सोचना और दूसरी में लिखना बहुत कठिन काम है। 1891 में कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के सज्जन एफ०डब्ल्यू० टामस ने इस बात को समझा। अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री एंड प्रासपैक्ट्स आफ ब्रिटिश एज्यूकेशन इन इंडिया' (1891) में वे लिखते हैं कि भारतवासियों का परिवेश और प्रकृति, वृक्ष, पशु-पक्षी, जीव-जंतु—घरेलू एवं जंगली, साधन और उपकरण, ऋतुरंग, समाज-व्यवस्था, धर्म एवं साहित्य और उनसे संबद्ध विचार और संस्कार ये सब हमारे अंग्रेजी परिवेश और परंपरा से इतने भिन्न हैं कि बहुत सारों के तो नाम भी अंग्रेजी भाषा में नहीं हैं। यदि कोई संस्कृत का अध्ययन करे तो भी ऐसा ही पाएगा। टामस आगे लिखते हैं कि भारत की अपनी भाषा है जिसका अपना व्याकरण है, उसका अपना दर्शन है जो हजारों वर्ष पुराना है। भारत की भाषाएं उसी परंपरा में जन्मी हैं और वहीं से उनकी आंतरिक एकता का प्रवाह हो रहा है।[12] अंग्रेजी भाषा कैसे उनका स्थान ले सकती है ? कैसे भारत-मानस को छू सकती है ? भारत के नौनिहाल अंग्रेजी कैसे जानते, कैसे लिखते, कैसे बोलते ? फिर भी जितना वे कर पाते हैं उसके लिए साधुवाद के पात्र हैं।

अंग्रेजी भारत में प्राकृत और स्वाभाविक जड़ें नहीं पकड़ पाई। अंग्रेजी शिक्षा मानसिक विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया का अनुशीलन तो क्या अनुकरण भी नहीं बन पाई। किंतु बरगद फिर भी फैलता रहा। विचित्र बरगद था यह, इसकी शाखाएं भारत में थीं और जड़ें इंग्लैंड में। पानी का बिल छायार्थी देते थे। किस आशा में ? नौकरी, कुर्सी, पंखा, पावर। साधन ? अंग्रेजी के शब्द, उनके सही स्पेलिंग, सरकारी प्रतियोगिता। शिक्षा ? नौकरी को छोड़कर शिक्षा क्या और जीवन क्या ?[13] सरकारी मंदिर के द्वार खुल जाएं तो वारे के न्यारे। श्याम-गौर को

12. 'फॉलोविंग द इक्वेटर', II, पृ० 130-31
13. आर्थर ब्रायंट, 'मकाले', पृ० 58

और क्या चाहिए ?

लार्ड कर्ज़न ने एक बार बादशाह औरंगजेब का हवाला देकर शिक्षा संबंधी एक सच्ची बात कही। उन्होंने कहा कि औरंगजेब के बारे में लिखा है कि उन्होंने खुलेआम अपने वृद्ध गुरु को कुछ अपशब्द कहे कि आपने मुझे शाही जिम्मेदारियां निभाने के लिए उचित रूप से तैयार नहीं किया। मेरी जवानी का अमूल्य समय केवल शब्द ही शब्द सीखने के सूखे लंबे और व्यर्थ काम में बर्बाद करवा दिया। लार्ड कर्ज़न ने कहा कि हमने भारतीय शिक्षा के हर पहलू का निरीक्षण किया और यही कमी पाई। हर जगह यही देखा कि मात्र शब्दों का अध्ययन हो रहा है, विचारों का नहीं। अनाज तो बिखेरा जा रहा है और बर्बाद किया जा रहा है। छिलकों का भक्षण हो रहा है।[14] कलकत्ता विश्वविद्यालय के दीक्षांत भाषण में उन्होंने कहा था कि भारतीय शिक्षा केवल खोल है जिसमें से गिरी गायब हो चुकी है।[15] अथवा ऐसी चमकदार सीपी जिसका मोती बिखर चुका है। शिक्षा मात्र छिलका-व्यापार बनकर रह गई।

ऐसा क्यों हुआ ? स्वयं लार्ड कर्ज़न ने 1905 में शिमला शिक्षा सम्मेलन में कहा था कि भारत में शिक्षा की आवश्यकता विद्योपार्जन अथवा संस्कृति के लिए नहीं है, केवल नौकरी पाने के लिए रह गई है। शिक्षा केवल व्यापार है। कालेज भी दुकान है। छिलका-फरोश काउंटर पर नहीं डेस्क के पीछे खड़ा होता है। नाम उसका लाला नहीं लेक्चरर है।[16]

दोषी कौन ? कर्ज़न ही अभियोगी, कर्ज़न ही अभियुक्त। फ़ैसला समय भी नहीं कर पाया। पीड़ित को न नौकरी मिली न मुआवजा। प्रकृति, अनुभूति और कृति तीनों से वंचित रह गया। अनुकृति का शिकार स्वयं उससे भी वंचित रह गया।

14. सर टामस रैले, 'लार्ड कर्ज़न इन इंडिया', पृ० 252
15. वही, पृ० 347
16. वही, पृ० 320

19
कर्ज़न भए उदास

कर्ज़न भारत के उग्रतम शासकों में से एक थे । मकाले की तरह अहंवादी, चर्चिल जैसे साम्राज्यवादी, भारत के प्रति जुगुप्सामय प्रेम रखने वाले, कर्मठ, कठोर और दंभी । वे साम्राज्य के प्रति अवहेलना को कभी सहन नहीं करते थे । भारत शिक्षा, राज-प्रतिरक्षा, साम्राज्य-विस्तार और संरक्षण कर्जन-कोश में पर्यायवाची शब्द थे । शिक्षा की एक-एक कमजोरी उनको लाल रूमाल बनकर दीखती जिससे वे अपने पूर्ववर्ती राजभक्तों पर भी भिन्नाने लगते । उन्होंने मकाले जैसे भारत-शिक्षा-स्तंभ पर भी एक चोट कर डाली । उन्होंने कह दिया कि उनकी कलम से निकली वाक्शक्ति की झंझा में भारतीय भाषाएं, भारतीय पाठ्य-पुस्तकें और भारतीय भाषाओं के माध्यम से जनशिक्षा सब झुलस गईं ।[1] लार्ड कर्ज़न की शिक्षा संबंधी सारी बातें भावपूर्ण शैली में व्यक्त की गई थीं क्योंकि वे आवेश में आकर बोलते थे ।

कर्ज़न जब भारत आए तो उन्होंने शिक्षा की स्थिति को देखा । वे ऐसा मानते थे कि जनता की शिक्षा का प्रबंध किया जाना चाहिए था और भारती माध्यम से होना चाहिए था । ऐसा नहीं किया गया । यह देखकर उन्हें परेशानी हुई । न केवल जनशिक्षा अपितु भारती भाषाओं का विकास भी नहीं किया गया । उन्होंने कहा कि थोड़े से भारतीयों को छोड़कर भारत की जनता में लंबे समय तक शिक्षा का प्रसार केवल लोकभाषा के माध्यम से ही होना संभव है । हमने यह पाया कि इन भाषाओं की न केवल अवहेलना की जा रही है अपितु इनका ह्रास होने का खतरा भी है । और किस कारण ? मात्र अंग्रेजी के बाजार भाव के कारण । और अंग्रेजी भी ऐसी जो किसी काम की नहीं । चलिए जो अंग्रेजी पढ़ने योग्य हैं उनको पढ़ाइए किंतु उनकी बुनियाद भारती भाषा की पक्की आधारशिला पर रखी जानी चाहिए । कोई समाज विदेशी भाषा का सही प्रयोग नहीं कर सकता जब तक वह स्वयं अपनी भाषा का साधिकार प्रयोग न कर सके ।[2]

लार्ड कर्ज़न के समय में और पहले भी बार-बार एक बात नोट की गई थी कि केवल अंग्रेजी शिक्षा की ओर ध्यान दिया गया है । तो क्या अंग्रेजी शिक्षा कामयाब हुई ? लार्ड कर्ज़न के मतानुसार कालेज तथा यूनिवर्सिटी दोनों ही नाकाम रहे । पाठ्यक्रम और परीक्षा पद्धति दोनों ही ऐसे थे कि परिश्रम तो अधिकाधिक अपेक्षित था किंतु स्तर नीचे ही नीचे जा रहा था । विद्यार्थी एक क्लास-रूम से दूसरे की ओर और एक परीक्षा से दूसरी की ओर भेड़-बकरियों की तरह दौड़ाए

1. सर टामस रैले, 'लार्ड कर्ज़न इन इंडिया', पृ० 350
2. वही, पृ० 351

जा रहे हैं । पाठ्य पुस्तकें और उनका चयन खराब, डिग्रीज की तलाश केवल बाजारी दाम के लिए, सैनिट्स में भीड़ जिनका चयन भी शिक्षेतर आधार पर किया गया, सिंडीकेट्स जिनके पास अधिकार कोई नहीं । भारी-भरकम सिस्टम जो चल तो रहा है किंतु दिशा कोई नहीं । इस विशाल नाटक के ऊपर एक भयंकर, विरूप, बृहदाकार बेताल की छाया—रट्टा, रटंत, रटंतम् ।[3]

कर्ज़न तो राजरक्षा और साम्राज्य-विस्तार को अपना परम धर्म मानते थे । सारे ही अंग्रेज शासक ऐसा मानते आए थे किंतु कर्ज़न के समय भारत ही सारे साम्राज्य के विस्तार और व्यवस्था का केंद्र बन गया था । मकाले ने इंग्लैंड में खड़े होकर साम्राज्य का सूर्योदय भारत में होते देखा था । कर्ज़न ने भारत में खड़े होकर साम्राज्य-सूर्य को चरमारोहण अवस्था में देखा और सोचा कि इंग्लैंड यदि उसे अस्ताचल में जाने से रोक सकता है तो केवल भारत के आधार पर । उन्होंने कहा : जैसे मैं आज की परिस्थितियों को देखता हूं मुझे सारे एशिया का राज-केंद्र हिंदुस्तान में दिखाई दे रहा है । यदि इंग्लैंड के लोग जानते हों तो सारी दुनिया पर राज करने की चाबी उनके हाथ में आ चुकी है । सारी वे समस्याएं जिनका सामना एशिया में करना पड़ सकता है वे भारत की सीमाओं के अंदर ही देखी जा सकती हैं । भारत केंद्रस्थ ही नहीं अपितु निर्णायक स्थिति में है क्योंकि वह अपने आस-पास और दूरस्थ पड़ोसी देशों के राजनीतिक भविष्य पर पूरा प्रभाव डाल सकता है । यही नहीं, उन देशों की किस्मत भारत की धुरी पर घूमती है । अफगानिस्तान की स्वतंत्रता, ईरान के कौमी अस्तित्व का बने रहना, बगदाद में तुर्की राज्य का जारी रहना, ये सारी समस्याएं कलकत्ते की सत्ता पर निर्भर करती हैं । इतना ही नहीं, भारत के प्रभाव का उदय होकर विस्तार होने लगा है और निकटवर्ती महाद्वीपों को छूने लगा है और बास्फोरस और मिस्र के भविष्य को भी दिशा दे सकता है । केवल पश्चिम में ही नहीं, पूर्व में भी भारत का प्रभाव वैसा ही है ।''यह स्थिति है कैसर-ए-हिंद के भारतीय साम्राज्य की ।[4] किसी भी हालत में कर्ज़न यह नहीं चाहते थे कि ब्रिटिश साम्राज्य की भारत केंद्रस्थ सत्ता को किसी प्रकार की भी क्षति पहुंचे । कर्ज़न साम्राज्य धर्म पर कटिबद्ध अडिग प्रहरी की तरह खड़े थे, पलक झपकने को भी तैयार न थे ।

कर्ज़न इतने सतर्क थे कि दीवे तले अंधेरे को भी तुरंत भांप लेते थे । जैसे उन्होंने यूरोप और एशिया पर विहंगम दृष्टि डाली वैसे ही भारत में उभरते हुए एक नए खतरे को भी देख लिया । यह खतरा वही था जिसे ग्रांट ने स्वयं देख लिया था और मकाले ने भी 1833 में देख लिया था । यह खतरा अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों की ओर से उभर रहा था । इंडियन नेशनल कांग्रेस का जन्म हो चुका था ।

कर्ज़न के समय तक परिस्थितियां और बदल चुकी थीं । भारत का सामूहिक ईसाईकरण तो गई-बीती कहानी हो चुका था । 1857, आर्य समाज, ब्राह्म समाज, प्रार्थना समाज, देव समाज, रामकृष्ण मिशन, इन सबकी चुनौती सामने खड़ी थी । राजनीतिक और शासन सत्ता में

3. सर टामस रैले, 'लार्ड कर्ज़न इन इंडिया', पृ० 352
4. रॅानल्डशे, 'लाइफ आफ लार्ड कर्ज़न', I. पृ० 309

न्यायोचित हिस्सा मांगने वालों की ललकार सुनाई दे रही थी, और यह कल्पना नहीं वास्तविकता थी। कर्ज़न पढ़े-लिखे लोगों से ऐसी आशा नहीं करते थे। क्या ये लोग इतना भी नहीं समझते थे कि ब्रिटिश सरकार यह भली भांति जानती है कि इन्हें क्या देना है, क्या नहीं देना, ये काहे के पात्र हैं, काहे के नहीं ? कर्ज़न परेशान हो गए, मानो सारी अंग्रेजी सत्ता अपने किए पर पछताने लगी हो।

कर्ज़न ने इरेस्मस को याद किया। इरेस्मस (1466-1536) शुद्ध मानववादी थे और उच्च कोटि के बुद्धिजीवी थे। अपने तर्कसंगत विचारों के कारण वे अंधविश्वास के विरोधी और ईसाई मत में सुधार आंदोलन (रिफर्मेशन) के जन्मदाता समझे जाते हैं। रिफर्मेशन आगे चलकर ऐसा यूरोपव्यापी आंदोलन बन गया जिसका स्वयं इरेस्मस को भी खयाल नहीं था। कर्ज़न महोदय के अनुसार जैसे इरेस्मस के बुद्धिवाद के उलटे आशातीत परिणाम निकले थे वैसे ही भारत में अंग्रेजी शिक्षा के दुष्परिणाम निकलने लगे थे। इरेस्मस कहते थे कि मैंने तो केवल एक मुर्गी का अंडा दिया था किंतु उसमें से निकला (रिफर्मेशन रूपी) एक लड़ाकू मुर्गा। इसी प्रकार, कर्ज़न महोदय के अनुसार, "अंग्रेजी शिक्षा को चालू तो इसलिए किया था कि भारत के लोग अंधविश्वास की कीचड़ में से निकल जाएंगे किंतु पढ़-लिख कर वे हमें ही आंखें दिखाने लगे।" उन्होंने कहा कि अंग्रेजी शिक्षा ने तो ऐसी मानसिक स्थिति को जन्म दे दिया जिससे शिक्षितों का चरित्र ही उलटमार्गी हो गया। उनका चरित्र अनियमित, अनुशासनहीन, असंतुष्ट और कहीं-कहीं तो वास्तव में राजद्रोही बन गया।[5] इन तथाकथित नेशनलिस्टों का जन्म हुआ तो केवल अंग्रेजी शिक्षा के अदृष्ट, अनैतिक और अराजनीतिक परिणाम के रूप में। यह अत्यंत खेद की बात रही।

लार्ड कर्ज़न के अनुसार स्कूल और कालेज की शिक्षा तो केवल छिलका-व्यापार बनकर रह गई थी। इन नेशनलिस्टों को देखते हुए यूनिवर्सिटी शिक्षा केवल भाषण-बाजार बनकर रह गई। कर्ज़न समझते थे कि यूनिवर्सिटी शिक्षित ये नए नौजवान नेता, पत्रकार अपने आपको राजनीतिज्ञ और नीतिनिपुण कहने वाले जबान चलाने में और भाषण झाड़ने में माहिर थे। कर्ज़न कहते थे कि यह मत सोचिए कि जो आदमी गरमा-गरम भाषण दे सकता है वह राजकुशल भी है। यह कदापि आवश्यक नहीं है। वाचाल की केवल जीभ दौड़ती है दिमाग नहीं। सच तो यह है कि मात्र भाषण कभी भी कठोर कर्मठता का स्थान नहीं ले सकता। कर्ज़न महोदय को पत्रकारों से तो अत्यंत घृणा थी। वे कहते थे कि याद रखिए कि जब तुम संपादकीय कालम में 'हम' शब्द का प्रयोग करते हो तो 'हम' का अर्थ है केवल 'मैं', एक व्यक्ति मात्र, और इस एक व्यक्ति की गिनती तीस करोड़ में केवल एक, नगण्य। वे कहते थे कि भारत के तथाकथित शिक्षित और बुद्धिजीवी लोगों का यह दावा कि हम भारत का नेतृत्व करेंगे, झूठा था। उन्हें कोई अधिकार नहीं था कि वे भारत के नेतृत्व के सपने देखें और लोगों को गुमराह करें। और नई राष्ट्रीयता ? इसके प्रवर्तकों को तो वे धक्के मारकर बाहर निकाल देना चाहते थे।

किंतु ये मनचले थे कौन ? और यह कांग्रेस नाम की चीज क्या थी ? लार्ड डफरिन ने

5. रॅनल्डशे, 'लाइफ आफ लार्ड कर्ज़न', I, पृ० 316

कहा था कि इंडियन नेशनल कांग्रेस केवल बाबू लोगों का आंदोलन है जो कि एक बाबू-पार्लमेंट खड़ी करना चाहते हैं।[6] लार्ड क्रास जो लार्ड लैंसडाउन के समय सेक्रेटरी आफ स्टेट फार इंडिया थे उन्होंने लार्ड लैंसडाउन को लिखा था कि बाबू लोग भारत की जनता के प्रतिनिधि कभी नहीं होंगे। वे केवल अपने प्रतिनिधि होंगे।[7] कर्ज़न के मतानुसार ये बाबू लोग थे तो कुछ भी नहीं किंतु आकाश के सपने लेने लगे थे और चांद को तोड़कर खेलना चाहते थे। उनको पूरा विश्वास था कि भारतीयों को उनके बलबूते के अनुसार उनकी योग्यता के अनुरूप स्थान, नियुक्तियां और नौकरियां दी जा चुकी थीं और सरकार ने यथासंभव भारतीयों की आवश्यकताओं की पूर्ति और उनके अधिकारों की रक्षा की थी। इससे आगे राजनीतिक रियायतें उन्होंने कोई भी नहीं दी थीं क्योंकि वे समझते थे कि ऐसा करना राजहित, राजकौशल और बुद्धिमत्ता के विरुद्ध होगा और स्वयं भारत के हित में भी नहीं होगा। ऐसा करने में वे केवल अपने कर्तव्य का पालन कर रहे थे और किसी प्रकार भी भूल-सुधार या क्षमा-याचना के लिए तैयार नहीं थे। यदि केवल कर्तव्य-पालन करने के लिए कुछ लोग उनकी निंदा करते थे तो उन्हें उनकी कोई परवाह नहीं थी। उन्हें विश्वास होने लगा था कि कोई चीज सड़ रही है। समाज के विभिन्न अंगों में न कोई सामंजस्य न तालमेल, जीवन और जीवनचर्या के मूलभूत नियमों और सिद्धांतों का अभाव, सब ओर सुस्ती ही सुस्ती, स्तर गिर चुके थे, देश और समाज में एक नए जीवन और नई स्फूर्ति की आवश्यकता थी।[8]

लार्ड कर्ज़न उदास हो गए। अंग्रेजी शिक्षा सफल नहीं हुई। न तो विद्यार्थियों का मानसिक विकास कर पाई और न जनता को रास्ता दिखाने वाले सही नेताओं का निर्माण कर पाई। जो तथाकथित नेता बन भी गए वे थे केवल विकृत और दूषित, जो जनता को गुमराह कर रहे थे। जनता शिक्षा जो भारती के माध्यम से ही हो सकती थी वह हुई नहीं। कर्ज़न स्थिति को सुधारने के लिए कृतसंकल्प हो गए। राजनीतिक क्षेत्र में उन्होंने जो भी किया हो सो किया हो, यहां हम उनके शिक्षा संबंधी विचारों की ही चर्चा करेंगे। वास्तव में उनका शिक्षा संबंधी प्रोग्राम भी था। राजप्रहरी तो वे थे ही, राजसेवा में ही उन्होंने शिक्षा कार्यक्रम को जोड़ दिया। अंग्रेजी शिक्षा राजसेवी तो पहले से ही रही थी। कर्ज़न एक शती बाद ग्रांट मकाले की प्रतिच्छाया के रूप में सोच रहे थे और काम कर रहे थे।

कर्ज़न महोदय ने शिक्षा को दो भागों में बांटा और दोनों पर गंभीरतापूर्वक विचार किया : एक प्रारंभिक शिक्षा और दूसरा यूनिवर्सिटी शिक्षा।

प्रारंभिक शिक्षा के माध्यम से कर्ज़न महोदय भारत के नए नेताओं को उन्हीं की भाषा में उत्तर देना चाहते थे। इस विषय में 1857 के पश्चात् सरकार स्वयं जनता की शिक्षा के विषय में चिंतित हो गई थी। उन्होंने सोचा कि जनता को अपने साथ रखने का एकमात्र माध्यम यही

6. उद्धृत : ताराचन्द, 'फ्रीडम मूवमेंट' (भारत सरकार, 1967), II, पृ० 508
7. वही, पृ० 511
8. रॅनल्डशे, 'लाइफ ऑफ लार्ड कर्ज़न', I, पृ० 348-49

है कि उन्हें शिक्षा दी जाए और ब्रिटिश राज की देन के बारे में उन्हें जानकारी देकर उनकी भावनाओं को जीता जाए । 1854 के शिक्षा भारती प्रस्ताव में जनता की शिक्षा पर बल दिया गया था पर इस दिशा में कोई विशेष कार्य किया नहीं गया था । लार्ड कर्ज़न जब नवशिक्षितों की राजनीतिक गतिविधियों से दुखी हुए तो उन्होंने जनता की शिक्षा पर बल देना उचित समझा । उन्होंने सोचा कि भारत में सबसे बड़ा खतरा क्या हो सकता है ? अविश्वास, अंधविश्वास, अपराध, विद्रोह । इन सब की जड़ क्या है ? किसानों का असंतोष और जनता का दुख । इनका आदिस्रोत क्या है ? उन्हें केवल एक ही उत्तर मिला : अज्ञान । और उसका प्रतिकार ? विद्या, शिक्षा । कर्ज़न महोदय को विश्वास हो गया कि सरकार को जनता का साथ देना चाहिए, उन्हें सुखी बनाना चाहिए, क्योंकि वे जितने सुखी होंगे उतने ही राज-समाज के लिए लाभकारी होंगे ।[9]

कर्ज़न स्वयं को दीनबंधु समझते थे और उनकी सेवा कर पाना अपना धर्म समझते थे : "मैं अपनी आत्मा को टटोलता हूं, अपने आपसे पूछता हूं कि भारत की जनता कौन और कहां है, और स्वयं को धन्य मानता हूं कि उनकी कुछ सेवा करने का अवसर मिला है ।"[10] उन्होंने अपने प्रश्नों का उत्तर भी अपने आप ही दे लिया : "मेरे लिए भारत की जनता न कोई वर्ग-विशेष है, न उस वर्ग का कोई अंग-विशेष है । मेरी दृष्टि में तो एक बृहत् क्षेत्र है जहां असंख्य जनसमुदाय रहता है जो वर्ग-विशेष से भिन्न है । यह भारत की वह गरीब जनता है जो खेतिहर है, मौन, विनम्र, सहनशील, वास्तविक जनता, भारत का 80 प्रतिशत जो खेती करके गुजारा करते हैं । नीति क्या और कैसी होती है वे नहीं जानते, किंतु नीति का अच्छा-बुरा प्रभाव उन पर पड़ता है और वे उसे झेलते हैं । उनके अपने देशवासी उन्हें भूले हुए हैं किंतु मैं उन्हें याद रखता हूं । मेरी प्रत्येक नीति की पृष्ठभूमि में वे रहते हैं । हमारे बजटशेष की व्यय-व्यवस्था और विवरण में वे ही सामने होते हैं । शहरों की चकाचौंध में वे नहीं दीखते और न ही वहां की गरीबी में दीखते । वे पत्र नहीं पढ़ते, पढ़ ही नहीं सकते । उन्हें राजनीति नहीं आती किंतु वे भारत का मेरुदण्ड हैं, और उसका शक्तिस्रोत हैं । वे पसीना बहाते हैं, हल चलाते हैं और भारत की राष्ट्रीय आय का चौथा भाग अपने परिश्रम से पैदा करते हैं । प्रत्येक वाइसराय की चिंता का विषय, प्रथम और अंतिम ये किसान ही होने चाहिए ।"[11]

कर्ज़न के सपनों का भारत वैसा ही था जैसा मकाले की कल्पना का, लहलहाते धान के खेत, बरगद बाबा की छाया में, ग्राम देवता के सान्निध्य में किलकारी मारकर खेलते बच्चे, बराबर की बावड़ी की सीढ़ियों से उतरती-चढ़ती गांव की गोरी, बदन को आंचल में लपेटे गागर में सागर को समेटे । मकाले किसान को भूल गए थे । उन्हें रंग बदलते बाबू की चिंता थी । कर्ज़न महोदय ने किसान को याद किया और ग्रामीण भारत की तस्वीर में वह रंग भी भर दिया । वे

9. सर पर्सिवल स्पियर, 'इंडिया' (एन आर्बर, 1969), पृ० 316
10. वही, पृ० 585
11. वही, पृ० 584

कह उठे कि वह आदमी जो गांव या छोटे कस्बे में रहता है और अपने आचरण और परिश्रम से अपने देशवासियों की सेवा करके उनके जीवन को सुखद बनाने में अपना योगदान देता है वह सैकड़ों मंचों से भाषण झाड़ने वाले नेताओं से कहीं बड़ा देशभक्त है ।[12] इस प्रकार कर्ज़न की कल्पना का भारत था एक बृहद्देश, हरे-भरे खेत, खेती करने वाले और पशुपालन करने वाले किसान मजदूर । अंतर यह था कि गांधी जी चाहते थे कि ये किसान मजदूर केवल भगवान भरोसे न बैठें बल्कि उसके आशीर्वाद से अपने कर्म और परिश्रम से अपने देश के जीवन को बनाएं । कर्ज़न कहते थे कि किसान केवल खेती करें और दूसरे सारे प्रश्न सरकार के भरोसे छोड़ दें । आगे और ऊपर की सोचना सरकार का काम । मनुष्य का कर्तव्य यह है कि भगवान ने जहां उसे जन्म दे दिया वहां बैठे और जो भी उसका काम है वही करे । अंग्रेज को तो भारत में माई-बाप और भाग्यविधाता भी कहा जाता था ।

ग्रामीण शिक्षा के संबंध में डब्ल्यू० एच० शार्प ने 1904 में अपने विचार और शिक्षा विभाग का कार्यक्रम व्यक्त किया था । शिक्षा पद्धति को व्यावहारिक और उपयोगी बनाया गया । नैतिक शिक्षा को धर्मशिक्षा से अलग रखा गया क्योंकि सरकार के इरादों के अनुसार सरकारी स्कूलों को धार्मिक रूप नहीं दिया जा सकता था । नैतिक शिक्षा का रूप यह था : सच्चाई और ईमानदारी से रहना, खाना-पीना-सोना उचित मात्रा में, अधिक नहीं, गंदगी और बीमारी से बचना, कानून को मानना और अफसरों का आदर करना । इसके साथ-साथ पूर्वीय विद्वानों के उपदेश तथा सूक्तियां पाठ्य-पुस्तकों में रखे गए थे । कुछ इतिहास संबंधी पाठ थे जिनमें अंग्रेजी सरकार और उससे जो लाभ भारत को हुए इस संबंध में बताया गया था । बौद्धिक शिक्षा ? बस इतनी जितनी अत्यंतावश्यक थी अधिक नहीं, अर्थात् लिखना, पढ़ना और दैनिक जीवन के लिए अनिवार्य हिसाब, मामूली-सा । कविता, कहानियां और शुद्ध हिंदी साहित्य इतना कि विद्यार्थी की रुचि पढ़ने में बनी रहे । शारीरिक शिक्षा देसी कसरत और एकता के लिए दी जाती थी ।[13]

ग्रामीण शिक्षा के माध्यम से लार्ड कर्ज़न की सरकार भारत में शांत और धीमी गति से एक नई क्रांति लाना चाहती थी और अपने तरीके से नए नेताओं को उन्हीं की भाषा में चुनौती देना चाहती थी । शिक्षा का उद्देश्य शार्प महोदय ने हर्बर्ट स्पेंसर के शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया : शिक्षा का उद्देश्य नैतिक विकास है । शिक्षा से मनुष्य को एक ही प्रश्न का उत्तर मिलना चाहिए और वह प्रश्न है कि जिएं कैसे ? भारत एक परिवर्तनशील युग में से गुजर रहा है और परिवर्तन अंततोगत्वा किसान कल्याण के लिए है । किसान के संबंध में यह सोचा गया कि वह अपने परिवेश के बंधन में इतना जकड़ा हुआ था कि उस जकड़न से बाहर निकलने के लिए अपेक्षित मानसिक शक्ति खो बैठा था । यदि उसे शिक्षा के द्वारा उस बंधन से निकलने की मानसिक क्षमता को वापस देना उचित था तो शिक्षा का लक्ष्य उद्देश्यानुसार निर्धारित किया जाना

12. सर पर्सिवल स्पियर, 'इंडिया' (एन आर्बर, 1969), पृ० 584, 496
13. शार्प, 'सलेक्शंज फ्रॉम एज्यूकेशनल रिकार्ड्स', I, पृ० 133-35

चाहिए था । अतः प्रारंभिक शिक्षा का लक्ष्य बना : विद्यार्थी को विचारशील और प्रयोगशील बनाना ताकि वह अपने परिवेश का निरीक्षण कर सके, पारिवेशिक तथ्यों का विश्लेषण कर सके, स्वयं निष्कर्ष निकाल सके और उस आधार पर जीवन संबंधी सिद्धांतों तक पहुंच सके ।

पर्यवेक्षण, निरीक्षण, विश्लेषण, निष्कर्ष, जीवन सिद्धांत, यह सब साइंस की प्रक्रिया है जो छोटी प्रयोगशाला से लेकर बड़ी से बड़ी तक सही उतरती है । सारी दुनिया में प्राकृतिक, सामाजिक, आर्थिक और मानसिक जकड़न से छूटने की यही प्रक्रिया रही है । इसी के कारण तकनीकी और बौद्धिक एवं राजनीतिक क्रांतियां संभव हो सकी हैं । क्या ब्रिटिश सरकार शिक्षा के द्वारा ग्रामीण जनता को क्रांतिशील बनाना चाहती थी ?

कभी नहीं । शिक्षा का आधार राजनीतिक विचार या सिद्धांत नहीं थे । यह समझना कि शिक्षा के माध्यम से समता अथवा पूर्णता की प्राप्ति की जा सकती है मात्र पागलपन था । शिक्षा नीति हर्बर्ट स्पेंसर के साथ-साथ कांडोरसे के सिद्धांतों के अनुसार बनाई गई । प्राइमरी शिक्षा का लक्ष्य ? केवल इतना पढ़ाना जितना न्यूनतम आवश्यकता को पूरा करने के लिए पर्याप्त हो । वह क्या ? विद्यार्थी अथवा व्यक्ति अपने परिवेश में अपना दिशा-निदेश स्वयं कर सके और अपने अधिकारों को पूरे तौर पर पहचान सके और अधिकारानुसार जी सके । और कांडोरसे की बात में शार्प महोदय ने अपनी बात जोड़ दी : "अधिकारों का अर्थ वे अधिकार नहीं हैं जो एक स्वायत्त रिपब्लिक के अंदर किसी भी नागरिक के होते हैं । ये अधिकार केवल वे हैं जो एक ग्रामीण समाज के अंदर किसी भी व्यक्ति के होते हैं ।"[14] शार्प महोदय ने आगे कहा कि शिक्षा के आधार पर व्यक्ति जागेगा अवश्य, अपने हितों को समझेगा भी, दूसरों के धोखे में भी नहीं आएगा किंतु हम यह प्रयास करेंगे कि वह रहे सदा रैयत ।[15] अर्थात् वह अपने परिवेश का निरीक्षण तो करे, सोचे भी, धोखे से भी बचे, किंतु रहे सरकारी और अंग्रेजी परिधि के अंदर-अंदर । यही कारण था कि बच्चों को ब्रिटिश राज की देन के संबंध में बहुत कुछ बताया जाता था । बच्चे ब्रिटिश राष्ट्रगीत भी गाते थे : शाहंशाह सलामत रहे या इलाही । यदि रैयत को रैयत ही रहना तो आर्थिक और सामाजिक ढांचे में जो ऊपर हैं वे ऊपर ही रहेंगे और जो नीचे वर्ग के लोग पसीना बहा रहे हैं वे वैसे ही जहां हैं वहीं बहाते रहेंगे । जहां हो, जैसे हो, ठीक हो । सोचो किंतु इसी को समझो और फालतू चिंता मत करो ।

भारतीय धर्म और सभ्यता के संबंध में एक धारणा पश्चिम में रही है और आज भी है, और वह यह है कि भारत के लोग भाग्यवादी हैं और उनको कर्म करने का यदि कोई प्रोत्साहन मिला है तो केवल अंग्रेजी से । क्योंकि यहां पर हम परिवेश को पकड़ने और विचार-स्वातंत्र्य की बात कर रहे है इसलिए इस विषय पर भी चर्चा करना उचित रहेगा । जब रैयत को रैयत ही रहना था तो शिक्षा भाग्यवादी तो बन ही गई । शार्प महोदय ने स्वयं यह कहा कि यह न समझें कि शिक्षा के आधार पर कुछ और बन जाएगा । शांत क्रांति के समय भी वह रहेगा वही जो विधाता ने

14. शार्प, 'सलेक्शंज फ्रॉम एज्यूकेशनल रिकार्ड्स', I, पृ० 133-35

15. वही, पृ० 132-36

उसकी किस्मत में लिख दिया है । किसी भी देश का विकास होता है तो केवल उसकी आंतरिक जीवन-शैली की लकीरों के साथ-साथ ही होता है । भारत के पुराने विचारों वाले किसानों की आज की हालत को देखते हुए इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता । यदि उनको यूरोपियन सांचे में ढालने की कोशिश की गई तो पागलपन से कम नहीं होगा । केवल त्वचा को खुरचने से योनि नहीं बदली जाया करती । शिक्षा और स्कूल उनके स्वाभाविक गुणों का विकास कर सकते हैं और उनकी त्रुटियों को दूर भी कर सकते हैं । स्कूल उनको यह तो सिखाएंगे कि अपने परिवेश का उत्तम लाभ कैसे उठाएं, किंतु यह नहीं कि परिवेश को बदलें कैसे ।[16] इस प्रकार हम देखते हैं कि शिक्षा का उद्देश्य मानव को प्रकृति और प्रकृति की जकड़न से छुड़ाना तो अवश्य रहा किंतु फिर भी वह उसे मानसिक स्वतंत्रता की ओर ले जाना नहीं था । अंग्रेजी और सरकारी परिवेश से बाहर की भी कोई सोच सके यह कदापि कल्पना नहीं की गई थी । शिक्षा का उद्देश्य केवल राजभक्ति और सेवा ही रहा ।

प्रारंभिक शिक्षा के उद्देश्य, लक्ष्य और साधनों का अध्ययन करने के पश्चात् यूनिवर्सिटी शिक्षा की ओर आएं । कर्ज़न महोदय यूनिवर्सिटी शिक्षा से अत्यंत परेशान थे क्योंकि उन्हें नए नेताओं से घृणा थी । हम भी यह देख चुके हैं कि यूनिवर्सिटी शिक्षा अंग्रेजी माध्यम के कारण केवल शब्दाडंबर बन गई थी । नौकरी के लिए परीक्षा पास करने का गुरुमंत्र बन गया तोता रटंत । कर्ज़न महोदय ने देखा कि स्नातक या तो मूर्ख के मूर्ख रह गए या बन गए झंडाधारी । यूनिवर्सिटी क्या हो इस विषय पर उन्होंने कलकत्ता यूनिवर्सिटी दीक्षांत समारोह के अवसर पर अपने विचार 1904 में व्यक्त किए ।

कर्ज़न महोदय के सामने आक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज की तस्वीर थी । उन्हें वे आदर्श यूनिवर्सिटी मानते थे और यह आशा करते थे कि आज की यूनिवर्सिटी उन्हीं के अनुरूप होनी चाहिए । यूनिवर्सिटी सत्यम् (ट्रुथ), शिवम् (मारल गुडनेस), सुंदरम् (कल्चर) के दर्शन और संरचना का संस्थान है । इनकी खोज और अनुशीलन साधन रूप में नहीं अपितु साध्य रूप में होनी चाहिए । अतः कर्ज़न के मतानुसार यूनिवर्सिटी शिक्षा का उद्देश्य था सत्यम् शिवम् सुंदरम् का दर्शन, अभिव्यक्ति और अनुशीलन । लक्ष्य ? विद्या उपार्जन और चरित्र-निर्माण । प्रक्रिया ? स्वयं के अनुभव में से गुज़र कर सत्य की कसौटी पर अपने शील-स्वभाव, जीवन-सिद्धांत और जीवन-दर्शन को कसना । साधन ? ऐसा पाठ्यक्रम जिसके पढ़ने से विद्यार्थी का मानसिक विकास हो ताकि वह केवल मशीन या दूसरों का पुर्जा न बने और स्वयं चिंतन कर सके, और प्रोफेसर ऐसे जो अपने शिष्यों में श्रद्धा का संचार कर सकें और शिष्य उनके सानिध्य में अपने चरित्र का निर्माण कर सकें ।[17]

इन सब मान्यताओं के मूल में एक विचार है : मनुष्य शिक्षा के माध्यम से स्वाध्याय और प्रवचन के द्वारा विचार-स्वातंत्र्य को प्राप्त करके अपने चरित्र का निर्माण कर सकता है और अपने

16. शार्प, 'सलेक्शंज फ्रॉम एज्यूकेशनल रिकार्ड्स', I, पृ० 132-36

17. सर पर्सिवल स्पियर, 'इंडिया', (एन आर्बर, 1969) पृ० 343, 245

परिवेश और उससे प्राप्त परंपरा से ऊपर उठ सकता है और एक नवीन सत्य के दर्शन कर सकता है। हम यह भी कह सकते हैं कि प्राप्तिज्ञ के स्तर से उठकर इष्टिज्ञ के स्तर पर जा सकता है। युगपुरुषों का निर्माण इसी प्रकार होता है। यदि मनुष्य केवल परिवेश और परंपरा से प्राप्त अनुभूति तक ही सीमित रहता तो मानव सभ्यता और संस्कृति का विकास नहीं हो सकता था। प्राकृतिक अनुभूति से आगे दर्शन, कृति और संस्कृति मनुष्य का स्वाभाविक और नैसर्गिक धर्म है क्योंकि इनके बिना वह कर्तव्य की ओर अग्रसर न होकर मात्र भोक्तृत्व तक ही सीमित रह जाता है। दर्शनशील, कर्तृत्व का धनी और बुद्धिजीवी मनुष्य अपने परिवेश और उसके प्रतिष्ठित और जाने-माने सिद्धांतों और संस्थानों को चुनौती दे सकता है। महात्मा बुद्ध, वीर महावीर, स्वामी दयानंद, स्वामी विवेकानंद, महात्मा गांधी ऐसे ही युगपुरुष थे। ब्रिटेन के इतिहास को बदलने वाले मनचले भी ऐसे ही युगपुरुष थे। सिद्धांत रूप में कर्ज़न चाहते थे कि भारतीय विश्वविद्यालय ऐसे नौजवानों का निर्माण करें। कर्ज़न जब देखते कि नौजवान नौकरी की तलाश में तोता-रटंत में लगे अपने जीवन को व्यर्थ खो रहे हैं तो वे क्षुब्ध हो उठते। निराशा और उदासीनता की अति होती है तो क्षोभ उत्पन्न होता है। क्षोभ की मुद्रा में वे भारतीय चरित्र को ही लताड़ने लगते। उन्होंने कहा कि भारतीय चरित्र में दो बड़ी त्रुटियां हैं : एक तो बुद्धिमत्ता से इनकार अर्थात् मूढ़त्व एवं आत्मविश्वास का अभाव और दूसरी, उच्चकोटि की चातुरी और वाक्छल। इस पूर्वीय चरित्र के प्रतिपक्ष में पश्चिमीय चरित्र के गुण थे विचार-स्वातंत्र्य और सीधी सत्य-प्रतिष्ठा। कलकत्ता विश्वविद्यालय के ही दीक्षांत समारोह के अवसर पर 1902 और 1905 में उन्होंने ये विचार व्यक्त किए। उन्होंने कहा कि भारतीय चरित्र की एक भारी कमी तो यह है कि यहां पर मनुष्य जड़मति होकर मशीन की तरह काम करता है। करता है मेहनत से और एक विश्वासपात्र सहायक की तरह, किंतु समझदारी से नहीं करता और इसीलिए मूढ़ की तरह करता है। अर्थात् समझ से काम नहीं लेता, वह केवल एक जड़ मशीन बनकर रह जाता है। यदि कोई ऐसा अवसर आ जाए कि नियम-विनियम दिशा-निदेश नहीं कर रहे क्योंकि वहां उसकी चर्चा है ही नहीं, और न ही कोई पूर्ववर्ती निर्णय इस विषय में है, तो उस परिस्थिति में वह किंकर्तव्यविमूढ़ होकर हाथ पर हाथ धरकर बैठा रहेगा और कोई भी निर्णय ले नहीं पाएगा। उसे यह सिखाया ही नहीं गया कि स्वतंत्रतापूर्वक निर्णय कैसे लेना है और यही कारण है कि स्वयं निर्णय लेने की बजाय वह दूसरों की ओर देखता है कि वे उसे मार्ग दिखाएं।

इसके पश्चात् उन्होंने पश्चिमी प्रकार के सत्य के संबंध में कहा कि सत्य का उच्चतम आदर्श केवल पश्चिमी विचारों से ही मिल सकता है। पूर्वीय विचारधारा और परंपरा में चालाकी, मक्कारी और वाक्छल को अधिक आदर मिला है। वास्तव में पूर्वीय कूटनीति (ओरियंटल डिप्लोमेसी) का अर्थ है कोई ऐसी बात जो अत्यंत वक्र, कुटिलतापूर्ण और दुर्बोध हो। पूर्वीय साहित्य में भी यही बात मिलती है। भारतीय महाकाव्यों के अंदर सत्य की प्रशंसा तो धर्म के रूप में की गई है किंतु बहुधा उसके साथ कोई न कोई ऐसी बात जोड़ दी गई है कि लक्ष्य तो सत्य ही बना रहता है किंतु सत्य के स्थान पर उलट बात की सिद्धि कर ली जाती

है।[18] कर्ज़न महोदय का इशारा संभवतः हिरण्याक्ष, रावण, द्रोणाचार्य इत्यादि की मृत्यु की ओर था। वे यूनानी एवं रोमन महाकाव्यों को भूल ही गए। उनके मत में भारतीय चरित्र एक ओर मूढ़ता और दूसरी ओर चालाकी का पुलिंदा था। ऐसे ही चालाक लोग नए भारत का नेतृत्व करने का दम भरते थे। कर्ज़न उनकी शक्ति को तोड़ देना चाहते थे और यह चाहते थे कि यूनिवर्सिटी ग्रेज्युएट्स पश्चिमी प्रकार के सत्य के पुजारी बनें और स्वतंत्रतापूर्वक निर्णय ले सकें।

अंग्रेज शिक्षाशास्त्री भी साधारणतया अपने राजनीतिक उत्तरदायित्व को नहीं भूल पाते थे। कर्ज़न तो थे ही शासक और राजनीतिज्ञ। वे कैसे भूलते ? तो यह देखना आवश्यक है कि उनके शिक्षा संबंधी सिद्धांतों और राजनीतिक आवश्यकताओं के बीच कोई तालमेल था या नहीं। यदि इस दृष्टिकोण से उनके विचारों का अध्ययन करें तो हमें याद रखना चाहिए कि सारे ही ब्रिटिश शासक अथवा विचारक यह मानते थे कि भारत में ब्रिटिश पदार्पण के साथ ही वहां पर एक वैचारिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक एवं सामाजिक क्रांति प्रारंभ हो गई थी और उसी क्रांति को आगे ले जाना अंग्रेजी शिक्षा का उद्देश्य था। ग्रांट, मकाले इत्यादि ऐसा ही मानते थे। किंतु जैसे ही उनके मन में राजनीतिक तथा राज-संबंधी भावना का उदय हुआ, उनके राजनीतिक शिक्षा-सिद्धांत स्वच्छ शिक्षा-सिद्धांतों से टकरा गए। शासन और राजनीति के रंग में रंगे शिक्षा-सिद्धांत इस प्रकार के थे : प्रथम तो शिक्षा ही केवल ऐसा साधन है जिससे समाज और देश की उन्नति होती है। तथापि भारत जैसे देश में तो आज की विकास-स्थिति को देखते हुए शिक्षा सर्वप्रथम आवश्यकता है। यहां पर शिक्षा की आवश्यकता प्रधान रूप से विद्या तथा संस्कृति के साधन के रूप में नहीं है। यहां शिक्षा की आवश्यकता मुख्यतया रोजगार के लिए है क्योंकि रोजगार से ही देश की आर्थिक उन्नति होती है और जनता का प्रत्येक वर्ग ऊंचा उठने का मार्ग ढूंढ़ता है। भारत में शिक्षा इतनी बौद्धिक आवश्यकता नहीं है जितनी कि सामाजिक और राजनीतिक आवश्यकता है। शिक्षा से ही भारत के नागरिकों को काम मिलेगा। शिक्षा से ही हमारे अफसर तैयार हो सकेंगे। शिक्षा से ही हमारे आर्थिक और औद्योगिक संसाधनों का विकास होगा। शिक्षा से ही यहां के लोग उतनी मात्रा में स्वतंत्रता में भागीदार बनने की योग्यता प्राप्त करेंगे जितनी स्वतंत्रता उनको दी जाएगी। जैसे-जैसे जनता की योग्यता बढ़ेगी उनकी स्वतंत्रता की मात्रा बढ़ती जाएगी। शिक्षा से ही राष्ट्रीय चरित्र का स्वच्छ और स्वस्थ दिशा में निर्माण हो सकेगा।[19]

शिक्षा का उद्देश्य बौद्धिक विकास, चरित्र-निर्माण और स्वतंत्र विचार एवं कार्यकुशलता तो रहा किंतु रहा केवल ब्रिटिश साम्राज्य की परिधि के अंदर। परिधि के बाहर जो भी विचार स्वतंत्रतापूर्वक और युग-निर्माण के लिए किया गया जैसे कि राष्ट्रीय नेता करते थे, कर्ज़न महोदय के मतानुसार वह सब शिक्षा का काला परिणाम ही था। कर्ज़न उसके कारण उदासीन, निराश तथा क्षुब्ध हो उठते थे। समस्त शिक्षा और भाषा-नीति राज की सेवा में और कुछ नहीं। राज से आगे कुछ नहीं।

---

18. सर पर्सिवल स्पियर, 'इंडिया' (एन आर्बर, 1969) पृ० 481-82, 491
19. वही, पृ० 347

20

बूर के पूए

लार्ड कर्ज़न के निराशापूर्ण किंतु क्षोभ से भरे शब्दों को सुनकर कुछ लोगों के मन में संभवतः यह आशा जगी होगी कि भारत की शिक्षा पद्धति में कोई न कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आने वाला है । उद्देश्य में परिवर्तन की आशा यदि किसी ने की हो तो उसे निराशा ही मिली होगी । कर्ज़न महोदय साम्राज्य-भक्त थे और शिक्षित नौजवानों से राजभक्ति की प्रबल आशा रखते थे । वे शिक्षा के माध्यम से राजसेवा की दिशा में एक शांत क्रांति लाना चाहते थे । हां, वे यह अवश्य चाहते थे कि शिक्षित लोग सोच-समझकर अपना निर्णय किया करें—वह भी राजसेवा की दिशा में, पर अंधभक्तों की तरह नहीं । ऐसे दिशानिर्दिष्ट मानसिक विकास का माध्यम अंग्रेजी नहीं भारतीय भाषा ही हो सकता था क्योंकि मात्र शब्दों को तो वे केवल छिलका ही मानते थे । अंग्रेजी शब्द भारतीय विद्यार्थियों के लिए थे भी अधिकतर अर्थ-विहीन । अतः आशा यही थी कि मानसिक विकास के लिए भारतीय माध्यम से ही शिक्षा दी जानी चाहिए ।

कर्ज़न लार्ड मकाले से उदासीन थे क्योंकि मकाले महोदय की बर्फीली हवा ने तो भारतीय भाषाओं को झुलस दिया था । उन्होंने 1902 में जो भारतीय विश्वविद्यालय आयोग बिठाया उसने भी देखा कि बच्चे अंग्रेजी भाषा को भली प्रकार जानने से पहले ही उसे माध्यम रूप में प्रयोग करना प्रारंभ कर देते हैं और इस कारण उन्हें न भारतीय भाषा आती है न अंग्रेजी । ऐसा कह कर भी कमिशन ने कोई ठोस सुझाव नहीं दिया और यूनिवर्सिटी किस प्रकार कमजोर विद्यार्थियों की विशेष सहायता करे इस पर एक शब्द भी नहीं कहा । उन्होंने सारी जिम्मेदारी स्कूलों पर डाल दी । हिंदी के संबंध में कहा गया कि जब तक बच्चों को स्कूल में सही शिक्षा नहीं मिलेगी, यूनिवर्सिटी कुछ भी नहीं कर पाएगी । अंग्रेजी के संबंध में भी यही कहकर संतोष कर लिया गया कि सारी बीमारी स्कूल में शुरू होती है । यदि यूनिवर्सिटी को अंग्रेजी में अच्छे विद्यार्थी तैयार करने है तो इस विषय में स्कूल में अच्छी पढ़ाई होनी चाहिए । स्कूलों के लिए केवल यह सुझाव दिया गया कि अध्यापक योग्य हों, उन्हें वेतन अच्छा मिले, हो सके तो ऐसे अध्यापक हों जिनकी मातृभाषा अंग्रेजी हो, क्लासें छोटी हों और बच्चों के माता-पिता धैर्य से काम लें । अंग्रेजी अध्यापकों जैसी योग्यता वाले ही भारतीय भाषाओं के अध्यापक होने चाहिए ।

कमिशन ने अंग्रेजी के व्यावसायिक और व्यापारी महत्व को भी समझा । इस बात को 1882 वाला कमिशन भी देख चुका था । 1882 में ही और उससे पूर्व 1839 में ही अंग्रेजी के व्यापारी मूल्य को देखा जा चुका था । अंग्रेजी पढ़ाना भी बहुत जल्दी आरंभ कर दिया जाता

है, यह बात भी देख ली गई और यह भी मान लिया गया कि यह प्रक्रिया बदली जानी चाहिए । यह भी देखा जा चुका था कि मद्रास को छोड़कर कहीं भी यूनिवर्सिटी स्तर पर भारतीय भाषा की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जा रहा था । यह सब कुछ जानते हुए भी आयोग ने यह कह दिया कि स्कूल से ऊपर अर्थात् कालेज और यूनिवर्सिटी में क्लासिकल भाषा के साथ-साथ या समकक्ष आधुनिक भारतीय भाषा को मान्यता न दी जाए ।

1902 के आयोग के आधार पर 1904 में सरकार ने शिक्षा-नीति का नया निर्धारण किया और एक प्रस्ताव पास किया । उस प्रस्ताव के अनुसार यह निर्णय लिया गया कि प्राइमरी तक केवल भारतीय भाषा में ही शिक्षा दी जाए और सिवाय मद्रास के जहां कि अंग्रेजी का प्रचार अधिक था अंग्रेजी को प्राइमरी में कोई स्थान न दिया जाए । प्राइमरी से ऊपर हाई स्कूल तक अंग्रेजी को जल्दी ही लागू किया जा रहा था क्योंकि अंग्रेजी का व्यापारी भाव ऊंचा था और वह नौकरी के कारण ही था । इस स्थिति को सुधारने के लिए सरकार ने जो निर्णय लिया वह इस प्रकार था :

1. प्राइमरी स्कूल में बच्चा जब तक अपनी मातृभाषा में सुचारु रूप से योग्यता प्राप्त न कर ले उस समय तक उसे अंग्रेजी पढ़ने की इजाजत न दी जाए ।
2. अंग्रेजी भाषा की जब तक अच्छी योग्यता प्राप्त न हो जाए बच्चे उसका प्रयोग माध्यम रूप में न करें । अंग्रेजी को भाषा के तौर पर 13 वर्ष की आयु तक पढ़ा जाए, तत्पश्चात् उसका प्रयोग माध्यम रूप में किया जाए । तब भी मातृभाषा के अध्ययन को न छोड़ा जाए ।[1]

शिक्षा-प्रस्ताव (1904) में यह कहा गया था कि अंग्रेजी का प्रयोग शिक्षा-माध्यम के रूप में समय से पहले प्रारंभ नहीं किया जाना चाहिए । स्कूलों के बच्चों में बिना समझे पाठ्य-पुस्तकों का घोटा लगाने की जो बीमारी है उसका मुख्य कारण यही है कि बच्चे अंग्रेजी पढ़ना प्रारंभ करने के पश्चात् जल्दी ही अंग्रेजी माध्यम से पढ़ना प्रारंभ कर देते हैं और भाषा की समझ उन्हें होती नहीं । परीक्षा पास करने के लिए रट्टा लगाना उनके लिए आवश्यक हो जाता है । 1902 से 1907 तक की स्कूल-शिक्षा रिपोर्ट के अनुसार यह पता चलता है कि 1902 के कमिशन के सुझाव और 1904 का प्रस्ताव दोनों कार्यान्वित कर दिए गए थे । बच्चा मातृभाषा अध्ययन, अंग्रेजी भाषा अध्ययन और अंग्रेजी को माध्यम रूप में प्रयोग करने के लिए कितना समय लगाए वह इस प्रकार था :

1. मातृभाषा का अध्ययन : 3 वर्ष से 4 वर्ष तक
2. अंग्रेजी भाषा का अध्ययन : 3 से 4 वर्ष तक
3. अंग्रेजी भाषा का माध्यम रूप में प्रयोग : 13 वर्ष की आयु में (6 से 8 वर्ष पश्चात्)

यहां पर यह समझना आवश्यक है कि लार्ड कर्ज़न की निराशा और क्षोभ के पश्चात् भी

1. देखिए : 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन रिपोर्ट', II, पृ० 238-39

स्थिति पर वास्तव में प्रभाव पड़ा या नहीं। इसके लिए हमें लार्ड कर्ज़न से पूर्व की स्थिति पर विचार करके दोनों स्थितियों की तुलना करनी चाहिए। 1882 के शिक्षा आयोग ने जो स्थिति देखी थी वह इस प्रकार थी :

1. मातृभाषा का अध्ययन	2 से 4 वर्ष तक
2. अंग्रेजी का अध्ययन	अगले 2 से 3 वर्ष
3. अंग्रेजी भाषा का माध्यम रूप में प्रयोग	तत्पश्चात् अर्थात् 4 से 7 वर्ष पश्चात्

1882 की भी स्थिति यह थी कि अंग्रेजी का माध्यम रूप में प्रयोग कम से कम पांचवीं कक्षा से और अधिक से अधिक आठवीं कक्षा से होता था। 1902—7 की स्थिति यह थी कि अंग्रेजी का प्रयोग माध्यम रूप में जल्दी से जल्दी सातवीं कक्षा से और अधिक से अधिक नवीं कक्षा से होता था। अर्थात् माध्यम रूप में अंग्रेजी की तैयारी करने के लिए दो या एक वर्ष का समय अधिक मिला। मातृभाषा को भी मात्र अकेली या दूसरी भाषा के रूप में पढ़ने के लिए एक वर्ष का समय अधिक मिला।

अब देखना यह है कि 1854 से 1904 तक पचास वर्ष का शिक्षा प्रयोग वास्तव में कोई दिशा-निदेश कर पाया या नहीं। प्रारंभ से ही एक निष्कर्ष निकाला जाता रहा था और वह यह था :

1. भारती माध्यम से पढ़ने वाले विद्यार्थी सामान्य तौर पर अंग्रेजी माध्यम से पढ़ने वालों की अपेक्षा अच्छे थे और पाठ्य विषयों को भली प्रकार समझते थे।
2. बच्चे अंग्रेजी माध्यम से पढ़कर कमजोर इसलिए रहते थे कि भाषा को समझने की आवश्यक योग्यता होने से पहले ही वे विभिन्न विषयों को अंग्रेजी में पढ़ने लगते थे और उन्हें समझने की क्षमता उनमें नहीं होती थी। जब वे भाषा को ही नहीं समझते थे तो विषयों को कैसे समझते ?
3. जब बच्चे अपनी मातृभाषा को ही भली प्रकार नहीं जान पाते थे तो उससे आगे अंग्रेजी को कैसे समझते ?
4. प्रथम अपनी मातृभाषा का अध्ययन भली प्रकार किया जाए अन्यथा अंग्रेजी भी नहीं पढ़ी जा सकेगी।
5. वास्तविक शिक्षा और भाषा-ज्ञान में अंतर है। मात्र भाषा-ज्ञान, वह भी केवल रटंत के आधार पर, गिरी के विना छिलके के बराबर है।
6. निष्कर्ष साफ है : यदि शिक्षा हमारा ध्येय है तो वह भारती माध्यम से ही संपन्न हो सकता है। नौकरी के लिए केवल छिलके से पेट भरना है तो दूसरी बात है। लार्ड कर्ज़न इसी बात से तो निराश और क्षुब्ध हुए थे।

इस निष्कर्ष के निकलने पर भी और वाइसराय महोदय के क्षोभ के बावजूद भी किया गया क्या ? केवल एक वर्ष भारती के अध्ययन के लिए अधिक दिया गया और वैसे ही केवल

एक वर्ष अंग्रेजी भाषा के अध्ययन के लिए दिया गया। पहले जब बच्चों को न भारतीय भाषा आ रही थी न अंग्रेजी, तो एक वर्ष में कोई भी क्या कर लेता ?

शिक्षा और भाषा के संबंध में एक बात करना आवश्यक है जिसकी चर्चा रवीन्द्र ठाकुर ने भी अपने 'शिक्षा का हेरफेर' नामक निबंध में की है। वे कहते हैं कि शिक्षा तो केवल अपनी भाषा में ही होती है। विद्यार्थी जिस समय अपनी भाषा पढ़ रहा होता है उस समय तो वह इतना छोटा होता है कि विचारों के ग्रहण के लिए उसका मस्तिष्क परिपक्व नहीं होता और जब मस्तिष्क परिपक्व होने लगता है तो विचार नहीं मिल पाते क्योंकि अंग्रेजी माध्यम से वह विचारों को ग्रहण कर ही नहीं पाता। कालेज में भारतीय भाषाओं के अध्ययन का कोई नियम था ही नहीं। 1902 के विश्वविद्यालय आयोग ने तो यह सिफारिश की थी कि भारतीय भाषाओं को क्लासिकल भाषा के समकक्ष दूसरी भाषा के रूप में मान्यता न दी जाए। इन सब बातों को देखकर तो यह लगता है कि चाहे 1902 का आयोग हो, अथवा 1904 का सरकारी प्रस्ताव हो, केवल बूर के पूए पकाए जा रहे थे। यदि सुझाव और प्रस्ताव शिक्षा के संबंध में थे तो शिक्षा भी बूर के पूओं से अधिक नहीं थी और यदि शिक्षा का रोग-निदान करने के पश्चात् चिकित्सा की चिंता की जा रही थी तो केवल बातों के पकौड़े तले जा रहे थे। शिक्षा, रोग-निदान और चिकित्सा तीनों ही खोखले थे।

इन सुझावों और प्रस्तावों से यदि कुछ राहत मिली तो उन बच्चों को मिली जिनके सिर पर 8 से 9 वर्ष की आयु में ही अंग्रेजी माध्यम लाद दिया जाता था। अब वे विद्यार्थी बारह या तेरह वर्ष की आयु तक भारतीय भाषा को पढ़ते रह सकते थे और भारती माध्यम से ही अन्य विषय भी पढ़ सकते थे। ऐसे स्कूल थे जिनमें प्राथमिक या मिडल तक शिक्षा भारती माध्यम से दी जा रही थी। विद्यार्थी इन स्कूलों में सातवीं या आठवीं कक्षा तक अपनी शिक्षा जारी रख सकता था और यह आवश्यक नहीं था कि वह पांचवीं कक्षा में अंग्रेजी स्कूल में जाने के लिए विवश हो। 1913 के शिक्षा प्रस्ताव में यह माना गया कि जो बच्चे सात या आठ क्लास तक भारतीय स्कूल में शिक्षा प्राप्त करके आते थे वे अंग्रेजी माध्यम वाले बच्चों से पढ़ाई में आगे रहते थे। इन विद्यार्थियों के लिए अंग्रेजी स्कूलों में अंग्रेजी अध्ययन के लिए विशेष कक्षाएं खोली गईं ताकि वे अंग्रेजी की कमी को पूरा कर लें। लार्ड कर्ज़न के आदेश से ही भारती माध्यम मिडल स्कूल खोले गए थे। 1921 तक भारती माध्यम मिडल तक बहुत स्कूलों में लागू हो गया, किंतु अंग्रेजी का स्थान प्रमुख ही रहा।

1915 में यह साफ तौर पर प्रमाणित हो गया कि सरकार वास्तव में कुछ करना नहीं चाहती। नौकरी और राजसेवा एवं राजभक्ति तो पहले से ही शिक्षा के उद्देश्य चले आ रहे थे। इन दोनों के लिए अंग्रेजी भाषा पर अधिकतम बल दिया जा रहा था। शिक्षार्थ केवल इतना परिवर्तन हो रहा था कि अंग्रेजी माध्यम बच्चे की बारह या तेरह वर्ष की आयु से पहले अर्थात् आठवीं या नवीं कक्षा से पहले प्रारंभ न किया जाए। बारह-तेरह वर्ष की आयु तक तो विशेष कोई शिक्षा होती नहीं। इसलिए शिक्षा के पक्ष में यह विचार सामने आया कि सारे सेकंडरी कोर्स

अर्थात् दसवीं कक्षा तक भारती माध्यम से पढ़ाया जाए और अंग्रेजी को दूसरी भाषा के रूप में अनिवार्य विषय रखा जाए। 17 मार्च 1915 को इंपीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल में यह प्रस्ताव रखा गया कि [2]

> यह कौंसिल गवर्नर-जनरल से अनुरोध करती है कि प्रांतीय सरकारों और प्रशासनों से परामर्श करके ऐसे कदम उठाए जाएं कि समस्त सेकंडरी स्कूलों में भारतीय विद्यार्थियों के लिए भारतीय भाषाओं को शिक्षा-माध्यम बनाया जाए और अंग्रेजी को दूसरी भाषा के रूप में अनिवार्य विषय रखा जाए।

सर एस० रायनिंगर ने यह प्रस्ताव रखा था।

उस समय सर हारकोर्ट बटलर गवर्नर-जनरल की कौंसिल में शिक्षा सदस्य थे। उन्होंने विषय और उसके विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला। उन्होंने कहा कि सरकार की यह नीति रही है कि सेकंडरी स्तर पर बच्चे की तेरह वर्ष की आयु तक भारतीय भाषा को शिक्षा-माध्यम रखा जाए और अंग्रेजी दूसरी भाषा के रूप में अनिवार्य विषय रहे। अब प्रश्न यह है कि उच्चतम तीन या चार कक्षाओं में अंग्रेजी को शिक्षा-माध्यम रखा जाए या नहीं। विकल्प यह नहीं है कि अंग्रेजी को कम किया जाए अपितु यह है कि अंग्रेजी को डायरेक्ट तरीके से दूसरी भाषा के रूप में पढ़ाया जाए और विद्यार्थियों के मानसिक विकास के लिए शिक्षा उन्हें मातृभाषा के माध्यम से दी जाए। प्रस्ताव पर बहस हुई और बहस के पश्चात् सर हारकोर्ट ने ही विभिन्न विचारों का समापन किया। उन्होंने भारती माध्यम की श्रेष्ठता पर इस प्रकार प्रकाश डाला : "मेरा अनुभव यह है और मैंने बहुत सारे शिक्षाशास्त्रियों से इस विषय पर विचार-विमर्श किया है। हमारा अनुभव यह है कि जिस विद्यार्थी की शिक्षा स्कूल में उच्चतम कक्षा तक भारतीय भाषा के माध्यम से हुई है उसका मानसिक विकास कहीं अधिक पाया गया है अपेक्षाकृत उस विद्यार्थी के जिसकी शिक्षा अंग्रेजी के माध्यम से हुई है।" सर हारकोर्ट ने सदस्यों को यह भी याद दिलाया कि 1882 का आयोग भी इसी निष्कर्ष पर पहुंचा था।

इतना कह देने के पश्चात् कोई संदेह की बात रह नहीं गई थी। किंतु फिर भी विषय विवादास्पद ही बना रहा और कोई परिवर्तन संभव नहीं हो पाया। सर हारकोर्ट अपने ही अनुभव पर संदेह करने लगे और अधिक तथ्यों की प्रतीक्षा करने की मांग करने लगे। उन्होंने कहा : "मैं यह समझता हूं कि इस विषय में मेरा अनुभव ही अंतिम और निर्णयात्मक नहीं है। यह ऐसा विषय है कि किसी भी निष्कर्ष पर पहुंचने से पहले बहुत बड़े स्तर पर अधिक अनुभव की आवश्यकता है। मेरी अपनी राय तो यह है कि हमें अभी और प्रयोग करना चाहिए और प्रयोग के लिए यह आवश्यक है कि दूसरी अनिवार्य भाषा के रूप में अंग्रेजी को यदि पढ़ाना है तो उसके लिए श्रेष्ठतम प्रबंध होना चाहिए और श्रेष्ठतम अध्यापकों का होना अपेक्षित है। ऐसे अध्यापक भारत में थोड़े हैं।

1835 से 1915 तक 80 वर्ष का प्रयोग और 1882 से 1915 तक 33 वर्ष के निष्कर्ष

2. देखिए : 'प्रोसिडिंग्ज़ आफ दि कौंसिल आफ दि गवर्नर-जनरल आफ इंडिया', नं० 53, पृ० 418–47

सब विफल हो गए। कोई आगे चलता भी तो कैसे ?

कुछ सदस्यों ने आगे चलने का प्रयास किया भी। पं० मदन मोहन जी मालवीय ने यह सुझाव दिया कि एक केंद्रीय समिति बना दी जाए जो इस प्रश्न पर गंभीरता और व्यापकता से विचार करे और उचित सुझाव दे। उनका सुझाव नहीं माना गया। उत्तर में सर हारकोर्ट ने कहा कि यह एक महत्त्वपूर्ण अखिल भारतीय प्रश्न है और अलग-अलग सूबों में अलग-अलग विचारधाराएं काम कर रही हैं और एक ही सूबे में भी अलग-अलग स्थानों पर स्थानीय मान्यताएं भी हो सकती हैं। इस कारण केंद्रीय समिति सफल नहीं होगी। केंद्रीय समिति बनाना उचित नहीं रहेगा। इस पर भी एक और सुझाव दिया गया कि स्थानीय सरकारों के सम्मुख इस समस्या को रखा जाए। उनका ध्यान इस बहस की ओर दिलाया जाए और उनसे पूछा जाए कि क्या इस प्रश्न पर विचार करने के लिए सूबाई समितियां बनाना उचित नहीं रहेगा ? यह सुझाव भी नहीं माना गया, इसे स्थगित कर दिया गया। कारण यह बताया गया कि लड़ाई चल रही है। ऐसे प्रश्नों के लिए अभी उचित समय नहीं आया है।

अंत में वास्तविक कारण सामने आ ही गया। बात प्रारंभ हुई थी शिक्षा मनोविज्ञान से : मातृभाषा के माध्यम से प्रशिक्षण किया जाए तो बच्चे का मानसिक विकास अच्छा होता है। बात शिक्षा-नीति की भी हुई थी। शिक्षा-नीति का निर्धारण मनोविज्ञान के तथ्यों के आधार पर ही होना चाहिए। किंतु बात चली केवल व्यवहार और व्यापार की। सर हारकोर्ट ने ही स्वयं कहा : "प्रश्न शिक्षा-नीति का नहीं है। प्रश्न सीधा शिक्षा-व्यवस्था का है और बड़े पैमाने पर ही विचार करके इसे सुलझाया जा सकता है। शिक्षा का प्रश्न व्यवहार और व्यापार का बन गया है। वास्तविक प्रश्न है मांग और सप्लाई का। शिक्षा कैसी हो इस प्रश्न का उत्तर इस बात से मिलेगा कि मांग कौन-सी शिक्षा की है। दुनिया में सारी शिक्षा पद्धतियां केवल एक ही बात से जूझ रही हैं : बी जो पढ़ाना चाहता है वह ए नहीं पढ़ना चाहता। इस तथ्य से जो भी मुंह मोड़ेगा वह परेशान होगा।"

घूम-फिरकर बात 1817, 1827, 1835 और 1841 पर वापस पहुंच गई। सबसे पहले चाहिए नौकरी, नौकरी के लिए अंग्रेजी और अंग्रेजी के लिए चाहिए शिक्षा। शिक्षा व्यापार में छिलका-फरोशी के सिवाय कुछ था नहीं। लार्ड कर्ज़न ने प्रश्न उठाए। सवाल भी छिलका-फरोशी, जवाब भी छिलका-फरोशी। सर हारकोर्ट केवल शिक्षा व्यापार की बात करते रहे और भारतीय भाषा माध्यम विषयक प्रस्ताव वापस ले लिया गया। प्रस्ताव की वापसी के कारण इस प्रकार थे :

1. व्यापार सिद्धांत : जैसी मांग वैसा माल। अंग्रेजी की मांग थी, अंग्रेजी की ही सप्लाई करनी पड़ेगी। अंग्रेजी को यदि माध्यम न रखा गया तो अंग्रेजी की योग्यता कम हो जाएगी। (जो मशीन चले सो ही चमके, रुके तो जंग खा जाए)।
2. यदि भारती माध्यम से शिक्षा सप्लाई करें भी तो कौन-सी भारतीय भाषा में ? एक ही सूबे में कई भाषाएं हैं। ऐसा करना महंगा भी तो पड़ेगा। (स्वतंत्र भारत

के प्रश्न भी उठ खड़े हुए ।)

3. भारती माध्यम के लिए पाठ्य पुस्तकें भी नहीं हैं । (1793 से ही नहीं थीं) ।
4. साइंस, गणित इत्यादि में भारतीय भाषाओं में टेक्निकल शब्दावली नहीं है ।
5. इन विषयों को भारती माध्यम से पढ़ाने वाले अध्यापक नहीं हैं ।
6. अंग्रेजी अखिल भारतीय भाषा बन चुकी है । अंग्रेजी में यदि शिक्षा न दी गई तो भारत की एकता को हानि पहुंचेगी ।

जब कोई व्यवस्था स्थितप्रतिष्ठ अवस्था में पहुंच जाती है तो उससे संबद्ध प्रश्नों का रूप भी बदल जाता है । प्रश्नों का रूप बदलते ही मौलिक समस्याओं का रूप भी बदल जाता है । प्रारंभ में समस्या का रूप यह था :

1. अंग्रेजी भाषा के माध्यम से भारतीय बच्चों की शिक्षा नहीं हो पाएगी । अंग्रेजी भारत में जड़ें भी नहीं पकड़ेगी ।
2. शिक्षा भारतीय भाषा के माध्यम से ही हो सकेगी । तदर्थ क्या करें ?

जब-जब यह समस्या सामने आई और इस पर विचार किया गया तब-तब हुआ तो कुछ नहीं किंतु समस्या का रूप नहीं बदला था और जो भी हल निकाला गया उससे ऐसा लगा कि वह एक मजबूरी के रूप में अपनाया गया था । अब स्थिति बदली हुई दीखी । परिवर्तन यह हो गया :

1. अंग्रेजी जड़ें पकड़ चुकी है । भारत की एकता का माध्यम है, उसका प्रतीक भी यही है ।
2. अंग्रेजी माध्यम को बदला जाए तो क्यों और कैसे ?
3. अंग्रेजी माध्यम को रखना अथवा बदलना : इनमें से बड़ी समस्या कौन-सी है ?

1917 में दिल्ली में सरकार की ओर से शिक्षा-निदेशकों का एक सम्मेलन बुलाया गया । उसी वर्ष स्थानीय सरकारों के प्रतिनिधियों का भी एक सम्मेलन शिमला में बुलाया गया । इन सम्मेलनों में समस्या और प्रश्नों का रूप बदल गया । सम्मेलनों में लार्ड चेम्सफोर्ड ने मुख्य समस्याओं की ओर ध्यान दिलाया :

1. शिक्षा-माध्यम के विषय में सरकारी नीति
2. भारती का विकास
3. अंग्रेजी के प्रशिक्षण को बेहतर बनाना
4. शिक्षा-माध्यम के रूप में अंग्रेजी और भारती की अपेक्षित स्थिति के निर्धारण का औचित्य ताकि विद्यार्थी दोनों से अधिकतम लाभ उठा सकें ।

बात अधूरी थी क्योंकि यहां लाभ शब्द का अर्थ स्पष्ट नहीं होता । इसका आशय सर शंकरन नायर ने कहा । सर हारकोर्ट तो दो वर्ष पूर्व शिक्षा व्यवस्था की चर्चा कर चुके थे । सर शंकरन ने सर हारकोर्ट की बातों को दुहराया और कहा कि सम्मेलन का ध्येय यह था कि यह

देखा जाए कि वर्तमान स्थिति में कितना परिवर्तन अपेक्षित है ताकि विद्यार्थी (क) पाठ्य विषयों को अच्छी तरह समझ लें और (ख) शिक्षा-संपन्न होने के समय तक अब की अपेक्षा अंग्रेजी की बेहतर योग्यता प्राप्त कर सकें ।[3] इन सब विचारों का ध्यान से विश्लेषण करें तो ये बातें उबर कर सामने आती हैं :

1. अंग्रेजी तो पढ़ाना ही है । सोचना केवल यह है कि उसे अच्छी तरह कैसे पढ़ाया जाए ।
2. भारती का विकास और शिक्षा-माध्यम के रूप में उसकी स्वीकृति ये दो प्रश्न अलग-अलग हो गए, 1902 से ही हो गए थे ।
3. अंग्रेजी और भारती इन दोनों में से कौन-सा माध्यम अपेक्षाकृत अच्छा है—इसका निर्णय करने का आधार यह नहीं होगा कि बच्चे कौन-सी भाषा को भली भांति समझते हैं बल्कि यह होगा कि कौन-सी भाषा विकसित है और विषय-वस्तु को अभिव्यक्त करने की क्षमता रखती है । हम जानते हैं कि किसी भी विषय को मात्र अभिव्यक्त करना और बात है किंतु श्रोताओं तक पहुंचाना और बात है । स्थिति न केवल तुलनात्मक बन गई बल्कि स्पर्धात्मक भी बन गई जिसमें भारती की सुगमता की अपेक्षा अंग्रेजी का विकास और उसकी राजसत्ता सामने आ खड़ी हुई ।
4. राज की शिक्षा-माध्यम संबंधी नीति तो अंग्रेजी के पक्ष में ही थी । अब देखना यह था कि उसे बदलना और भारती माध्यम को लाना उचित होगा या नहीं । प्रश्न भारती को लाने का नहीं रहा, अंग्रेजी को हटाने का हो गया और अंग्रेजी को हटाने के लिए न केवल विकल्प-भाषा की क्षमता की आवश्यकता थी बल्कि सामाजिक और राजनीतिक समर्थन की भी आवश्यकता थी । भारती के लिए मांग कम थी, अंग्रेजी के लिए अधिक थी । अंग्रेजी भाषा भारत की एकता का प्रतीक बनाई जा रही थी और भारतीय भाषाएं संगठन-भेद का सूचक बन रही थीं ।

इन्हीं समस्याओं और प्रश्नों के बदलते रूप के कारण बहस के दौरान जो प्रश्न उठाए गए और उन प्रश्नों पर जो राय बनाई गई वह देखने योग्य है । 21 प्रतिनिधियों का मत शिक्षा और माध्यम भाषा के विषय में इस प्रकार रहा :

1.	हाई स्कूल की सारी कक्षाओं में शिक्षा-माध्यम भारती होना चाहिए ।	3
2.	हाई स्कूल की सारी कक्षाओं में अंग्रेजी के अतिरिक्त सभी विषयों में शिक्षा माध्यम भारती होना चाहिए ।	4
3.	दो उच्चतम कक्षाओं में मुख्य माध्यम अंग्रेजी हो ।	14
4.	तीन उच्चतम कक्षाओं में मुख्य माध्यम अंग्रेजी हो ।	11
5.	चार उच्चतम कक्षाओं में मुख्य माध्यम अंग्रेजी हो ।	7

3. सम्मेलनों की कार्यवाही के लिए देखिए : 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन रिपोर्ट', VI, 132-35

6. जो बच्चे भारती माध्यम से पढ़कर हाई स्कूल में आते हैं वे अंग्रेजी के अतिरिक्त और विषयों में अच्छे होते हैं अपेक्षाकृत उनके जो अंग्रेजी माध्यम से पढ़कर आते हैं । 11
7. जो बच्चे भारतीय स्कूल से अंग्रेजी स्कूल में आते हैं वे अंग्रेजी में कमजोर रहते हैं । 10
8. ये बच्चे कमजोर नहीं रहते, बाद में ठीक हो जाते हैं । 7
9. अंग्रेजी में कुशलता प्राप्त करने के लिए अंग्रेजी का अध्ययन जल्दी से जल्दी प्रारंभ कर देना चाहिए । 15
10. तीन वर्ष के अध्ययन के बाद 9-11 वर्ष की आयु में अंग्रेजी का अध्ययन प्रारंभ किया जाए । 11
11. दो वर्ष के अध्ययन के बाद । 2
12. चार वर्ष के अध्ययन के बाद । 7

भारती माध्यम से पढ़ने वाले बच्चे सभी विषयों में अच्छे और अंग्रेजी में भी ठीक स्तर पर पहुंच जाते थे, फिर भी भारती के पक्ष में केवल तीन या चार सदस्य थे । अंग्रेजी माध्यम के पक्ष में 14 और जल्दी से जल्दी अंग्रेजी प्रारंभ करने के पक्ष में 15 । बात वहीं की वहीं रही। समस्या स्वयं हल बन गई ।

लार्ड कर्ज़न के छिलका-फरोशी के विरुद्ध उग्र विचारों के बावजूद पूए बूर के ही पकते रहे । प्रश्न शिक्षा का रहा ही नहीं, मात्र अंग्रेजी का बन गया । प्रश्न सार्थक माध्यम का भी नहीं, अंग्रेजी माध्यम का ही रह गया क्योंकि अपेक्षा यह की जाती थी कि अंग्रेजी माध्यम के कारण बच्चे अंग्रेजी का अधिक प्रयोग करेंगे और जितना अधिक अंग्रेजी का प्रयोग करेंगे उतना ही अधिक अंग्रेजी सीखेंगे । भारती माध्यम को सार्थक मानते हुए भी प्रश्न भारती माध्यम का नहीं रहा । प्रश्न यह बन गया कि अंग्रेजी के स्थान पर भारतीय भाषा आए तो क्यों ? अंग्रेजी और भारती दो प्रतिपक्षी भाषाएं बन गईं । अंग्रेजी मोर्चे में भी और स्थितप्रतिष्ठ बन चुकी थी । भारती उसे हटाए तो कैसे ? विषय पर विचार करने वाले और निर्णय लेने वाले सभी तो अंग्रेजीविद् थे । सरकार से और सशक्त भाषा से टक्कर कौन लेता ? सबके सब बूर के पूए पकाते रहे और बातों-बातों में बूर के पकौड़े खाते-खिलाते रहे । बच्चों की चिंता किसी ने नहीं की । केवल हाई स्कूल परीक्षा में अंग्रेजी को छोड़कर और विषयों में प्रश्नपत्रों का उत्तर ऐच्छिक रूप से अंग्रेजी या भारतीय भाषा में देने की छूट मिल गई । शिक्षा-माध्यम संबंधी स्थिति पहले जैसी बनी रही ।

21
मित्रभेद

मित्रभेद ब्रिटिश कूटनीति का महामंत्र है, यह सब जानते हैं । बांग्लादेश के बनने पर बी०बी०सी० की एक बात मैं भूल नहीं सकता । प्रोग्राम की समाप्ति पर बी०बी०सी० ने टिप्पणी की : "जब ब्रिटिश भारत छोड़कर आए थे तो एक के दो देश बन गए थे । अब वे तीन हो गए हैं ।" तोड़ो और राज करो, रोमन कूटनीति का मूलमंत्र था और वहीं से ब्रिटेन को उत्तराधिकार में मिला था ।

किंतु मित्रभेद का शिक्षा और भाषा से क्या संबंध ? हम यह देख चुके हैं कि ब्रिटिश राज का प्रारंभ से ही शिक्षा से संबंध रहा था, शिक्षा का भाषा से, भाषा का एक ओर सभ्यता और विचार-परिवर्तन से और दूसरी ओर नौकरी से, नौकरी और अंग्रेजीकरण का सरकारी सत्ता से, और सत्ता का राज और साम्राज्य से संबंध था । अतः सरकार ने शिक्षा को राजसेवा में जोड़ दिया और अंग्रेजी भाषा का ज्ञान शिक्षा का पर्याय बन गया । अब एक प्रश्न और खड़ा हो गया : अंग्रेजी भाषा शिक्षा की सहयोगी है या उसकी विरोधी ? एक पक्ष तो यह मानता था कि अंग्रेजी भाषा विचारों की कुंजी है और मानसिक विकास के द्वार खोल देती है । आज भी बहुत से लोग ऐसा मानते है कि भारत के पुनर्जागरण का श्रेय अंग्रेजी भाषा और शिक्षा को ही जाता है । दूसरा पक्ष कहता था कि अंग्रेजी मानसिक विकास का शत्रु है जो समस्त विषयों को हड़प करके अंत में अपने आप को भी हड़प कर लेता है अर्थात् बच्चे शून्य से प्रारंभ करते हैं और शून्य पर ही पहुंचकर समाप्त कर देते हैं । स्वयं लार्ड कर्ज़न अंग्रेजी-माध्यम शिक्षा को छिलका-फरोशी कहते थे । इसी विवाद के कारण शिक्षा आयोग बिठाए गए थे, पहला 1882 में और फिर 1902 में । बार-बार शिक्षाशास्त्रियों और शिक्षा-निदेशकों के सम्मेलन बुलाए गए । ये आयोग और सम्मेलन भी मात्र आयोग-वियोग की कहानी बनकर रह गए । धीरे-धीरे समस्या का रूप ही बदल गया । पहले तो मुख्य विषय था शिक्षा और भारतीय भाषाओं का विकास : अंग्रेजी-माध्यम से शिक्षा हो रही थी, या नहीं ? यदि नहीं तो क्या किया जाए ? यद्यपि इसका उत्तर तो कभी भी नहीं मिला और मिला तो मिला—केवल अंग्रेजी । भारतीय भाषाओं को भुला ही दिया गया । तथापि समस्या ज्यों की त्यों बनी रही । आगे चलकर समस्या का रूप भी यह बन गया कि यदि अंग्रेजी-माध्यम से शिक्षा नहीं हो रही तो क्यों नहीं हो रही और कैसे हो ? अर्थात् अंग्रेजी में सफलता कैसे मिले ? किंतु भारतीय भाषा का प्रश्न भी साथ में खड़ा था । उसका रूप भी बदल गया । अंग्रेजी जाए तो क्यों ? भारती आए तो क्यों और कैसे ? अंग्रेजी के जाने से कोई हानि तो नहीं होगी ? भारतीय भाषा के आने से क्या लाभ होगा ? कोई हानि तो नहीं होगी ? यदि हानि होगी तो क्या ? कुल मिलाकर देश का लाभ किसमें

है, अंग्रेजी में या भारतीय भाषा में ?

इन प्रश्नों का उत्तर कौन दे ? ग्रांट के समय से 1917 तक इस प्रश्न का उत्तर अंग्रेजी सत्ताधारियों ने ही दिया या सहयोगी भारतीयों ने उनके साथ मिलकर दिया । इस प्रश्न को खुला प्रश्न बनने ही नहीं दिया गया । ग्रांट महोदय ने तो भारतीयों के संबंध में कहा था कि हमने उन्हें जीता है, वे हमारे अधीन हैं, अतः उनके भले-बुरे का निर्णय हम करेंगे । मकाले महोदय ने 1835 में कहा था कि हम शिक्षा समिति हैं, हमें पता है कि कौन-सी भाषा पढ़ने योग्य है—अंग्रेजी या संस्कृत ? भारती का तो नाम ही नहीं था । 1854 में भी साम्राज्य सत्ता ने स्वयं फैसला कर लिया था जिसे सर चार्ल्स वुड ने शिक्षा भारती प्रस्ताव में भेज दिया था । 1882 में और 1902 में भी स्वयं राजसत्ता ने ही फैसला कर दिया था । 1917 में जब कलकत्ता यूनिवर्सिटी आयोग बिठाया गया तो उन्होंने शिक्षा-माध्यम के प्रश्न को अंग्रेजी भाषा के राजनीतिक महत्त्व से जोड़ दिया और जनता के सामने रख दिया । 1817 में राजा राममोहन राय ने लार्ड एमहर्स्ट को अंग्रेजी के पक्ष में पत्र लिखा था, पूरी एक शती के पश्चात् शिक्षा और भाषा संबंधी प्रश्न को जनता के सामने रखा गया । देखना यह है कि इस एक शती में कोई ऐसी बात तो नहीं हुई कि अंग्रेजी के पक्ष में जनमत ही तैयार किया जा रहा हो ? यदि अंग्रेजी पक्ष में जनमत तैयार हो गया तो राजसत्ता के पक्ष में तो अपने आप हो गया ।

भाषा की शक्ति अर्थात् शब्दशक्ति अनंत है क्योंकि वह जीवन सत्ता (एग्ज़िस्टेंस) और सत्ता चेतना का शब्द रूपांतर है । सत्ता अनंत है, भाषा की संभावना भी अनंत है । हमारी चेतना सांत है इस कारण से हमारी भाषा भी सीमित है । जैसे-जैसे हमारी चेतना का विकास होता है वैसे-वैसे हमारी भाषा का भी विकास होता है । साथ-साथ भाषा हमारी चेतना के विकास का साधन भी है । भाषा ही स्वाध्याय और प्रवचन का साधन है और इन्हीं से चेतना की वृद्धि होती है । भाषा के माध्यम से दर्शन की उपलब्धि होती है और दर्शन से भाषा का विकास होता है । अंततोगत्वा भाषा को शब्दब्रह्म कहा गया है । जैसे ब्रह्म की कोई परिभाषा नहीं है वैसे ही अंततोगत्वा भाषा का ब्रह्म के साथ तादात्म्य भी अनुमेय है । जैसे सत्ता अपरा, परा और परा से भी परे अर्थात् परम है वैसे ही भाषा भी अपरा, परा और परा से भी परे अर्थात् परम है । जब परम की कृपा होती है तो चेतना का विस्फोट होता है और जब चेतना का विस्फोट होता है तो भाषा का विस्फोट होता है । किंतु परम की प्राप्ति होने पर जिस चेतना की प्राप्ति होती है वह अनिर्वचनीय है । परम चाहे सत्ता हो अथवा भाषा, अनिर्वचनीय है । भाषा और चेतना स्वयं अपनी व्यक्त शक्ति को लांघकर अनंत को छू लेती है और उसी में समा कर अनंत हो जाती है । परम वाक्शक्ति की एक दिशा है ।

भाषा की शक्ति की दूसरी दिशा सामाजिक है जो अपरा चेतना का शब्दांतर है । भाषा केवल वैयक्तिक चेतना की अभिव्यक्ति एवं माध्यम नहीं है, वह सामाजिक चेतना का माध्यम एवं अभिव्यक्ति भी है । भाषा समाज के संघटन का सूचक है, उसका सूत्र है, उसका आधार है और उसकी सामूहिक चेतना की अभिव्यक्ति, उसकी उत्प्रेरणा और संचेतना का माध्यम भी है ।

संघटन-सूत्र होने के नाते भाषा समाज की सभ्यता, संस्कृति और एकता का प्रतीक है । समाज की परंपरा, धर्म, संस्कार और उसका आत्मा और स्वरूप सभी भाषा में लक्षित और बिंबित होते हैं । जब समाज की भाषा का परिवर्तन करने का प्रयास किया जाता है तो पारंपरिक भाषा और संस्कृति विद्रोह कर सकती हैं क्योंकि यह भाषा समाज की आत्मा पर चोट भी कर सकती है ।

1857 के आंदोलन का एक कारण अंग्रेजी भाषा के माध्यम से भारतीयों के धर्म-परिवर्तन का भय और संदेह भी था । कैनेडा में क्यूबेक और उसके निकटवर्ती प्रदेश जो फ्रेंच-भाषी हैं वे अंग्रेजी भाषा को अपनी फ्रेंच परंपरा और संस्कृति पर अतिक्रमण समझते हैं । यद्यपि आधुनिक रूप से कैनेडा द्विभाषी देश है तथापि फ्रेंच कैनेडा अंग्रेजी का विरोध करता है और विधान और उच्चतम न्यायालय के निर्णयों के दोनों में लिखे होने के बावजूद प्रदेश स्तर पर अंग्रेजी का विरोध करता है । इस विरोध में अंतर्निहित इंग्लैंड और फ्रांस की न केवल मध्यकालीन राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रतिस्पर्धा है अपितु आज के आर्थिक हितों का टकराव भी है ।

भाषा के साथ न केवल धार्मिक, सांस्कृतिक और पारंपरिक भावनाएं ही जुड़ी होती हैं अपितु आर्थिक और व्यावसायिक हित भी जुड़े होते हैं । उदाहरणार्थ, यदि कोई दूसरी भाषा एक भाषा-भाषियों की धार्मिक और पारंपरिक भावनाओं को चुनौती न दे तो चल जाती है और चलती रहती है । मध्यकालीन ब्रिटेन में घर की भाषा अंग्रेजी थी, स्कूल की भाषा लैटिन थी और प्रशासन की भाषा फ्रेंच थी । यह व्यवस्था करीब दो सौ वर्ष तक चलती रही । इसी प्रकार मुगल कालीन भारत में घर की भाषा भारती थी, स्कूल की भाषा संस्कृत, अरबी अथवा हिंदवी थीं और प्रशासन की भाषा फारसी थी । कितने ही भारती-भाषियों ने फारसी सीखी और राजसेवा में कार्य किया । विभिन्न भाषाओं के इसी क्षितिज पर हिंदी और उर्दू का जन्म हुआ था । इसी नई भाषा को हिंदवी कहा गया था । प्रारंभ में उर्दू और हिंदी में कोई भेद था ही नहीं, केवल लिपि का भेद था । यदि दूसरी अथवा विदेशी भाषा पूर्व भाषा-भाषियों की आर्थिक सहायता करे और सुगम भी हो तो व्यावसायिक स्तर पर मान्य हो जाती है । अंग्रेजी चाहे सुगम न हो फिर भी इसी व्यावसायिक स्तर पर मान्य हो गई थी । किंतु वही भाषा जब आर्थिक हितों को अथवा पूर्व भाषा-भाषियों के स्वाभिमान को चुनौती देती दीखती है तो उसे भी चुनौती मिलती है । मध्यकालीन ब्रिटेन में 1250 के पश्चात् फ्रेंच भाषा को चुनौती दी गई और एक शती के पश्चात् 1363 में फ्रेंच के स्थान पर अंग्रेजी भाषा को राजभाषा बनाना पड़ा । इसी प्रकार कुछ वर्ष पूर्व जब पाकिस्तान के बंगला-भाषी प्रदेश ने केंद्रीय सरकार के विरुद्ध आवाज उठाई तो और कारण जो भी रहे हों, एक कारण था केंद्रस्थ उर्दू-भाषियों की आर्थिक, व्यावसायिक और राजनीतिक एवं प्रशासनिक सत्ता और उसी सत्ता का बंगला-भाषियों के स्वाभिमान द्वारा विरोध ।

ब्रिटिश सरकार प्रारंभ से ही शासन-सत्ता और जन-सत्ता के परस्पर टकराव की संभावना को समझती थी । प्रारंभ से ही इस विरोध और टकराव के निराकरण के साधन भी सोचे गए थे । इन साधनों में मुख्य था मित्रभेद । मित्रभेद के साथ ही एक दूसरा साधन भी जोड़ दिया गया था, वह था शब्दभेद अर्थात् भाषाभेद और भाषा से संबद्ध हितों का उद्बोधन और परस्पर उनका

टकराव । अंग्रेजी शिक्षा-नीति और भाषा-नीति को सही तरह से समझने के लिए ब्रिटिश कूटनीति के मित्रभेद सिद्धांत को समझना आवश्यक है । मित्रभेद और शब्दभेद ब्रिटिश कूटनीति के दो पहलू थे और परस्पर सहायक थे ।

ब्रिटिश कूटनीतिज्ञ और शासक भारत की प्रसुप्त शक्ति और सत्ता को भांप गए थे । 1789 में लार्ड कार्नवालिस ने कोर्ट आव् डायरेक्टर्ज़ को लिखा था कि एक बहुत भारी और अनुशासित सेना के बिना भारत में हमारी सत्ता केवल रेत पर बनी दीवार जैसी है ।[1] मनरो, मैटकाफ़, मैल्कम, एल्फिंस्टन इत्यादि गंभीर प्रशासक गरम नीति के विरुद्ध थे और भारतीय परंपरा और भावनाओं से कोई टकराव नहीं लेना चाहते थे । इसी कारण वे शिक्षा-क्षेत्र में भी अत्यंत सावधानी से आगे कदम रखना चाहते थे । वे इस तथ्य को भली भांति समझते थे कि भारत की वास्तविक शक्ति उसकी एकता में है । इसलिए वे यह चाहते थे कि कोई ऐसा कदम उठाया जाए जो समस्त भारतीयों की एकता के लिए चुनौती बन जाए । उन्होंने मित्रभेद के मूलमंत्र का सहारा लिया और भारतीय जनता की एकता में कहीं न कहीं विभिन्नता के कीटाणुओं को खोजने की कोशिश की । एक स्थान उन्हें मिल गया जहां विषैली मक्खी बिठाई जा सकती थी और वह स्थान था जातिवाद और सांप्रदायिकता ।

जातिभेद और सांप्रदायिकता की बीमारी का निदान 1813 में कर लिया गया था और उसे बढ़ाने की नीति पर भी विचार किया गया था । जब कंपनी का चार्टर नया किया गया तो सर जान मैल्कम ने संसदीय समिति के सामने अपने बयान में कहा कि हमारे विस्तृत राज की सुरक्षा भारतीय जनता के जातिभेद पर निर्भर करती है । जब तक वहां की मुख्य जातियां विभाजित रहेंगी हमारी राज-सत्ता और व्यवस्थिति के विरुद्ध किसी विद्रोह की संभावना नहीं है ।[2] सर जान ने यही बात 1831 में फिर से कही : ज्यों-ज्यों भारतीय जनता एकता की ओर बढ़ेगी वह हमारी सत्ता को उखाड़ फेंकने की क्षमता को प्राप्त करती चली जाएगी और हमें अपने राज को बनाए रखना कठिन होता चला जाएगा ।[3] लार्ड मनरो ने भेदनीति को आगे ले जाने के लिए शिक्षा को अपनाया । उन्होंने दो प्रकार के स्कूल खोले : एक प्रकार के स्कूल हिंदुओं के लिए और दूसरे प्रकार के मुसलमानों के लिए । मद्रास के नौ जिलों में ऐसा कर दिया गया । किंतु मनरो के पश्चात् ऐसा नहीं किया जा सका । यदि हम 1813 और 1831 की सर जान मैल्कम की बातों को याद रखें तो हमें लार्ड हेस्टिंग्ज़ की शिक्षा-नीति पर भी पुनर्विचार करना पड़ेगा । कलकत्ता मदरसा और बनारस संस्कृत कालेज दोनों ही हिंदू और मुसलमानों को अलग-अलग संतुष्ट करने की नीति के फलस्वरूप संस्कृत और अरबी के टकराव के माध्यम से उन्हीं को आपस में भिड़ा देने के प्रयास को सफलीभूत करने के साधन समझे जा सकते हैं ।

इस सारे प्रयास के होते हुए भी 1857 के आंदोलन ने दस्तक दे ही दी । आंदोलन का भान तो पहले ही हो गया था । न्याय और शासन व्यवस्था के क्षेत्र में ब्रिटिश राज की जो भी देन

1. उद्धृत : एडवर्ड्ज, 'ब्रिटिश इंडिया' (1772–1947), पृ० 49
2, 3. उद्धृत : सुंदरलाल, 'भारत में अंग्रेजी राज', III, पृ० 1132

रही हो, जनता बीते समय को भूल नहीं पा रही थी । सर जान स्ट्रैची के शब्दों में अंग्रेजी सरकार से लाभान्वित हो कर भी लोग उससे प्यार करने में असमर्थ थे ।[4] उनकी भावनाएं कहीं और थीं । अंग्रेजों से कुछ भी तो नहीं मिलता था—न रंग, न धर्म, न रीति-रिवाज, न भावनाएं । सत्ताधारी, दंभी, अभिमानी और जातीय आधार पर उच्चाधीश बने हुए । कई लोग थे जैसे हेनरी लारेंस, जान निकलसन और मेडोज टेलर जिनकी भावना और व्यवहार-कौशल के प्रति लोग निष्ठावान थे किंतु मात्र वैयक्तिक सौजन्य और व्यवहार-कुशलता से राजनिष्ठा और श्रद्धा तो उत्पन्न नहीं होती ।[5]

1857 आ तो गया पर सरकार इस आंदोलन की कमर तोड़ने में सफल रही । अब तो सरकार ने खुले तौर पर मित्रभेद नीति का सहारा लिया । आंदोलन के विफल होने पर सर चार्ल्स वुड ने लार्ड एल्गिन को लिखा कि हमने एक वर्ग को दूसरे से भिड़ाकर अपनी सत्ता को सुरक्षित रखा है और हमें ऐसे ही करते रहना है । आप अपनी पूरी शक्ति लगा दीजिए कि इन लोगों को एकजुट नहीं होने देना । सैनिक प्रशासन में भी ऐसा ही किया गया । सर चार्ल्स ने ही लार्ड एल्गिन को लिखा कि आप पंजाब के फ़ौजियों से पूर्बियों को मार लगवाइए और पूर्व के फ़ौजियों से पंजाबियों को गिरवाइए । यथावश्यकता ऐसा ही कीजिए । सर चार्ल्स वुड ऐसा मानते थे कि यदि हमारे विरुद्ध भारत एक हो गया तो हम बहुत दिन नहीं टिक पाएंगे ।[6]

1857 के पश्चात् आजादी की नई शक्तियां उभरने लगी थीं । ये शक्तियां भारत के नवनिर्माण में लगी थीं । इन्होंने भारत के साहित्य, दर्शन, धर्म और परंपरा का पुनरवलोकन करके पुनर्मूल्यांकन किया और नए मूल्यों और आकांक्षाओं का आह्वान किया । धर्म को कार्मिक जीवन का स्रोत मान कर इन्होंने धर्म और कर्म दोनों का बीड़ा उठाया और स्वतंत्रता की दिशा में आगे बढ़ने के लिए कृतसंकल्प हो गए । ब्राह्म समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन, देवबंद स्कूल, ये सब धार्मिक और सांस्कृतिक आंदोलन थे और राष्ट्रीय स्वतंत्रता इनके दार्शनिक सिद्धांतों का आवश्यक क्रियात्मक रूप था । ब्राह्म समाज के नेता केशवचंद्र सेन ने एक नया नारा दिया : वैयक्तिक स्वतंत्रता, सामाजिक समता और राष्ट्रीय चेतना । ब्राह्म समाज की ही एक शाखा थी साधारण ब्राह्म समाज । इसके अनुयायी राजनीतिक गतिविधियों में भाग लेते, स्वतंत्रता में विश्वास करते, सरकारी नौकरी से दूर रहते और मानव मात्र की स्वतंत्रता में विश्वास करते थे । सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी समाज की बुलंद आवाज थे । प्रार्थना-समाज की स्थापना 1867 में हुई थी । इसके नेताओं में एम०जी० रानाडे और आर०जी० भंडारकर थे । रानाडे हिंदू-मुस्लिम एकता में दृढ़ विश्वास रखते थे और नए भारत के निर्माण के सपने देखते थे । स्वामी विवेकानंद की आवाज सारे भारत में ही नहीं अपितु अमरीका तक गूंजने लगी थी । उनका मूलमंत्र था 'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्त वरान्निबोधत ।' स्वामी दयानंद तो नए भारत और मानव धर्म के लिए वैसे ही थे जैसे ईसाइयत के लिए सेंट पीटर थे । वे स्वधर्म, स्वदेशी और स्वराज के प्रवर्तक थे । इन्होंने अपनी विख्यात पुस्तक 'सत्यार्थ-प्रकाश' में जीवन का संपूर्ण संदेश राष्ट्रजीवन-व्यवस्था

4, 5. 'दि कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया' (कैम्ब्रिज, 1932), VI, पृ० 169-70
6. ताराचंद, 'फ्रीडम मूवमेंट', II, पृ० 514-15

सहित दिया है । इन्होंने यह कहा था कि विदेशी राज अच्छे से अच्छा क्यों न हो, स्वराज ही केवल श्रेयस्कर है ।

मुसलमान भी स्वतंत्रता के क्षेत्र में पीछे नहीं रहे । 1867 में उलमा द्वारा देवबंद स्कूल की स्थापना की गई । देवबंद स्कूल यह मानता था कि भारत समूचा एक राष्ट्र है और धार्मिक विभिन्नता के होते हुए भी यह एकता इस्लाम के अनुकूल है । देवबंद स्कूल का ध्येय यह था कि मुसलमानों से संपर्क बढ़ाया जाए और सरकार या दूसरे सत्ताधारियों से बचा जाए । देवबंद स्कूल के अतिरिक्त ऐसे मुसलमान भी थे जिन्होंने नई शिक्षा प्राप्त की थी । ये लोग राष्ट्रवादी थे और समाज की स्वतंत्रता और गणतांत्रिक विकास में विश्वास रखते थे । ये हिंदू-मुस्लिम एकता में विश्वास रखते थे और देशभक्ति को इस्लाम के अनुकूल मानते थे । बद्रुद्दीन तय्यबजी ने कहा था कि हम जाग चुके है और हमें अपने राजनीतिक अधिकारों का पता लग चुका है । जातिभेद, रंगभेद और पंथभेद जिनके कारण हम आज तक विभाजित रहे अब शिक्षा के कारण समाप्त हो चुके है ।

सर सय्यद अहमद खां ने तो हिंदू-मुस्लिम एकता पर कमाल ही कर दिया । वे देश की सामाजिक और राष्ट्रीय एकता में पूर्ण विश्वास करते थे । उन्होंने 1883 में पटना में कहा था कि "हम हिंदू और मुसलमान दोनों भारत देश की एक ही हवा में सांस लेते है, पवित्र गंगा और यमुना का जल पीते है, भारत मां की धरती से हमें भोजन मिलता है । हमारा तो जीवन और मरण का साथ है ।" उन्होंने पंजाब में आर्य समाज की वेदी से कहा था : "आप केवल अपने आप को हिंदू कहते है । यह ठीक नहीं क्योंकि मेरी राय में हिंदू नाम किसी धर्म-विशेष का नहीं है । जो भी हिंदुस्तान में रहता है वही अपने को हिंदू कहलाने का अधिकारी है । इसलिए मुझे तो खेद है कि यद्यपि मैं हिंदुस्तान में रहता हूं, आप लोग मुझे हिंदू नहीं समझते ।" उनके मत के अनुसार भारत में रहने वाले हिंदू, मुसलमान, ईसाई सबके सब एक ही जाति एवं राष्ट्र के सदस्य थे । वह समय चला गया था जबकि धर्म के आधार पर एक देश के निवासी दो जातियों के सदस्य कहलाते थे । इसलिए वे हिंदू और मुसलमान दोनों का उद्बोधन करते थे कि वह दिल व जान से एक रहें और मिलकर काम करें । उन्होंने चेतावनी दी कि यदि ये एक-दूसरे के विरुद्ध काम करेंगे तो दोनों ही समाप्त हो जाएंगे ।[7]

भारत की एकता, अखंडता, राष्ट्रीयता और स्वतंत्रता का राजनीतिक और सामाजिक प्रतीक था इंडियन नेशनल कांग्रेस, जिसकी स्थापना 1885 में हो गई थी ।

राजसत्ता तो भारत के राष्ट्रीय सपनों का प्रतिरोध करने के लिए पहले दिन से ही तैयार थी । मित्रभेद का मूलमंत्र तो उन्होंने प्रारंभ से ही अपना रखा था । 1857 के पश्चात् उन्होंने इस मंत्र का नया प्रयोग किया और सबसे पहले हिंदुओं के विरुद्ध मुसलमानों पर इसकी शक्ति की साधना की ।

1857 में मुगल राज तो समाप्त हो गया था, केवल उसकी याद शेष रह गई थी । आंदोलन की विफलता सभी को खलती थी किंतु जैसे कुछ मुसलमान कांग्रेस को हिंदू संस्था

7. ताराचंद, 'फ्रीडम मूवमेंट', II, पृ० 357-58, 363

समझते थे वैसे ही 1857 के पश्चात् कुछ मुसलमान 1857 की पराजय को राष्ट्रीय पराजय की अपेक्षा मुगल और मुसलमानों की पराजय अधिक समझते थे, क्योंकि मुगल मुसलमान ही तो थे । इस ग्लानिमय स्थिति से निकलने का क्या रास्ता हो सकता था ? एक तो यह कि देश की अन्य सामाजिक शक्तियों से मिलकर स्वतंत्रता-संग्राम को जारी रखना, और दूसरा, राजसत्ता के साथ मिलकर नए वैभव का निर्माण करना । यदि पहला विकल्प अपनाया जाता तो उन्हीं लोगों की संख्या के नीचे दबना पड़ता जिन पर वे मुगल राज के माध्यम से राज कर चुके थे । यह तो शर्मनाक विकल्प ही समझा जा सकता था । यदि दूसरा विकल्प अपनाया जाता तो कम से कम अहले-किताब से सहयोग तो होता । मुसलमान इंजील को मानते है और यीशु मसीह को खुदा का पैगंबर । विकल्प था तो विवशतापूर्ण, पर शायद दोनों में से अच्छा था । राजसत्ता तो ऐसे ही विकल्प की प्रतीक्षा में थी । मुसलमानों ने दूसरा विकल्प ही अपना लिया ।[8]

ऐसे ही निराश मुसलमानों की ओर से सर डब्ल्यू० डब्ल्यू० हंटर ने सरकार से सिफारिश की । उन्होंने सरकार से कहा कि मुसलमानों को इस समय सहानुभूति, उदारता और आर्थिक सहारे की आवश्यकता है । एक शती से वे सरकारी अवहेलना और सामाजिक अन्याय को सहते रहे हैं ।[9] डब्ल्यू० एस० ब्लंट ने मुसलमानों को आश्वासन दिलाया कि यदि आप अपनी शक्ति को पहचान लें तो सरकार न तो आपकी अवहेलना कर सकती है और न ही आपके साथ अन्याय कर सकती है । ब्लंट ने उन्हें कुछ नई फूंक भी दी । उन्होंने कहा कि जब हम इंग्लैंड में थे तो हम सदा ही भारत में मुसलमान आंदोलन के विचार मात्र से डर जाते थे और यदि एक मुसलमान भी कोई बात कहता था तो उसकी ओर अधिक ध्यान देते थे । हिंदू तो बीस भी कोई बात कहते तो कोई परवाह नहीं करता था ।[10] लार्ड डफरिन ने भी अपनी शासनावधि की समाप्ति पर विलायत वापस जाने से पहले उनको प्रोत्साहन दिया कि आप तो भूतपूर्व राजघराने की संतान हैं । आपने तो हिंदुस्तान पर राज किया है । आप प्रशासन और शासकों की जिम्मेदारियों को समझते हैं ।[11] ये सारी बातें इस आशा में कही जा रही थीं कि राजसेवार्थ इनसे मुसलमानों के दिल को जीता जा सकेगा । सर डब्ल्यू० डब्ल्यू० एच० ग्रेगरी ने लार्ड डफरिन से कहा था कि मुसलमानों की पिटाई 1857 में हो चुकी है । वे उस पराजय को बहादुरों की तरह स्वीकार करते हैं । वे सहायतार्थ केवल हमारी ओर देख रहे है—केवल हमारी ओर ! वे हिंदू सत्ता के नीचे पिसना नहीं चाहते ।[12] इस प्रकार राज-सत्ता ने कुछ निराश और हताश मुसलमानों को रंगीन शब्दों के पाश में बांधकर हिंदुओं के विरुद्ध भड़काया और स्वयं को बनाए रखने के लिए मित्रभेद मंत्र की शक्ति साधना की । यह साधना सर सय्यद के साथ आ जाने पर संपन्न हुई ।

8. ताराचंद, 'फ्रीडम मूवमेंट', II, पृ० 349-50
9. वही, पृ० 366
10. डब्ल्यू० एस० ब्लंट, 'इंडिया अंडर रिपन' (लंदन, 1909), पृ० 103-4
11. डफरिन, 'स्पीचिज डिलिवर्ड इन इंडिया' (1884-88), पृ० 204
12. उद्धृत : ताराचंद, 'फ्रीडम मूवमेंट', II, पृ० 515

सर सय्यद ने हिंदू की जो परिभाषा की थी वह धर्मनिरपेक्ष थी । हिंदू शब्द उनके लिए 'भारतीय' अर्थात् 'हिंदुस्तानी' का पर्याय था । यदि वे उस परिभाषा को देश और समाज के आधार पर ही पूर्णतया मान लेते तो हिंदू-मुसलमान का भावी प्रश्न खड़ा ही न होता । किंतु सर सय्यद की कुछ अपनी भी मान्यताएं थीं जिनका संबंध भाषा, धर्म, राजनीति और स्वतंत्रता से था । प्रथम तो यह कि वे उर्दू को भारत की भाषा मानते थे । उनके मतानुसार हिंदू और मुसलमान दोनों के परस्पर संपर्क से उर्दू का जन्म हुआ था । अतः यह भाषा विशेषतया न हिंदुओं की थी न मुसलमानों की थी बल्कि सबकी भाषा थी । यदि सर सय्यद अपनी हिंदू की परिभाषा पर टिकते तो वे भारत की भाषा को हिंदवी या हिंदी भी कह सकते थे । हिंदवी का अर्थ हिंदुओं की भाषा अर्थात् हिंद में रहने वाले हिंदू, मुसलमान, ईसाई और दूसरे लोगों की सामूहिक भाषा । वे इसको हिंदी नाम दे देते तो अर्थ होता हिंद की भाषा । वे इसे हिंदुस्तानी भी कह सकते थे जैसे आगे चलकर गांधी जी ने भारतीय भाषा को हिंदुस्तानी का नाम देकर हिंदी और उर्दू दोनों के बीच की एक भाषा माना था । हिंदी और उर्दू में व्याकरण या गठन का तो कोई अंतर है नहीं, केवल थोड़ा शब्दावली और पृष्ठभूमि का अंतर है । दूसरा अंतर लिपि का है । पृष्ठभूमि के कारण सांस्कृतिक अंतर भी बीच में आ गए और इस अंतर के कारण ही भाषा संबंधी हिंदू और मुसलमानों के पारस्परिक और सभी अंतर भी आ खड़े हुए । इस प्रकार भाषा, संस्कृति, परंपरा और धर्म के आधार पर हिंदू और मुसलमान दो वर्ग बन गए । हिंदुस्तानी या भारतीय या सर सय्यद की कल्पना की ही एक हिंदू जाति का दो में बंटवारा हो गया । राष्ट्र तो समूचे समाज का व्यवस्थित रूप है । भाषा राष्ट्र में सर्वांगीण संचार का माध्यम है । उसी माध्यम को उर्दू नाम देकर केवल नाम के ही कारण भारतीय भाषा के सामूहिक और राष्ट्रीय रुख को सांप्रदायिक दिशा में मोड़ दिया । सर सय्यद स्वयं भी सामाजिक और राष्ट्रीय स्तर से हटकर केवल सांप्रदायिक नेता बन गए ।

सर सय्यद भाषा के पश्चात् राष्ट्रीय केंद्रबिंदु से हटकर एकवर्गीय धर्म अर्थात् इस्लाम से जुड़ गए । इस बात को स्पष्ट करने से पूर्व हमें धर्म के सनातन और प्राचीन तत्त्व को समझना पड़ेगा । भारत में धर्म के दो रूप माने गए हैं : एक सनातन जो शाश्वत है और दूसरा युगीन जो युग-विशेष की परिस्थितियों के संदर्भ में सनातन की सिद्धि के लिए परिभाषित होता है । सनातन धर्म का स्रोत परम आत्मा है और युगधर्म का प्रवर्त्तक युगमानव होता है । युगधर्म का प्रेरणा-स्रोत भी होता तो परम आत्मा ही है किंतु परिस्थितियों के कारण उसकी भाषा और मूल साध्य-साधनों के रूप में सामयिक मिश्रण एवं परिवर्तन हो जाता है । यही कारण है कि आगे चलकर उसी युगधर्म के रूप में किसी दूसरे युगमानव के द्वारा परिवर्तन कर दिया जाता है, क्योंकि कोई भी सामयिक परिवेश चाहे वह भाषा हो, चाहे युगमूल्य हों, सनातन को बांध नहीं सकते । सनातन या शाश्वत तो समयातीत है अतः सार्वभौम है, सर्वकालीन है । राष्ट्र का धर्म उसका विधान और विधानांतर्गत मानवीय अर्थात् सामाजिक मूल्य होते हैं । विधान राष्ट्र का युगधर्म है जिसका आधार सनातन सत्य और मानव-धर्म है, किंतु उसकी परिभाषा सामयिक संदर्भ

में की जाती है । यही कारण है कि परिस्थितियों के बदलते ही वैधानिक परिवर्तन करने पड़ते हैं । विधान संशोधन (अमेंडमेंट) युगधर्म का परिवर्तन है और संसद युगमानव का प्रतीक । गीता में कृष्ण जब कहते हैं कि मैं युग-युग में धर्म के संस्थापन के लिए जन्म लेता हूं तो अर्थ यही है कि सनातन धर्मतत्त्व जब सामयिक परिस्थितियों से दूषित हो जाते हैं अथवा पूर्वकालीन परिभाषा नई समस्याओं के हल देने में असमर्थ हो जाती है तो धर्म को नया जीवन और नई भाषा देने के लिए स्वयं कृष्ण अर्थात् युगमानव को जन्म लेना पड़ता है । योगीराज के शब्द युगधर्म और विज्ञान दोनों के संबंध में लागू होते हैं । वे न केवल सनातन परंपरा में सही उतरते है अपितु इस्लामी परंपरा में भी सही हैं । इस्लाम आदम, मूसा, ईसा और जौन इत्यादि सभी पैगंबरों को मानता है, किंतु हजरत मुहम्मद को अंतिम पैगंबर मानता है । ईसाई हजरत ईसा मसीह को अंतिम पैगंबर मानते हैं । यहूदी हजरत मूसा को अंतिम पैगंबर मानते हैं और ये तीनों अपने-अपने पैगंबर द्वारा संप्राप्त धार्मिक और सामाजिक विधान को ही अंतिम मानते हैं । किंतु ये विधान ही यदि अंतिम होते तो ईसाइयत और इस्लाम में ही एक से अधिक विचारधाराएं कैसे बन जातीं ? किसी न किसी रूप में कोई न कोई परिवर्तन अवश्य होता है । युगीन परिवर्तन सनातन की प्रेरणा है और युगधर्म की मांग है । सनातन और नित्य-नूतन में आत्मा और शरीर का संबंध है ।

अब हम सर सय्यद के धर्म और राष्ट्र संबंधी शब्दों पर आते हैं । उन्होंने कहा : "यदि हम जीवन के उस भाग को छोड़ दें जिसका संबंध खुदा से है (अर्थात् धर्म को छोड़ दें) तो निस्संदेह एक देश के नागरिक होने के नाते हम सब एक राष्ट्र (नेशन) हैं ।"[13] एक दृष्टिकोण से देखा जाए तो ये शब्द सराहनीय हैं क्योंकि इन शब्दों से तो ऐसा लगता है कि सर सय्यद धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र में विश्वास करते थे । किंतु देखने में यह आता है कि शायद ही कोई इस्लामी राष्ट्र हो जहां का विधान धर्मनिरपेक्ष हो । जितने भी इस्लाम प्रधान देश हैं उनका विधान धर्म पर आधारित है । भारत धर्मनिरपेक्ष राज्य है, वहां भी इस्लामी निजी कानून लागू है । यदि इसी नियम को सभी धर्मों की ओर से विधान पर लागू किया जाए तो कितने ही कानून बनाने पड़ेंगे । संक्षेप में यह कहना उचित होगा कि इस्लाम की पृष्ठभूमि में संपूर्ण धर्मनिरपेक्ष विधान की आशा करना तो वास्तविकता से दूर की बात है । और इस्लाम की बात के साथ-साथ राष्ट्र की बात करने का अर्थ है राष्ट्र के सामूहिक और समूचे केंद्रबिंदु से एक कदम दूर रह जाना । यदि एक क्षण के लिए मान भी लिया जाए कि सर सय्यद धर्मनिरपेक्ष विधान एवं राष्ट्र की बात कर रहे थे तो भी ठीक नहीं होगा । इस्लाम के अंदर धार्मिक संबंध और विधान का एक त्रिकोण बनता है : व्यक्ति और भगवान का संबंध, व्यक्ति और मिल्लत (धार्मिक-सामाजिक) का संबंध और मिल्लत और भगवान का संबंध । इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य का व्यक्तिगत विधान अर्थात् उसके अधिकार और कर्तव्य और सामाजिक अथवा राष्ट्रीय विधान दोनों ही इस्लामिक विधान के अंग हैं और इस्लामिक विधान सनातन का युगीन रूप होने से आज के संदर्भ में परिवर्तन की अपेक्षा रखता है । सनातन की कोई भी सामयिक परिभाषा, सामयिक, भौगोलिक और लिपिबद्ध होने के

13. ताराचंद, 'फ्रीडम मूवमेंट', II, पृ० 358

कारण सार्वभौम और सर्वकालीन नहीं हो सकती। वेद का भी कोई सामयिक भाष्य अंतिम नहीं हो सकता। इसी कारण ऋषियों को मंत्र-द्रष्टा कहा गया है, मंत्र-रचयिता या मंत्र-व्याख्याता नहीं। अनायास यह कहना पड़ता है कि राष्ट्रीय क्षेत्र में वर्ग-विशेष (मिल्लत) से जुड़कर सर सय्यद देश के सामूहिक और समूचे रूप से दूर हट गए।

चलिए, सर सय्यद यदि इतने पर भी संतोष कर लेते तो भी उनका और उनके साथियों का सामूहिक और समूचा राष्ट्रीय रूप मान लिया जा सकता था। पर वे तो धर्म और भाषा से आगे सीधे राजनीति पर भी पहुंच गए। उन्होंने कहा : निस्संदेह जैसे धार्मिक वैभिन्न्य को छोड़कर हम यह चाहते हैं कि राजनीतिक मतभेद की ओर ध्यान न देकर हिंदू और मुसलमानों में सामाजिक स्तर पर पारस्परिक मित्रता, प्यार, सद्भावना और मातृभाव बना रहे।[14] हिंदू (हिंदुस्तानी) के स्थान पर तो हिंदू और मुसलमान दो वर्ग आ गए। सामाजिक (मिल्लत संबंधी) और राजनीतिक संबंध अलग-अलग हो गए। परस्पर संबंध क्या बचे ? व्यक्तिगत मित्रता और व्यक्तिगत हितों के स्तर पर आर्थिक संबंध। सामूहिक, आर्थिक और सामाजिक हित या तो धार्मिक क्षेत्र के अंतर्गत थे या राजनीतिक क्षेत्र के अंतर्गत। ये दोनों अलग होने के बाद समाज का विभाजन तो हो ही गया। राष्ट्र कहां बचा ?

सर सय्यद स्वतंत्रता में विश्वास नहीं करते थे। वे स्वतंत्रता की लड़ाई को ठोस राजनीति से दूर की बात मानते थे। उनके लिए वास्तविकता कहीं और थी। 1885 के आस-पास एक ओर तो इंडियन नेशनल कांग्रेस का गठन हो रहा था और दूसरी ओर सर सय्यद और उनके साथी किसी दूसरी कठोर वास्तविकता के ध्यान में बैठे थे और ठोस राजनीति की खोज में थे। कठोर वास्तविकता : अंग्रेजी सरकार की 1857 में विजय, कड़वा सत्य, ठोस राजनीति, मित्र लाभ, सरकार के साथ सहयोग, ये सर सय्यद के मूल नीति-सूत्र बन गए। साधन ? अंग्रेजी शिक्षा, नौकरी, वफादारी, राजसेवा। देने के लिए कहीं किसी के पास कुछ था तो सरकार के पास ही था और उसके पास बहुत कुछ था। शिक्षा की कमी के कारण मुसलमान सरकारी अनुग्रह से वंचित रह गए थे और 1857 ने तो उनको बहुत ही क्षति पहुंचाई थी। कुछ लेने के लिए सरकार की सहानुभूति और सद्भावना की आवश्यकता थी।[15] सर सय्यद ने अपना शिक्षा प्रोग्राम प्रारंभ कर दिया। उन्होंने 1874 में अलीगढ़ मुस्लिम एंग्लो-ओरियंटल स्कूल खोल दिया। स्कूल को 1878 में कालेज बना दिया गया।

पहले तो मुसलमान अंग्रेजी शिक्षा में पीछे रह गए थे, छोड़ भी दिए गए थे। 1871 में सर डब्ल्यू० डब्ल्यू० हंटर ने लिखा था कि कलकत्ते के किसी कार्यालय में मुसलमान केवल कुली, हरकारा, दवात में स्याही भरना या कमल की मरम्मत करना, ये ही नौकरी कर सकता था, इससे ऊपर नहीं,[16] केवल अशिक्षित होने के कारण। अब शिक्षा के प्रति उनकी इस उदासीनता की ओर सरकार का ध्यान गया और उन्होंने उन्हें प्रोत्साहन दिया। आवश्यकता थी भी क्योंकि

14. ताराचंद, 'फ्रीडम मूवमेंट', II, पृ० 358
15. वही, पृ० 374
16. 'इंडियन मुसलमान्स' (लंदन, 1871), पृ० 169

मित्रलाभ से ही तो वे मित्रभेद की नीति में सफल हो सकते थे। लार्ड नार्थब्रुक ने 1878 में दस हजार रुपए की राशि छात्रवृत्त्यार्थ अलीगढ़ मुस्लिम एंग्लो-ओरियंटल कालेज को अनुदान रूप में दी। 1882 में जब शिक्षा आयोग बिठाया गया तो हंटर महोदय आयोग के अध्यक्ष नियुक्त हुए। उन्होंने मुसलमानों को उनके शिक्षा-प्रयास के लिए साधुवाद देने के लिए आयोग की पहली बैठक अलीगढ़ में की और उनके शिक्षाधिकारों को मान्यता भी दी। उन्होंने आयोग की रिपोर्ट में सरकार से अनुरोध किया कि मुसलमानों को आधुनिक शिक्षा प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहन दिया जाए। मुसलमानों को उनके पारस्परिक गौरव और स्वाभिमान की याद दिलाते हुए उनका उत्साहवर्धन भी किया। आयोग ने अपनी रिपोर्ट में यह लिखा : "किसी वर्ग-विशेष को विशिष्ट प्रोत्साहन देना बुरी बात है। स्वयं मुसलमानों के लिए यह शर्मनाक बात होगी कि जिस गौरव का परिचय उन्होंने दूसरे क्षेत्रों में दिया है उसी स्वाभिमान से महत्त्वाकांक्षा की प्रेरणा लेते हुए उदात्त लक्ष्यों की ओर अग्रसर न हों। उन्हें कटिबद्ध हो जाना चाहिए कि पहले वे कितने ही पिछड़े हुए क्यों न रहे हों, भविष्य में वे किसी को भी अपने से आगे नहीं बढ़ने देंगे। उन्हें विश्वास हो जाना चाहिए कि वर्गीय प्रारक्षण और विशेष अनुग्रह की अपेक्षा स्वावलंबन और आत्मविश्वास श्रेयस्कर साधन हैं।" मुसलमानों के आत्मविश्वास, साहस और गौरव का इन शब्दों में उद्बोधन करने के बाद उन्होंने सरकार से अनुरोध किया कि मिडल और हाई स्कूलों में जीवनोपयोगी शिक्षा प्राप्त करने के लिए मुसलमानों की सहायता की जाए और क्योंकि उन्हें उच्च अंग्रेजी शिक्षा की विशेष आवश्यकता है अतः उसे प्राप्त करने के लिए उन्हें उदारतापूर्ण प्रोत्साहन दिया जाए।[17] सरकार ने आयोग की सिफारिश स्वीकार कर ली और मुसलमानों को यह भी बतलाया कि खुले तौर पर हिंदुओं के बराबर आकर और पूर्णतया सरकारी उच्च अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करके ही वे ऊंची सरकारी नौकरियां प्राप्त करने की आशा कर सकते हैं।[18]

मित्र-मिलन 1885 में संपन्न हुआ। इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना से पहले लार्ड डफरिन सर सय्यद से मिले। उनकी जो भी बातें उस मीटिंग में हुई हों, लार्ड डफरिन को मीटिंग की सफलता से बड़ा ही संतोष हुआ।[19] बाद में सर डब्ल्यू० एच० ग्रेगरी ने लार्ड डफरिन को साधुवाद दिया और उनकी नरमी, मुस्लिम तुष्टीकरण और नौकरियों के लिए उनको दिए गए प्रोत्साहन की नीति की सराहना की। उन्होंने लिखा : मुझे विश्वास है कि इस नीति के अच्छे परिणाम निकलेंगे। वास्तव में अच्छे परिणाम निकलना तो प्रारंभ भी हो गया। बाबू और ब्राह्मणों द्वारा चलाए गए सरकार-विरोधी आंदोलन में मुसलमानों ने कोई भाग नहीं लिया। भारतीय जनता का यह वर्ग एक समय तो अत्यंत बहादुर और खतरनाक होता था। अब इनके साथ संबंध-माधुर्य हमारे लिए बहुत बड़ी उपलब्धि रहेगी।[20]

मधुर मिलन सफल रहा। 1886 में थियोडोर बेक अलीगढ़ मुस्लिम ओरियंटल कालेज

17. हंटर, 'शिक्षा आयोग रिपोर्ट', पैरा 580
18. सय्यद महमूद, 'हिस्ट्री आफ इंग्लिश एज्यूकेशन इन इंडिया', पृ० 175
19. 'अलीगढ़ इंस्टीट्यूट गजट', जुलाई-दिसंबर, 1893
20. ताराचंद, 'फ्रीडम मूवमेंट', II, पृ० 515

के प्रिंसिपल बने तो उन्होंने कालेज के विद्यार्थियों की राजभक्ति की सराहना की। उन्होंने कहा : इस कालेज के विद्यार्थी सरकार और अपने प्रिय सम्राट की ऐसी सेवा करने के लिए तैयार रहेंगे जिससे यह प्रमाणित हो जाएगा कि हिंदुस्तान के मुसलमान राज की सुरक्षा के लिए गोलियों और संगीनों का सामना करने के लिए तैयार है।[21] 1888 में सर सय्यद ने 'यूनाइटिड इंडिया पैट्रिओटिक एसोसिएशन' की स्थापना की। एसोसिएशन का उद्देश्य था कांग्रेस का विरोध करना और ब्रिटिश सरकार को मजबूत बनाना। 1893 में बेक महोदय ने 'मोहम्मदन एंग्लो-ओरियंटल डिफेंस एसोसिएशन आफ अपर इंडिया' का गठन किया जिसका उद्देश्य था कांग्रेस आंदोलन को मुसलमानों में फैलने से रोकना। बेक महोदय प्रधान और सर सय्यद के सुपुत्र सय्यद महमूद इस एसोसिएशन के मंत्री थे। एसोसिएशन के उद्घाटन के समय बेक महोदय ने कहा कि कांग्रेस एक परंपरावादी हिंदुओं का संगठन है। आवश्यकता यह है कि मुसलमान कांग्रेस के विरुद्ध लड़ें अन्यथा कांग्रेस सदा के लिए उनको गुलामी की जंजीरों में जकड़ लेगी।[22]

मित्रभेद संपन्न हुआ। मित्रभेद के माध्यम से शब्दभेद संपन्न होगा ही। आगे चलकर हम देखेंगे कि शब्दभेद के माध्यम से अंग्रेजी की नई व्यवस्थिति संपन्न हुई। अंग्रेजी की व्यवस्थिति के साथ राज-व्यवस्थिति तो जुड़ी हुई थी ही।

21. ताराचंद, 'फ्रीडम मूवमेंट', II. पृ० 338
22. 'अलीगढ़ इंस्टीट्यूट गज़ट', जनवरी, 1894

22
शब्दभेद

अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजी शिक्षा ब्रिटिश कूटनीति के अंग थे। 1857 के बाद विशेषकर उन्नीसवीं शती के अंतिम चरणों में दोनों भारतीय राजनीति का अंग बन गए।

1857 से पूर्व और उसके आस-पास परतंत्रता की छाया में भी भारत एकछत्र राष्ट्र कहा जा सकता है क्योंकि राजे, नवाब, प्रजा, पेशवा, हिंदू, मुसलमान सभी मिलकर विदेशी सत्ता के विरुद्ध लड़े थे। सर सय्यद के मैदान में आते समय भी वह एकता एकता ही थी। इसी कारण तो सर सय्यद समस्त भारतीय जनसमुदाय को हिंदू कहकर पुकारते थे। किंतु जैसे ही उनका संपर्क शासन सत्ता से हुआ, मित्रभेद की नीति नए रूप में सामने आ खड़ी हुई। मित्रभेद के आधार थे भाषा, धर्म और राजनीति। सर सय्यद ने कहा था कि समस्त भारत की भाषा उर्दू है। किंतु सारे देश की जनता (हिंदू, मुसलमान, ईसाई इत्यादि) को हिंदू कहने के साथ-साथ भाषा को वे हिंदवी या हिंदी या भारती नहीं कह पाए थे। उर्दू नाम पाते ही यह भाषा, हिंदी के समकक्ष और सम-व्याकरण होते हुए भी, लिपि, शब्दावली और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के कारण हिंदी की प्रतिपक्षी बन गई और वर्ग-विशेष की भाषा बनकर रह गई। भाषा के अलग होने के साथ सर सय्यद ने राजनीतिक मान्यताओं और धार्मिक विश्वासों को भी वर्ग-विशेष के साथ जोड़ दिया। परिणामस्वरूप सामूहिक अर्थात् राष्ट्रीय स्तर पर समाज दो वर्गों में विभाजित हो गया : उर्दू-भाषी, सरकार-सेवी, और अहले-किताब एक वर्ग और अनुर्दू-भाषी, सरकार-विरोधी हिंदू-समाज दूसरा वर्ग। यह वर्गीकरण पूर्णतया तो ठीक नहीं है क्योंकि सारे मुसलमान इस वर्ग-विशेष के मानने वाले नहीं थे। बहुत सारे कांग्रेस के साथ थे। सारे हिंदू कांग्रेसी अथवा सरकार-विरोधी भी नहीं थे। बहुत सारे हिंदू उर्दू-प्रेमी थे। पर मित्रभेद के दृष्टिकोण से यह वर्गभेद सामाजिक और भाषायी स्तर पर एक वास्तविकता प्रतीत होता है। कूटनीति और राजनीति दोनों के दृष्टिकोण से यह मित्रभेद वर्गभेद बन गया और शिक्षा और भाषा के स्तर पर शब्दभेद बन गया।

सारे हिंदुस्तानी उर्दू-भाषी नहीं थे, सारे हिंदू उर्दू-भाषी नहीं थे, सारे मुसलमान भी उर्दू-भाषी नहीं थे। यदि ऊंचे वर्ग के, विशेषकर शहर में रहने वाले, मुसलमानों को छोड़ दिया जाए तो साधारण वर्ग विशेषकर ग्रामीण लोग तो वही क्षेत्रीय भाषा बोलते थे जिसे और सभी लोग बोलते थे। किंतु राजनीति में बड़ी विचित्र बातें होती हैं। वास्तविकता और मान्यता में एक बनावटी अंतर आ जाता है। उदाहरणार्थ, यह संभव है कि वही मनुष्य एक भाषा तो बोलता है, दूसरी लिखता है और तीसरी को मान्यता देता है। यह भी हो सकता है कि एक आदमी अंग्रेजी के माध्यम से

हिंदी का समर्थन करे और दूसरा हिंदी के माध्यम से हिंदी का विरोध करे। इसी प्रकार हम देखेंगे कि राजनीतिक स्तर पर एक सीमित वर्ग की भाषा को राष्ट्र की भाषा बतला कर देश को ही वर्ग-विशेष से जोड़ दिया गया। 1915 में इसी राजनीतिक दृष्टिकोण को शासकीय रूप दे दिया गया था। बंगाल सरकार ने 31 जुलाई, 1915 को कलकत्ता मदरसा संबंधी प्रस्ताव नं० 450 टी०जी० पास किया जिसके अनुसार फारसी का अनिवार्य विषय के रूप में अध्ययन समाप्त कर दिया गया। उर्दू को अखिल भारतीय मुस्लिम कल्चर की भाषा मान कर उर्दू के अध्ययन पर बल दिया गया और अंग्रेजी को अनिवार्य विषय बना दिया गया। जैसे ही उर्दू को मुस्लिम कल्चर की भाषा के रूप में माना गया, बंगला को बंगाल में ही मुसलमान जनता से छीनकर उसका गौरवमय सांस्कृतिक स्थान छीन लिया गया। आगे चलकर हम देखेंगे कि संभवतः इसी आधार पर उर्दू के माध्यम से बंगला का विरोध किया गया और फिर उर्दू और बंगला दोनों को परस्पर विरोधी मानकर अंग्रेजी के मुकाबले में दोनों को छोड़ दिया गया और अंग्रेजी का स्थान भारतीय भाषा-राजनीति के ही आधार पर पक्का हो गया। बिल्लियां लड़ती रहीं, बंदर काम कर गया।

जब से अंग्रेजी राजभाषा बनी थी और शिक्षा-भाषा तो उससे पूर्व ही बन चुकी थी, तभी से समाज में शिक्षा और सरकारी नौकरी के लिए स्पर्धा बढ़ चली थी। कोई भी ऐसी स्पर्धा आर्थिक क्षेत्र में वैयक्तिक स्तर पर हुआ करती है, जातीय, वर्गीय अथवा सांप्रदायिक स्तर पर नहीं, क्योंकि स्पर्धा में प्रत्येक व्यक्ति दूसरे सभी प्रत्याशियों से आगे निकलना चाहता है। प्रत्येक प्रत्याशी सभी के प्रतिपक्ष होकर लड़ता है। दूसरे या तो सभी उसके मित्र है या अमित्र। प्रत्याशी किसी भी जाति, वर्ग, संप्रदाय अथवा धर्म से संबंध रखते हों, केवल उसी के नाते वे दोस्त या दुश्मन नहीं होते। किंतु 1882 के पश्चात् इसी खुली स्पर्धा को सांप्रदायिक रूप दे दिया गया। मुसलमानों से कहा गया कि यदि तुम हिंदुओं के मुकाबले में आगे आना चाहते हो तो अंग्रेजी शिक्षा का सहारा लो और सरकार की मदद करो। कांग्रेस को हिंदुओं की संस्था कहा गया और बाबुओं और ब्राह्मणों के प्रतिपक्ष में मुसलमानों को सहायता का प्रोत्साहन और आश्वासन दिया गया। फलस्वरूप अंग्रेजी-सेवी मुसलमान विद्यार्थियों से तलवार पर हाथ मारकर ब्रिटिश राज की सेवा करने की आशा की गई। कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग के सामने जब हिंदू और मुसलमान शिक्षा-प्रेमियों ने अंग्रेजी के पक्ष या विपक्ष में अपने विचार रखे तो कुछ मुसलमानों ने अंग्रेजी का डटकर समर्थन किया और हिंदुओं के प्रतिपक्ष में खुलकर आए। उन्होंने सरकार से अनुरोध किया कि मुसलमानों को अंग्रेजी पढ़ने के लिए अधिकतम सुविधाएं दी जाएं क्योंकि अंग्रेजी शासकों की भाषा है और आर्थिक उन्नति का साधन है। सरकार विशेषतया मुसलमानों को अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से ही अपने आस-पास विश्वासपात्र सेवकों का ऐसा वर्ग तैयार कर सकेगी जो अपनी धार्मिक ट्रेनिंग के कारण दूसरे आर्थिक और लौकिक शिक्षा के समर्थकों की अपेक्षा कहीं अधिक वफादार रहेंगे।[1] इशारा साफ था। अंग्रेजी शिक्षा के क्षेत्र में हिंदू मुसलमानों से बहुत आगे निकल गए थे और आर्थिक और लौकिक रूप से अधिक उन्नति कर रहे थे। किंतु वे कांग्रेस द्वारा आंदोलन

1. 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन रिपोर्ट', II. पृ० 131

के कारण सरकार-विरोधी और कृतघ्न समझे जा रहे थे। इस प्रकार हम देखते है कि शब्दभेद न केवल उर्दू और बंगला में हो रहा था अपितु हिंदू वर्गीय अंग्रेजी और मुस्लिम वर्गीय अंग्रेजी में हो रहा था।

मुसलमान अंग्रेजी के पक्ष में हिंदुओं की अपेक्षा बड़ी देर में जागे थे। सर सय्यद के प्रयास के बावजूद 1897-1902 में मुसलमान विद्यार्थियों की संख्या सेकंडरी स्कूलों में 14.4 प्रतिशत थी, आर्ट्स कालेजों में 7.3 प्रतिशत और व्यवसाय कालेजों में केवल 6.4 प्रतिशत थी। किंतु जब भी वे जागे, जागे पूरे जोश के साथ। जो काम राजा राममोहन राय ने 1817 में किया था वह अंग्रेजी मुस्लिम वर्ग ने 1917 में किया। बंग मुसलमानों ने कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन को एक परिपत्र दिया जिसमें यह कहा गया : मुसलमानों को सरकार के संरक्षण से एकदम अलग कर दिया था। वे भौचक्के-से रह गए थे। वे उस भाषा को नहीं छोड़ सकते थे जिससे उनका धार्मिक और सामाजिक जीवन निकट से जुड़ा हुआ था। परिणामस्वरूप कलकत्ता मदरसा का अरबी विभाग पुरानी पद्धति से ही चलता रहा और अपने प्रारंभिक मूल्य और उपयोगिता को खो बैठा। मदरसे से निकलने वाले स्नातकों को सरकारी नौकरी पाने का अवसर नहीं मिलता। कहीं शादी रजिस्ट्रार या फारसी अथवा अरबी टीचर की नौकरी शायद मिल जाती हो किंतु उसके लिए भी अब तो अंग्रेजी का ज्ञान आवश्यक हो गया है। इन परिस्थितियों में वे मजबूर होकर या तो धर्म-प्रचारक बन जाते हैं और दूसरों की खैरात पर निर्वाह करते है या किसी मस्जिद में इमाम या मुअज्जन की नौकरी करते है जहां पेट भरने के लिए भी पूरा वेतन नहीं मिलता।[2] ये शब्द वैसे ही हैं जैसे 1835 में लार्ड मकाले ने अपने शिक्षा-प्रस्ताव में लिखे थे। बंगाल के मुसलमानों ने सरकार से अनुरोध किया कि उनके लिए एक ऐसी शिक्षा पद्धति की आवश्यकता है जिससे उभरती पीढ़ी को अपनी नौजवानी में ऐसी स्वस्थ और सशक्त ट्रेनिंग मिले जिससे वे बौद्धिक और नैतिक विकास को प्राप्त होकर समाज के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकें। उन्होंने यह भी कहा कि पश्चिमी बंगाल के वे मुसलमान, जो कलकत्ता मदरसा में पुराने कोर्स के चलते रहने के लिए शोर मचा रहे हैं, ऐसे है जो स्वयं अपने किसी मित्र या रिश्तेदार को भी शिक्षा के लिए मदरसे नहीं भेजेंगे, उनके बच्चों का तो कहना ही क्या।

जिस समय कलकत्ता मदरसा खुला था उससे पहले कलकत्ते के कुछ प्रतिष्ठित मुसलमान लार्ड हेस्टिंग्ज़ से मिले थे। वे अपनी ओर से ही मिले थे। उस समय से लेकर कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन तक अर्थात् 1882 और 1902 के आयोगों के समय और 1915 के सम्मेलन के अवसर पर सरकार ने किसी से कोई राय नहीं ली थी। कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन के समय कैसे पूछ लिया गया ? कारण और कुछ भी रहे हों एक कारण साफ यह दीखता है कि 1917 तक अंग्रेजी के पक्ष में एक वर्ग का पक्का जनमत तैयार हो चुका था और इस जनमत के उभरने से अंग्रेजी का पक्ष सबल होता ही दीख रहा था। किंतु साथ में यह भी स्मरणीय है कि यद्यपि भारतीय भाषाओं की प्रारंभ से ही अवहेलना की गई थी तथापि वह प्रश्न शांत नहीं

2. 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन रिपोर्ट', II. पृ० 127-28

हुआ था और बार-बार उभरकर सामने आता रहता था। अब अंग्रेजी के पक्ष में और भारतीय भाषा के विरुद्ध एक वर्ग-विशेष का पक्का जनमत भी तैयार हो चुका था और उसके लिए चालीस वर्ष से प्रयास किया जा रहा था।

कलकत्ते के मुसलमानों का एक प्रतिनिधि-मंडल कमिशन से मिला। उन्होंने कहा कि शिक्षा-माध्यम का प्रश्न मात्र शिक्षा संबंधी प्रश्न नहीं है। इसी कारण इस प्रश्न पर अपना फैसला देने से पूर्व कमिशन के लिए यह आवश्यक हो गया है कि पिछले चालीस वर्ष से चल रहे तर्क-वितर्क, वाद-प्रतिवाद पर पूर्णरूपेण विचार कर लिया जाए। प्रतिनिधिमंडल ने जोर दिया कि प्रशासन में हम अपना उचित भाग और अधिकार प्राप्त नहीं कर पाए और यह हानि हमें इस कारण उठानी पड़ी कि हम अंग्रेजी शिक्षा के प्रति उदासीन रहे। उन्होंने कमिशन से अनुरोध किया कि वर्तमान सिस्टम में यदि कोई भी परिवर्तन किया गया तो अंग्रेजी शिक्षा की प्रगति को अत्यंत क्षति पहुंचेगी जबकि मुसलमानों ने केवल थोड़े समय से ही इसके महत्त्व को समझा है।[3] 1915 में सर हारकोर्ट बटलर भी कह चुके थे कि शिक्षा-माध्यम का प्रश्न न तो स्थानीय रह गया था, न मात्र शिक्षा संबंधी। प्रश्न सारे हिंदुस्तान का था और अलग-अलग सूबों में भी स्थान-स्थान में अंतर था। इसी कारण उन्होंने पं० मदन मोहन मालवीय के प्रस्ताव करने पर भी शिक्षा-माध्यम के प्रश्न पर केंद्रीय समिति बिठाने से इनकार कर दिया था। मित्रभेद के साथ-साथ ही शब्दभेद संपन्न हो गया था।

कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन के समक्ष जो प्रश्न थे उनके संबंध में जो उत्तर अथवा अभिवेदन विभिन्न प्रतिनिधियों और वर्ग-विशेष की ओर से मिले उनको देखने से पता चलता है कि शिक्षा और भाषा दोनों ही आर्थिक और राजनीतिक प्रश्न बन चुके थे। इसके अतिरिक्त पढ़ने और पढ़ाने संबंधी समस्याओं अथवा विद्यार्थियों के मानसिक भार का हल भी अंग्रेजी दृष्टिकोण से ढूंढा जा रहा था। कमिशन ने शिक्षा के लक्ष्य की चर्चा की :

1. स्कूल में विद्यार्थी का बौद्धिक विकास बेहतर हो,
2. अंग्रेजी की योग्यता पहले से अधिक हो।[4]

इसके साथ सरकार के शिक्षा और भाषा संबंधी उद्देश्य की चर्चा भी की गई।

1. हिंदुस्तानियों को ऊंची अंग्रेजी शिक्षा देना अंग्रेजी के माध्यम से।
2. भारतीय भाषाओं का विकास करना और उनको पूर्णतया उपयोगी बनाना।

ये सभी लक्ष्य और उद्देश्य दो प्रश्नों पर केंद्रित कर लिए गए :

1. अंग्रेजी भाषा का महत्त्व,
2. भारतीय शिक्षा पद्धति में भारतीय भाषाओं का स्थान।

प्रारंभ से ही एक समस्या तो साफ थी : अंग्रेजी के माध्यम से बच्चों का मानसिक विकास नहीं

3. 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन रिपोर्ट', II. पृ० 272
4. वही, पृ० 37-38

हो रहा था किंतु उनकी सारी शक्ति और सारा समय इसी को पढ़ने में समाप्त हो जाता था और अंत में न उन्हें अंग्रेजी आती थी, न उनका मानसिक विकास होता था। इसका समाधान केवल यही हो सकता था कि उनकी शिक्षा मातृभाषा के माध्यम से हो। इसलिए प्रश्न यह होना चाहिए था कि मातृभाषा को कैसे शिक्षा-माध्यम बनाया जाए और उनके विकास के लिए क्या-क्या प्रयत्न किए जाएं। मुख्य प्रश्न बना अंग्रेजी का महत्त्व और दूसरा प्रश्न भारतीय भाषाओं का विकास। भारतीय शिक्षा गौण प्रश्न बनकर रह गई। फिर भी जैसा भी यह प्रश्न रहा हो, अंततोगत्वा वहीं जाके टिका : शिक्षा-माध्यम क्या हो ? अंग्रेजी या बंगला ? भाषा-रूप में तो अंग्रेजी के महत्त्व के बारे में किसी को कोई संदेह था ही नहीं, वह तो राजभाषा थी।

शिक्षा-माध्यम के लिए तीन विकल्प सामने आए : बंगला, उर्दू और अंग्रेजी। बंगला तो सारे बंगाल की भाषा थी और है। यदि मातृभाषा ही शिक्षा का उत्तम माध्यम माना जाए तो बंगला से अच्छा और कौन-सा माध्यम हो सकता था ? फिर उसके पक्ष और विपक्ष में जो विचार आए उनसे प्रतीत होता है कि शब्दभेद कितनी गहराई तक पहुंच चुका था। हम यह भी देखेंगे कि शब्दभेद का मुख्य आधार था अंग्रेजी भाषा और सांप्रदायिकता। सांस्कृतिक विभिन्नता भी कारण बताया गया था। किंतु उस विभिन्नता का कारण भी तो सांप्रदायिकता ही था।

करीब-करीब सभी मुसलमानों ने बंगला का विरोध किया। कहा यह गया कि बंगला की शब्दावली और आंतरिक गठन (आत्मा) दोनों ही असमृद्ध हैं। उसमें ऊंचे और प्रगतिशील विचार व्यक्त नहीं किए जा सकते। इसे समृद्ध बनाने के लिए संस्कृत की सहायता लेनी पड़ेगी। संस्कृत शब्द, वाक्य-गठन, विचार, किस्से-कथाएं, गाथाएं सभी कुछ तो लेना पड़ेगा और उसके कारण जैसे एक मृत भाषा का अस्थिपंजर जीर्ण-शीर्ण होता है वैसे ही बंगला का भी गठन अतीत की भांति मुर्दा हो जाएगा। एक महोदय जो फारसी और उर्दू पढ़ाते थे, उन्होंने तो यह भी कह दिया कि यदि बंगला को शिक्षा-माध्यम बना दिया गया तो सारे मुसलमान बच्चों को हिंदू अध्यापकों से पढ़ना पड़ेगा। वास्तव में हिंदू अध्यापकों से पढ़ने के कारण मुस्लिम बच्चों का आधार-विचार और मान्यताएं इतनी बदल गई है कि कुछ तो आत्मा के आवागमन में भी विश्वास करने लगे है।[5] इस प्रकार बंगला का विरोध सांस्कृतिक और सांप्रदायिक आधार पर किया गया। सांस्कृतिक स्तर पर विरोधी भाषा के स्थान पर अंग्रेजी ही मान्य रही। शिक्षा-माध्यम पांचवीं कक्षा से अंग्रेजी हो, फारसी और अरबी के अध्यापकों ने यही सुझाव दिया।[6] अरबी-फारसी के समर्थकों के लिए अंग्रेजी अपनी, बंगला विदेशी। बंगाल में ही बंगला विदेशी या बेगानी भाषा बन गई।

अंग्रेजी-पक्षीय और बंगला-विरोधी शब्दभेद के पश्चात् बंगला और बंगला में भी शब्दभेद हो गया। सांस्कृतिक आधार के साथ-साथ सांप्रदायिक आधार पक्के हो गए और क्षेत्रीय आधार भी बीच में आ गए। एक बंगला वह जो पश्चिमी बंगाल में बोली जा रही थी। उसका आधार-स्रोत संस्कृत था और हिंदू बंगाली समाज उसे बोलता था। दूसरी बंगला पूर्वी बंगाल में

5. 6. 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन रिपोर्ट', II. पृ० 273-74

बोली जाती थी । उसकी शब्दावली में अधिक उर्दू, फारसी और अरबी के शब्द थे और अधिकतर मुसलमान बंगाली उसे बोलते थे । इस प्रकार बंगला के भी दो भेद हो गए, हिंदू बंगाली और मुस्लिम बंगाली । बात इससे भी आगे बढ़ी । ऐसा कहा गया कि पूर्वी बंगाल में तो भाषाओं की एक विचित्र-सी खिचड़ी बन गई थी जिसमें यह पता नहीं था कि कौन-सा दाना कहां का था । हां, उसे एक प्रकार की बंगाली तो कहा ही जाता था । इस प्रकार यदि बंगला को शिक्षा-माध्यम बनाया गया तो कौन-सी बंगला को चुनेंगे और जिस भी बंगला को चुनेंगे, दूसरे क्षेत्रों के विद्यार्थी एवं दूसरे संप्रदाय के लोग उसे कैसे समझेंगे ? इस प्रकार के विचार रखने वाले मुसलमानों ने भी यह सुझाव दिया कि अंग्रेजी को ही शिक्षा-माध्यम रखा जाए ।[7] इन विचारों को सुनते ही सर हारकोर्ट बटलर की बात याद आती है । उन्होंने कहा था कि देश के विभिन्न भागों में स्थानीय आधार पर भी विचारभेद हो सकता है और विभिन्न स्थितियों के होते हुए शिक्षा-माध्यम में परिवर्तन करके अंग्रेजी के स्थान पर कौन-सी भाषा लाई जाए, यह विकट समस्या है ।

शब्दभेद के सांस्कृतिक, क्षेत्रीय और सांप्रदायिक रूप को अंत में शिक्षण-भार के रूप में पेश किया गया । यदि बंगला को शिक्षा-माध्यम और परीक्षा-माध्यम बनाया गया तो मुसलमान विद्यार्थियों पर हिंदू विद्यार्थियों की अपेक्षा अधिक भार पड़ेगा । संस्कृत शब्दावली, वाक्य-रचना और पृष्ठभूमि के कारण बंगला सांस्कृतिक आधार पर हिंदू विद्यार्थियों के मन, भावनाओं और संस्कारों से मेल खाएगी । इसके अतिरिक्त संस्कृत के पारंपरिक वातावरण में रहने वाले या संस्कृत पढ़ने वाले हिंदू बच्चे संस्कृतनिष्ठ बंगला को आसानी से समझ लेंगे । वही भाषा मुसलमान बच्चों के लिए दुर्गम होगी । वे उर्दू, फारसी या अरबी पढ़ेंगे, संस्कृत नहीं । इस कारण वे बंगला में दिए गए लेक्चर नहीं समझ पाएंगे । बंगला को समझने के लिए उनके मस्तिष्क पर अधिक बोझ पड़ेगा और इस बोझ के नीचे दबकर वे अंग्रेजी में कमजोर रह जाएंगे ।[8] संकेत अचूक है : आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक दौड़ का रास्ता है अंग्रेजी । दौड़ हिंदुओं के साथ है । संस्कृतनिष्ठ बंगला के चक्कर में पड़कर मुसलमान हिंदुओं से पीछे क्यों रहें ? अंग्रेजी माध्यम के रहते कम से कम एक जैसा भारी पिट्ठू तो लेकर दौड़ना पड़ेगा । मंजिल पर पहुंचने के लिए बराबर की दौड़ में भार भी बराबर होना चाहिए । यह किसी ने नहीं सोचा कि बोझ के नीचे दोनों ही टूट गए तो ? संभवतः यह भी मान्य होता—अंग्रेजी के पक्षधर और स्पर्धा के दीवाने यदि टूट भी जाते तो कम से कम दोनों वर्ग बराबर तो रहते, दूसरा आगे तो नहीं निकल पाता । जीवन से कभी मौत भी अच्छी हो सकती है क्या ? उत्तर : हां, फंदा अंग्रेजी हो तो !

शब्दभेद के इस कोलाहल में उर्दू ने भी हाथ उठाया और क्षेत्रीय तथा सारे भारत की भाषा होने के आधार पर अपनी आवाज बुलंद की । किंतु आश्चर्य की बात यह है कि उर्दू के पक्षधरों ने उर्दू के लिए लड़कर भी अंग्रेजी का ही समर्थन किया । आल इंडिया मोहम्मदन कान्फ्रेंस के अध्यक्ष ने उर्दू का समर्थन किया, किंतु नंबर दो पर । एक नंबर पर उन्होंने भी अंग्रेजी को ही

7. 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन रिपोर्ट', II, पृ० 279
8. वही, पृ० 272

रखा । उन्होंने कमिशन को अपने प्रतिवेदन में कहा : "मैं चाहता हूं कि हाई स्कूल में और बी०ए० तक कालेजों में शिक्षा का माध्यम भारतीय भाषा हो, किंतु मैं बलपूर्वक यह कहना चाहता हूं कि यदि अंग्रेजी को शिक्षा-माध्यम न रखा जा सके (अर्थात् अंग्रेजी के स्थान पर यदि भारतीय भाषा को लाया ही जाए) तो मुसलमान विद्यार्थियों के सामने निश्चित रूप से यह विकल्प सदा होना चाहिए कि वे उर्दू को शिक्षा-माध्यम के तौर पर ले लें । सारे सरकारी कालेजों में और यूनिवर्सिटी में उर्दू पक्ष उतना ही सबल हो जितना कि और कोई भाषा पक्ष । यदि किसी कारण यह संभव न हो तो यह अत्यंत आवश्यक है कि मुसलमान विद्यार्थियों के हितों को सामने रखते हुए अंग्रेजी को ही शिक्षा-माध्यम के रूप में चलते रहने दिया जाए ।" उर्दू पक्ष के ये लोग यह तो मानते थे कि सारे भारत की जनभाषा उर्दू है और इसके अतिरिक्त विशेषकर भारत के सारे बड़े शहरों में मुसलमानों की भावनाओं को भी छूती है, फिर भी यह आश्चर्य की बात है कि उन्होंने उर्दू के स्थान पर अंग्रेजी को ही श्रेयस्कर समझा ।[9]

एक और वर्ग मुसलमानों में ऐसा था जो भाषा की समस्या को सामाजिक और वास्तविक रूप में देखता था । ये लोग उर्दू समर्थकों को मात्र अल्पसंख्यक मानते थे । 'बंगाल प्रोविंशल मोहम्मदन एज्युकेशन कान्फ्रेंस' ने उर्दू पक्षीय विचारों का विरोध किया और कहा कि बंगाल में मुसलमानों की मातृभाषा बंगाली है उर्दू नहीं । तनिक-सी संख्या को छोड़कर जो कि कलकत्ता, मुर्शिदाबाद और ढाका शहरों में रहते हैं और उर्दू का समर्थन करते हैं, सभी की मातृभाषा बंगला है । उनके लिए उर्दू तो प्रायः एक विदेशी भाषा जैसी है । बंगाल के मुसलमान विद्यार्थी उर्दू पढ़ने में कठिनाई का अनुभव करते हैं । इसी कारण यद्यपि उनको उर्दू का विकल्प उपलब्ध है, फिर भी वे यूनिवर्सिटी परीक्षा में भारतीय विषय के रूप में बंगला को ही लेते हैं । मुसलमानों का ही एक और वर्ग था जो यह तो मानता था कि उर्दू सारे भारत की जनभाषा है और मुसलमानों की भावनाओं के निकट भी है, फिर भी वे यह जानते थे कि शिक्षा क्षेत्र में गांव के रहने वाले मुसलमान भी जागने लगे हैं, और उनकी भाषा उर्दू नहीं है, बंगला है । बंगाल की क्षेत्रीय भाषा बंगला होने के कारण वे यह भी मानते थे कि शिक्षित मुसलमान समाज में बंगला उचित स्थान ले लेगी, विशेषकर इस कारण कि हिंदुओं के साथ साधारण प्रतिस्पर्धा में भी तो बंगला ही चाहिए । किंतु वे इस तथ्य से भी भली भांति परिचित थे कि एक वर्ग उर्दू से इतना निकट से जुड़ा हुआ था कि वह बंगला सीखने को तैयार ही न था । यह वर्ग निर्बल अथवा अत्यंत अल्पसंख्यक नहीं था और यह मनवा सकता था कि यूनिवर्सिटी में शिक्षा अंग्रेजी के माध्यम से ही हो । ऐसे हालात में बंगला पक्षीय वर्ग के लिए भी यह आवश्यक हो गया कि वह अंग्रेजी का ही पक्ष ले ।[10] कमिशन के मत में भी उर्दू पक्ष अल्पसंख्यक या कमजोर नहीं था । 1911 की जनगणना के अनुसार बंगाल के दो करोड़ चालीस लाख मुसलमानों में से बीस लाख ने अपनी भाषा उर्दू लिखवाई थी । कमिशन का मत यह था कि उनके लिए विशेष प्रबंध करना पड़ेगा ।[11] अतः

9, 10. 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन रिपोर्ट', II, पृ० 276, 278
11. वही, V, पृ० 35

बंगला पक्ष के सामने भी अंत में यही तथ्य उभरकर आया : यदि उर्दू एक विदेशी भाषा जैसी है और यदि विदेशी भाषा ही पढ़नी है तो अंग्रेजी ही क्यों न पढ़ें ? यहां हमें एक संकेत भी मिलता है : आगे चलकर कभी यही उर्दू-विरोधी दलील हिंदी के विरुद्ध भी, अंग्रेजी पक्ष में दी जा सकती थी ।

शब्दभेद में अभेद्य रही तो केवल अंग्रेजी, न बंगला बची न उर्दू । सबने अंग्रेजी का ही समर्थन किया । किसी ने स्वतंत्रतापूर्वक, और किसी ने विवश होकर । अंग्रेजी का समर्थन साहित्यिक, सांस्कृतिक, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय आधार पर भी बलपूर्वक किया गया । संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :

1. अंग्रेजी अत्यंत विकसित भाषा है और उसमें एक विशाल और उदात्त साहित्य की रचना हो चुकी है । अंग्रेजी के माध्यम से वह साहित्य भारत की अपनी विभूति बन रहा है ।
2. अंग्रेजी भाषा और साहित्य के कारण भारत में जागृति आई है जो भारतीय जीवन के प्रत्येक अंग को प्रस्फुरित कर रही है ।
3. भारतीय भाषाएं सुंदर हैं और अपने आप में अत्यंत आवश्यक हैं, किंतु फिर भी वे हैं तो क्षेत्रीय । उनका विकास भी हो सकता है, किंतु एक ही क्षेत्र में भी कितनी विविधता है । उनके आधार पर भारत एक तो नहीं कहा जा सकता । अंग्रेजी सारे भारत की भाषा है और भारत की एकता का नया प्रतीक है ।
4. अंग्रेजी भारत के शिक्षित वर्ग की भाषा बन चुकी है । वह अखिल भारतीय संपर्क और संचार का माध्यम है, विशेषकर विद्वद्वर्ग के बीच । यदि अंग्रेजी को छोड़ दिया तो भारत के शिक्षित वर्ग का परस्पर संचार समाप्त हो जाएगा और भविष्य में मानसिक प्रगति और शिक्षा-प्रगति रुक जाएगी ।
5. अंग्रेजी केवल शिक्षित भारत की ही भाषा नहीं है अपितु जनभाषा बनने वाली है । उसको छोड़ देने से देश की एकता और राष्ट्रीयता को क्षति पहुंचेगी ।
6. अंग्रेजी अंतर्राष्ट्रीय भाषा है । इसके माध्यम से भारत का संपर्क इंग्लैंड और ब्रिटिश साम्राज्य-स्थित दूसरे देशों से है । एक नए संसार में भारत के नए भाग्य का उदय हो रहा है । यदि भारत अंग्रेजी को नकारेगा तो उस नए भाग्योदय को ही नकारेगा ।

अंग्रेजी की सत्ता राजसत्ता के समान बनी रही । शब्दभेद भी वैसे का वैसा ही बना रहा । शब्दभेद में राजसत्ता के साथ जनसत्ता और जुड़ गई । अंग्रेजी जनभाषा बनने वाली थी, मान लिया गया कि बन गई । जा को मानै साइयां, टार सकै न कोय !

23
राजसरस्वती

राजसरस्वती ? अर्थात् शिक्षा भाषा पालिटिक्स । कूटनीति, मित्रभेद और शब्दभेद के साथ राजसरस्वती का उदय होता है और उस भाषा-साम्राज्य की भाषा-पालिटिक्स में उसकी परिणति हो जाती है । दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि सरस्वती का राजकरण हो जाता है ।

सरस्वती स्वयं चेतना है । चेतना आत्मप्रकाश है । शब्द उसी की देन हैं । भाषा उसी की रचना है । आत्मभूतस्थ वाक्शक्ति का बुद्धिसत्त्व के माध्यम से जीवन में उदय होता है । बुद्धिसत्त्व प्रकाशशील है, वर्णातीत है और प्रकाश की भांति अनेक वर्णों को अभिव्यक्त और अभिलक्षित करता है । अनेक वर्ण वर्णातीत प्रकाश में वैसे ही समाहित हो जाते हैं जैसे सातों सुर ओंकार में समाहित हो जाते हैं । प्रकाश किसी को रंगता नहीं, केवल रंग को यथातथ्य सामने ले आता है । सत्त्व स्वयं लिप्त नहीं होता, किसी चक्कर में नहीं पड़ता । सत्त्वशील पुरुष अहम् में भी नहीं उलझता, केवल वस्तुतत्त्व को देखता है । सत्त्वशील पुरुष की भाषा भी वस्तुतत्त्व की चेतना को ही अभिव्यक्त करती है । यदि कोई अहम् है तो वही चेतना उसका अहम् है, और कुछ नहीं । उसका अहम्, चेतना और भाषा सभी केवल सनातन सत्य की चेतना और अभिव्यक्ति का माध्यम हैं । यही सत्त्व-साधना-भाषा सरस्वती की देन है जिसका उदय मनुष्य के जीवन में सत्त्व के माध्यम से प्रकृति परंपरा और परिवेश के आंगन में होता है और प्रवाह मां के श्रीमुख से प्रारंभ होकर संसार में से विचरता हुआ सरस्वती में ही समापन हो जाता है ।

किंतु सत्त्व और प्रकाश का मार्ग सदा साफ और निर्विघ्न रहे यह आवश्यक नहीं । इस रंग-बिरंगी दुनिया में रजस् आ जाता है । तमस् भी आ जाता है । रजस् गतिशील है । रजस् के प्रभाव से सत्त्व भी चलायमान हो जाता है और एकता के स्थान पर विविधता आ जाती है । वर्णातीत प्रकाश भी जब प्रिज्म के बीच होकर गुजरता है तो सात रंगों में विभाजित हो जाता है । रजस् के ही प्रभाव से एक शब्द सात सुरों में विभाजित हो जाता है । शब्द में ही जब गति आती है तो स्वर सहित अनेक वर्णों का जन्म होता है । तमस् मात्र स्थितिशील है । तमस् के प्राधान्य से गति वैसे ही समाप्त हो जाती है जैसे पर्वत पर एयरक्रैश हो जाता है । तमस् में प्रकाश का भी विलय हो जाता है, वैसे ही जैसे कोयले में सूर्यप्रभा का विलय हो जाता है । सत्त्व, रजस् और तमस् तीनों ही प्रकृति के गुण हैं । तीनों के संतुलन से जीवन में व्यवस्थिति आती है । संतुलन के बिगड़ते ही व्यवस्थिति बिगड़ जाती है । तमस् प्रधान समाज निर्जीव हो जाता है जैसे

मध्यकालीन भारत । रजस् प्रधान समाज अतिशय गतिशील हो जाता है जैसे साम्राज्यवादी ब्रिटेन । ब्रिटेन का जब भारत में आगमन हुआ उस समय भारत सोया पड़ा था ।

ब्रिटेन ने भारत को जगाने का दावा किया और अंग्रेजी शिक्षा और भाषा को जागृति का माध्यम बनाया । इसी शिक्षा और भाषा के साथ राजसरस्वती का उदय हुआ । इस शिक्षा-भाषा प्रयास का ध्येय प्रकाश भी था और गति भी, किंतु प्रकाश सत्त्व-प्रकाश नहीं था, वह अंग्रेजी रजस् रंग को लिए हुए था और अंग्रेजी रंग में यहां की सभ्यता और संस्कृति को रंगना चाहता था । उसमें गति भी थी किंतु ऊर्ध्वगति नहीं थी, वह केवल ब्रिटेन की दिशा में ही थी । हां, उसी शिक्षा के फलस्वरूप जब भारत का सत्त्व-अहम् जागा और इस अहम् के साथ जब गति आने लगी तो सरकार ने उसी गति को वर्गभेद में परिणत करने का प्रयास किया । वर्गभेद के साथ-साथ शब्दभेद का प्रवाह होने लगा । वही शब्दभेद राजसरस्वती का साधन बन गया । राजसरस्वती को ही हम वामा सरस्वती का अद्यतन रूप कह सकते हैं । राजसरस्वती से केवल एक ही प्रार्थना की जा सकती है : तमसो मा गतिर्गमय, गतिर्गमयेति ।

भारत में अंग्रेजी भाषा राजसरस्वती की देन है । यहां अंग्रेजी का उदय प्रकृति परंपरा या परिवेश के प्रांगण में नहीं होता, न मां के श्रीमुख से । इसका उदय स्कूल में होता है, मास्टर साहब के श्रीमुख से, और सीधा ब्रेन पर चोट करता है । यह न संस्कार में उतरती है न भाव को छूती है, और यदि भावों को छूती भी है तो उनको डिस्टर्ब करती है और एक विचित्र शब्द भाव-विचार विक्षेप को पैदा करके डबल पर्सनलिटी को जन्म देती है । राजसरस्वती के साधक भी इसी विक्षेप का सहारा लेकर डबल पर्सनलिटी का समर्थन करते हैं । उनमें सत्त्व और रजस् का सह-अस्तित्व तो हो सकता है सामंजस्य नहीं होता । ऐसी अवस्था में अंग्रेजी-प्रधान रजस् का ही राज बना रहता है । कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन की कार्यवाही को हम देखें तो ऐसा प्रतीत होता है कि कमिशन के सारे सदस्य राजसरस्वती के साधक थे ।

कमिशन ने शिक्षा की स्थिति को देखकर कुछ सीधी और सच्ची बातें कहीं किंतु राजनीतिक स्थिति को देखकर वे उन बातों पर टिक नहीं सके । वर्गभेद के साथ-साथ शब्दभेद इतना गहरा रंग पकड़ चुका था कि उस रंग को काटना असंभव दीखने लगा था । शिक्षा क्षेत्र में मानसिक विकास की नैसर्गिक प्रक्रिया तो बहुत पीछे चली गई थी, सामने रह गई केवल वर्गनिष्ठ राजनीति और सरकारनिष्ठ भाषा-नीति । प्रकृति को छोड़कर समाज विकृति का शिकार हो गया था । उसी विकृति के दबाव के नीचे कमिशन को झुकना पड़ा । कमिशन के अपने ही शब्दों में : "मुख्य प्रश्न यह है कि शिक्षा का माध्यम क्या हो ? अंग्रेजी और भारतीय भाषाओं का सापेक्ष महत्त्व क्या हो ? किंतु इस प्रश्न के कारण सूबे में रहने वाले विभिन्न वर्गों के हितों और अधिकारों से संबद्ध एवं देशभक्ति और गूढ़ राजनीति संबंधी दूसरे प्रश्न ऐसे खड़े हो गए हैं जिनके सामने शिक्षा, मनोविज्ञान और भारतीय भाषाओं की अपनी क्षमता इत्यादि प्रश्न, यद्यपि उनका अपना महत्त्व है, फिर भी सब फीके पड़ गए हैं । बंगाल के शिक्षित समाज में कम से कम तीन सौ व्यक्तियों की ओर से जो विचार हमारे सामने प्रस्तुत किए गए हैं उनकी शैली इतनी आवेशपूर्ण और गरम है कि

उससे यही पता चलता है कि ये प्रश्न बंगाल के शिक्षा-जगत के मन की गहराइयों में उतर चुके हैं ।"[1] इस गर्मी के वातावरण में कहां की सचाई और किसकी हित साधना ?

प्रश्न समाज का नहीं रहा था, शिक्षित वर्ग का बन गया था । यह वर्ग तो अंग्रेजी के रंग में रंगा जा चुका था और इससे भी आगे सांप्रदायिक वर्गों में बांटा जा चुका था । इस वर्ग का देश और समाज के साथ संबंध तो अवश्य था किंतु यह अपने आपको ही देश और समाज का प्रतिनिधि समझता था और मात्र अपने हित से देश का हित साधना चाहता था । इन्होंने विद्यार्थियों के हितों को भी अपने ही वर्गहितों में परिणत कर लिया था और शिक्षण मनोविज्ञान के प्राकृतिक तथ्यों को देखने से भी इनकार कर दिया था । इनका अपना हित अंग्रेजी के माध्यम से सरकार और प्रशासन के साथ चलने में था । अंग्रेजी के ही माध्यम से एक वर्ग दूसरे को हराना चाहता था । आर्थिक और राजनीतिक हितों के टकराव और कोलाहल में न जनता दिखाई दी, न विद्यार्थियों की पुकार किसी को सुनाई दी । केवल इस वर्ग की आवाज कमिशन के लिए आकाशवाणी बन गई और अपने सामने सीधे-सच्चे प्रश्न होते हुए भी कमिशन ने इस आवाज को नकारने की हिम्मत नहीं की । इसकी गर्मी के सामने कमिशन ठंडा पड़ गया ।

कुछ लोगों ने यह सुझाव दिया कि भारतीय भाषा (बंगला) को शिक्षा और परीक्षा दोनों का अनिवार्य माध्यम बना दिया जाए । वे यह नहीं चाहते थे कि अंग्रेजी और बंगला दोनों को साथ-साथ माध्यम माना जाए क्योंकि यदि अंग्रेजी और बंगला दोनों को माना गया तो दोनों ऐच्छिक रहेंगी और यदि बंगला को केवल ऐच्छिक रूप में माध्यम माना गया तो अंग्रेजी को छोड़कर बंगला कोई नहीं लेगा । बंगला-अनिवार्यता के इस सुझाव के प्रत्युत्तर में कमिशन ने कहा कि हम इस सुझाव को मानकर इस हद तक परिवर्तन के पक्ष में नहीं हैं । हम किसी को भी बंगला माध्यम के लिए मजबूर नहीं कर सकते । यदि बंगला माध्यम को अनिवार्य बनाया गया तो मुसलमान वर्ग की ओर से इस अनिवार्यता के विरोध की संभावना है । हमारे विचारानुसार यदि ऐसी अनिवार्यता कभी आनी ही है तो आहिस्ता-आहिस्ता आनी चाहिए ।[2] शिक्षा, शिक्षा-दर्शन और शिक्षा-नीति सब वर्गनिष्ठ राजनीति के रंग में रंगे गए । इसका अर्थ यह हुआ कि भारतीय भाषा के पक्ष में कोई परिवर्तन होना भी है तो तब संभव होगा जब शत-प्रतिशत उसका समर्थन होगा और विरोध जीरो प्रतिशत । ऐसी संभावना हो सकती है या नहीं यह तो सोचने का विषय हो सकता है, किंतु किसी भी स्थिति को बनाए रखने का और परिवर्तन को रोकने का यह मूलमंत्र अवश्य है ।

शिक्षा राजनीति में अब शत-प्रतिशत परिवर्तन हो गया । प्रारंभ से तो इस विशाल भारतीय जन-समुदाय को किसी ने सार्थक समझा ही नहीं था । ग्रांट समझते थे कि भारतीयों को तो हमने जीता है इसलिए उनके भले-बुरे का फैसला करने वाले वे होते कौन हैं ? उनके विरोध की चिंता क्या ? शिक्षा समिति के अध्यक्ष पद पर आसीन लार्ड मकाले भारतीय जनता और परंपरा दोनों

1. 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन रिपोर्ट', II, पृ० 241
2. वही, पृ० 33-34

को निरर्थक मानते थे। 1857 के विजयोपरांत 1858 में जान लारेंस ने घोषणा की थी कि हम यहां न चुनाव से आए हैं, न लोगों के बुलाने पर आए हैं, हम तो अपनी नैतिक प्रवरता, परिस्थितियों की प्रबलता और नियति की इच्छा से यहां आए हैं। हमारे राज का यही आधार है और यही अधिकार है। जनता के भले के लिए हम जो कुछ भी करेंगे अपनी इच्छा से करेंगे; उनकी इच्छा से नहीं।[3] लार्ड कर्ज़न तो किसी की सुनने को तैयार थे ही नहीं। सर हारकोर्ट बटलर ने पं० मदन मोहन मालवीय का प्रस्ताव नहीं माना था और प्रश्न पर विचारार्थ केंद्रीय समिति नहीं बनाई थी क्योंकि प्रश्न अखिल भारतीय बन चुका था। अखिल भारतीय स्तर पर मित्रभेद और शब्दभेद दोनों संपन्न हो चुके थे। इस स्थिति के पक जाने पर जब इसको बदलने का प्रश्न उठाया गया तो निर्विरोध जनमत को ढूंढ़ा गया। वह कहां और कैसे मिलता ? जनमत के स्थान पर राजमत और राजमत के स्थान पर जनमत, यह अंग्रेजी कूटनीति की पराकाष्ठा ही थी। शिक्षानीति नई राजनीति का अंग बन गई थी। जनता के आंदोलन का उत्तर भी जनता के माध्यम से ही दिया जा रहा था। एक ही नीति से राजसेवा और जनसेवा दोनों काम सिद्ध हो रहे थे।

नीति के इस राजगणमत के संदर्भ में कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन की कार्यवाही में हमें दो रंग दिखाई देते हैं : एक सत्त्वशील और दूसरा राजनिष्ठ; एक तो शिक्षा सिद्धांत और मनोविज्ञान की कसौटी पर पूरा उतरने वाला और दूसरा राजनीति की मजबूरियों में जकड़ा हुआ।

कमिशन ने शिक्षा के उद्देश्य और अपेक्षित शिक्षा पद्धति के लक्ष्य को दुहराया। उन्होंने माना कि शिक्षा के दो उद्देश्य हैं : 1. मानसिक विकास, 2. अंग्रेजी भाषा का यथेष्ट ज्ञान। किंतु एक बात साफ कर दी गई : शिक्षा और भाषा दो बातें हैं, एक नहीं। भाषा साधन है और शिक्षा साध्य। यदि अंग्रेजी भाषा की योग्यता मात्र को शिक्षा समझ लिया गया तो ठीक नहीं रहेगा।[4]

अभी तो अधिकतर लोग अंग्रेजी भाषा की योग्यता को ही शिक्षा मानते चले आए थे। इसी कारण इस बात पर बल दिया जाता रहा था कि शीघ्रातिशीघ्र अंग्रेजी शिक्षा-माध्यम लागू कर दिया जाए कि ताकि बच्चे अधिक से अधिक अंग्रेजी भाषा का प्रयोग कर सकें, क्योंकि जितना अंग्रेजी भाषा का प्रयोग अधिक होगा उतना ही अंग्रेजी का ज्ञान अधिक होगा और जितनी अंग्रेजी की योग्यता अधिक होगी उतनी ही बच्चों की शिक्षा अच्छी हो जाएगी। कमिशन ने इस क्रम को बदल दिया : उन्होंने कहा कि अंग्रेजी की योग्यता से शिक्षा अर्थात् मानसिक विकास नहीं होता, बल्कि मानसिक विकास से अंग्रेजी की योग्यता बढ़ती है। अंग्रेजी भाषा की योग्यता अच्छी शिक्षा का कारण नहीं है, भाषा योग्यता अच्छी शिक्षा का परिणाम है। कमिशन ने यहां तक कह दिया कि अच्छी शिक्षा और अंग्रेजी भाषा (शब्दज्ञान) इन दो में से यदि एक को ही चुनना है तो हम अच्छी शिक्षा को चुनेंगे, मात्र शब्दज्ञान को नहीं।[5]

---

3. पत्र दि० 3-7-1858, उद्धृत : एडवर्ड्ज, 'ब्रिटिश इंडिया', पृ० 176-77
4. 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन रिपोर्ट', V, पृ० 37-38, 48
5. वही, पृ० 32

कमिशन ने यह नोट किया कि मात्र अंग्रेजी शब्दज्ञान पर आवश्यकता से अधिक बल दिए जाने के कारण बच्चे न तो शिक्षा प्राप्त कर सके थे और न भाषाज्ञान ही। परीक्षा पास करने के लिए उनको पृष्ठ पर पृष्ठ जुबानी घोटने पड़ते थे ताकि वे उन्हें परीक्षा में ज्यों के त्यों उगल दें। अंत में उन्हें यदि थोड़ी बहुत अंग्रेजी आ भी गई तो भी उसके लिए कितना समय और शक्ति बर्बाद करके।[6] इस दुखद अपव्यय को देखकर कमिशन को हंसी भी आई और रोना भी। कमिशन ने यह भी नोट किया कि साधारण विद्यार्थी को न अंग्रेजी आती थी और न ही अपनी मातृभाषा, मानसिक विकास का तो कहना ही क्या ? उन्होंने कहा कि भारतीय शिक्षा पद्धति में कोई आधारभूत कमी है जिसके कारण विद्यार्थी शिक्षा, अंग्रेजी भाषा और मातृभाषा तीनों ही में कोरे हैं। इंग्लैंड में किसी विद्यार्थी की शिक्षा को तब तक पूर्ण नहीं समझा जाता जब तक कि वह अपनी भाषा पर व्याकरण और शैली दोनों की दृष्टि से पूर्ण अधिकार न प्राप्त कर ले।[7] भारत में शिक्षा और भाषाज्ञान दोनों ही तोता रटंत से आगे नहीं जा पा रहे थे। ये सब सात्विक सच्चे विचार थे।

शिक्षा में यदि मात्र शब्दज्ञान की अपेक्षा मानसिक विकास अधिक और वास्तविक महत्त्व रखता है तो मानसिक विकास अर्थात् शिक्षा का स्वाभाविक माध्यम क्या है ? कमिशन ने सत्य सरस्वती के शब्दों में इस प्रश्न का भी उत्तर दिया : मानसिक विकास का स्वाभाविक माध्यम है मातृभाषा, क्योंकि मातृभाषा ही विचार का माध्यम है।[8] उन्होंने अंग्रेजी भाषा-भाषी इंग्लैंड के विद्यार्थियों का उदाहरण देकर यह भी कहा कि अंग्रेज विद्यार्थी यदि विदेशी यूनिवर्सिटी में पढ़े तो वह जर्मन या फ्रांसीसी भाषा में दिए गए लेक्चरों के नोट अंग्रेजी में ले सकता है। उन्हें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि भारत में यह संभव क्यों नहीं था।[9] उन्होंने स्थिति को जांचते हुए यह कहा कि भारत में स्कूल पद्धति के अंदर मातृभाषा ही मानसिक विकास का साधन है किंतु उसकी ओर कोई ध्यान दिया ही नहीं गया है। इसका कारण यही है कि उचित समय से पहले ही अंग्रेजी शिक्षा-माध्यम लागू कर दिया जाता है। विदेशी भाषा होने के कारण विद्यार्थी उसे समझते नहीं और न समझने के कारण साधारण विषयों में उनके मन में एक गलदल-सी मच जाती है। इस गलदल का पता मैट्रिक परीक्षा में तो नहीं चल पाता क्योंकि बच्चे पन्ने पर पन्ने घोटने में कमाल कर दिखाते हैं, किंतु जैसे ही वे कालेज में पहुंचते हैं इस घोटाले का पता चल जाता है। न केवल अंग्रेजी माध्यम से पढ़ने वाले विद्यार्थियों के विषय में ही मातृभाषा की अवहेलना की जाती थी, अपितु जो विद्यार्थी मातृभाषा के माध्यम से पढ़े थे उनके मानसिक विकासार्थ भी मातृभाषा का पूरा प्रयोग नहीं किया जा रहा था।[10] मातृभाषा की अवहेलना और अंग्रेजी माध्यम के समय से पूर्व लागू किए जाने के कारण भारतीय विद्यार्थी शिक्षा-विहीन हो गए थे और भाषा-विहीन भी।

---

6. 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन रिपोर्ट', V, पृ० 33, 28
7. वही, V, पृ० 59-60
8. वही, V, पृ० 331, 29-30
9. वही, V, पृ० 59-60
10. वही, V, पृ० 29-30

मातृभाषा मानसिक विकास का स्वाभाविक साधन है, यह सभी ब्रिटिश प्रशासक और शिक्षाशास्त्री मानते थे। किंतु फिर भी भारतीय भाषाओं के विकास की ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया। और इसी अवहेलना के कारण भारत में शिक्षा का स्तर इतना नीचे गिर गया था। सिद्धांत रूप में तो मकाले के समय से भारतीय भाषाओं के गंभीर अध्ययन और योजनाबद्ध विकास के महत्त्व पर बल दिया गया किंतु फिर भी शिक्षा-नीति में तथा स्कूलों, कालेजों और विद्यार्थियों में उनकी ओर ध्यान नहीं दिया गया था। और जो भी अध्ययन मातृभाषा का शिक्षा संस्थानों में किया जा रहा था वह भी अपर्याप्त और नीचे स्तर का था, मानो नाममात्र का ही था। परिणामस्वरूप मानसिक विकास का स्वाभाविक साधन तो विकसित हुआ नहीं और विदेशी माध्यम सफल नहीं हुआ।[11] इस विफलता को देखने के बाद कमिशन ने एक ऐसा सुझाव दिया जो आज भी बहुमूल्य है और जिसने पहले के सारे विचारों को नकार दिया। प्रारंभ से समझा यह गया था कि मातृभाषा का अध्ययन अंग्रेजी के अध्ययन के रास्ते में रुकावट बनेगा। इसी कारण केवल अंग्रेजी के अध्ययन पर बल दिया जा रहा था। कमिशन ने यह सुझाव दिया कि मातृभाषा का अध्ययन अंग्रेजी के अध्ययन के रास्ते में रुकावट होने की बजाय अंग्रेजी की सहायता करेगा। यह तो हो सकता है कि यदि अंग्रेजी देर में शुरू की जाए तो अंग्रेजी शब्द थोड़ी देर में जुबान पर चढ़ेंगे किंतु उनकी समझ जल्दी आने लगेगी।[12] इस प्रकार भारतीय भाषा और अंग्रेजी का संबंध स्पर्धात्मक नहीं बल्कि परस्पर सहयोग का होगा। शिक्षा-क्षेत्र में भारतीय और अंग्रेजी भाषा का क्रमबद्ध अध्ययन होना चाहिए, यह विचार दो भाषाओं के क्रमानुगत अध्ययन का था जिससे आशा यह थी कि भाषाज्ञान का विकास और मानसिक विकास साथ-साथ होंगे। अंग्रेजी के शब्द जंजाल के बीच तोता रटंत में उलझे हुए विद्यार्थियों के लिए यह सुझाव आशा का संदेश था और सत्य सरस्वती की वाणी का ही मानवीय रूप था, यदि कार्यान्वित हो जाता तो। कमिशन का ठोस सुझाव यह भी था कि अंग्रेजी का अध्ययन प्रारंभ करने से पहले विद्यार्थियों को मातृभाषा में संयत और कठोर ट्रेनिंग मिलनी चाहिए क्योंकि यह ट्रेनिंग अंग्रेजी शिक्षा का आवश्यक और अनिवार्य पूर्वार्द्ध है।[13] लार्ड कर्ज़न ने भी कहा था कि जो अपनी मातृभाषा को नहीं जानता वह अंग्रेजी भी नहीं जान सकता।

यदि मातृभाषा का संयत अध्ययन शिक्षा का पूर्वांग माना जाए ताकि वह विद्यार्थी के मानसिक विकास का साधन भी हो और उस विकास का मानक और सहायक भी, तो उस अध्ययन का योजनाबद्ध कार्यक्रम होना चाहिए। वह क्या हो ?

कमिशन ने इस विषय में जो विचार दिए और जिस योजना की कल्पना की वह आज भी सराहनीय और अनुकरणीय है। उन्होंने भाषा की उपलब्धि के क्रम को दो भागों में बांटा :

1. प्राकृत अर्थात् प्रकृति और परिवेश से प्राप्त।
2. आनुशासनिक अर्थात् शिक्षा-प्रक्रिया से अर्जित।

11. 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन रिपोर्ट', V, पृ० 331
12, 13. वही, V, पृ० 32

शिक्षा से अर्जित भाषाज्ञान को आगे दो-तीन भागों में बांटा :

क. अनुकरणात्मक

ख. सर्जनात्मक : (i) व्यक्तिगत विशिष्टतापरक, (ii) आत्म-दर्शनपरक।

शिक्षा-प्रक्रिया में स्वाध्याय, प्रवचन, मनन और निदिध्यासन (सेल्फ-क्रिटिसिज्म)—ये तीनों साधना विशेष के अंग हैं।

प्राकृत अवस्था में बच्चे को केवल इतनी भाषा की उपलब्धि होती है जितनी उसको अपनी साधारण आवश्यकताओं को दूसरों के प्रति व्यक्त करने के लिए आवश्यक है अथवा दूसरों की आवश्यकताओं को समझने के लिए पर्याप्त है। ये सारी आवश्यकताएं उसकी अपनी मातृभाषा में ही व्यक्त की जाती हैं। इतनी भाषा उसे अनायास ही मिल जाती है जिसके लिए न्यूनतम ध्यान और इच्छाशक्ति की आवश्यकता होती है। परंतु किसी भी व्यवस्थित समाज में बुद्धि के विशेष प्रयास के बिना काम चलाने के लिए यह भाषा-उपलब्धि भी न्यूनतम है (अर्थात् इतने ही भाषाज्ञान के सहारे व्यक्ति समाज में कोई उन्नति नहीं कर सकता)। यदि उससे समाज में कुछ और करने की अपेक्षा की जाती है तो उसे इससे आगे कुछ और सीखना पड़ेगा।[14] यहां हमें डब्ल्यू० एच० शार्प की बात याद आती है जो उन्होंने लार्ड कर्ज़न के समय कही थी। प्रारंभिक ग्रामीण शिक्षा के संबंध में उन्होंने कहा था कि यह शिक्षा भारती माध्यम से दी जाएगी और इसका लक्ष्य मात्र इतना होगा कि विद्यार्थी अपने परिवेश को देख ले, समझ ले और उससे अधिकतम लाभ भी उठा ले, किंतु उसे बदलने का प्रयास न करे। भारतीय माध्यम से शिक्षित इन नौजवानों से केवल यही अपेक्षा की जाती थी कि वे देहाती जीवन में मात्र प्राकृत स्तर पर जिएंगे और ब्रिटिश साम्राज्य के गुण गाएंगे। किंतु यह कमिशन उस स्थिति से आगे बढ़ा और कम से कम इस संभावना की कल्पना तो की कि यदि बच्चों से प्राकृत स्तर से ऊपर कोई अपेक्षा की जाएगी तो उनका भाषा-स्तर भी प्राकृत स्तर से ऊंचा करना पड़ेगा।

कमिशन की इच्छा थी और उसने सुझाव भी दिया कि मातृभाषा के अध्ययन को जीवन के अनुरूप आगे बढ़ाया जाए। उन्होंने भाषा के अध्ययन को जीवन-शैली से जोड़ने का सुझाव दिया। उन्होंने कहा कि हमारी जीवनचर्या दो प्रकार की होती है अथवा दो स्तरों पर संपन्न की जाती है : एक तो यह कि किसी माडल का अनुकरण करना और दूसरे लोगों की तरह काम करना, और दूसरा यह कि हम अपनी शैली से सोचें और स्वांतःसुखाय काम करें। हमारी व्यक्तिगत विशेषता ही इस दूसरे स्तर के काम का महत्त्व है। क्रियाक्षेत्र, कोई-सा भी हो—चिंतन, कला अथवा शिल्प—वह व्यक्तिगत विशिष्टता वास्तविक और सुस्पष्ट तभी होगी जबकि अभिव्यक्ति के माध्यम पर पूर्ण अधिकार प्राप्त किया जा चुका हो। माध्यम केवल एक है : मातृभाषा। मनुष्य बचपन से ही मातृभाषा पर अधिकार प्राप्त करना शुरू करता है। प्रथम, इसी भाषा पर तकनीकी अधिकार प्राप्त किया जा सकता है। इसी भाषा में प्रथम व्यक्तिगत विशिष्टता

14. 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन रिपोर्ट', V, पृ० 30

अभिलक्षित होती है और तत्पश्चात् समुन्नत होती है ।[15]

कमिशन ने दोनों प्रकार की शैली (अर्थात् अनुकरणात्मक और सर्जनात्मक) को साधिकार प्राप्त करने का उपाय भी सुझाया । कमिशन ने कहा : सभी स्कूलों में विद्यार्थी एक माडल का अनुकरण करें । प्राध्यापक उस माडल की व्याख्या करें, यह आवश्यक है । मातृभाषा में यदि समझदारी से शिक्षा दी जाए तो असाधारण और साधारण सभी विद्यार्थियों को सिखाया जा सकता है कि माडल का चयन कैसे करें, और उनका अनुकरण कैसे करें ? मातृभाषा के प्रशिक्षण के दौरान आवश्यक है कि विद्यार्थी सुगम और सुपरिचित विषयों पर अपने निजी अनुभव के आधार पर लिखें । ये विषय ऐसे हों जिनके बारे में विद्यार्थी (अपने निजी अनुभव के कारण) अध्यापक तथा अपने सहपाठियों से अधिक जानता हो और उसी विषय-विशेष की वह अपने साथियों के सामने व्याख्या भी करे । इस प्रकार के प्रशिक्षण और अभ्यास से न केवल उसे प्रखर और सुनियोजित अभिव्यक्ति कला की ही ट्रेनिंग दी जा सकती है अपितु स्वयं-समालोचना और बौद्धिक निष्ठा की ओर भी अग्रसर किया जा सकता है । ऐसी ट्रेनिंग के बाद विद्यार्थी स्वयं से पूछे—'यह नहीं कि मेरे अध्यापक प्रसन्न हुए कि नहीं, बल्कि यह कि यह लेख मेरे अपने आदर्श के अनुरूप है या नहीं ।' और यह अपना आदर्श भी इतना ऊंचा हो जो अपने लिए ही एक चुनौती हो । इस प्रकार का शिक्षण आसान तो नहीं है क्योंकि अध्यापकों की ट्रेनिंग दूसरी पद्धति (अर्थात् अंग्रेजी पद्धति) से हुई है किंतु ट्रेनिंग कालेजों के द्वारा अध्यापकों को तैयार करके एक नई परंपरा का शुभारंभ किया जा सकता है और अवश्यमेव किया जाना चाहिए । यदि विद्यार्थियों को इस प्रकार की उत्कृष्ट शैली का अभ्यास हो तो उनकी विवेचन और विवेक शक्ति जागृत हो जाती है । फिर छपी हुई सामग्री उन पर जादू नहीं कर पाती क्योंकि उन्हें स्वयं असली और नकली का पता है, वे वास्तविक विषय और शैली को समझते है, विचार की भ्रांति और व्यवस्थिति को समझते हैं । अपने ही लेख के गुण और दोषों को समझने की क्षमता रखने के कारण वे दूसरे के लेखों के गुण और दोषों को भी समझ सकते है ।

कमिशन के सदस्यों को मालूम था कि बंगाली समाज चेतना और परंपरा की दृष्टि से भाषा और शैली-प्रेमी समाज था । किंतु उनके लिए यह खेद का विषय था कि फिर भी स्कूल शिक्षा में बंगाली या अंग्रेजी के वैज्ञानिक अध्ययन को कोई प्रोत्साहन नहीं दिया जा रहा था । इस बात का कोई संकेत भी नहीं मिल रहा था । कमिशन के मतानुसार वैज्ञानिक अध्ययन का अर्थ न केवल व्याकरण का अध्ययन था बल्कि शब्द-रचना, निबंध-रचना, शब्द-विन्यास, अर्थ-विज्ञान और शब्दार्थ-विकास का अध्ययन भी था । कमिशन का विचार था कि स्कूल के अध्यापकों को इन विषयों का ज्ञान होना चाहिए और ऊंची श्रेणियों में अधिकाधिक इनका प्रयोग होना चाहिए । कमिशन के प्रस्ताव के सत्तर वर्ष बाद भारतीय भाषाओं के अध्ययन-अध्यापन की आज की स्थिति को भी यदि हम देखें तो यही कहना होगा कि यह ऊंची उड़ान थी । मैट्रिक, इंटरमीडिएट या बी०ए० में आज भी इस स्तर की शिक्षा नहीं दी जा रही है । किंतु कमिशन

15. 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन रिपोर्ट', V, पृ० 29-31

ने बलपूर्वक यह कहा कि इसमें कोई विवाद है ही नहीं कि सेकेंडरी स्कूलों, इंटरमीडिएट कालेजों और यूनिवर्सिटी में भारतीय भाषा के गंभीर अध्ययन को आगे बढ़ाने के लिए योजनाबद्ध कार्यक्रम होना चाहिए । कुछ समय पूर्व ही कलकत्ता विश्वविद्यालय ने भारतीय भाषाओं के ऐतिहासिक तुलनात्मक और आलोचनात्मक अध्ययन की एम०ए० स्तरीय योजना बनाई थी । कमिशन ने उसकी सराहना की किंतु साथ में यह भी कह दिया कि यह योजना तो भवन का कलश है, भवन तो अभी बनना है जिसकी बुनियाद भी पक्की होनी चाहिए । जब बुनियाद, भवन और कलश तीनों पक्के और सुंदर होंगे तभी बंगाल को अपनी प्रतिभा, सभ्यता और संस्कृति के अनुरूप साहित्य मिल पाएगा ।[16] इसी कल्पना और योजना के अनुरूप कमिशन ने यह सुझाव दिया कि भारतीय भाषा अध्यापकों को भाषा के इतिहास, व्याकरण और अर्थ-विज्ञान में उचित ट्रेनिंग मिलनी चाहिए । यह भी सुझाव दिया गया कि जिन विषयों में स्कूल स्तर पर शिक्षा-माध्यम और परीक्षा-माध्यम ऐच्छिक है, अर्थात् अनिवार्य अंग्रेजी के स्थान पर भारतीय भाषा (बंगला) अथवा अंग्रेजी—उन विषयों में विद्यार्थी अपने चुनाव के अनुसार इनमें से किसी भी एक भाषा में लेक्चर-नोट्स ले लें ।

कमिशन के ये सारे विचार, मान्यताएं, टिप्पणियां इत्यादि शिक्षा सिद्धांत, मनोविज्ञान, मन, बुद्धि, व्यक्ति और समाज सभी के नैसर्गिक संबंध के अनुसार थे । कमिशन को अपने विचारों में ऐसा दृढ़ विश्वास था कि उन्होंने पूर्ववत् भारतीय भाषा की अवहेलना को देखकर सरकार और यूनिवर्सिटी पर भी टिप्पणियां कर दीं । उन्होंने जो देखा और जो टिप्पणियां दीं उनका सारांश इस प्रकार है :

1. **मैट्रिक परीक्षा :** विश्वविद्यालय के नियमानुसार भारतीय भाषा में प्रत्येक विद्यार्थी को निबंध-रचना की परीक्षा देनी होगी । इस संबंध में सिंडीकेट को यह काम सौंपा गया था कि बोर्ड आफ स्टडीज की सिफारिश के अनुसार कुछ उच्चस्तरीय पुस्तकें जो छः से अधिक न हों, आदर्श रूप में पढ़ने के लिए कोर्स में लगा दें । नियम तो अच्छा था किंतु इसको एक और नियम के कारण नकार दिया गया तो उन्हें पढ़ता कौन, और क्यों ?
2. **इंटरमीडिएट :** मैट्रिक सरीखे नियम ही इंटरमीडिएट परीक्षा के लिए बनाए हुए थे ।
3. **बी०ए० :** बी०ए० संबंधी नियमों में थोड़ा अंतर था । नियम यह था कि परीक्षा में विद्यार्थियों को पाठ्य पुस्तकों के विषय-वस्तु और निबंध-रचना शैली दोनों पर प्रश्नों के उत्तर देने होंगे, किंतु यह नियम भी एक दूसरे नियम से कट गया । कालेजों में अध्ययन-अध्यापन संबंधी नियम यह था कि भारतीय भाषा विषय पर लेक्चर नहीं दिए जाएंगे । देखना यह है कि प्रवचन ही यदि रोक दिया तो स्वाध्याय अकेला क्या करेगा और कौन करेगा ?

इन नियमों को देखकर कमिशन को यह कहना पड़ा कि यदि स्कूल और कालेजों में

16. 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन रिपोर्ट', V, पृ० 59-60

विद्यार्थी भारतीय भाषा के अध्ययन की ओर ध्यान नहीं देते तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। सरकार और विश्वविद्यालय दोनों की भारतीय भाषा-नीति की यह कड़ी आलोचना थी जिससे हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि कमिशन की अपनी प्रस्तावना तो विशेष रूप से सशक्त होगी, क्योंकि सिद्धांत रूप में कमिशन सब कुछ सही कह रहा था।

बस यहीं पहुंचकर निशाना लक्ष्य से चूक गया। क्रियात्मक स्तर पर आते ही सत्य सरस्वती को राजसरस्वती में परिणत कर दिया गया। राजरंग में रंगने के बाद सत्त्व-प्रकाश भी धूमिल हो जाता है। अंग्रेजी की छाया से कमिशन भी नहीं बच पाया, विद्यार्थी तो बचते कैसे ? कमिशन की सिफारिश इस प्रकार थी :

1. **मैट्रिकुलेशन** : अंग्रेजी का अतिशय प्रयोग रोक दिया जाना चाहिए। हमारा यह विचार है कि संभवतः यही अच्छा होगा कि नियम से सारे ही सेकंडरी स्कूलों में अंग्रेजी और गणित को छोड़कर शेष सभी विषयों में भारतीय भाषा माध्यम हो। अंग्रेजी विषय में जितना शीघ्र संभव हो सके अंग्रेजी ही माध्यम हो। यदि अंग्रेजी शिक्षण के लिए डायरेक्ट मैथड का प्रयोग किया जाए तो अंग्रेजी माध्यम अपने आप ही आसानी से आ जाएगा। डायरेक्ट मैथड संभव होगा या नहीं, यह सुयोग्य अध्यापकों की समुपलब्धि पर निर्भर करेगा। गणित के संबंध में हमारा विचार है कि ऊपर की चार कक्षाओं में अंग्रेजी माध्यम हो, सातवीं से प्रारंभ करके आहिस्ता-आहिस्ता केवल अंग्रेजी ही माध्यम रहे। हां, जहां भी अध्यापक को आवश्यकता दीखे वहां-वहां वह भारतीय भाषा में भी विषय की व्याख्या करे। अंग्रेजी माध्यम की सहायतार्थ भारतीय भाषा के प्रयोग पर कोई प्रतिबंध न हो। गणित के लिए अंग्रेजी माध्यम की आवश्यकता है, इसलिए नहीं कि विद्यार्थी गणित के माध्यम से अंग्रेजी सीखें बल्कि इसलिए है कि वे टेक्नीकल टर्म्ज का सीधा और अनायास प्रयोग सीख जाएं जिसकी आवश्यकता उन्हें आगे चलकर पड़ेगी। परीक्षा में अंग्रेजी और गणित को छोड़कर शेष सभी विषयों में परीक्षार्थियों को छूट होनी चाहिए कि वे अपने उत्तर अंग्रेजी में लिखें चाहे भारतीय भाषा में।
2. **इंटरमीडिएट** : इंटरमीडिएट परीक्षा अंतिम भी होगी और विश्वविद्यालय में प्रवेशार्थ (एंट्रेंस) भी होगी क्योंकि बहुत सारे विद्यार्थी इंटरमीडिएट परीक्षा के पश्चात् वाणिज्य, उद्योग, अध्यापन इत्यादि कामों में निकल जाएंगे। इंटरमीडिएट स्तर पर माध्यम अंग्रेजी ही रहना चाहिए। हम इस स्तर पर मातृभाषा के अध्ययन को जारी रखने के मार्मिक महत्त्व को समझते हैं। किंतु मुसलमानों के विचारों की आज की स्थिति को देखते हुए इस बात पर कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि बंगला-भाषी मुसलमान विद्यार्थी बंगला के स्थान पर उर्दू ले लें—यदि ऐसा करने में कोई अनिवार्यता न हो तो।
3. **बी०ए०** : सभी विषयों के लिए अंग्रेजी माध्यम होना चाहिए, केवल ऐसी भाषाओं को छोड़कर जैसे संस्कृत, पालि और भारतीय भाषाएं। संस्कृत इत्यादि विषयों में भी भारत के दूसरे भागों से आने वाले विद्यार्थियों के लिए एवं पश्चिम से आने वालों के लिए भी माध्यम अंग्रेजी ही होना चाहिए।

अंग्रेजी पढ़ाने के लिए फोनेटिक मैथड (अर्थात् उच्चरित रूप, लिखित के स्थान पर) का सुझाव दिया गया और इंटरमीडिएट और बी०ए० स्तर पर मौखिक परीक्षा का सुझाव भी दिया गया। इसके अतिरिक्त साहित्यिक अंग्रेजी और व्यावहारिक अंग्रेजी में अंतर समझकर उचित शैली से यथावश्यकता उसका अध्यापन करना चाहिए।[17]

इन सारे सुझावों के साथ-साथ और बंगला-भाषी लोगों के साहित्यिक स्वभाव को ध्यान में रखकर कमिशन ने यह सुझाव दिया कि बंगाल में द्विभाषी शिक्षा होनी चाहिए अर्थात् बंगला (भारती) और अंग्रेजी दोनों में मातृभाषा उन सुंदर और मधुर वस्तुओं के लिए जो बचपन से ही जीवन का अंग बनती हैं और काव्य और राष्ट्रीय भावना का प्राण और विषय-वस्तु बनती हैं, और अंग्रेजी साइंस, स्कालरशिप, और अंतर्देशीय तथा अंतर्राष्ट्रीय संपर्क और संचार के लिए। दोनों भाषाओं का अध्ययन क्रमानुसार होना चाहिए। अर्थात् स्कूल स्तर पर भारती (बंगला) और कालेज और विश्वविद्यालय स्तर पर अंग्रेजी का।[18]

भारतीय भाषा का विकास, मातृभाषा माध्यम से मानसिक विकास तथा इन्हीं के अनुरूप शिक्षा-माध्यम, इन विषयों पर कमिशन ने जो विचार, सुझाव या प्रस्ताव रखे उनसे स्थिति कितनी सुधरी ? वे पहले से कितने आगे चले ? और नहीं चले तो उसके क्या कारण हो सकते थे ?

भारतीय भाषा की वास्तविक स्थिति तो यह थी कि वे केवल पहली छः श्रेणियों में ही शिक्षा-माध्यम हो सकती थी। सातवीं कक्षा से अंग्रेजी और गणित में तो अंग्रेजी माध्यम होना ही था। और अंग्रेजी और गणित के अतिरिक्त अन्य विषयों में भारती/अंग्रेजी माध्यम परीक्षा के लिए ऐच्छिक था। जिसका अर्थ यह हुआ कि शिक्षण-माध्यम भी ऐच्छिक था। भारती माध्यम के अध्यापक भी मिलने आसान नहीं थे क्योंकि उनकी तो नई ट्रेनिंग की अपेक्षा की गई थी। जो अध्यापक थे वे दूसरी परंपरा अर्थात् अंग्रेजी परंपरा में बने थे। एक और विशेष बात यह थी कि यदि ये अध्यापक अंग्रेजी में पढ़ाते तो विद्यार्थी अपने नोट्स भारती (बंगला) में ले सकते थे, इस कारण वे यह नहीं कह सकते थे कि हमें बंगला में ही पढ़ाया जाए। और यदि कोई कहता भी कि बंगला में पढ़ाया जाए तो अंग्रेजी अथवा उर्दू की मांग करने वाले बहुत थे। इस खेंचातानी का परिणाम यही निकला कि माध्यम सातवीं से ऊपर अंग्रेजी ही रहा। ऐसा भी कोई नियम नहीं था कि छः श्रेणी तक भी भारतीय माध्यम आवश्यक हो। हम देख ही चुके हैं कि शिक्षकों, शिक्षाशास्त्रियों और अफसरों का मत तो यही था कि जितनी जल्दी हो सके अंग्रेजी प्रारंभ कर दी जाए। इन परिस्थितियों में अंग्रेजी और केवल अंग्रेजी जहां और जैसे भी थी वहीं और वैसे ही रही।

17. 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन रिपोर्ट', V, भाग 2, पृ० 344-45
18. वही, V, पृ० 27

कमिशन की सारी बातों पर ध्यान देने से यह भी पता चलता है कि उन्होंने भारती के पक्ष में जो भी बातें कहीं उनके लिए भी उन्हें सफाई देनी पड़ी। कमिशन का मत तो यह था कि भारती (बंगला) और अंग्रेजी भाषा में कोई विरोध नहीं किंतु उनकी सफाई को देखते हुए ऐसा लगता है कि वे सामयिक पालिटिक्स के दबाव में आकर ऐसा मानने ही लगे कि दोनों में विरोध है और विरोध की स्थिति में अंग्रेजी को बचाना आवश्यक है। यह तो हम देख ही चुके हैं कि कमिशन ने गणितेतर विषयों में अंग्रेजी को अनिवार्य परीक्षा-माध्यम बनाने से इनकार कर दिया था। किंतु इससे आगे जाकर कमिशन को यह कहना पड़ा कि भारती माध्यम के बावजूद अंग्रेजी के अध्ययन को कोई क्षति नहीं पहुंचेगी। कमिशन ने लिखा कि अंग्रेजी और गणित का माध्यम तो अंग्रेजी ही है। स्कूल समय के पांच-छः घंटों में से आधे समय में तो अंग्रेजी और गणित ही पढ़ाए जाते हैं। इसलिए स्कूल के आधे समय में तो अंग्रेजी ही प्रयोग की जाएगी। इस प्रकार जो भी परिवर्तन हमने प्रस्तावित किया है वह ऐसा आत्यंतिक नहीं है कि स्थिति उलट-पुलट ही हो जाए।[19] अन्य विषयों में भी पढ़ाया तो अंग्रेजी में ही जा रहा था। छूट थी तो नोट लेने की और परीक्षा-माध्यम की। वहां इस छूट का कोई लाभ था नहीं।

कमिशन ने यह सिफारिश की थी कि अध्यापकों को भारती माध्यम से पढ़ाने के लिए बाध्य नहीं किया जाना चाहिए, विशेषकर उस अवस्था में जबकि अध्यापक यह समझता है कि उसे अंग्रेजी पर अधिकार है और विद्यार्थी उसे ठीक-ठीक समझ पा रहे हैं।[20] क्योंकि अध्यापक अंग्रेजी परंपरा में ही तैयार हुए थे और अंग्रेजी प्रतिष्ठा-सूचक होने के कारण अधिकतम अपनाई जा रही थी, अंग्रेजी को छोड़कर मिली-जुली भारतीय भाषा में कोई भी पढ़ाने को तैयार नहीं होता था। इसके अतिरिक्त कमिशन ने एक परामर्शदाता के मत की ओर ध्यान दिलाते हुए यह प्रस्ताव किया कि यदि शिक्षण भारती (बंगला) माध्यम से हो रहा हो तो भी अंग्रेजी की पाठ्य-पुस्तकें प्रयोग की जाएं क्योंकि एक ही विषय पर दो पाठ्य-पुस्तकें, एक भारती (बंगला) में और दूसरी अंग्रेजी में, विद्यार्थी की सहायता करेंगी।[21] इस प्रकार भारती माध्यम, अध्यापकों और पुस्तकों को अंग्रेजी के साथ खुली प्रतियोगिता में डाल दिया गया। राजभाषा के सामने जनभाषा सफल हो नहीं सकती थी। कमिशन ने जो कुछ सिद्धांत रूप में कहा वह क्रियात्मक स्तर पर नकारा गया।

कमिशन ने कुछ दलीलें ऐसी भी दीं जो छोटी और लचर दीखती हैं। उदाहरण के तौर पर हम देखें कि जब उन्होंने गणित के लिए अंग्रेजी माध्यम की सिफारिश की तो कहा कि गणित में अंग्रेजी माध्यम अंग्रेजी भाषा के लिए नहीं बल्कि इसलिए प्रस्तावित किया गया है कि विद्यार्थी टेक्निकल टर्म्ज का प्रयोग सीख जाएं। साथ ही जब उन्होंने अंग्रेजी और भारतीय भाषा में पाठ्य पुस्तकों का प्रस्ताव किया तो यह कहा कि टेक्निकल टर्म्ज केवल अंग्रेजी में ही होंगी। उन्होंने यह भी माना कि यदि शिक्षण भारती में हुआ तो भी अंग्रेजी टर्म्ज का प्रयोग ही करना पड़ेगा। यदि अंग्रेजी की टर्म्ज का प्रयोग ही किया जाना था तो शिक्षण भारती में ही क्यों नहीं हो सकता

19, 20, 21. 'कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन रिपोर्ट', V, पृ० 34

था ? अंग्रेजी टर्म्ज को सिखाने के लिए सारे विषय को अंग्रेजी माध्यम से पढ़ाने की आवश्यकता नहीं थी, उन्हें भारती माध्यम से भी समझाया जा सकता था। गांव से दिल्ली या कलकत्ता पहुंचने के लिए लंदन जाकर नक्शा देखने की जरूरत क्यों ? इसलिए वास्तविक कारण यही लगता है कि कमिशन अंग्रेजी के प्रयोग को कम नहीं करना चाहता था।

इसके अतिरिक्त यदि हम कमिशन की कथनीय और करणीय बातों की ओर ध्यान दें तो दोनों की शैली का अंतर देखने से पता चलेगा कि कथनी की गंभीरता का अंशमात्र भी उनकी करनी में नहीं आ पाया। शिक्षण और शिक्षा-प्राप्ति की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया, शिक्षा-क्षेत्र में नैसर्गिक और पारंपरिक तथ्यों का महत्त्व, बंगला समाज का मानसिक और सांस्कृतिक जीवन, मातृभाषा का सारस्वत स्वरूप, मातृभाषा और शिक्षा का मनोवैज्ञानिक संबंध, ये सारी बातें तो सराहनीय रहीं। शिक्षा-क्षेत्र में अभी तक चलती आई सरकार की नीति, मातृभाषा की अवहेलना, अंग्रेजी माध्यम का प्राधान्य, इनकी आलोचना, यह भी साहस की बात थी। यह सब जानते-कहते हुए भी जब कुछ करने का समय आया तो कमिशन राजनीति की राजसिक जकड़न में फंस गया और सरस्वती को राजवेश के बंधन में बांधकर शिक्षा और भाषा दोनों को पोलिटिकल रूप दे दिया। शिक्षा और भाषा दोनों का पोलिटिकल रूप तो पहले भी था किंतु पहले तो ऐसा सरकार और साम्राज्य के अंग्रेजी आधार पर था। अब सरकारी और साम्राज्यीय नीति ने ही सामाजिक और भारतीय रूप ले लिया। इसी सामाजिक-राजनीतिक आधार पर शिक्षा 'शिक्षावाद' बन गई और भाषा 'भाषावाद' बन गई। ऐसा न होता तो बंगाल में उर्दू की मांग और बंगला का हिंदू और मुस्लिम-बंगला के रूप में बंटवारा कैसे होता ? हाई स्कूल संबंधी शिक्षाभाषा-नीति से ऊपर इंटरमीडिएट और बी०ए०. में तो स्थिति यथापूर्व ही रही।

कुल मिलाकर कोई अंतर नहीं पड़ा। केवल सामाजिक शक्तियां अंग्रेजी के पक्ष में और भारती के विरोध में औपचारिक रूप से उभर आईं। द्विभाषिक नीति कितनी सफल हो सकती थी यह भी सोचने की बात है : बंगला को केवल स्कूल की पहली छः कक्षाओं तक सीमित कर दिया गया। छठी से ऊपर अंग्रेजी और गणित विषयों में तो अंग्रेजी माध्यम रखा जाना ही था, केवल अन्य विषयों में ऐच्छिक रूप में बंगला हो सकती थी। अध्यापकों को अंग्रेजी में लेक्चर देने की छूट थी। अंग्रेजी के प्रतिपक्ष में बंगला को ऐच्छिक रूप में कौन अपनाता ? स्कूल में अंग्रेजी की ही प्रधानता बनी रही। कालेज और यूनिवर्सिटी में अंग्रेजी माध्यम था ही। तो बंगला या किसी भी भारतीय भाषा का विकास कैसे होता ? स्कूलों में छोटे स्तर पर कहां व्याकरण, कहां भाषा-विकास का इतिहास, कहां अर्थ-विज्ञान और शब्द-विन्यास ? कमिशन की ओर से ये सारी बातें केवल वैचारिक स्तर पर भारतीय विकास और अध्ययन संबंधी विषयों पर शिक्षाशास्त्रियों का पथ-प्रदर्शन करने के लिए तो सराहनीय थीं किंतु इनके कार्यान्वित होने का तो अवसर रहा ही नहीं। वैचारिक स्तर पर तो इन सब बातों की आज भी आवश्यकता है क्योंकि कालेज स्तर पर आज भी साधारण भारतीय भाषाओं का अध्ययन या प्रयोग अंग्रेजी को कोई चुनौती नहीं दे पा रहा। केवल विचारों से उस समय बंगला अथवा किसी और भारतीय भाषा की सेवा नहीं हो

सकती थी। बंगला केवल घर की भाषा या प्राइवेट प्रयोग की भाषा ही बनी रही और स्कूल में केवल प्राकृत स्तर तक सीमित रह गई। अनुकरण और सर्जन दूर ही रह गए।

अंग्रेजी के अध्ययन के संबंध में एक बात विशेष तौर पर कही गई जो कि प्रारंभ से मानी तो गई थी किंतु इस संबंध में कुछ किया नहीं गया था। साहित्यिक अंग्रेजी को साइंस, उद्योग, वाणिज्य और प्रशासन संबंधी अंग्रेजी से भिन्न महत्त्व दिया गया। यह प्रस्ताव भी किया गया कि शिक्षा-प्रक्रिया में यथावश्यकता साहित्यिक और प्रायोगिक अंग्रेजी को अलग-अलग रखा जाए और पढ़ाया जाए। वास्तव में क्लास में ऐसा किया गया या नहीं यह भी देखने की बात है। ऐसा नहीं हुआ, क्योंकि अंग्रेजी पाठ्यक्रम सभी जगह साहित्य प्रधान ही रहा और आज भी है।

कमिशन की भारतीय भाषा संबंधी कल्पना और विचारों को वास्तविक रूप क्या दिया गया ? 1924 में इंडियन यूनिवर्सिटीज कान्फ्रेंस हुई। बनारस हिंदू यूनिवर्सिटी के प्रोफेसर ध्रुव (जो संस्कृत के प्रोफेसर थे) ने विश्वविद्यालयों में भारतीय भाषाओं के विकास और अध्ययन संबंधी एक प्रस्ताव सम्मेलन के सामने रखा। प्रस्ताव था कि इस सम्मेलन के मत में :

1. मैट्रिक परीक्षा, इंटरमीडिएट परीक्षा (कला तथा साइंस) और बी०ए० तथा बी०एस-सी० परीक्षाओं में किसी एक भारतीय भाषा में निबंध-रचना को अनिवार्य विषय बनाया जाए।
2. एक भारतीय भाषा और साहित्य को इंटरमीडिएट आर्ट्स, बी०ए० आर्ट्स और एम०ए० आर्ट्स परीक्षाओं में ऐच्छिक विषय के रूप में लागू किया जाए।

प्रोफेसर ध्रुव ने भारतीय भाषाओं के पक्ष में वही तर्क पेश किया जो कि कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन पेश कर चुका था। प्रोफेसर ध्रुव ने कहा कि भारतीय विद्यार्थियों की शिक्षा भारतीय भाषा के साधिकार अध्ययन के बिना ऐसी रह गई है जैसे ऊसर भूमि। वह स्थिति भारतीय भाषाओं के माध्यम से सुधर सकेगी। इसके अतिरिक्त भारतीय भाषाओं के क्षेत्र में साहित्यिक और वैज्ञानिक अध्ययन और अनुसंधान का भी बहुत अवसर मिला करेगा। किंतु सम्मेलन के एक सदस्य मिस्टर डी० मैक्फेल ने एक संशोधन पेश किया। उन्होंने कहा कि यूनिवर्सिटी स्तर पर बी०ए० तथा बी०एस-सी० परीक्षाओं में विषय-चयन में विद्यार्थी को स्वतंत्रता होनी चाहिए। उसे कोई भी विषय लेने के लिए बाध्य नहीं करना चाहिए। संशोधन स्वीकार कर लिया गया और स्वतंत्रता सिद्धांत के नए आधार पर भारतीय भाषा फिर पीछे रह गई। मातृभाषा, मानसिक विकास इत्यादि सब बातें धरी रह गईं। शिक्षा-भाषा पालिटिक्स में स्वतंत्रता सिद्धांत और जुड़ गया, एक ऐसा नया सिद्धांत जो प्रत्यक्ष परतंत्रता की मजबूरियों में जकड़ा हुआ था।

स्कूल स्तर पर अंग्रेजी, विज्ञान और गणित को छोड़कर अन्य विषयों में भारतीय भाषाओं को ऐच्छिक रूप में माध्यम बनाने का सिद्धांत 1921 से लेकर 1937 तक सोलह वर्ष में कहीं-कहीं माना गया। इन मान्यताओं का अध्ययन करने से भी पारस्परिक भाषा-विवाद और

विवादजनित अंग्रेजी भाषा का प्राधान्य ही दीखता है। उदाहरणार्थ, मध्यवर्ती सूबों को ही लें। वहां 1922-23 में सारे सरकारी स्कूलों में भारतीय भाषाओं को अनिवार्य रूप में शिक्षा-माध्यम बना दिया गया और सरकारेतर स्कूलों में ऐच्छिक आधार पर। किंतु वहां पर अल्पसंख्यकों का राजनीतिक प्रश्न खड़ा हो गया। अतः तीन भाषाओं को माध्यम मानना पड़ा—हिंदी, मराठी और उर्दू। किंतु वित्तीय कारणों से तीन भाषाएं नहीं चलाई जा सकीं। अतः यह मांग की गई कि सरकार या तो अल्पसंख्यक भाषा को माध्यम रखे या एक सेक्शन अंग्रेजी माध्यम का अवश्य रखा जाए। अतः साधारण तौर पर इलाके की प्रचलित भाषा को माध्यम बनाया गया किंतु मांग के अनुसार अंग्रेजी सेक्शन भी रखना ही पड़ा। देखना यह है कि राजनीति के आधार पर अल्पसंख्यक भाषा अर्थात् उर्दू का विकल्प हिंदी या मराठी नहीं माना गया, पर अंग्रेजी मान लिया गया।

उत्तर प्रदेश में इस विषय में जो गतिविधियां हुईं वे रोचक भी थीं और दिशा-निदेशक भी। आज भी उनकी उपयोगिता है। उत्तर प्रदेश में हिंदी और उर्दू दोनों भाषाएं प्रचलित थीं। वहां पर भाषा की अपेक्षा लिपि का प्रश्न अधिक उभरकर सामने आ रहा था। वहां पर शिक्षा विभाग की ओर से एक आदेश जारी किया गया कि शिक्षा-माध्यम के तौर पर ऐसी भाषा का प्रयोग किया जाए जिसे हिंदी और उर्दू बोलने वाले सभी विद्यार्थी समझ लें। जब इस आदेश को कार्यान्वित किया गया तो लिपि की समस्या आई। अतः श्यामपट्ट पर काम उर्दू और देवनागरी दोनों लिपियों में करना पड़ा अथवा रोमन में करना पड़ा। शिक्षा-निदेशक महोदय की रिपोर्ट के अनुसार उत्तर प्रदेश में एक मिली-जुली जानदार भाषा का उदय होने लगा था जो संस्कृतनिष्ठ हिंदी तथा फारसीनिष्ठ उर्दू से हटकर जनमानस के निकट थी।[22] देखना यह है कि बंगाल में 'संस्कृतनिष्ठ हिंदू बंगला' और 'फारसीनिष्ठ मुस्लिम बंगला के स्थान पर अंग्रेजी ही खड़ी रही, किंतु उत्तर प्रदेश में एक मिली-जुली भाषा उभरने तो लगी। इसी भाषा को आगे चलकर हिंदुस्तानी का नाम दिया गया—पर वह लिपि सामान्य न होने के कारण हिंदी और उर्दू दोनों का स्थान नहीं ले सकी। ऐसी भाषा पहले खिचड़ी भाषा कहलाती है किंतु आहिस्ता-आहिस्ता मान्य हो जाती है। पर राजनीति और अंग्रेजी के रहते-रहते यह हिंदी-उर्दू समन्वय नहीं हो पाया। वही प्रश्न आज भी खड़ा है। भाषा-राजनीति भी ज्यों की त्यों है।

मद्रास में 1925 में सरकारी स्कूलों में भारतीय भाषाओं को शिक्षा-माध्यम माना गया पर भाषेतर विषयों में, और 1929 तक करीब 20 प्रतिशत स्कूलों में भारती माध्यम लागू हो गया। 1926 में बंबई में एस०एल०सी० और तत्पश्चात् मैट्रिक में इतिहास और प्राचीन भाषाओं में मराठी, गुजराती, कन्नड, उर्दू और सिंधी को माध्यम बनाया गया, किंतु अधिकतर स्कूल फिर भी 1929 तक अंग्रेजी का ही प्रयोग करते रहे। 1937 में इतिहास, भूगोल और प्राचीन भाषाओं में भारती माध्यम हो गया। बंगाल में 1930 में भाषा विषय में भारती माध्यम

22. डी०पी०आई० की रिपोर्ट (यू०पी०) 1927, पृ० 42, दे० नूरुल्ला और नायक, 'ए हिस्ट्री आफ एज्यूकेशन इन इंडिया', पृ० 652

माना गया किंतु 1937 तक अंग्रेजी ही चलता रहा । हां, क्लास-रूम में अंग्रेजी और बंगला मिली-जुली भाषा का प्रयोग किया जा रहा था ।[23]

भारतीय भाषाओं के ऐच्छिक रूप में इतिहास, भूगोल तथा भाषा विषयों में शिक्षा-माध्यम मान लिए जाने पर भी मुख्य माध्यम के रूप में अंग्रेजी चलती रही, क्योंकि कारण तो भाषा पॉलिटिक्स के माध्यम से सामाजिक और सरकारी स्तर पर सामने आ ही चुके थे । जिन प्रदेशों में एक से अधिक भाषाएं प्रचलित थीं वहां राजनीतिक, सांप्रदायिक अथवा व्यावसायिक कारणों से अंग्रेजी चलती ही रही । अंग्रेजी और गणित विषय में तो अंग्रेजी माध्यम था ही, औरों में भी भारतीय भाषाओं के साथ-साथ चलता रहा । पुराने कारण भी चलते रहे : भारतीय पाठ्य पुस्तकों, टेक्नीकल टर्म्ज और अध्यापकों की कमी, ये सभी समस्याएं बनी रहीं । यूनिवर्सिटी में शिक्षा-माध्यम था अंग्रेजी, सरकारी नौकरियों के लिए प्रतियोगिता की भाषा भी अंग्रेजी ही थी, और डिग्री जीवन का प्रवेश-द्वार बन चुकी थी । हाई स्कूल परीक्षा ही यूनिवर्सिटी और छोटी नौकरी का खुला द्वार था और अंग्रेजी राजसरस्वती की नई वाणी । राजशिक्षा और राजभाषा दोनों ही राजरथ के साथ चलते रहे । बच्चे और उनके माता-पिता राजमंदिर के सामने कोई भी बलि देने को तैयार खड़े रहे—जिज्ञासा थी केवल राज-प्रतिष्ठा की ।[24]

23. पंचवर्षीय रिव्यू (1932–37), I, पृ० 98
24. वही, पृ० 3

24
प्रकृति और प्रतिशोध

सरस्वती सहज प्रकृति का उदात्त और सांस्कृतिक रूप है । उसकी आराधना न चपलता से हो सकती है, न मात्र वात्सल्य से, न नीति से; केवल विवेक और तपस् साधना से हो सकती है । वह राजवेश में कभी आ ही नहीं सकती । राजवेश खिलवाड़ है और प्रकृति खिलवाड़ को सहन नहीं करती । भारत में अंग्रेजी शिक्षा क्षेत्र में प्रकृति, परंपरा और परिवेश के बीच जनमानस की सहज प्रक्रियाओं के साथ जो खींचतान की गई, प्रकृति को उसका प्रतिशोध तो लेना ही था । इंडियन स्टैच्युटरी कमिशन (जिसे साइमन कमिशन भी कहा जाता है) ने जब शिक्षा-स्थिति का लेखा-जोखा लिया तो शिक्षा-नीति, साधन, साध्य और उपलब्धियों को देखकर उसे कहना पड़ा : "यदि देश की सामाजिक और आर्थिक परंपरा की सीमाओं के साथ खिलवाड़ करोगे तो प्रमाद के फलस्वरूप प्रतिशोध भी झेलना पड़ेगा ।"[1]

प्रकृति गतिशील है, स्थितिशील भी है, और गति और स्थिति दोनों के संतुलन का नाम व्यवस्थिति है । समाज भी गतिशील और स्थितिशील है और इन दोनों का सामंजस्य ही व्यवस्थिति है । केवल स्थितिशील समाज निष्प्राण हो जाता है । प्रकृति अपना प्रतिशोध लेती है और समाज को नियति या क्रांति में से एक का सामना करना पड़ता है । भारत ने अंग्रेजी राज के रूप में नियति का सामना किया, फ्रांस, रूस और चीन ने क्रांति का । किंतु नियति/क्रांति के पश्चात् व्यवस्थिति की ओर तो आना ही पड़ता है । पाश्चात्य समाज अतिशय गतिशील रहा है । उसे भी प्रतिशोध का सामना करना पड़ा है और वह व्यवस्थिति की खोज में है । यू०एन०ओ० (संयुक्त राष्ट्र संघ) उसी खोज का प्रतीक है । व्यवस्थिति को आगे ले जाना अर्थात् गति और स्थिति का संतुलन रखते हुए आगे चलना ही प्रगति है ।

प्रगति की इस संजीवनशील प्रक्रिया को व्यक्ति के मानसिक स्तर पर उतारें तो प्रगति का सीधा संबंध शिक्षा और भाषा से जुड़ता है । मनुष्य का जीवन मात्र शारीरिक जीवन ही नहीं है, वह मानसिक और बौद्धिक भी है । मन गतिशील है और बुद्धि विवेकशील है । विवेक मन को दिशा और स्थिति दोनों देता है । व्यक्ति का जीवन सामाजिक भी है । समाज को भी गति और विवेक दोनों चाहिए । इन्हीं से समाज को प्रगति प्राप्त होती है अन्यथा उसकी व्यवस्थिति भी

1. 'इंडियन स्टैच्युटरी कमिशन रिपोर्ट' (लंदन, हिज मैजस्टीज स्टेशनरी आफिस, 1930), I, पृ० 392

बिगड़ जाती है । शिक्षा ही व्यक्ति और समाज के मानसिक और बौद्धिक जीवन को प्रकृष्ट और उत्कृष्ट बनाती है और समाज की प्रगति को दिशा और विवेक प्रदान करती है । प्रगति की इसी विवेकशील दिशा का नाम योजना और विकास है । किंतु सामाजिक प्रक्रिया होने के नाते स्वयं शिक्षा को भी गति और स्थिति दोनों के संतुलन की अपेक्षा है । सामाजिक प्रक्रिया होने के नाते शिक्षा प्रकृति, परंपरा और परिवेश के संदर्भ में ही संपन्न होती है । अतएव शिक्षा की प्रगति और समाज की व्यवस्थिति इन दोनों का प्राण और आत्मा का-सा संबंध है । जो भी शिक्षा पद्धति समाज की प्रकृति, परंपरा और परिवेश की अवहेलना करेगी अथवा उसी व्यवस्थिति में निहित गति-संतुलन की सीमाओं का आदर नहीं करेगी वह कभी सफल नहीं हो सकेगी । साइमन कमिशन के मतानुसार अंग्रेजी शिक्षा पद्धति ने भारत के आधारभूत मूल्यों का और उसकी परंपरा और सामाजिक प्रतिमानों का आदर नहीं किया । इसी कारण उसके उद्देश्य और लक्ष्य दोनों ही पूरे नहीं हुए । प्रकृति में तो लेखा-जोखा पूरा रहता है, कोई हिसाब उधार नहीं रहता ।

अंग्रेजी-शिक्षा-क्षेत्र में प्रकृति और परंपरा की इस प्रतिक्रिया को समझने के लिए दो और बातों का समझना आवश्यक है : एक व्यक्ति और समाज का संबंध और दूसरा समाज और सरकार का संबंध ।

व्यक्ति और समाज का संबंध वैसा ही है जैसा सुर और संगीत का या जैसा तार या वीणा का । सुरों की संगति संगीत है, व्यक्तियों की संगति समाज है । सारे सुरों से मिलकर राग बनता है जिसमें ऊंचे और नीचे, सभी सुर सार्थक हैं । सुर एक भी बिगड़ जाएगा तो संगीत की व्यवस्थिति बिगड़ जाएगी । राग नहीं बना तो कोई भी सुर सार्थक नहीं होगा । सुर के बिना राग नहीं और राग के बिना सुर नहीं । इसी प्रकार व्यक्तियों की संगति के बिना समाज नहीं और समाज के बिना व्यक्ति नहीं ।

सुर यों तो सात माने गए हैं किंतु इससे आगे प्रत्येक सुर के अनेक प्रवर्तन हैं । उन सभी प्रवर्तनों की सिद्धि के लिए सुर को साधना पड़ता है और उसे साधकर राग में संजोना पड़ता है । सुर को साधने के लिए मन और वीणा को साधना पड़ता है । तारों की संगति वीणा है । तारों के बिना वीणा नहीं और वीणा के बिना तार का अर्थ नहीं । तारों की संगति में संगीत निहित है जिसे जगाने के लिए कलाकार की प्रेरणा झंकार आवश्यक है । किंतु संगीत शक्ति को जगाने के लिए प्रत्येक तार में इष्टतम तनाव आवश्यक है । तनाव कम या अधिक होने पर सुर नहीं निकलता, न राग की रचना होती । समाज में भी शक्ति वैसे ही निहित होती है जैसे वीणा में संगीत किंतु उसी शक्ति को जगाने के लिए यह आवश्यक है कि समाज का प्रत्येक सदस्य इष्टतम तनावपूर्ण हो अर्थात् सप्राण हो । व्यक्ति और समाज दोनों की प्राणदा प्रेरणा और प्रक्रिया शिक्षा ही है । शिक्षा से ही दोनों की शक्ति साधना होती है । जैसे कलाकार, वीणा और संगीत इन तीनों के बीच सामंजस्य होता है वैसे ही शिक्षक (शिक्षा पद्धति), समाज और समाज शक्ति-प्रगति में भी सामंजस्य होना चाहिए । सामंजस्य अर्थात् संगति के बिना न संगीत है, न शक्ति न प्रगति ।

शिक्षा व्यवस्था समाज व्यवस्था का ही अंग है । सरकार भी समाज व्यवस्था का ही अंग

है । सरकार होने के नाते उसे सारी समाज व्यवस्था (एवं शिक्षा व्यवस्था) का सन्नियोजन और संचालन करना पड़ता है । इसी कारण शिक्षा व्यवस्था, सरकार व्यवस्था और समाज व्यवस्था इन तीनों में संगति होना अत्यंतावश्यक है । तालमेल बिगड़ने पर संव्यवस्था बिगड़ जाती है । इस संगति में शिक्षा द्विपक्षीय प्रक्रिया है : एक सामयिक और दूसरे पारस्परिक । सामयिक स्तर पर समाज और सरकार, परिवेश और सामयिक मूल्यों/आवश्यकताओं से इसका सामंजस्य आवश्यक है । पारंपरिक स्तर पर समाज के इतिहास-पुराण, साहित्य और सनातन मूल्यों और शाश्वत प्रतिमानों से तालमेल आवश्यक है । संक्षेप में हम यह कह सकते है कि शिक्षा का तालमेल सामूहिक रूप से यदि सरकार, समाज व्यवस्था, परंपरा और परिवेश, अतीत के आधारस्तंभ, वर्तमान की आवश्यकता और भावी दिशा से नहीं होगा तो समाज की अंतर्निहित प्राकृत शक्ति से प्रेरित सांस्कृतिक उन्नति नहीं होगी, न आर्थिक प्रगति होगी, न सामाजिक । प्रकृति कभी निष्प्राण स्थिति को सहन नहीं करती, खड़ा पानी तो सड़ेगा ही । खड़े समुद्र में तूफान भी आ सकता है । शिक्षा समाज और सरकार का संतुलन बिगड़ना भी एक प्रतिक्रिया हो सकती है । तीनों की तीन दिशाएं भी हो सकती हैं और तीनों खड़े के खड़े ही रह जाएं तो भी आश्चर्य नहीं ।

भारत में जब से अंग्रेजी शिक्षा का संकल्प किया गया या शिक्षा प्रक्रिया का प्रारंभ किया गया तभी से शिक्षा समाज और सरकार में सामंजस्य नहीं रहा । भारत की परंपरा, इतिहास, मूल्यों और प्रतिमानों का आदर किया ही नहीं गया । यदि वर्तमान दशा की ओर कभी ध्यान दिया गया तो ब्रिटेन और सरकार की वर्तमान और भावी आवश्यकताओं को देखकर उन्हीं की पूर्ति का आयोजन किया गया और शिक्षा को मात्र एक सरकारी उपकरण मानकर राजसेवा में जोड़ दिया गया । स्थिति बिगड़ गई । प्रगति हुई नहीं और व्यवस्थिति भी नहीं आई । प्रकृति के स्थान पर विकृति आ गई और उसके आने पर संस्कृति का ह्रास हुआ । जीवन में समता के स्थान पर विषमता आ गई ।

शिक्षा का उद्देश्य प्रारंभ से कहने को तो भारत का मानसिक (बौद्धिक), सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक विकास ही था किंतु हम देख चुके हैं कि इस विकास की दिशा केवल ब्रिटेन की ओर थी । आर्थिक स्तर पर ग्रांट, मकाले और शिक्षा भारती परिपत्र (1854) के समय भारत को कच्चे माल की उपज और पक्के माल की खपत का विशाल क्षेत्र ही माना गया था । सांस्कृतिक स्तर पर पहले तो धर्म-परिवर्तन और बाद में शिक्षा-परिवर्तन, अंग्रेजीकरण और सभ्यता-परिवर्तन । सामाजिक और राजनीतिक स्तर पर राजभक्ति और मानसिक स्तर पर ब्रिटिश प्रतिमानों का अनुकरण । शिक्षा को राजसेवा, राजप्रतिष्ठा और साम्राज्य-विस्तार योजना का अंग मान लिया गया । जब यह आपत्ति की गई कि अंग्रेजी शिक्षा से भारतीयों की प्रगति राजसेवा की दिशा में नहीं बल्कि राजद्रोह की दिशा में स्वतंत्रता-प्राप्ति के उद्देश्य से होगी तो या तो इस संभावना को नकार दिया गया या यह कह दिया गया कि यथासमय ऐसी मांग आने पर ब्रिटेन के अंग्रेजीविद् उत्तराधिकारी तैयार हो चुके होंगे जिनको सत्ता सौंपकर ब्रिटेन उन्हीं से हर क्षेत्र में स्थायी सहयोग की आशा तो कर ही सकेगा । इन्हीं उत्तराधिकारियों को आगे बढ़ाने के लिए

मित्रभेद के मूलमंत्र का सहारा लिया गया था ।

इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना के बाद ब्रिटिश सत्ता परेशान होने लगी थी । परेशान तो वह प्रारंभ से ही थी, विशेषकर 1857 के पश्चात्, किंतु शताब्दी के मोड़ पर तो परेशानी बहुत ही बढ़ गई थी । लार्ड कर्ज़न की निराशा और क्षोभ हम देख चुके हैं । चार्ल्स ट्रेवेल्यन ने कल्पना की थी कि एक देश की राजनीतिक शिक्षा में समय लगता है और जैसे-जैसे यह शिक्षा भारत में काम करेगी हम निश्चिंत होते चले जाएंगे । यह 1838 में कहा गया था ।[2] जब राजनीतिक पासा उलटा पड़ता दीखा तो मानसिक परिवर्तन का सहारा लिया गया । किंतु 1882 से 1919 तक शिक्षा-प्रक्रिया का पर्यवेक्षण करने के बाद जब शिक्षा व्यापार केवल भूसा बाजार के रूप में दीखा तो मानसिक विकासार्थ भारतीय माध्यम की ओर बार-बार ध्यान दिया गया । कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन ने द्विभाषी शिक्षा पद्धति का सुझाव दिया : भावना की अभिव्यक्ति और काव्य की समृद्धि के लिए भारती (बंगला) और बुद्धि के विकास एवं राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय संपर्क के लिए अंग्रेजी । 1814 में तो भावनात्मक और काव्यात्मक अभिव्यक्ति के लिए देशीय भाषाओं को माध्यम बनाने का सुझाव देने पर गवर्नर-जनरल की शिक्षा समिति को डांट पड़ी थी । अब 1919 में विवश होकर यह सुझाव सामने लाना पड़ा । किंतु ध्यान देने पर पता चलेगा कि बल वास्तव में बंगला पर नहीं, अंग्रेजी और अंग्रेज़ी के माध्यम से राजसेवार्थ मानसिक परिवर्तन पर ही था ।

बुद्धि-विकास का उद्देश्य 1924 में भी राजसेवा और साम्राज्य-विस्तार ही रहा । शिमला में आयोजित कान्फ्रेंस आफ इंडियन यूनिवर्सिटीज़ के सामने वाइसराय महोदय ने कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन को साधुवाद देते समय कहा था : यदि मुझसे पूछा जाए कि विश्वविद्यालय भारत की सबसे बड़ी सेवा क्या कर सकते हैं तो मैं निस्संदेह यही उत्तर दूंगा कि वे बुद्धि के साम्राज्य को इतना विकसित कर दें कि वह (बुद्धि-विकास) भारतीय साम्राज्य के समसीम हो जाए । आगे उन्होंने कहा कि यह जानी-मानी बात है कि यूनिवर्सिटी शिक्षा के फलस्वरूप एक व्यक्ति को अपनी योग्यता के अनुसार तथ्यों की जांच करके अपनी बुद्धि का प्रयोग करने और संतुलित निर्णय लेने की क्षमता प्राप्त होनी चाहिए । इस प्रकार बुद्धि का प्रकाश तो राज दिशा में ही अपेक्षित रहा, साथ में भावना को बुद्धि से अलग ही माना गया । उन्होंने भावना, चेतना और भाव-तरंग की बात भी कही । उन्होंने कहा कि इन सबका महत्त्व है और ये मनुष्य के जीवन में कभी-कभी क्षणिक उज्ज्वलता भी ले आते है किंतु ये बुद्धि के उदात्त समरस और स्थायी प्रकाश की बराबरी तो नहीं कर सकते । वे कभी-कभी आवेग और आंतरिक चेतना के रूप में दैवी प्रेरणा से छटकते है किंतु है तो टूटे तारे की तरह—संदिग्ध प्रकाश, विषम गति और दिशाभ्रांत । यूनिवर्सिटी का ही यह विशिष्ट दायित्व है कि स्नातकों को निश्चित और दिशासूचक बुद्धि का प्रकाश प्रदान करे ।[3] दो रास्ते सामने रखे गए : एक विषम और संदिग्ध, दूसरा पक्का और

2. 'एज्यूकेशन आफ दि पीपल् आफ इंडिया', पृ० 194-95
3. देखिए : 'ब्यूरो आफ एज्यूकेशन', पत्रिका सं० 18, पृ० 4

निर्दिष्ट, साम्राज्य का समवर्ती और समसीम । भावना देसी, बुद्धि अंग्रेजी, दिशा ब्रिटिश ।

जो बात वाइसराय महोदय ने 1924 में कही, वही लार्ड कर्ज़न बीस वर्ष पहले कह चुके थे और वही सौ वर्ष पहले से कही जा रही थी । यह बात महाराजाधिराज जॉर्ज पंचम ने 1911 में कलकत्ता यूनिवर्सिटी के समक्ष कही और उन्हीं की बात को साइमन कमिशन की शिक्षा-विषयक सहायक समिति ने 1929 में दुहराया । सम्राट ने कहा था : मेरी इच्छा यह है कि इस देश में स्कूलों और कालेजों का जाल बिछा दिया जाए जिनमें से राजभक्त (लायल), बहादुर और कामदार नागरिक निकलें जो कृषि, उद्योग और दूसरे सभी क्षेत्रों में अपना स्थान बना सकें । हमारी यह भी इच्छा है कि हमारी भारतीय प्रजा के घरों में ज्ञान के दीप जलें, उनके परिश्रम का फल मीठा हो, उनके विचार का स्तर ऊंचा हो, वे स्वस्थ हों और आराम से रहें । हमारी यह इच्छा शिक्षा से ही पूरी हो सकती है ।[4] सम्राट से लेकर शिक्षा-निदेशकों तक केवल एक ही चिंता : राजभक्ति, राजसेवा, दिशा-निर्देश ।

शिक्षा को जब राजसेवा की दिशा में नियोजित किया गया था तो एक संभावना को दृष्टि में रख के किया गया था : नियति को यदि यही अभीष्ट है कि ब्रिटिश शासन भारत छोड़कर वापस लौट जाए तो उस दिन का सामना कैसे किया जाए ? चार्ल्स ग्रांट ने तो कहा था कि यदि यह प्रश्न किसी दिन खड़ा हो ही गया तो राज की अपेक्षा हमें शिक्षा को ही चुनना होगा क्योंकि ऐसा करना ही हमारे लिए श्रेयस्कर होगा । उनके शिष्य लार्ड मकाले ने उनके सपनों के अनुरूप शिक्षा की रूपरेखा तैयार कर दी और संभाव्य विदाई के समय के लिए उत्तराधिकारियों के सांस्कृतिक परिवर्तन की योजना भी बना दी ताकि वे ब्रिटिश परंपरा को जारी रख सकें । सभ्यता-परिवर्तन के माध्यम से पक्के माल की खपत का आयोजन भी कर लिया । बाद में सत्ता और नीति के सहारे भारत के घरेलू उद्योगों को ब्रिटिश कारखानों के मुकाबले में समाप्त ही कर दिया गया । अतः भारतीय समाज को आर्थिक और सामाजिक तौर पर दो वर्गों में बांटने की योजना बनती रही : एक प्रशासक और दूसरा शासित वर्ग । एक ब्रिटिश दिशा में सोचने वाला और दूसरा शेक्सपियर के नाटक 'ऐज़ यू लाइक इट' के पात्र कोरिन जैसा देहाती वर्ग जो केवल अपने परिवेश में सीमित रह कर इतना जाने कि सूर्य निकलता है तो गर्मी आती है और बादल आते हैं तो वर्षा हो सकती है । लार्ड कर्ज़न ऐसे किसान से सहानुभूति रखते थे और नए शिक्षित नेतागण से चिढ़ते थे । वे कहते थे कि इन नौजवानों का दिमाग घूम गया है । इसी कारण लार्ड कर्ज़न ने एक सहज सामाजिक प्रतिक्रांति की योजना बनाने का प्रयास किया था । इसी प्रतिक्रांति के लिए भारती माध्यम से प्रारंभिक शिक्षा और अंग्रेजी माध्यम से उच्च शिक्षा का कायाकल्प करने की चेष्टा की गई । कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन ने अंग्रेजी माध्यम को विफल माना और भारती माध्यम को सफल माना किंतु राजनीतिक हवा में सांस लेने के कारण भारती और अंग्रेजी के माध्यम से आर्थिक-सामाजिक विभाजन को कायम रखते हुए एक मानसिक विभाजन का सुझाव भी दे दिया । उन्होंने द्विभाषा फार्मूला दिया : भारती और अंग्रेजी, भावना-विकास का माध्यम

4. उद्धृत : 'आग्ज़िलियरी कमिटी रिपोर्ट', पृ० 15

भारती, विचार-विकास का माध्यम अंग्रेजी । राजनीतिक स्तर पर अंग्रेजीविद् वर्ग की वैचारिक और सांस्कृतिक आधार पर देश की एकता का संकेत भी कर दिया । व्यक्ति का यह मनोवैज्ञानिक विभाजन और सामाजिक विभाजन एक वर्ग अंग्रेजीविद्, दूसरा अंग्रेजी-विहीन, अस्वाभाविक था ।

जब साइमन कमिशन की नियुक्ति हुई तो कमिशन को राजसीमा और शासन-प्रतिबंधन के अंदर रहते-रहते रिपोर्ट यह करना था कि :

1. शिक्षा की सहायता से भारत की जनता में किस हद तक नागरिक प्रबोध आ पाया है और किस हद तक वे राजनीतिक मामलों पर सही राय बना सकते हैं ।
2. शिक्षा की सहायता से किस हद तक ऐसा दिशा-निदेशक वर्ग तैयार हो गया है या हो रहा है जो राजनीतिक क्षेत्र में जनता का सुप्रेरित और सुबुद्ध नेतृत्व कर सकें और प्रशासन क्षेत्र में स्वतः प्रेरणा और कुशलतापूर्वक निर्णय लेकर काम कर सकें ।[5]

अंग्रेजी शिक्षा का यह राजनीति और प्रशासन संबंधी मूल्यांकन ही था । ऐसे ही नेतावर्ग की कल्पना लार्ड मकाले और लार्ड कर्ज़न ने की थी । इसी राजनीतिक उद्देश्य को सामने रखते हुए कमिशन की शिक्षा संबंधी सहायक समिति ने शिक्षा के उद्देश्यों के संबंध में लिखा कि भारत के राष्ट्रीय जीवन में शिक्षा का मौलिक महत्त्व है क्योंकि राष्ट्र-निर्माण के दुष्कर कार्य का अनिवार्य साधन शिक्षा ही है । इस उद्देश्य को सामने रखकर शिक्षा के लक्ष्य व्यक्त किए गए :

1. ऐसे लोक-समाज का निर्माण करना जो अपने मौलिक नागरिक कर्तव्यों का समझदारी से पालन कर सके । जनता में यह योग्यता होनी चाहिए कि आंख खोलकर अपने प्रतिनिधियों को चुने, कुछ हद तक उन सामाजिक और राजनीतिक प्रोग्रामों को समझे जो चुनाव लड़ने वाले प्रत्याशी उनके सामने रखते हैं । एक और योग्यता, जो दीखने में गौण है पर है अत्यंत महत्त्वपूर्ण, यह है कि जनता यह जाने कि वोट वास्तव में डाला कैसे जाता है ।
2. इस वृहत्समाज में से ही एक छोटे विशेष वर्ग का निर्माण करना जो विधान सभाओं और स्थानीय प्रशासन के लिए ऐसे अफसर दे सके जो समझ, विवेक और ईमानदारी से अपना काम कर सकें ।

कमेटी के विचारानुसार शिक्षा-लक्ष्यपूर्ति के उपाय भी सुझाए गए :

1. अच्छे नागरिक बनाना : यह काम जनता के लिए छोटे स्कूलों को करना चाहिए ।
2. विश्वसनीय और कर्तव्यनिष्ठ प्रतिनिधि और अफसर : इनका निर्माण सेकंडरी स्कूलों, यूनिवर्सिटी और कालेजों को करना चाहिए ।[6]

कमिशन और समिति दोनों के मतानुसार शिक्षा का लक्ष्य रहा नागरिक का निर्माण और

5. 'इंडियन स्टैच्युटरी कमिशन रिपोर्ट', I, पृ० 378
6. 'आग्ज़िलियरी कमिटी रिपोर्ट', पृ० 3

जनसमुदाय के बीच में से ही नेता और प्रशासक दोनों का उदय और उनका निर्माण । कमिशन ने राष्ट्र-निर्माण की ओर भी संकेत किया । जनता, नेता, प्रशासक, शिक्षक सब राष्ट्र के अंग हैं और शिक्षा के द्वारा ही उनका निर्माण हो सकता है और होना चाहिए ।

क्या ऐसा राष्ट्र-निर्माण हुआ ? इस प्रश्न का उत्तर साइमन कमिशन के संदर्भ में खोजने से पहले यह देखना है कि क्या राष्ट्र मतदाता, नेता और अफसरों से मिलकर ही बनता है ? राष्ट्र एक संपन्न, संपूर्ण, स्वतंत्र सत्ता होती है जिसमें जनसत्ता, राजसत्ता और प्रशासन सत्ता का संघटन होता है और जिसका संचालन अंदर से होता है, बाहर से नहीं । राजसत्ता और प्रशासन सत्ता भी राष्ट्र के अंग होते हैं और राष्ट्रसत्ता के अंतर्गत काम करते हैं । भारत में साइमन कमिशन ने जिस राष्ट्र की कल्पना की थी, राजसत्ता उसका अंग नहीं उसकी मालिक थी अर्थात् राष्ट्र को राजसत्ता का अंग माना गया था । राज प्रशासन और जनसत्ता का संघटन संपन्न ही नहीं हुआ । अतः ब्रिटिश काल में जिस राष्ट्र की कल्पना की गई वह केवल अपंग ही था । उसी अपंग राष्ट्र को संपूर्ण और संपन्न करने के लिए अंदर से एक ओर जहां सामाजिक, नैतिक और सांस्कृतिक कायाकल्प के प्रयास किए गए, दूसरी ओर स्वतंत्रता के लिए आंदोलन किया गया । राष्ट्र के परतंत्र होने की अवस्था में शिक्षा से केवल वही और उतनी ही मांग की गई जितनी कि औपनिवेशिक व्यवस्थिति को बनाए रखने के लिए पर्याप्त थी । स्वतंत्रता आंदोलन के साथ-साथ जब राजकीय शिक्षा पद्धति के विरुद्ध आवाज उठाई गई और उसका बहिष्कार भी किया गया तथा उसी शिक्षा पद्धति के स्नातकों द्वारा सत्ता और शिक्षा दोनों का विरोध किया गया तो सरकार ने क्षोभ प्रकट किया । इसी क्षोभ के फलस्वरूप जो भी सरकारी स्तर पर सुधार-कार्य किए गए उन्हीं के अनुरूप साइमन कमिशन की नियुक्ति हुई थी । शिक्षा से सुबुद्ध मतदाताओं और स्वतंत्र प्रशासकों की मांग ही नहीं की गई थी तो उनका निर्माण कहां से होता ?

कमिशन ने राजशिक्षा पद्धति से जो राजनीतिक मांग की सो पूरी होती नहीं दीखी । गांव में रहने वाले भोले लोग तो घास खोद रहे थे । जिनसे प्रेरणा और नेतृत्व की अपेक्षा थी वे दफ्तरों के दरवाजे खटखटा रहे थे । जनता का पथ-प्रदर्शन करने वाला कोई था ही नहीं और जो कर भी रहे थे वे और उनका नेतृत्व दोनों ही अमान्य थे क्योंकि वे तो सत्ता के विरुद्ध काम कर रहे थे । कमिशन ने यह राय दी कि जनता के लिए अभी तो बहुत कुछ करने की आवश्यकता है । उनके जीवन-स्तर को ऊंचा करना, उन्हें नागरिकता के दायित्व के लिए तैयार करना, यह काम तो अभी किया जाना है । उनका शिक्षा-स्तर इतना नीचा था कि उनके बीच में कोई सतत और सार्थक संगठन या व्यवस्था हो ही नहीं सकती थी । जो तथाकथित नेता उनके लिए बोलते भी थे वे साधारणतः उनके बीच में से निकले ही नहीं थे । कमिशन के मत में जनता प्रबुद्ध नहीं थी और नेता विश्वसनीय नहीं थे । कमिशन ने यह देखा कि यूनिवर्सिटी स्नातकों की तो केवल एक ही आकांक्षा थी : गांव छोड़कर शहर चले जाएं । यूनिवर्सिटी शिक्षा के द्वारा देश के नौजवान अधिकाधिक संख्या में अपने को राजनीति, सरकारी नौकरी या ऊंचे पेशे अथवा व्यवसाय के लिए तैयार करते और अपनी सेवा के लिए शहर की ओर प्रस्थान करते । गांव के

जीवन के लिए इनके मन में कोई रुचि या आदर नहीं रह गया था ।[7] कुल मिलाकर भारत दो भिन्न समाजों में बंटने लगा था : एक ओर तो अशिक्षित और साधनहीन लोग थे जो गांव में रहते थे और मेहनत-मजदूरी का जो भी अवसर मिल पाता उसी से पेट भरने का प्रयास करते थे । और दूसरी ओर इन्हीं में से निकलकर राजकीय शिक्षा के सहारे नौकरी की तलाश में शहर की ओर भटकने वाले । दोनों का कोई तालमेल था ही नहीं । एक सुसंगठित सामूहिक समाज का निर्माण—शिक्षा का यह लक्ष्य तो पूरा हुआ नहीं था । राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक लक्ष्य सभी पीछे रह गए ।

सामूहिक लक्ष्य के साथ-साथ शिक्षा का एक व्यक्तिगत लक्ष्य भी था : व्यक्ति का मानसिक विकास अर्थात् साक्षरता और स्वाध्याय-प्रवचन के माध्यम से मनुष्य का बौद्धिक, भावनात्मक और सांस्कृतिक विकास । इतना भी पूरा हो पाया कि नहीं !

सहायक समिति के अनुसार ग्रामीण शिक्षा की स्थिति अत्यंत निराशाजनक थी । 1854 के शिक्षा भारती परिपत्र के बाद एक बार तो ऐसा लगा था कि सरकार ग्रामीण शिक्षा के लिए कृतसंकल्प है । 1882 में ग्रामीण शिक्षा का मूल्यांकन किया गया और लार्ड कर्ज़न ने तो मानो किसान मजदूर सेवा का बीड़ा ही उठा लिया था । वास्तव में 100 वर्ष पूर्व ही 19वीं शती के प्रारंभ में जब से सरकारी अफसरों की रिपोर्ट मिली थी तभी से ग्रामीण शिक्षा की ओर ध्यान देने का वचन बार-बार दिया गया था । सवा सौ वर्ष के सरकारी काम के बाद सहायक समिति को जो स्थिति देखने को मिली वह यह थी कि यूनिवर्सिटी और स्कूलों की तो बात ही छोड़िए, ठेठ ग्रामीण शिक्षा के मतलब का भी कोई साहित्य जनभाषा में नाममात्र को नहीं था । समिति ने यह साफ शब्दों में लिखा कि आज की ग्रामीण स्थिति यह है कि भारतीय भाषा में कोई साहित्य उचित स्तर का है ही नहीं । परिणाम यह है कि गांव का बच्चा जब स्कूल छोड़ता है तो थोड़े दिन में ही वह पूर्ववर्ती निरक्षर अवस्था में वापस पहुंच जाता है । जो लोग कुछ पढ़-लिख गए हैं वे भी साहित्याभाव में अनपढ़ अवस्था में ही पहुंच जाते हैं ।[8] हाई स्कूल पास विद्यार्थियों की हालत 1839 से ही हम पहले देख चुके हैं । 1854, 1882 और 1902 में उनकी अवस्था वैसी ही रही थी । कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन ने भी वही अवस्था देखी थी । साइमन कमिशन ने सरकारी शिक्षा पद्धति के लिए ब्रिटेन को साधुवाद दिया था और यह कहा था कि ब्रिटेन ने भारत की शिक्षा में जो सबसे बड़ा योगदान दिया था वह हाई स्कूल के रूप में था जहां अंग्रेजी का शिक्षण होता था ।[9] तथापि सहायक समिति ने केवल यह पाया कि हाई स्कूल पास विद्यार्थी अधिकतर ऐसे थे जो यूनिवर्सिटी में जाने योग्य नहीं थे ।[10]

ग्रेज्युएट्स का तो बुरा हाल देखा गया । साइमन कमिशन को दुखपूर्वक यह कहना पड़ा

7. 'इंडियन स्टैच्युटरी कमिशन रिपोर्ट', I. पृ० 22
8. 'सहायक समिति रिपोर्ट', पृ० 345
9. 'इंडियन स्टैच्युटरी कमिशन रिपोर्ट', I. पृ० 380
10. 'सहायक समिति रिपोर्ट', पृ० 132

कि कोई हिंदुस्तानी बी०ए० औचित्यपूर्वक यह दावा नहीं कर सकता कि क्योंकि मैंने सरकार से अनुदान-प्राप्त यूनिवर्सिटी में शिक्षा पाई है इस कारण सरकार को मुझे नौकरी देनी चाहिए । किंतु फिर भी स्तर के गिर जाने के कारण ग्रेज्युएट्स की इतनी भीड़ लग गई जिनकी योग्यता बहुत थोड़ी है और जिनके सामने कोई भावी संभावना नहीं है ।[11] स्तर के गिरने के कारणों पर बाद में सर फिलिप हार्टोग ने प्रकाश डाला जो रोचक भी है और दुखद भी । सर फिलिप सहायक समिति के अध्यक्ष थे । 1935 में सर जोजफ् पेन लेक्चर देते समय लंदन इंस्टीट्यूट आफ एज्युकेशन में उन्होंने कहा : मेरे विचार में समय आ गया है कि जब यह कह देना चाहिए कि भारतीय परीक्षक—सभी नहीं पर अधिकतर—यह समझते हैं कि यूनिवर्सिटी डिग्री योग्यता के प्रमाण-पत्र के रूप में विद्यार्थियों को नहीं दी जाती बल्कि उपहार रूप में दी जाती है और इसलिए नहीं दी जाती कि विद्यार्थी उसके हकदार हैं बल्कि सद्भावनापूर्वक मात्र दान रूप में दी जाती है । इस दानभाव पर परीक्षक का कुछ खर्च तो होता नहीं, केवल दया की वर्षा होती है । बोतल पर लेबल कुछ और है अंदर कुछ और ।[12] डिग्री मात्र लेबल बनकर रह गई, डिग्रीमान खाली का खाली रह गया ।

साइमन कमिशन ने कहा था कि देश की सामाजिक और आर्थिक परंपराओं की अवहेलना किए जाने पर प्रकृति प्रतिशोध लेती है ।[13] वह प्रतिशोध पूरा हुआ । स्वयं शिक्षा प्रवर्तकों ने ऐसा माना । लार्ड वैवल जब भारत से वापस जाने लगे तो उन्होंने सम्राट को लिखा था : हमने सबसे बुरा काम शिक्षा के क्षेत्र में किया है । हमने केवल माइंड के लिए मात्र सूचनार्थक शिक्षा दी है, चरित्र-निर्माण के लिए नहीं । परिणाम यह है कि एक साधारण भारतीय नौजवान के पास न चरित्र है न अनुशासन । यदि भारत कभी राष्ट्र बना तो उसे अनुशासन और चरित्र दोनों जुटाने पड़ेंगे ।[14] जो कुछ भी किया गया था सब बेकार हो गया । शब्दज्ञान, तोता रटंत, छिलका-फरोशी । चरित्र-निर्माण और अनुशासन की दिशा में शिक्षा कुछ काम नहीं कर पाई ।

लार्ड वैवल ने जब माइंड की शिक्षा की चर्चा की तो उसका अर्थ वह मानसिक या बौद्धिक विकास नहीं था जिसकी चर्चा कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन ने की थी । यह माइंड की शिक्षा वैसी ही थी जिसे साइमन कमिशन ने 'इनफरमेशन' कहा था । कमिशन ने जब शिक्षा पद्धति का सर्वेक्षण किया तो उन्हें निराशा हुई । उन्होंने वास्तविक शिक्षा और मात्र 'इनफरमेशन' संचार के अंतर को समझा । उन्होंने कहा कि स्कूल या कालेज वह संस्थान है जहां वास्तविक शिक्षा और सामाजिक ट्रेनिंग दी जाती है न कि मात्र रटंत योग्य 'इनफरमेशन' का संचार किया जाता है, ऐसी 'इनफरमेशन' जिसे विद्यार्थी बिना समझे परीक्षा में ज्यों का त्यों उतार दें ।[15] वास्तविक शिक्षा कैसे हो, यह समस्या बनी ही रही । कमिशन के मतानुसार वास्तविक शिक्षा केवल उसी भाषा के

11. 'इंडियन स्टैच्युटरी कमिशन रिपोर्ट', I. पृ० 392
12. 'सम आसपेक्ट्स आफ इंडियन एज्यूकेशन', पृ० 67
13. 'इंडियन स्टैच्युटरी कमिशन रिपोर्ट', I. पृ० 392
14. 'टाइम्स आफ इंडिया' (दिल्ली, 26-9-80), पृ० 5
15. 'इंडियन स्टैच्युटरी कमिशन रिपोर्ट', I. पृ० 389

माध्यम से हो सकती थी जो बच्चे के मन में शब्द और अर्थ के तादात्म्य को बिठा कर विचार अथवा वस्तु और उसकी अभिव्यक्ति के अंतर को समाप्त कर दे । कहने का अर्थ यह था कि शिक्षा या तो बच्चे की मातृभाषा में होनी चाहिए थी और यदि अंग्रेजी में होनी थी तो अंग्रेजी का इतना अभ्यास होना चाहिए था कि अंग्रेजी बच्चों के मन की गहराइयों में उतरकर उनके विचार और भावना की भाषा बन जाती । ऐसा तो हुआ ही नहीं था । जब से अंग्रेजी शिक्षा का प्रारंभ हुआ था विद्यार्थियों को तोता रटंत से ही फुरसत नहीं मिल पाती थी ।

शिक्षा और माध्यम संबंधी ये सब बातें कमिशन और सहायक समिति के मन में बैठ गई थीं । सर फिलिप हार्टोग ने यह नोट किया था कि अंग्रेजी माध्यम भारत में सामान्यतः आलोचना का विषय रहा था । उन्होंने स्वयं यह माना और उनके मित्रों ने यह माना कि अंग्रेजी माध्यम विद्यार्थियों के मन और बुद्धि के रास्ते में बहुत बड़ा व्यवधान बन गया था । उन्होंने कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमिशन के विचारों का भी अध्ययन किया था और वे कमिशन और उसके बहुत सारे मतदाताओं से सहमत हुए थे कि अंग्रेजी माध्यम भारतीय विद्यार्थी के मानसिक विकास को कुंठित कर रहा था । उन्होंने भारतीय मनस् की प्रशंसा भी की । उन्होंने यह कहा कि भारत का साधारण और सामान्य बौद्धिक स्तर इंग्लैंड के सामान्य बौद्धिक स्तर से किसी हालत में भी कम नहीं है, और यही नहीं, उसमें कोई न कोई अद्भुत शक्ति भी अवश्य है क्योंकि वह अंग्रेजी भाषा के व्यवधान को किसी न किसी तरह पार तो कर ही गया ।[16] यह बात अपवाद रूप में ठीक थी । सामान्य बात तो यही है कि अंग्रेजी माध्यम शिक्षा के रास्ते का पत्थर ही बना रहा था जिसके कारण सर फिलिप के अपने ही शब्दों में डिग्री-लेबल और शिक्षा-वस्तु एक-दूसरे के अनुरूप नहीं बन पाए थे । 1835 में अंग्रेजी शिक्षा लागू की गई थी । पूरे सौ वर्ष के पश्चात् 1935 में यह कहने का समय आया कि यह सारा प्रयास व्यर्थ ही गया ।

कोई आशा ? नई योजना ? सहायक समिति ने यह सुझाव दिया कि शिक्षा की व्यवस्था को बदलना पड़ेगा । शिक्षा व्यवस्था का निर्माण-कार्य दुष्कर, श्रमसाध्य और समयशील है । यदि उसका पुनर्निर्माण करना है तो बुनियाद ही नए सिरे से रखनी पड़ेगी और मजबूत बनानी होगी । नए भवन के स्रष्टा, निर्माता और शिल्पी के कला-कौशल और परिश्रम की कड़ी परीक्षा होगी । आवश्यक क्या है, भारत में यह समझने-सोचने की इच्छा तो है, सब जगह नहीं तो भी पर्याप्त मात्रा में अवश्य है, और वही यदि सतत और स्थायी काम में परिणत हो सके तो भविष्य आशाजनक हो सकता है ।[17]

आमूलचूल परिवर्तन । बुनियाद भी फिर से रखनी पड़ेगी, गहरी, पक्की, मानो पुरानी को उखाड़कर फेंकना पड़ेगा । ये कौन थे, जिनसे समिति ने पुनर्निर्माण की आशा की थी ? यदि ऐसे लोग थे तो वे ही थे जो राजसरस्वती का वास्तविक वरदान और अंग्रेजी पद्धति की वास्तविक उपलब्धि थे । ऐसे लोग थे और ये थे अंग्रेजी संस्कृति में ढले हुए हिंदू, अंग्रेजीविद् और अंग्रेज-

16. 'सम आस्पेक्ट्स आफ इंडियन एजूकेशन', पृ० 43-44
17. 'सहायक समिति रिपोर्ट', पृ० 32

भक्त । उनके विषय में कमिशन ने यह लिखा : ये शुद्ध पश्चिम वर्ण हिंदू सांसारिक विषयों से दूर रहने वाले चिंतनशील भक्त से या शिव और काली मंदिर में लगी भक्तिभावोन्मत्त भीड़ से पूर्णतया भिन्न हों तो हों, किंतु ये ही शिक्षित वर्ग भारतीय जीवन की एक विलक्षण विशेषता हैं । यह वह वर्ग है जो विदेशी भाषा (अंग्रेजी) में सोचता है और उसी के माध्यम से काम करता है । इसने अंग्रेजी शिक्षा के द्वारा पश्चिमी सभ्यता और सामाजिक व्यवस्था के सिद्धांतों और परंपराओं को अपनाया है और फिर भी भारत के उस विशाल जनसमुदाय के साथ अपने को एक समझता है जो कि भारत की प्राचीनतम परंपरा में हार्दिक विश्वास रखता है ।[18]

यह वर्ग वही था जिसकी कल्पना लार्ड मकाले ने की थी—ऐसा वर्ग जो रक्त और वर्ण से हिंदुस्तानी हो, पर आचार-विचार, आहार-व्यवहार, नैतिक और सांस्कृतिक मान्यताओं से अंग्रेज हों । कल्पना यह की गई थी कि यदि भारत कभी स्वतंत्र हुआ तो ये ही लोग राजसत्ता के उत्तराधिकारी होंगे । यदि भारत की शिक्षा पद्धति में आमूलचूल परिवर्तन होना था तो उस परिवर्तन की आशा केवल इन्हीं लोगों से की जा सकती थी । यदि यही वर्ग भारत का भावी कर्णधार वर्ग था तो केवल एक प्रश्न अत्यंतावश्यक है जिसमें भावी आशा एवं संदेह दोनों ही निहित हैं : जनता के साथ एक होना और अपने को उनके साथ एक समझना ये दो भिन्न बातें हैं या एक अभिन्न सत्य ? क्या जनता के साथ एकता के लिए संवेदना और भावसमता आवश्यक है अथवा बौद्धिक अनुवेदना ही काफी है ?

18. 'इंडियन स्टैच्युटरी कमिशन रिपोर्ट', I, पृ० 23-24

25
नया सवेरा

जब 1947 में नए भारत का उदय हुआ तो शिक्षा, भाषा, सभ्यता, संस्कृति सब एक नए मोड़ पर थे।

भाषा आत्मा की आवाज है, संस्कृति का संगीत है, सभ्यता का मुंह बोलता रूप है। यदि भाषा को बदल दिया जाए तो सभ्यता, संस्कृति, आत्मा सब बदलने लगते हैं। साथ-साथ यह भी सच है कि यदि सभ्यता और संस्कृति बदल जाएं तो भाषा भी अपने-आप बदलने लगती है। चार्ल्स ग्रांट और उनके मित्रों ने सपना देखा था कि भारत का धर्म, संस्कृति, सभ्यता, शिक्षा, भाषा सब बदल जाएं। मकाले और उनके साथियों ने परिवर्तन की प्रक्रिया ही बदल दी। उन्होंने धर्म-परिवर्तन के स्थान पर भाषा-परिवर्तन और शिक्षा-परिवर्तन की नीति अपनाई। भारत में कुछ धर्म-परिवर्तन हुआ और परिवर्तन के साथ लोग अपनी परंपरा और जड़ों से कटने लगे। उनके प्रेरणा-स्रोत भी बदलने लगे। किंतु धर्म-परिवर्तन के स्थान पर शिक्षा और भाषा-परिवर्तन ने अधिक काम किया।

एक दिन दिल्ली दूरदर्शन पर एक हरयाणा-विषयक नाटक देखा। एक प्रौढ़ पात्र ने कहा : "भई सुण्या है कि फलाणे का हुक्का-पाणी बंद कर दिया गया है। और हुक्का-पाणी बंद का मतलब है सोसल बाईकाट।" ठेठ हरयाणे की भाषा भी अंग्रेजी अनुवाद के माध्यम से समझाई जा रही है। एक देवी जी ने दूरदर्शन के सवेरे के प्रोग्राम के बारे में शिकायत करते हुए चर्चा की कि सवेरे का प्रोग्राम द्विभाषी है—हिंदी और अंग्रेजी में। किंतु अधिकतर हिंदी ही चलती है और अंग्रेजी की हानि होती है। ग्रांट के सपने तो अधूरे रह गए किंतु मकाले की योजना पूरी हो गई। इन वार्ताओं से यह स्पष्ट है।

ऐसा तो नहीं हुआ कि समूचे भारत की भाषा, शिक्षा, सभ्यता और संस्कृति बदल गई हो। ऐसी न तो आशा की गई और न योजना ही बनाई गई थी। किंतु एक योजना पूरी हो गई—सारे देश का सामाजिक और मानसिक विभाजन हो गया। एक ओर तो वे करोड़ों गरीब निरक्षर अथवा मात्र साक्षर जनसमुदाय के लोग जो पढ़े-लिखे लोगों की ओर आंखें फाड़कर देखते थे और अपने चेहरे पर छाई भय की स्याही को छिपा नहीं पा रहे थे; दूसरी ओर वे मुट्ठी-भर अंग्रेजीदां अफसर और उनके आसपास का रंगमंडल जो इस विशाल समुदाय को तो पहचानने से परहेज करते थे किंतु विदेशियों को झुककर सलाम करते थे। मकाले महोदय को माल खरीदने वाले और सलाम झुकाने वाले दोनों मिल गए। हां, एक तरह से मकाले महोदय फेल हो गए,

लार्ड कर्ज़न ने भी ऐसा ही समझा था और कहा भी था। अंग्रेजी के माध्यम से ही शिक्षा-प्राप्त कुछ नौजवान ऐसे खड़े हो गए जिन्होंने अंग्रेजी भाषा, विचारधारा और शिष्टाचार को तो अपनाया किंतु सलाम झुकाने से इनकार कर दिया। इन्होंने विदेशी सत्ता के विरुद्ध एक आंदोलन खड़ा कर दिया। इन्हीं में से एक थे गांधी जी और दूसरे थे जवाहरलाल नेहरू। कितने ही और नौजवान भी थे पर इन दो की ही चर्चा करेंगे। गांधी जी की अपनी भाषा, बुनियाद और पतवार देसी और मजबूत थी; नेहरू जी की भाषा, बुनियाद और पतवार तीनों अंग्रेजी। अंग्रेजी के प्रकाश में ही उन्होंने भारत की खोज की थी। अंग्रेजी तूफान के अंदर गांधी जी भाषा-सभ्यता-संस्कृतिनिष्ठ एकासन बैठे रहे किंतु नेहरू जी को उस तूफान से जूझना पड़ा और हर समय अपनी पतवार को बुद्धिबल से संभाले रखना पड़ा। इसी बुनियादी अंतर के कारण गांधी जी ने हिंदू धर्म को सेक्यूलर रूप देकर धर्म-समन्वय कर लिया किंतु नेहरू जी ने उसी सेक्यूलरिज़्म को धर्मनिरपेक्ष मान लिया। एक-दूसरे में विश्वास करते हुए भी एक धर्मनिष्ठ और दूसरे धर्मनिरपेक्ष।

नेहरू जी लिखते हैं : "सचमुच मैं कई बार आश्चर्यपूर्वक सोचता हूं कि मैं क्या हूं, कैसा हूं और किस जैसा हूं। कई बार मुझे लगता है कि हालांकि बहुत सारे लोग मेरे प्रति गहरा प्रेम और सद्भावना रखते हैं तथापि मैं किसी जैसा नहीं हूं। मैं पूर्व और पश्चिम का एक अजीब-सा मिश्रण हूं। मैं हर जगह अलग हूं और कोई जगह मेरी नहीं है। शायद मेरे विचार और जीवन के प्रति दृष्टिकोण पूर्वी इतना नहीं है जितना पश्चिमी है। तरह-तरह से भारत मेरे अंदर रम गया है, बिल्कुल वैसे ही जैसे वह अपने सभी बच्चों के मन में समाहित हो गया है। शायद मेरे अचेतन मानस् के अंदर सैकड़ों पीढ़ियों से कहीं न कहीं ब्राह्मण संस्कार छिपे पड़े हैं। मैं अपने उस अतीत से छूट नहीं सकता और जैसे मेरा अतीत मेरे अंदर निहित है वैसे ही मेरी नवीन (पश्चिमी) उपलब्धियां भी मेरे साथ हैं। ये दोनों मेरे मानस् के अंग हैं और पूर्व और पश्चिम दोनों जगह मेरी सहायता करते हैं किंतु फिर भी वे मेरे अंदर एक आत्मिक अकेलापन-सा उत्पन्न करते हैं। वह आत्मिक अकेलापन मुझे कचोटता है और न केवल सामाजिक कार्यों में ही बल्कि समस्त जीवन के क्षण-क्षण में ऐसा ही होता है। मैं पश्चिम में होता हूं तो कोई मुझे अपना नहीं दीखता, मैं वहां का हो नहीं सकता। किंतु कभी-कभी अपने देश में भी ऐसा लगता है कि यहां मेरा कुछ नहीं है और मुझे देश-निकाला मिल गया है।"[1]

नेहरू जी भारत में रहते हुए भी अपनी जड़ों से कटने लगे। वे भारत के जनमानस् के रोमांचकारी नेता तो बने किंतु अपनी पतवार के कारण। उनकी बुद्धि इतनी तीव्र न होती तो हो सकता है उनका मन कभी का टूट गया होता। उनका मनोबल उनकी बुद्धि और पतवार के कारण बना रहा अन्यथा शिक्षा तो अपना काम कर गई थी।

टूटते सुर संगीत नहीं बनते, किंतु वे भी अभिव्यक्ति तो हैं ही। आइए, भारतीय कलाकारों की सुनें जो अंग्रेजी में ही सांस लेते हैं, उसी में दम तोड़ते हैं, और टूटे सुरों में ही संगीत की धुन जोड़ते हैं :

1. उद्धृत : आर्थर मौर, 'एन इंडियन हैमलेट', नेहरू अभिनंदन ग्रंथ, ए बर्थडे बुक (14-11-49), पृ० 23

प्रीतीश नंदी लिखते हैं कि अंग्रेजी में लिखने वाला कवि विचित्र परिस्थितियों से उभरा विचित्र प्राणी है। देश की मुख्य धारा से दूर, भारतीय अनुभूति से अनभिज्ञ, जड़ों से कटा, अकेला, सामाजिक त्रिशंकु, ऐसी भाषा में लिखता है जिसे वे भी नहीं समझते जिनके लिए वह लिखता है। फिलिप जॉर्ज के अनुसार विसंगति का कारण यह है कि अंग्रेजी में लिखने वाले ऐसे दर्शन और अनुभूति के आधार पर लिखते हैं जिसका भारतीयता से कोई मेल है ही नहीं।

देश की परंपरा एवं मुख्य धारा से कटे हुए ये लोग हाथ-पांव मारते, टटोलते, पैसे की झंकार में संगीत का सर्जन करना चाहते हैं। इनका संगीत केवल वैयक्तिक है। अधिक से अधिक ये विक्षिप्त वृत्ति-साहित्य का सर्जन करके अपने आपको हल्का कर लेना चाहते हैं। ये वृत्ति-सरूप तो हैं, वृत्ति-साक्षी नहीं। इनकी आवाज कभी देश की आवाज नहीं बन सकती। नेहरू ने अपने व्यक्तित्व को जनसमुदाय की लहरों के सहारे छोड़कर विदेशी नजरों से भारत की खोज करने की कोशिश की थी और बौद्धिक अनुवेदना के माध्यम से पुरानी जड़ों के साथ संपर्क जोड़ लिया था। स्वतंत्रता साधना के मार्ग से गुजरकर उनकी अकेली आवाज देश की आवाज बन गई और देश की आवाज उनके मन में समाहित हो गई। विक्षिप्त आवाजें अकेली रह जाती हैं।

स्वतंत्रता के सूर्योदय के साथ नेहरू जी ने स्वयं देश के कर्णधारों के सामने घोषणा की कि देश के इतिहास में कभी-कभी ऐसा अवसर आता है जब देश रात के अंधेरे से निकलकर नए सूर्योदय का स्वागत करने के लिए दृढ़संकल्प होकर युग-युगों की नींद से जागता है और युग-युगों से दबी उसकी आत्मा की आवाज बुलंद होती है।[2] देश की यह आवाज शिक्षा, शासन और विकास तीनों क्षेत्रों में बुलंद होनी चाहिए थी। नेहरू जी को यही आशा थी। देश के नेताओं का यही संकल्प था। यह आवाज केवल अपनी भाषा में ही बुलंद हो सकती थी।

गांधी जी अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा प्राप्त करके भी संस्कार, परंपरा और देश की मुख्य धारा से कटे नहीं। हमें मालूम है कि उनके जीवन में उनकी मां का कितना बड़ा योगदान था। विलायत की चकाचौंध भी मां से प्राप्त उनके मानसिक संतुलन को विचलित नहीं कर सकी। शायद यही कारण था कि जब वे जीवन के बुनियादी पहलुओं पर सोचते थे तो मां के प्रतीक के माध्यम से सोचते थे। शिक्षा-माध्यम के संबंध में उन्होंने प्रकृति को मां समझकर ही समस्या का समाधान सुझाया। उन्होंने कहा कि जिस प्रकार मां के दूध से बच्चे के शरीर का निर्माण होता है उसी प्रकार मातृभाषा के माध्यम से उसके मन और बुद्धि का विकास होता है। शिक्षा का कोई दूसरा माध्यम कैसे हो सकता है ? यही तो प्रकृति का विधान है।[3] अंग्रेजी राज में भारतीय शिक्षा क्षेत्र में अंग्रेजी माध्यम को लादा गया। गांधी जी को उसे देखकर बड़ा क्षोभ होता था और वे कहा करते थे कि विदेशी राज के दुष्परिणामों में से अंग्रेजी शिक्षा-माध्यम सबसे भयंकर अभिशाप है और इतिहास इस पाप का सदा के लिए साक्षी रहेगा।[4] गांधी जी ने स्वतंत्रता आंदोलन के

2. उद्धृत : आर्थर मौर, 'एन इंडियन हैमलेट', नेहरू अभिनंदन ग्रंथ, ए बर्थडे बुक (14-11-49), पृ० 292
3. उद्धृत : श्रीमन्नारायण, 'ऑन एज्यूकेशन' (दिल्ली, 1962), पृ० 36
4. उद्धृत : र०क० प्रभु, 'सम इविल रौट बाइ द इंग्लिश मीडियम' (अहमदाबाद, नवजीवन, 1958), पृ० 27

साथ-साथ शासन और शिक्षा में मातृभाषा के लिए भी अभियान चलाया और 1935 के भारत सरकार के विधान के अनुसार जब 1937 में कांग्रेस ने सरकार को सहयोग दिया तो उसके बाद 30-7-38 को उन्होंने 'हरिजन' में लिखा कि अब तो सुधार के लिए सुअवसर मिल गया है इसलिए कांग्रेसियों को अत्यंत उत्साह के साथ प्रयास करना चाहिए क्योंकि अब और देर नहीं की जा सकती। हमें शिक्षा-माध्यम को तत्काल बदल देना चाहिए। आहिस्ता-आहिस्ता करेंगे, यह बहाना नहीं चलने दिया जाएगा। यदि हम ऐसा कर डालें तो बहुत ही थोड़े समय में पुस्तकें और अध्यापक दोनों तैयार मिलेंगे। यदि हम वास्तव में कुछ कर गुजरने पर तुल जाएं तो कर ही डालेंगे और तब यह महसूस करेंगे कि शिक्षा, सभ्यता और संस्कृति की वास्तविक और आवश्यक उपलब्धियों के लिए विदेशी माध्यम के पचड़े में फंसकर हमें देश की शक्ति का इतना दुखद ह्रास करने का कोई अधिकार नहीं था। गांधी जी का विश्वास था कि हम एक वर्ष के अंदर ही सारा परिवर्तन कर डालेंगे। गांधी जी एक बात अवश्य मानते थे : सफलता के लिए आवश्यक है कि क्षेत्रीय स्तर पर सरकारी कार्यालयों और अदालतों में क्षेत्रीय भाषाओं का प्रयोग हो। केंद्रीय स्तर पर केंद्रीय भाषा का प्रयोग हो।

गांधी जी ने शिक्षा और प्रशासन को जोड़ा, उनके माध्यम को भी जोड़ा। 1835 से ही तो शिक्षा, प्रशासन और माध्यम जोड़े गए थे। स्वतंत्र एवं परतंत्र यथार्थ तो यही था। गांधी जी राष्ट्रीय अर्थात् केंद्रीय और क्षेत्रीय भाषा के माध्यम के विषय में भी यथार्थवादी थे। इसीलिए उन्होंने प्रांतीय भाषाओं के पक्ष में अपना मत व्यक्त किया था। उनकी मान्यता थी कि राष्ट्रीय भाषा बहुजन-भाषा होनी चाहिए, सीखने में सुगम हो ताकि सरकारी अफसर और देश की जनता उसे आसानी से सीख सकें और सारे देश में धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक गतिविधियों के क्षेत्र में संचार और संवाद का माध्यम बन सकने के लिए सक्षम हो। उनके विचारानुसार हिंदी ही एक ऐसी भाषा थी जो इन अपेक्षाओं के आधार पर राष्ट्रीय भाषा बनने के योग्य थी। इन्हीं अपेक्षाओं के आधार पर अंग्रेजी नितांत अयोग्य थी। इसी कारण वे अंग्रेजी को देश के लिए एक अभिशाप के रूप में देखते थे।[5] केंद्रीय और प्रांतीय भाषाओं के महत्त्व को देखते हुए ही उन्होंने कांग्रेस से अनुरोध किया था कि संस्था का काम भारतीय भाषाओं के माध्यम से होना चाहिए। 1925 के कानपुर अधिवेशन में कांग्रेस विधान में एक संशोधन किया गया था जिसके अनुसार यह निर्णय लिया गया था कि कांग्रेस की अखिल भारतीय कार्यवाही हिंदुस्तानी में चलाई जाएगी। यदि कोई सदस्य हिंदुस्तानी न बोल सके तो प्रांतीय भाषा या अंग्रेजी का प्रयोग कर ले। प्रांतीय कांग्रेस की कार्यवाही सामान्यतः प्रांतीय भाषा में चलाई जाए अथवा हिंदुस्तानी में।[6]

गांधी जी अंग्रेजी से घृणा नहीं करते थे। वास्तव में वे अंग्रेजी भाषा से प्यार करते थे, जैसे किसी भी समृद्ध भाषा से कोई भी बुद्धिजीवी करेगा। वे कहा करते थे कि मै अपने घर की किलाबंदी नहीं करना चाहता, और न ही अपनी खिड़कियों को बंद रखना चाहता हूं। यदि

5. मोहनदास करमचंद गांधी, 'हिंदस आन नेशनल एज्यूकेशन' (अहमदाबाद, नवजीवन, 1956), पृ० 3-4
6. उद्धृत : एम०पी० देसाई, 'द हिन्दी प्रचार मूवमेंट', पृ० 14

विदेशी संस्कृति और भाषाएं मेरे घर को सुगंधित करें तो मैं विदेशी समीर के लिए अपने घर की खिड़कियां खोल दूंगा किंतु यदि वे तूफान बनकर मेरे घर को उखाड़ना चाहें तो मैं चट्टान की तरह खड़ा हो जाऊंगा ।[7] गांधी जी अंग्रेजी को एक अंत:सांस्कृतिक और अंतर्भाषायी मित्र के रूप में मानने को तैयार थे किंतु अपनी भाषा की अपेक्षा उसके प्रभुत्व को मानने से इनकार करते थे । वे सुगंध-प्रेमी तो थे किंतु घुटन को चुनौती देते थे । उन्होंने इसी कारण अंग्रेजी की घुटन को चुनौती दी और भारत के बुद्धिजीवियों को भी उनके कर्तव्य की याद दिलाई । कभी-कभी तो वे सुस्त दीर्घसूत्री बुद्धिजीवियों से चिढ़ने लगते थे । उन्होंने तो यहां तक कह दिया कि स्वातंत्र्योन्मुख नए सवेरे की वेला में हमें तत्काल भाषायी फेरबदल कर देना चाहिए । उन्होंने एक वर्ष में ही सब कुछ कर डालने की आशा और विश्वास व्यक्त किया । उन्होंने तो यह भी कह दिया कि भाषायी परिवर्तन से संबद्ध कोई भी निर्णय लेना शिक्षाविदों का काम नहीं है । वे इस बात का निर्णय नहीं ले सकते कि देश के बच्चों को अमुक भाषा के माध्यम से पढ़ाया जाना चाहिए । गांधी जी के मतानुसार शिक्षा-माध्यम का निर्णय करना तो समूचे देश का काम है । शिक्षाविदों का यह काम भी नहीं है कि वे यह निर्णय करें कि देश के बच्चों को कौन-कौन से विषय पढ़ाए जाने चाहिए । यह निर्णय भी देश की आवश्यकताओं के अनुसार समूचे देश को ही करना चाहिए । शिक्षक और शिक्षाविदों का काम यह है कि वे देश की इच्छाओं और निर्णयों को दृढ़ संकल्प होकर पूर्ण रूप में कार्यान्वित करें और सफल बनाएं । गांधी जी का मत तो यह था कि देश के स्वतंत्र होने पर माध्यम का निर्णय करके इस काम को निपटा दिया जाएगा और शिक्षाविद् पाठ्यक्रम और पुस्तकें बनाकर तैयार कर देंगे । गांधी जी इस काम में ढील बिल्कुल नहीं चाहते थे । न ही वे यह चाहते थे कि इस प्रश्न के साथ खिलवाड़ की जाए । कभी-कभी उन्हें लगता था कि खिलवाड़ होगी और उसके लिए शिक्षित वर्ग ही जिम्मेदार होगा ('हरिजन', 9-7-1938) । इस संदर्भ में हमें डॉ० राममनोहर लोहिया की बात याद आती है । वे कहा करते थे कि पढ़े-लिखे लोग काम नहीं करते, वे काम तब करेंगे जब अनपढ़ लोग उनके सिर पर चढ़कर उनसे काम करवाएंगे ।[8]

गांधी जी के शब्दों से एवं लोहिया जी की फटकार से शिक्षित वर्ग नाराज हो सकता है क्योंकि उनके आत्मसम्मान को चोट लग सकती है और शिक्षित वर्ग के पास सिवाय आत्मसम्मान के कोई और धन तो होता नहीं । फिर भी हमें गांधी जी तथा लोहिया जी की बात को समझना होगा । गांधी जी ने कहा : "माध्यम का निर्णय समूचा देश करेगा, केवल शिक्षाविद् नहीं । हमें यह समझना पड़ेगा कि शिक्षाविद् समूचे देश से ऊपर तो नहीं । वे समूचे समाज का अंग हैं । वह अंग महत्त्वपूर्ण अंग है किंतु फिर भी समूचे समाज का विकल्प नहीं है ।" खेद यह है कि वे कभी-कभी अपने आपको समस्त समाज का प्रतिनिधि ही नहीं पूर्ण विकल्प समझने लगते है जैसा कि हम पहले कह चुके है । समस्त समाज और समूचे देश की समस्याएं और

7. उद्धृत : श्रीमन्नारायण, 'ऑन एज्यूकेशन' (दिल्ली, 1962), पृ० 36
8. 'मैनकाइंड' (दिसंबर, 1959), पृ० 15-28

आवश्यकताएं और मैं तो कहूंगा कि दिशाएं भी मात्र शिक्षित वर्ग की आवश्यकताओं, समस्याओं और दिशाओं से भिन्न हो सकती हैं और हैं भी । उदाहरणार्थ, समूचे समाज की आवश्यकता होगी कि प्रारंभिक शिक्षा पर अधिक जोर दिया जाना चाहिए और उसी पर अधिक व्यय किया जाना चाहिए । किंतु शिक्षित वर्ग की आवश्यकता हो सकती है कि विश्वविद्यालय स्तर की उच्च शिक्षा पर जोर दिया जाए और उसी पर अधिक व्यय किया जाए । शिक्षित समाज के पास अंग्रेजी माध्यम की उपलब्धि है ही और उसी माध्यम से सत्ता भी है, तो भारतीय भाषाओं पर समय, शक्ति और पैसा बर्बाद किए बिना अंग्रेजी जैसे संपन्न माध्यम से ही शिक्षा क्यों न दी जाए ? साधारण समाज की आवश्यकता हो सकती है कि मात्र माध्यम भाषा पर अधिकतर समयादि बर्बाद करने की बजाय अपनी भाषाओं को ही क्यों न संपन्न बनाया जाए और वास्तविक विषयों के अध्ययन पर समय, शक्ति और पैसा खर्च करके इनका सदुपयोग क्यों न किया जाए ? इसी कारण गांधी जी ने सोचा कि माध्यम का निर्णय समूचा समाज अर्थात् देश करे न कि कोई वर्ग-विशेष, और उनका संकेत शिक्षित वर्ग की ओर था । जब कोई वर्ग-विशेष कोई महत्त्वपूर्ण निर्णय लेता है तो दूसरे वर्गों की अवहेलना हो सकती है । किंतु जब सभी वर्ग मिलकर समाज या समूचे देश के रूप में निर्णय लेते हैं तो किसी वर्ग विशेष का न तो आधिपत्य रह पाता है और न ही उसकी अवहेलना की संभावना होती है । शिक्षित वर्ग यदि अपने आप अकेला ही निर्णय ले तो मकाले के मानस-पुत्र बनकर भी निर्णय ले सकते हैं । और यदि शिक्षित वर्ग को छोड़कर मात्र अन्य वर्ग निर्णय लेते हैं तो हो सकता है कि पिछले डेढ़ सौ वर्षों में अंग्रेजी के माध्यम से हमारे शिक्षित वर्ग ने जो उपलब्धियां की हैं उन सभी से अपने को और देश को वंचित कर लें । अतः यह आवश्यक एवं उचित है कि समूचा देश माध्यम के विषय में निर्णय ले और उस निर्णय में भागीदार होने के नाते शिक्षाविदों का यह दायित्व हो कि वे पाठ्यक्रम और पाठ्य पुस्तकें तैयार करें । क्योंकि निर्णय सारे देश का होगा जिसमें पढ़े-लिखे और अनपढ़ सभी के हित शामिल होंगे, शिक्षित वर्ग अपने दायित्व से खिलवाड़ नहीं कर सकेगा । इसी आशय से डॉ० लोहिया ने कहा था कि पढ़े-लिखे लोग काम तब करेंगे जब अनपढ़ लोग उनकी सवारी करेंगे । हम देख ही चुके हैं कि खिलवाड़ तो 1793 से ही होती रही है और यह खिलवाड़ करने वाले अनपढ़ तो थे नहीं । और आज तक जो समस्या हल नहीं हो पाई उसके जिम्मेदार भी अनपढ़ लोग नहीं हैं । फिर पढ़े-लिखे लोग काम नहीं कर पाए तो इसका कारण उनके सिवाय और कहां ढूंढ़ा जाए ?

गांधी जी ने शिक्षा-माध्यम के निर्णयार्थ समूचे देश और समाज की बात की । लोहिया जी ने उसी विषय में एक सावधानी और चेतावनी की बात की और वह यह कि किसी देशव्यापी विषय पर पिछड़े वर्गों को नकारा न जाए अन्यथा उनके और देश के हितों की अवहेलना हो जाएगी और यह भी हो सकता है कि काम ही न हो पाए । गांधी जी ने हिंदुस्तानी अर्थात् हिंदी को अखिल भारतीय भाषा माना और साथ ही प्रांतीय स्तर पर क्षेत्रीय भाषाओं को भी स्वाभाविक शिक्षा-माध्यम माना । सबसे बड़ी बात यह थी कि उनके विचार में शिक्षा के लिए मातृभाषा का

कोई विकल्प नहीं था और माध्यम के रूप में अंग्रेजी तो एक अभिशाप था। हां, अंग्रेजी को वे अमूल्य सहायक भाषा मानते थे।

1938 में ही जहां एक ओर गांधी जी हिंदी और प्रांतीय भाषाओं के पक्ष में लिख रहे थे, उसी वर्ष कांग्रेस ने भी एक प्रस्ताव पास किया जिसमें अंग्रेजी शिक्षा पद्धति के विरुद्ध आवाज उठाई गई। प्रस्ताव में कहा गया था कि यह स्पष्ट है कि वर्तमान शिक्षा पद्धति फेल हो चुकी है क्योंकि इसका उद्देश्य रहा है वर्ग-विशेष की शिक्षा, न कि जनता की शिक्षा। यह उद्देश्य अब अतीत की बात हो गई है। अब आवश्यक हो गया है कि हम एक नई राष्ट्रीय नीति अपनाएं जिसका आधार नया हो और जो देशव्यापी हो सके। प्रस्ताव में यह भी कहा गया कि शिक्षा का माध्यम केवल मातृभाषा ही हो सकता है। यह सत्य है और स्वयंसिद्ध है कि जनता में शिक्षा और संस्कृति का प्रचार केवल मातृभाषा के माध्यम से ही किया जा सकता है।

नेहरू जी इन विचारों से पूर्णरूप से सहमत थे। वे कहा करते थे कि अंग्रेजी राजकाल में शिक्षा के माध्यम से देश में दो नए वर्ग (कास्ट) खड़े कर दिए गए : एक अंग्रेजी माध्यम द्वारा शिक्षित, दूसरा अनपढ़ अथवा जनता। उन्होंने कहा कि हम कल्पना भी नहीं कर सकते कि भविष्य में शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी भाषा हो सकती है। माध्यम तो हिंदी ही होनी चाहिए अथवा कोई क्षेत्रीय भाषा होनी चाहिए। नेहरू जी प्रशासन के क्षेत्र में भी हिंदी तथा क्षेत्रीय भाषाओं के महत्व पर बल देते थे। उनका कहना था कि नए भारत में पुराना वर्गवाद नहीं चलेगा। स्वतंत्र भारत में परतंत्र भारत का भाषा वर्गवाद चले, इससे बड़ा देश का दुर्भाग्य क्या हो सकता है? अखिल भारतीय प्रशासन माध्यम तो केवल हिंदी ही हो सकता है। हां, प्रांतों में प्रांतीय भाषाएं प्रशासन-माध्यम हो सकती है। नेहरू जी के विचारानुसार प्रशासन और शिक्षा का माध्यम वह भाषा होनी चाहिए जिसके द्वारा जनता से संपर्क किया जा सके। यहां ब्रिटिश काल और स्वतंत्र भारत में भाषा और संचार के क्षेत्र में एक मुख्य अंतर दिखाई देता है : ब्रिटिश काल में जनता और सरकार के बीच संचार का माध्यम थे सरकारी अफसर जिनसे अपेक्षा की जाती थी कि वे सरकार से अंग्रेजी में बात करेंगे और जनता से जनभाषा में। स्वतंत्र भारत में सरकार और सरकारी अफसर व कर्मचारी सभी जनभाषा में बात करेंगे। ब्रिटिश काल में तो जनता सरकार से बात कर ही नहीं सकती थी क्योंकि वह अंग्रेजी नहीं जानती थी और अफसर भी हिंदी अथवा क्षेत्रीय भाषाओं में सक्षम होना नहीं चाहते थे। उन्हें जरूरत भी क्या थी? स्वतंत्र भारत में ऐसा नहीं होगा, यह हमारी नई अपेक्षा थी।

हिंदी और क्षेत्रीय भाषाओं के महत्व के संबंध में नेहरू जी के विचार साफ थे। वे हिंदी को अंग्रेजी का विकल्प मानते थे और चाहते थे कि उसे अखिल भारतीय संचार-भाषा का स्थान मिले। हिंदी को वे क्षेत्रीय भाषाओं का विकल्प नहीं मानते थे। वे कहते थे कि क्षेत्रीय भाषाओं का अपना महत्व है किंतु अखिल भारतीय संपर्क और संचार का एक भारतीय माध्यम तो होना ही चाहिए। कई लोग कहते है कि अंग्रेजी ही क्यों न चलती रहे, किंतु स्वतंत्र भारत में ऐसा नहीं होगा। अखिल भारतीय भाषा तो हिंदुस्तानी ही हो सकती है। करीब बारह करोड़ आदमी (1941 की जनगणना के अनुसार) इसे बोलते है और दूसरे कई करोड़ उसे समझते है। जो इसे नहीं भी जानते वे इसे आसानी से सीख भी सकते है, क्योंकि विदेशी भाषा की अपेक्षा तो हिंदी को जल्दी ही सीखेंगे। कितने ही शब्द ऐसे है जो सभी भाषाओं में मिलते है। इसके अतिरिक्त भाषाओं की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, विचारधारा और भाषायी समताएं एक है। अतः यदि किसी को एक भाषा आती है तो दूसरी भाषा सीखने में कोई कठिनाई नहीं होती। जनता के हित में और उन्हीं के दृष्टिकोण से नेहरू जी हिंदी और क्षेत्रीय भाषाओं के पक्षधर थे। अंग्रेजीविद् शासक/प्रशासक तथा हिंदुस्तानी शासित/प्रशासित रूपी वर्गवाद के कारण वे अंग्रेजी के विरोधी थे, कम से कम वे अंग्रेजीवाद के विरोधी तो थे ही।[9]

देश के बड़े-बड़े विचारक, सुधारक और दार्शनिक शिक्षा और संचार के स्वाभाविक माध्यम के पक्षधर थे। रवीन्द्र ठाकुर का कहना था कि संसार के किसी देश में भी विद्यार्थी की अपनी भाषा और शिक्षा माध्यम में इतना अंतर नहीं है जितना भारत में। पाश्चात्य सभ्यता को बीसवीं शती में अपनाने की आवश्यकता और पारंपरिक संस्कृति को सुरक्षित रखने के दृढ़ संकल्प का सराहनीय समन्वय केवल जापान में ही देखने में आया है। प्रारंभ में तो जापान को विदेशी भाषाओं में लिखित पाठ्य-पुस्तकों का सहारा लेना पड़ा था किंतु जापान यह जानता था कि अपनी भाषा में ही ये पुस्तकें उपलब्ध होनी चाहिए। जापान ने एक बात समझ ली थी : शिक्षा किसी वर्ग-विशेष का आभूषण मात्र नहीं है अपितु समस्त जनता की शक्ति और संस्कृति का प्रतीक तथा साधन है। इसलिए जापान चाहता था कि शिक्षा और ज्ञान सारी जनता को अपनी भाषा में उपलब्ध होना चाहिए। जापान ने अपनी भाषा में शिक्षा को अपनाया और उसी माध्यम से सारी जनता को कला तथा विज्ञान का प्रशिक्षण दिया। परिणाम? जापान सारी दुनिया के राष्ट्रों के बीच अपनी रक्षा कर पाया और अपना महत्वपूर्ण स्थान बना पाया। जापान ने भाषा क्षेत्र में कोई कसर उठा नहीं रखी। उसने न पैसे की परवाह की और न वह दुख से घबराया। न वह उस कंजूसी और मूर्खता का शिकार बना जिसका शिकार भारत बना। भारत की गलती? विदेशी माध्यम को अपनाकर देश की जनता को शिक्षा और ज्ञान से वंचित रखना।[10] रवीन्द्र ठाकुर अंग्रेजी में लिखते तो थे, अंग्रेजी का आदर भी करते थे, पर अपनी भाषा पर तो वे गौरव करते थे। स्वामी दयानंद, स्वामी विवेकानंद, श्री अरविंद, तिलक, लाजपतराय सभी तो यह मानते थे कि स्वतंत्र भारत का प्रतीक होगा स्वराज, स्वभाषा, अपनी सभ्यता और संस्कृति।

स्वतंत्रता के इस छोर पर खड़ी कुछ समस्याएं—शिक्षा, भाषा और प्रशासन से संबद्ध—मानो सदियों से इस देश की आत्मा को ललकार रही हों कि उठो और जीने के लिए कुछ करो। हिंदी, हिंदुस्तानी, प्रांतीय भाषाएं, क्षेत्रीय भाषाएं, जो मर्जी हो कहो, जिसे या जिन्हें चाहो चुनो मगर दासता की मानसिकता से छुटकारा पाओ, स्वच्छंद विचार और स्वच्छंद भाषा का प्रयोग करके देश की समूची जनता को साथ लेकर चलो। अंग्रेजी की सेवाएं तो लो पर उसके दास न रहो।

9. 'द क्वेश्चन आफ लैंग्वेज' (अलाहाबाद, 1937), पृ० 4-5
10. उद्धृत : भारत सरकार, 'रिपोर्ट आफ द एज्यूकेशन कमिशन' (1964-66), पृ० 13

अपने स्वयं की वाणी को बुलंद करो । देश की जनता को धोखे में न रखो, उनको साथ लेकर सब मिलकर चलो और स्वयं-निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति करो ।

अंग्रेजी माध्यम से देश की जनता की शिक्षा संभव नहीं होगी, यह तथ्य तो डेढ़ सौ वर्ष से मालूम था । पाठ्यक्रम, पाठ्य-पुस्तकें और अध्यापक तैयार करने पड़ेंगे यह भी 1793 से ही मालूम था । शिक्षा और प्रशासन माध्यम के विषय में साथ-साथ सोचना पड़ेगा यह भी 1793 या कम से कम 1835 से तो मालूम था ही । दृढ़ संकल्प के साथ चुनौतियों का सामना करना पड़ेगा यह गांधी जी ने कह दिया था । विदेशी माध्यम देश का अपमान है, जनमानस् के लिए अभिशाप है और उभरती पीढ़ी के साथ खिलवाड़ है, यह भी सभी जानते थे । माध्यम-परिवर्तन तत्काल ही करना पड़ेगा इस बात से गांधी जी ने देश के शिक्षित समाज को सावधान कर दिया था और राम मनोहर लोहिया ने उनको चेतावनी भी दे दी थी । गुरुकुल कांगड़ी और जामामिलिया जैसी संस्थाओं ने प्रयोग करके यह भी सिद्ध कर दिया था कि विश्वविद्यालय तक की शिक्षा हिंदी तथा उर्दू के माध्यम से हो सकती है । हिंदी और उर्दू मात्र लिपि तथा कुछ शब्दावली को छोड़कर एक ही भाषा तो हैं । गांधी जी हिंदुस्तानी की ओर सशक्त संकेत कर चुके थे । अपेक्षा थी तो केवल संकल्प की और अखिल भारतीय स्तर पर बात करने की । देश का बंटवारा 1947 में राजनीतिक आधार पर हो चुका था और यह चुनौती मिल चुकी थी कि आगे जाति, संप्रदाय, भाषा, क्षेत्र इत्यादि किसी आधार पर भी देश की एकता और अखंडता के रास्ते में कोई बाधा नहीं आने दी जाएगी । इन सब बातों को लेकर देश के कर्णधारों ने विचार करना प्रारंभ किया ।

इसी पृष्ठभूमि को लेकर 1948 में ही स्वतंत्र भारत के निर्माण के लिए शिक्षण और शिक्षा पद्धति के पुनर्गठन की व्यवस्था करने के लिए डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन की अध्यक्षता में विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग बिठाया गया । आयोग ने अपनी स्थिति और दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए घोषणा की कि ब्रिटिश कालीन शिक्षा पद्धति भारत की आत्मा, परंपरा और जनता के अनुरूप नहीं है और उसमें आमूलचूल परिवर्तन की आवश्यकता है । अध्याय 2 के अनुच्छेद 44 में कहा गया कि अंग्रेजी शिक्षा ने भारत के अतीत की अवहेलना की और कहीं-कहीं तो हमें हमारी जड़ों से ही काट दिया और शिक्षा के आर्थिक और आध्यात्मिक उद्देश्यों के बीच विषमता पैदा कर दी । इन्हीं कारणों से भारत में नई शिक्षा और शिक्षा पद्धति की आवश्यकता है ।

आयोग ने ब्रिटिश कालीन शिक्षा की एक और त्रुटि को समझा और उसके निराकरण का रास्ता सुझाया : अंग्रेजी शिक्षा थी वर्ग-विशेष के लिए, सबके लिए नहीं । किसको और कैसी शिक्षा मिले यह आज भी विद्यार्थी की अपनी योग्यता पर निर्भर नहीं करता बल्कि उसके परिवार की आर्थिक क्षमता पर निर्भर करता है । परिणाम यह होता है कि कितने ही होनहार युवक और बच्चे शिक्षा से वंचित रह जाते हैं । नेहरू जी के शब्दों का हवाला देकर आयोग ने शिक्षा के उद्देश्यों और उपलब्धियों की भी कड़ी आलोचना की : हमारे स्नातक शिक्षा प्राप्त करके भी क्या आशा करते है ? मात्र क्लर्क की नौकरी की । इसलिए आयोग ने शिक्षा के बारे में कई महत्वपूर्ण बातें कहीं :

1. शिक्षा हमारे देश की आत्मा, परंपरा और आंतरिक अनुभूतियों के अनुरूप हो ।
2. शिक्षा हमारी आज की आवश्यकताओं के अनुरूप हो अर्थात् हमारे वैयक्तिक, सामाजिक, आध्यात्मिक और राष्ट्रीय चरित्र के अनुसार हमारे कर्तृत्व को जगाने वाली हो ।
3. शिक्षा प्रत्येक भारतीय का जन्मसिद्ध अधिकार हो और उसकी अपनी योग्यता और राष्ट्र की आवश्यकताओं के अनुसार उपलब्ध हो ।

आयोग ने परंपरा की संपुष्टि तो की पर एक चेतावनी तथा सावधानी की आवश्यकता की ओर भी संकेत किया—क्या यह उचित होगा कि हम अपनी परंपरा या अतीत का अंधानुकरण करें ? नहीं । परंपरा एक सजीव प्रक्रिया है, समय के साथ अपने प्राचीनतम स्वरूप को रखते हुए आगे बढ़ती है और नए रूप धारण करती है । परंपरा सनातन का नित्य नूतन रूपांतर है । यह रूप उसकी वास्तविक आत्मा और सामयिक परिस्थितियों के समन्वय के अनुरूप होता है । जो समाज, राष्ट्र अथवा परंपरा नई हवा में सांस लेना बंद कर देता है, सोचना और काम करना बंद कर देता है, उसका कर्तृत्व घट जाता है और वह समाज मानो निष्प्राण हो जाता है । मध्यकाल में कुछ ऐसा ही हुआ और परिणाम यह हुआ कि ब्रिटिश काल में भारत अपनी परंपराओं से कट गया । आयोग का कहना था कि नई शिक्षा का उद्देश्य होगा भारत की आत्मा को जगाना, उसकी कर्मशक्ति को ललकारना और उसकी भावना को प्रेरित करना । संक्षेप में यह कि आधुनिक परिप्रेक्ष्य में भारत के कर्तृत्व को जगाना और उसे मात्र भोक्तृत्व या भाग्यवाद के कीचड़ से निकालना । कर्तृत्व के आधार पर ही आयोग ने अध्याय 2, अनुच्छेद 9 में लिखा कि शिक्षा का उद्देश्य है विकास—वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय । विकास और उन्नति पर्यायवाची हैं अतः शिक्षार्थी के दृष्टिकोण से आयोग ने इस विकास को दो भागों में बांटा :

1. व्यक्तित्व :
   - क. शारीरिक विकास ।
   - ख. सामाजिक उन्नति ।
   - ग. आध्यात्मिक उत्थान ।
2. पाठ्य विषय :
   - क. प्रकृति अध्ययन अर्थात् साइंस एवं टेक्नोलजी ।
   - ख. समाज अध्ययन अर्थात् अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र, इतिहास, सामाजिक मनोविज्ञान, इत्यादि ।
   - ग. अध्यात्म विषय अर्थात् धर्म, नैतिक मूल्य, मानविक साहित्य इत्यादि ।

हम यह देख सकते है कि नई शिक्षा के ये उद्देश्य और उनकी पूर्ति के लिए उसकी यह रूपरेखा भारत की प्राचीन परंपरा के अनुसार है । यहां तक कि परंपरागत विषयों की गणना भी की है । छांदोग्योपनिषद् 7,1,2 का उद्धरण देते हुए लिखते है कि : ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास-पुराण, व्याकरण, पित्र (पितृकर्म), राशि (गणितशास्त्र), दैव (भाग्यविज्ञान),

निधि (निधिज्ञान), वाकोवाक्य (तर्कशास्त्र), एकायन (नीतिशास्त्र), देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या (तत्त्वविद्या), क्षत्रविद्या (धनुर्वेद), नक्षत्र विद्या, सर्पदेवजन विद्या, सर्प विद्या, गंधर्व विद्या अर्थात् संगीत। मात्र विद्याओं की चर्चा ही नहीं अपितु विद्या का मूल्यांकन भी किया है : मनुष्य को केवल मंत्रवित् ही नहीं होना चाहिए, उसे आत्मवित् होना चाहिए। वैदिक और अरबी-फारसी परंपरा का समन्वय करते हुए आयोग ने कहा कि मनुष्य के अंदर इरफ़ान और इल्म अर्थात् ज्ञान और विज्ञान का समन्वय होना चाहिए (यूनिवर्सिटी एज्यूकेशन रिपोर्ट, I, पृ० 35, 41)।

परंपरा के अनुरूप शिक्षा की रूपरेखा के साथ-साथ माध्यम भाषा का भी महत्त्व है। शिक्षण केवल अपनी भाषा के माध्यम से ही हो सकता है। शिक्षार्थी और शिक्षा विषय-वस्तु के अनुसार ही शिक्षा-माध्यम होना चाहिए। इसका कारण सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक है। आयोग ने कहा कि भाषा समाज के आत्मा की अभिव्यक्ति है, उसके मानसिक जीवन और चेतना का मूर्त रूप है। यदि हम समाज की भाषा के अंतस्तल में उतर पाएं तो उस समाज के अंतरात्मा को भी पकड़ पाएंगे। खेत में काम करते, घरों को संवारते, नाव खेते, नाचते-गाते किसी भी अवस्था में समाज के नर-नारियों के दिलों की धड़कन, श्वास-प्रश्वास, विचारों का स्फुरण उनकी भाषा के एक-एक शब्द और वाक्य-रचना में ओत-प्रोत होता है। तो शिक्षा-माध्यम ? केवल अपनी भाषा, अपनी परंपरा, सभ्यता और संस्कृति का ध्वनित प्रतिरूप। विदेशी भाषा को शिक्षा-माध्यम बनाना शिक्षा सिद्धांत के नितांत विरुद्ध है, मानव स्वभाव के विरुद्ध है। (रिपोर्ट, I, पृ० 317)

शिक्षा के संबंध में आयोग के विचारों के अनुसार हम तीन बातों का उल्लेख कर चुके हैं : शिक्षा हमारी परंपरा के अनुरूप हो, हमारी आज की आशाओं, आकांक्षाओं और आवश्यकताओं को पूरा करे और योग्यतानुसार प्रत्येक नागरिक को उपलब्ध हो। ऐसी शिक्षा का माध्यम केवल अपनी भाषा ही हो सकती है, विदेशी भाषा नहीं, यह मनोविज्ञान और शिक्षा-सिद्धांत के अनुसार हम देख चुके हैं। आयोग के विचारानुसार स्वतंत्र भारत की आवश्यकताओं को देखकर भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचेंगे। हम देख चुके हैं कि शिक्षा का उद्देश्य आयोग की दृष्टि में था वैयक्तिक और सामाजिक उन्नति। वैयक्तिक उन्नति के भी तीन पहलू हम देख चुके हैं अर्थात् शारीरिक, सामाजिक और आध्यात्मिक। शारीरिक उन्नति तो एक क्रियात्मक विषय है और आध्यात्मिक उन्नति हमारे संस्कार, चेतना, चिंतन, इच्छा-शक्ति और भावना के परिष्कार इत्यादि पर निर्भर करती है। यह विषय व्यक्तिगत स्तर पर भी लिया जा सकता है किंतु उसकी अभिव्यक्ति तो सामाजिक क्षेत्र में ही होती है। जो व्यक्ति आध्यात्मिक स्तर पर ऊंचा है वह सामाजिक स्तर पर भी तो खरा उतरना चाहिए। इसलिए शिक्षा-माध्यम का सामाजिक शिक्षा के स्तर पर भी तो मूल्यांकन होना चाहिए।

आयोग ने भारत के नए विधान में व्यक्त मूल्यों के आधार पर शिक्षा के सामाजिक संदर्भ की संरचना की। वह संरचना अत्यंत महत्वपूर्ण है। रिपोर्ट के दूसरे अध्याय में आयोग ने कहा कि हमारे समाज का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग—अंग ही नहीं उसकी आत्मा—है जनतंत्र, जिसके अंदर प्रत्येक नागरिक को न्याय, स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व की भावना मिलनी चाहिए। बंधुत्व न केवल राष्ट्रीय हो अपितु अंतर्राष्ट्रीय भी हो। ये सभी मूल्य प्रत्येक व्यक्ति को न केवल मिलने चाहिए बल्कि उसे दूसरों को देने भी चाहिए। ये सभी मूल्य प्रत्येक नागरिक के जन्मसिद्ध अधिकार भी हैं और प्रत्येक का जन्मसिद्ध/समाजसिद्ध दायित्व भी है। ऐसी शिक्षा जो व्यक्ति को अपने अधिकार और दायित्व की चेतना दे वह केवल अपनी भाषा के माध्यम से ही हो सकती है। विदेशी भाषा के माध्यम से अधिकारों की चेतना तो बौद्धिक स्तर पर हो सकती है किंतु दायित्व की चेतना नहीं हो सकती, क्योंकि दायित्व की चेतना तो बुद्धि के स्तर पर होने के अतिरिक्त भावना के स्तर पर भी होनी चाहिए। यदि भावना के स्तर पर चेतना नहीं होगी तो सामाजिक रूप से मनुष्य अपंग रह जाएगा। अतः मनुष्य का सर्वांगीण सामाजिक विकास, उसकी उन्नति और अभिव्यक्ति केवल अपनी भाषा के माध्यम से हो सकती है, विदेशी माध्यम से नहीं।

ऐसा लगने लगा कि नवचेतना के साथ-साथ अंग्रेजी माध्यम की शाम हो चली है और सूर्यास्त के साथ ही भारतीय भाषाओं का सूर्योदय होने वाला है। स्वतंत्रता का उदय भी तो आधी रात को हुआ था।

26
सवेरे का अंधेरा

शिक्षा और शिक्षा-माध्यम के विषय में विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग ने भारत की आत्मा, परंपरा और नवोदित स्वतंत्रता के संबंध में जो बातें कीं वे हम देख चुके। वे सब बातें सिद्धांत रूप में की गई थीं। किंतु आयोग को तो सिद्धांत पक्ष के साथ-साथ क्रियात्मक सुझाव भी देने थे। देखें उनके सुझाव कहां तक नए भारत का पथ-प्रदर्शन कर पाए।

शिक्षा केवल व्यक्तिगत विषय नहीं है, इसकी परिधि समाज के अंतिम छोर तक जाती है और अंतर्राष्ट्रीय सीमा को भी छूती है। शिक्षित वर्ग न केवल अपने देश में ही वैधानिक और राष्ट्रीय संतुलन बनाकर सामूहिक उन्नति की ओर अग्रसर होता है बल्कि अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी देश की ओर से महत्त्वपूर्ण योगदान देता है। उस योगदान के लिए आवश्यकता है वास्तविक उपलब्धियों की जो विभिन्न क्षेत्रों में समूचे मानव समाज को आगे ले जा सकें। ये उपलब्धियां मात्र सुनी-सुनाई बात के पुनरावर्तन से, वाग्विलास से, शब्दांतरण से अथवा वैचारिक अनुकरण से नहीं हो सकतीं। वे तो मौलिक पर्यवेक्षण, चिंतन, दर्शन और वैचारिक अनुशीलन से ही हो सकती हैं। इन सब मानसिक परिक्रियाओं के लिए एक ऐसी भाषा की आवश्यकता है जो शब्द और वस्तु के अंतर को समाप्त करके हमारे चेतना-पटल पर शब्द को वस्तुभूत कर दे, और वह भाषा केवल वही हो सकती है जो हमारी पहली जीवन अनुभूति की अभिव्यंजक एवं साधक हो। यदि हम एक भाषा सीख चुके हैं और वह भाषा हमारी पहली भाषा है, चाहे वह भाषा मातृभाषा हो, या क्षेत्रीय भाषा हो या अखिल देश की भाषा हो, तो वही भाषा हमारे वास्तविक ज्ञानार्जन और ज्ञान-परिवर्धन का माध्यम हो सकती है। यदि हम दूसरी भाषा, देशी या विदेशी, सीखना भी चाहें तो भी उसी पहली भाषा के माध्यम से सीखेंगे। हां, दूसरी भाषा को सीखने के दौरान यदि हमारा वातावरण ही बदल जाए जहां पहली भाषा का प्रयोग तो क्या उसकी तरफ संकेत भी न होता हो तो दूसरी बात है। इसी बात को सामने रखकर विदेशी भाषा अर्थात् अंग्रेजी को सीखने की प्रक्रिया को चार्ल्स ग्रांट ने मानसिक अनुवाद कहा था। मकाले का मत भी यही था और लार्ड कर्जन ने तो यहां तक कह दिया था कि जो व्यक्ति अपनी मातृभाषा को अच्छी तरह नहीं जानता वह विदेशी भाषा भी नहीं सीख सकता। इन्हीं मनोवैज्ञानिक तथ्यों को ध्यान में रखते हुए राधाकृष्णन् आयोग ने सबल रूप से प्रारंभ में भारतीय भाषा का पक्ष लिया, विशेषकर हिंदी का।

भारतीय भाषा के पक्ष में आयोग ने दो प्रकार के कारण सुझाए : एक ऐतिहासिक और

दूसरा मनोवैज्ञानिक। और इन दोनों कारणों की व्याख्या उन्होंने विदेशी माध्यम के दृष्टांत के आधार पर की।

भारतीय ज्ञान-विज्ञान और अनुसंधान की परंपरा की चर्चा करते हुए लिखा कि हमारे देश में प्राचीन काल से ही विद्या नैतिकता की बड़ी ऊंची परंपरा रही है। मनु महाराज ने कहा था :

एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

अर्थात् देश-विदेश से लोग आकर यहां के विद्वानों और ऋषियों से चरित्र-शिक्षा लेते थे और समस्त पृथ्वी पर उसका प्रचार करते थे। आयोग ने दुख से यह कहा कि बाद में हमारा देश इस क्षेत्र में ढीला पड़ गया और हमारी नेतृत्व-परंपरा लुप्त हो गई। आयोग ने आशा व्यक्त की कि राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ बौद्धिक स्वतंत्रता का उदय होगा। यह नया उदय कैसे होगा ? इस स्वतंत्रता और उन्नति के तरीके को समझने के लिए हमें यह जानना होगा कि हमारी परंपरा का लोप क्यों और कैसे हुआ। इस परंपरा के लोप का कारण था विदेशी भाषा का उद्गम, राष्ट्रीय मानस का विभाजन, और वैचारिक सूखा। हमने अंग्रेजी माध्यम को अपनाकर बड़ी भारी कीमत अदा की है। तर्क और विचार पर जोर देने के स्थान पर हमने तोता-रटंत पर जोर दिया। हमने वास्तविक ज्ञान के स्थान पर शब्द-ज्ञान को अपना लिया। इसका दुष्प्रभाव पड़ा हमारे मौलिक चिंतन पर और मातृभाषा साहित्य-विकास पर। हम अंग्रेजी को तो कोई योगदान दे नहीं पाए, उलटा अपने को निर्धन बना लिया। शायद ही कोई एक भाषा-भाषी दूसरी भाषा के माध्यम से किसी उच्च साहित्य का सर्जन कर सके। जब शिक्षित वर्ग किसी विदेशी भाषा का भक्त होता है तो देश को बौद्धिक और सामाजिक दोनों प्रकार की हानि उठानी पड़ती है। संस्कृति, शिष्टता और सच्चे भ्रातृत्व की उन्नति और प्रचार केवल अपनी भाषा और साहित्य से ही हो सकता है। सांस्कृतिक, राष्ट्रीय और मनोवैज्ञानिक कारणों को सामने रखते हुए आयोग ने सिफारिश की कि माध्यम परिवर्तन के रास्ते में कितनी ही कठिनाइयां और खतरे क्यों न हों अंततोगत्वा परिवर्तन करना ही पड़ेगा। (पृ० I, 141, 317)

परिवर्तन करें तो किस दिशा में ? हिंदी, केवल हिंदी। हिंदी का समर्थन करने के लिए आयोग के द्वारा दो विकल्पों पर विचार किया गया। एक अंग्रेजी और दूसरा संस्कृत। संस्कृत की चर्चा हम बाद में करेंगे, अंग्रेजी पर पहले विचार करते हैं। एक शती से अधिक समय से अंग्रेजी के रंग में रंगे अफसर-बाबू अपनी सत्तासिद्ध भाषा को छोड़ने को तैयार नहीं थे। अंग्रेजी छोड़ने के प्रश्न पर उनकी भावनाएं आवेश में आ जाती थीं। यह भी कहा जाता था कि वास्तव में राष्ट्रीय भावना और राष्ट्रीय एकता अंग्रेजी भाषा और साहित्य की ही तो देन है, और यदि अंग्रेजी का सबल प्रभाव समाज पर से हट गया तो देश फिर से उसी मतभेद और आंतरिक विभाजन का शिकार हो जाएगा जिसे वह पहले भुगत चुका है। फिर आधुनिक सभ्यता, विज्ञान, दर्शन इत्यादि से संबद्ध मौलिक विचार भी तो अंग्रेजी से ही मिले हैं। अतः अंग्रेजी के माध्यम से ही हम अंतर्राष्ट्रीय ज्ञान-विज्ञान, नीति और साहित्य से संपर्क बनाए रख सकते हैं। अंग्रेजी

के पक्ष में ये सब सबल कारण थे । अंग्रेजी को छोड़ना मानो सांस्कृतिक और सामाजिक कृतघ्नता का ऐतिहासिक प्रतीक हो, ऐसा लगता था । (पृ० I, 316)

साथ में खुले शब्दों में यह कहा गया कि हिंदी भी कोई समृद्ध और सर्वमान्य भाषा तो नहीं । हिंदुस्तानी और उर्दू का भी स्रोत वही है जो हिंदी का है । फिर हिंदुस्तानी या उर्दू क्यों नहीं, हिंदी ही क्यों ? और हिंदी का कौन-सा रूप ? पूर्वी ? पश्चिमी ? इनमें से भी कौन-सा ? अथवा खड़ी बोली ? विज्ञान संबंधी शब्दावली तो उसमें है ही नहीं । शुद्ध हिंदी के पक्षधर संस्कृत को स्रोत भाषा मानने के अतिरिक्त प्रत्येक दूसरी भाषा के शब्दों पर नाक-भौं क्यों चढ़ाते हैं ? मानो शिक्षा और प्रशासन जगत में उन्हीं का साम्राज्य होने वाला है । अंग्रेजी समृद्ध है, विकसित है, प्रतिष्ठित है, तो अंग्रेजी ही क्यों न चले ?

आयोग ने यह दलीलें नहीं मानीं । अंग्रेजी को शिक्षा-माध्यम बने रहने देना तो शिक्षण और राष्ट्रहित दोनों के विरुद्ध होगा । बहुत दिनों पहले रवीन्द्र ठाकुर ने 'शिक्षा के हेरफेर' नामक निबंध में लिखा था कि बचपन में जब बच्चे भाषा सीखते हैं तो उस आयु में वे विचारों के क्षेत्र में प्रवेश नहीं कर पाते और बड़े होकर जब वे विचारों की ओर बढ़ते हैं तो विदेशी भाषा के पचड़े में पड़कर पीछे रह जाते हैं । उनको भाषा के साथ विचार नहीं मिलते और विचारों के लिए भाषा नहीं मिलती । ऐसी ही बात आयोग ने भी कही : स्कूल में प्रवेश पाने से पहले बच्चे अपनी मातृभाषा का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं जो उनके ऐंद्रिय अनुभव और दिनचर्या को व्यक्त करने के लिए काफी है । जब वे स्कूल में जाते हैं तो विचारों की एक दूसरी भाषा उनके ऊपर थोपी जाती है । इस दुरंगी भाषा और भाषा-विचार-अंतर से बच्चों का मानसिक विघटन हो जाता है और उनके व्यक्तित्व में एक विभाजन खड़ा हो जाता है । जीवन के दैनिक और वास्तविक तथ्यों, अनुभवों और मूल्यों के लिए वे मातृभाषा का प्रयोग करते हैं और स्कूली अनुभवों और विचारों के लिए विदेशी भाषा का । परिणाम यह होता है कि अपनी भाषा में व्यक्त करने के लिए उनके पास विचार नहीं होते और विचारों को व्यक्त करने के लिए अपनी भाषा नहीं होती । केवल व्यक्ति का ही नहीं, सारे राष्ट्र का विभाजन मानसिक स्तर पर हो जाता है, और केवल अंग्रेजी के कारण । सारा देश इसी प्रकार बाबू मानस् का शिकार हो गया । अंग्रेजी के कारण सारे देश का विभाजन कैसे हुआ ? एक ओर राष्ट्र के वे गिने-चुने लोग जो अंग्रेजी के आधार पर राज करते है और दूसरी ओर जनता की वह भीड़ जिस पर वे राज करते हैं । दोनों एक-दूसरे की भाषा को नहीं समझते । शासित तो अंग्रेजी नहीं जानते और शासक जनभाषा नहीं जानते । दोनों एक-दूसरे को न जानते न समझते । यह तो जनतंत्र की अवहेलना है । और जनतंत्र को नकारा नहीं जा सकता । इस कारण अंग्रेजी को तो जाना ही पड़ेगा । शुभस्य शीघ्रम् । (पृ० I, 316-17)

अंग्रेजी विकल्प को छोड़ने के बाद एक विकल्प और बचा, संस्कृत । अंग्रेजी के विरुद्ध और संस्कृत के पक्ष में जो कारण दिए गए वे अत्यंत सबल थे : संस्कृत भारत के जनमानस् और प्राचीनतम परंपरा की भाषा है । संस्कृत हमारे धर्म और आचार-संहिता की भाषा है । इसकी महानता, मधुरता और सौष्ठव अद्वितीय है । चाहे संस्कृत बोली न जाती हो किंतु फिर भी वह

हमारे वातावरण और वैयक्तिक एवं सामाजिक श्वास-प्रश्वास में ओतप्रोत है । हालांकि हिंदू संस्कृत से प्रेम करते हैं और संस्कृत साहित्य में श्रद्धा रखते हैं तथापि वह व्याकरण, काव्य और दूसरे सभी प्रकार के साहित्य के कारण सभी के लिए आदरणीय होनी चाहिए । (अनुच्छेद 41)

संस्कृत के विरोध में भी कुछ कारण बतलाए गए । एक तो यह कि संस्कृत को राजभाषा बनाना वास्तविकता से दूर जाना होगा । दूसरे यह कि अत्यंत सुंदर होने के साथ-साथ यह अत्यंत कठिन भाषा भी है । इसलिए यह कभी जनता की भाषा नहीं बन पाएगी । आज थोड़े परंपरागत शिक्षित परिवारों और कुछ उद्यमशील लोगों को छोड़कर कोई भी तो दैनिक जीवन में इसका प्रयोग नहीं कर रहा । यदि इसको शिक्षा का माध्यम भी बना दिया गया तो विद्यार्थी का बहुत सारा समय केवल भाषा को सीखने में ही निकल जाएगा । आयोग ने यह भी नोट किया कि संस्कृत अंग्रेजी से भी कठिन भाषा है, इसलिए अधिकतर विद्यार्थी संस्कृत-माध्यम के कारण ही विश्वविद्यालय तक नहीं पहुंच पाएंगे । परिणाम यह होगा कि शिक्षित और जनसाधारण एवं शासक और शासित वर्ग के बीच संस्कृत भाषा एक दीवार बनकर खड़ी हो जाएगी । जनता कभी भी संस्कृत के माध्यम से देश के प्रशासन संबंधी कार्यों में भाग नहीं ले पाएगी ! यह भी जनतंत्र की अवहेलना होगी । (अनुच्छेद 42)

यदि अंग्रेजी और संस्कृत दोनों ही विकल्प अमान्य हों तो एक ही विकल्प बचा, वह था हिंदी । हिंदी के पक्ष में आयोग ने अनुच्छेद 43 में लिखा : शिक्षा और प्रशासन के माध्यम के लिए कोई विकल्प नहीं, सिवाय हिंदी के । नए भारत के लिए एक ऐसी भाषा को चुना जाए जो देश की जनता के अधिकतम भाग द्वारा बोली जाती हो, उसी भाषा को राजभाषा का स्थान दिया जाए और उसी स्थान और महत्त्व के अनुसार उसका विकास किया जाए । जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है यह स्थान केवल हिंदी ही ले सकती है जिसे देश की 12 करोड़ जनता बोलती है । इस भाषा में अंतर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक और तकनीकी शब्दावली का समावेश होना चाहिए । इस प्रकार आवश्यकता के अनुसार हिंदी का विकास करना पड़ेगा—यदि वह केंद्रीय भाषा बन जाए तो । एक नया 'यदिवाद' !

इस नए 'यदिवाद' के पीछे अनेक प्रश्न खड़े थे : यदि हिंदी केंद्रीय भाषा बन गई तो अहिंदी-भाषी लोगों का राजकार्य में भाग और योगदान कम नहीं हो जाएगा ? क्या हिंदी-भाषियों को राजकार्य में अनुचित लाभ नहीं मिलेगा ? क्या केंद्र अहिंदी-भाषी बुद्धिजीवियों के योगदान से वंचित नहीं रह जाएगा ? इनके अतिरिक्त और प्रश्न भी उठाए गए :

1. प्रादेशिक सरकारों, विधान सभाओं और उच्च न्यायालयों की भाषा क्या होगी/ होंगी ?
2. केंद्रीय और प्रादेशिक भाषाओं का क्या संबंध रहेगा ?
3. केंद्र और प्रदेश/राज्य की सरकारों का परस्पर संचार का माध्यम क्या होगा ?
4. केंद्रीय और प्रादेशिक सेवा चयन परीक्षाओं का माध्यम क्या होगा ?
5. यदि हिंदी केंद्रीय भाषा बनी तो विज्ञान और टेक्नोलजी के क्षेत्र में समस्त भारत

के विद्वान् और अध्यापक भारत में सभी जगह स्थान कैसे पाएंगे ? क्या संकुचित चयन से अखिल भारतीय विज्ञान का रूप विकृत नहीं हो जाएगा ? (अनुच्छेद, 44-45, पृ० I, 319-20)

इन प्रश्नों के उठते ही फिर अंग्रेजी की छाया सामने आ कर खड़ी हो गई और अंग्रेजी की शाम तो हुई या न हुई, पर हिंदी का उदय अवश्य धुंधला पड़ गया । हिंदी को केंद्रीय भाषा मानकर इन प्रश्नों के संदर्भ में आयोग को मानो खिंची तार पर चलना पड़ा । आयोग ने लिखा कि हमें केंद्रीय भाषा के माध्यम से देश की एकता और अखंडता का संरक्षण और संवर्धन तो करना है किंतु साथ में शिक्षा और संस्कृति के क्षेत्र में जो प्रादेशिक भाषाओं का योगदान है उसे भी बनाए रखना है । इसलिए हमें ऐसी भाषा-नीति अपनानी होगी जिससे केंद्रीय और क्षेत्रीय भाषाओं के परस्पर महत्त्व का संतुलन बना रहे और देश के सभी भाषा-भाषी नागरिकों के हितों की बराबर रक्षा की जा सके । (अनुच्छेद 45, पृ० I, 320)

अब तो केंद्रीय और क्षेत्रीय भाषाओं के विकास, स्थिति और महत्त्व की तुलना करना आवश्यक हो गया । अंग्रेजी की छाया तले तो सब कुछ था ही । अंग्रेजी को 'अनसाउंड' अर्थात् भारी भूल मानकर भी उसकी प्रशंसा खुले शब्दों में की गई कि अंग्रेजी स्थानीय अथवा क्षेत्रीय लागलपेट से मुक्त है । दूसरे शब्दों में यह कहा जाएगा कि हिंदी के साथ किसी के हित अथवा अहित जो भी जुड़े हैं उनकी अपेक्षा अंग्रेजी के सामने सब बराबर हैं । अंग्रेजी किसी की मातृभाषा तो नहीं, सभी के लिए वह तो विदेशी भाषा है और उसके माध्यम से सभी का लाभ-हानि बराबर है । हिंदी से ऐसी समता की अपेक्षा नहीं की जा सकती क्योंकि देश का बहुत बड़ा वर्ग हिंदी-भाषी है किंतु शेष तो अहिंदी-भाषी है । इसलिए सारे देशवासियों के संतुलित हितों को सामने रखते हुए आयोग ने यह कह दिया कि केंद्रीय भाषा के प्रश्न पर हमें अपना दृष्टिकोण बदलना होगा । (अनुच्छेद 46)

वह बदलाव क्या हो ? आयोग ने पहले तो स्वयं ही यह सुझाया था कि केंद्र की भाषा हिंदी हो और वह अंग्रेजी का स्थान ले । यह सुझाव आयोग ने ऐतिहासिक और सामयिक स्वतंत्रता संबंधी परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में दिया था । आयोग ने अब कहा कि अंग्रेजी और भारत की सभी भाषाओं के संदर्भ में हमें यह विचार छोड़ना होगा कि केंद्रीय शासन और सारे भारत में उच्चस्तरीय शिक्षा का माध्यम एक हो । भारतीय भाषाओं के मध्य हिंदी के प्रभुत्व का कोई स्वाभाविक अथवा वास्तविक आधार नहीं है । यह कांटा बदलना था कि हिंदी की तथाकथित कमियां सामने आ गईं । यह मानते हुए भी कि हिंदी बोलने वाले किसी और भाषा के बोलने वालों से संख्या में अधिक है हिंदी को अल्पसंख्यकों की भाषा कह दिया गया, चाहे वह अल्पसंख्या अपने आप में कितनी ही बड़ी क्यों न हो । दूसरी किसी भारतीय भाषा की अपेक्षा उसमें कोई विशेषता भी नहीं दीखी । इतिहास और साहित्य की दृष्टि से तमिल संस्कृत के समकक्ष है । मराठी तेरहवीं शती से, बंगला नवीं शती से, उर्दू पंद्रहवीं शती से और ब्रजभाषा सोलहवीं शती से प्रारंभ हुईं जबकि खड़ी बोली का इतिहास तो अधिक से अधिक डेढ़ सौ वर्ष पुराना है । और

हिंदी में रवीन्द्र ठाकुर और इकबाल सरीखे लेखक तो अभी जन्मे ही नहीं । ब्रजभाषा और अवधी साहित्य का मुकाबला तो हिंदी साहित्य कर ही नहीं सकता । (अनुच्छेद 46)

और फिर केवल एक ही केंद्रीय भाषा का होना अनिवार्य है क्या ? कैनेडा में दो भाषाएं हैं—अंग्रेजी और फ्रेंच; स्विट्जरलैंड में तीन हैं—जर्मन, इटेलियन और फ्रेंच; बेल्जियम में दो भाषाएं हैं—बालून और फ्लेमिश । फ्रांस में फ्रेंच अवश्य है और अमरीका में अंग्रेजी है, पर भारत में हिंदी की वह स्थिति नहीं है जो फ्रांस में फ्रेंच की है अथवा अमरीका में अंग्रेजी की है । इसी प्रकार रूस में भी कई भाषाओं को मान्यता मिली हुई है, पर रूसी केवल अपनी आंतरिक और सामाजिक शक्ति के आधार पर अपना प्रभुत्व जमाए हुए है । हिंदी की ऐसी सत्तासिद्ध स्थिति भारत में न पाकर कमीशन ने एक महत्त्वपूर्ण बात कही जो आज भी हमारी भाषा-नीति से संबद्ध है, हमारे मानसिक, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन के साथ जुड़ी हुई है :

इन परिस्थितियों में हमारी राष्ट्रीय आवश्यकताएं हमें मजबूर तो करती हैं कि हम हिंदी-हिंदुस्तानी को केंद्रीय भाषा के रूप में स्वीकार करें किंतु यह भी कठिन है कि उसे वही महत्त्व और स्थान दिया जाए जो हमने अंग्रेजी को अपनी भूमिका निभाने के लिए दिया है । (अनुच्छेद 47, पृ० I, 321)

इसे कहते हैं एक हाथ से देना और दूसरे हाथ से लेना । क्या इसका अर्थ यह है कि हिंदी अर्थात् एक भारतीय भाषा जो केंद्रीय भाषा का स्थान पा ले वह भी केंद्रीय भूमिका नहीं निभा पाएगी ? क्या अंग्रेजी की छाया उसे पूर्ण रूप से विकसित नहीं होने देगी ? एक ओर तो आयोग ने कहा कि अंग्रेजी जनतंत्र की अवहेलना है । कारण ? अंग्रेजी जनता को दो वर्गों में बांटती है : एक वे शिक्षित लोग जो राज और राष्ट्र के कर्णधार हैं, और दूसरे वे जो अशिक्षित हैं, देश की रीढ़ की हड्डी हैं, लेकिन सिवाय बेबसी के कोई दूसरी भूमिका नहीं निभा पा रहे । यदि जनतंत्र की भूमिका निभाने के लिए एक केंद्रीय भाषा चाहिए जो भारतीय परिवार की हो, और यदि वह भाषा हिंदी है तो हिंदी की यह अवहेलना क्यों ? लगता ऐसा है कि समस्या पर विचार करने वाले सभी अंग्रेजीनिष्ठ थे और यद्यपि उन्होंने रवीन्द्र ठाकुर और इकबाल को पहचाना पर पंत, प्रसाद और निराला को याद नहीं कर पाए । अंग्रेजी को जनतंत्र की अवहेलना कह कर भी हिंदी के मुकाबले वे अंग्रेजी का ही समर्थन कर गए, यह कहकर कि हिंदी के साथ जो स्थानीय या क्षेत्रीय पक्षपात जुड़े हुए हैं अंग्रेजी उनसे पूर्णतया मुक्त है । अर्थात् हिंदी यदि योग्यता के आधार पर हिंदी-भाषियों के पक्ष में और अहिंदी-भाषियों के विरुद्ध असमानता का कारण बनकर जनतंत्र की अवहेलना करती है तो अंग्रेजी के साथ अयोग्यता के आधार पर सभी को समानता प्रदान करके जनतंत्र का साधन बनती है । जिस अयोग्यता के आधार पर उन्होंने अंग्रेजी को मान्यता दी उसी कथित अयोग्यता एवं असमानता के आधार पर उन्होंने संस्कृत को क्यों नहीं मान लिया ? संस्कृत में तो इकबाल और टैगोर से भी बड़े साहित्यकार हो चुके हैं और उसके माधुर्य और सौष्ठव को तो संसार के सभी विद्वान् मानते हैं, केवल लार्ड मकाले को छोड़कर । सीधा निष्कर्ष यह निकलता है कि आयोग के सदस्य अंग्रेजी परंपरा में शिक्षित होने के कारण अपने मानसपटल

पर पड़े अंग्रेजी संस्कारों से छुटकारा नहीं पा सके और एक अयोग्यता, असमताबद्ध जनतंत्र के पक्ष में देश की जनता के साथ न्याय नहीं कर पाए । वे न हिंदी का समर्थन कर पाए, न ही अंग्रेजी का, पर अंग्रेजी को अपने स्थान पर तो छोड़ ही दिया ।

फिर भी आयोग ने हिंदी का समर्थन किया किंतु मजबूर होकर । सो भी एक सीमा तक :

1. राष्ट्र की आवश्यकताओं को देखते हुए हमें हिंदी/हिंदुस्तानी को केंद्रीय भाषा के रूप में मानना पड़ेगा ।
2. किंतु यह मुश्किल है कि इसे वह रोल दिया जाए जो कि अंग्रेजी ने अदा किया है ।
3. केंद्रीय भाषा केंद्रीय क्रियाकलाप में प्रयोग की जाएगी अर्थात् सभी सांस्कृतिक, शिक्षा संबंधी और प्रशासनिक कार्यों में ।
4. प्रदेशों और संघ की इकाइयों के अंदर प्रादेशिक भाषाओं का वही स्थान होगा जो केंद्र में केंद्रीय भाषा का होगा ।
5. भारत के शिक्षित नागरिकों को दो भाषाएं सीखनी पड़ेंगी, प्रादेशिक भाषा और केंद्रीय भाषा, ताकि प्रदेश एवं संघीय इकाइयां संघीय कामों में पूरा भाग ले सकें और अंतर्राज्यीय भावना और एकता को बढ़ावा मिले ।
6. सेकंडरी स्तर और विश्वविद्यालय स्तर पर प्रत्येक विद्यार्थी को तीन भाषाएं आनी चाहिए : क्षेत्रीय भाषा, केंद्रीय भाषा और अंग्रेजी (ताकि वह अंग्रेजी में पुस्तकें पढ़ सके) ।

इस प्रकार आयोग के द्वारा तीन भाषाओं की सिफारिश की गई । शिक्षा-माध्यम के संबंध में उनके विचार इस प्रकार थे :

1. प्रदेशों में शिक्षा का माध्यम प्रादेशिक भाषा हो । प्रादेशिक माध्यम से विद्यार्थियों का शिक्षा-स्तर ऊंचा होगा और वे रिसर्च में भाग ले सकेंगे । विश्वविद्यालय-स्तर तक शिक्षा प्रादेशिक भाषाओं के माध्यम से हो । (इसका अर्थ यह हुआ कि हिंदी-क्षेत्र में शिक्षा-माध्यम हिंदी हो ।)
2. प्रदेशों को यह छूट हो कि वे प्रादेशिक भाषा के साथ-साथ कुछ विषयों में अथवा सभी विषयों में केंद्रीय भाषा को शिक्षा-माध्यम के रूप में स्वीकार कर लें । सह-माध्यम के इस क्षेत्र में वे स्वतंत्रतापूर्वक अपने प्रयोग करें ।
3. किसी विद्यार्थी को डिग्री न मिले जब तक कि वह अंग्रेजी लेखकों की पुस्तकें पढ़ने में सक्षम न हो । अंग्रेजी पढ़ना हमारा युगधर्म है ।

भाषा-विकास के बारे में यह कहा गया कि :

1. केंद्रीय भाषा अर्थात् हिंदी देवनागरी लिपि में लिखी जाए और देवनागरी लिपि का सुधार किया जाए ।
2. हिंदी में सभी स्रोतों से शब्द लेकर शब्दावली का विस्तार किया जाए विशेषकर प्रादेशिक भाषाओं से । जो शब्द बाहर से आ गए हैं उन्हें रखा जाए ।

3. विज्ञान और टेक्नोलजी के क्षेत्र में अंतर्राष्ट्रीय शब्दावली को अपनाया जाए, उनका उच्चारण और लिखित रूप भारतीय भाषा के अनुसार निश्चित किया जाए ।
4. वैज्ञानिकों और भाषाशास्त्रियों का एक बोर्ड बनाया जाए जो विज्ञान-शब्दावली तैयार करे । वह शब्दावली सभी भारतीय भाषाओं में स्वीकार की जाए । वही बोर्ड विज्ञान के विविध क्षेत्रों में पुस्तकें तैयार कराए ।
5. राज्य सरकारें सभी हायर सेकंडरी स्कूलों, कालेजों और विश्वविद्यालयों में केंद्रीय भाषा पढ़ाने का प्रबंध करें ।
6. सभी हाई स्कूलों और विश्वविद्यालयों में अंग्रेजी पढ़ाई जाए ।

यहां इन सिफारिशों का अध्ययन और मूल्यांकन करना उचित होगा ।

स्वतंत्र भारत के योजनाबद्ध विकास में शिक्षा क्या और कैसे भूमिका निभाए इस प्रश्न के अंतर्गत विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग का गठन हुआ था । आयोग से अपेक्षा की गई थी कि वह भारत में विश्वविद्यालय शिक्षा पद्धति का अध्ययन करे और देश की वर्तमान और भावी आवश्यकताओं के अनुरूप शिक्षा पद्धति में फेरबदल का सुझाव दे अर्थात् कहां सुधार चाहिए और कहां विस्तार । इसी कार्यक्रम के अंतर्गत शिक्षा-माध्यम भी एक मुद्दा था ।

शिक्षा के उद्देश्यों की चर्चा करते हुए आयोग ने शिक्षा को सृष्टि, समाज और मानव प्रकृति के संदर्भ में देखा । सृष्टि को उन्होंने तीन भागों में बांट कर देखा : (1) प्रकृति, (2) समाज, (3) आत्मा ।

इन तीनों को सामने रखकर शिक्षा-विषयों का वर्गीकरण किया गया । तीनों को समझने के लिए विज्ञान और टेक्नोलजी, सामाजिक विज्ञान, और साहित्य, कला-धर्म इत्यादि के रूप में समस्त विषयों का वर्गीकरण किया गया । विज्ञान और टेक्नोलजी के द्वारा मनुष्य प्राकृतिक तथ्यों और प्रक्रियाओं का अध्ययन करता है । सामाजिक विज्ञान के द्वारा वह सामाजिक तथ्यों, प्रक्रियाओं और मूल्यों का अध्ययन करता है, और धर्म, दर्शन, कला इत्यादि के माध्यम से वह सनातन, सार्वभौम, सर्वकालीन तथ्यों तथा मूल्यों का अध्ययन करता है । अथवा हम यों कह सकते हैं कि प्राकृतिक तथ्यों और टेक्नोलजिकल उपलब्धियों के आधार पर, सामाजिक तथ्यों और प्रक्रियाओं के संदर्भ में, सार्वभौम, सर्वकालीन मूल्यों (अर्थात् सनातन मूल्यों/धर्म) की सिद्धि के लिए युगधर्म को समझने और उसके अनुसार अपने कर्तव्यों का पालन करने के लिए मनुष्य शिक्षा से प्रेरणा लेता है । अतः शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य सामयिक सफलता नहीं है । सामयिक सफलता भी आवश्यक है किंतु वह उसी समय तक सराहनीय है जब तक वह सनातन सिद्धि में योग दे । मात्र सामयिक सफलता तो अवसरवाद ही कहलाएगा । सनातन मूल्य मनुष्य को अवसरवाद से ऊपर उठने की प्रेरणा देते हैं ।

इस दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में शिक्षा की सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक पृष्ठभूमि महत्त्वपूर्ण हो जाती है । आयोग ने शिक्षा की इस पृष्ठभूमि का और वर्तमान परिस्थितियों का

पर्यवेक्षण किया । वर्तमान परिस्थितियों का सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य तो यह था कि भारत अंग्रेजी दासता के युग से निकलकर एक स्वतंत्र गणराज्य के रूप में अपने नए इतिहास के निर्माण युग में प्रवेश कर चुका था और सनातन परंपरा से प्रेरित होकर नए युगधर्म के मूल्यों को अपने विधान में लिपिबद्ध कर रहा था । ये मूल्य थे : न्याय, स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व । जनतंत्र केवल शासन प्रणाली ही नहीं, एक जीवन शैली भी है, एक सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था ही नहीं, एक धर्म भी है । यह केवल एक उपलब्धि नहीं है, एक जिज्ञासा और खोज भी है । इसी धर्म, जिज्ञासा और खोज को हम कह सकते हैं सेक्यूलरिज़्म जो लोकधर्म का ही पर्याय है । इसी कारण जनतंत्र नितांत परिवर्तनशील है, जिस परिवर्तन में एक विशेष प्रकार की सजीव स्थिरता भी है । परिवर्तन, प्रगति और स्थिरता, संयम और स्वतंत्रता, सत्ता और उत्तरदायित्व, इन सभी का समीकरण, संतुलन और संप्राप्ति, यही तो जनतंत्र की खोज है । इस खोज का आधार और उपकरण शिक्षा है जो सामूहिक स्तर पर व्यवस्थित होकर दोनों की सिद्धि के लिए व्यक्ति और समष्टि दोनों के माध्यम से राष्ट्र को लक्ष्य की ओर बढ़ाती है ।

इस सामूहिक लक्ष्य की खोज में व्यक्ति और समष्टि दोनों का महत्त्व है । राष्ट्र, संगति और प्रगति एक राग है जो निरंतर चलता रहता है । इसमें व्यक्ति और समष्टि दोनों महत्त्वपूर्ण हैं । प्रत्येक व्यक्ति एक सुर है और सभी व्यक्ति मिलकर समष्टि राग की संरचना करते हैं । सुर के बिना राग नहीं और राग के बिना सुर नहीं । इसलिए जनतंत्र के अंदर शिक्षा का उद्देश्य है प्रत्येक सुर को सबल और सरस बनाना । जनतंत्र में शिक्षा कभी भी किसी वर्ग-विशेष के लिए नहीं होती । इसी कारण शिक्षा-माध्यम भी किसी वर्ग-विशेष की भाषा नहीं होना चाहिए । जनतंत्र की सच्ची सिद्धि के लिए शिक्षा-माध्यम अनिवार्य रूप से जनता की भाषा ही होना चाहिए ।

व्यक्ति अपनी भूमिका निभाने के लिए सक्षम कैसे हो ? इसके लिए आयोग ने व्यक्ति का मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया । मनुष्य के अंदर तीन प्रकार की मानसिक शक्तियां हैं । ये हैं : ज्ञान, भाव और इच्छा (कर्मशक्ति) । ये तीनों प्रत्येक व्यक्ति के अंदर किसी न किसी मात्रा और अनुपात में होते है और ये उसके अंतरात्मा के अंग होते हैं । इन तीनों के माध्यम से हम उसके अंतरात्मा को छू सकते है । शिक्षक का यह दायित्व है कि वह इन तीनों के माध्यम से विद्यार्थी को सबल और सरस बनाए । इसी कारण यह आवश्यक है कि हम अपने आप से एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न पूछें और मिलकर उसका उत्तर खोजें : मनुष्य के अंतरात्मा को कैसे छूएं ? आयोग के अपने शब्दों में भाषा समाज के अंतरात्मा का मूर्त और व्यक्त रूप है । यदि किसी व्यक्ति या समाज के आत्मा को छूना है तो उसकी अपनी भाषा के माध्यम से छूओ । यदि आपको उसकी भाषा पर अधिकार है तो उसी के शब्दों में आप उसके मन को जीत सकते हैं । शिक्षा में समाज की भाषा और उसके साहित्य के अध्ययन का स्थान पहला है । (अध्याय 2, अनुच्छेद 12, पृ० I, 39)

तो परतंत्र और स्वतंत्र भारत में मूल अंतर यह रहा कि परतंत्र भारत के दिमाग पर अधिकार पाने के लिए शासक ने उसे विदेशी भाषा दी और उसको अपनी संस्कृति और परंपरा से काटने का प्रयास किया । स्वतंत्र भारत की आकांक्षा यह रही कि देश को अपनी परंपरा,

सभ्यता, संस्कृति और आत्मा से जोड़कर प्रयत्नशील आधुनिक युग में प्रगतिशील बनाया जाए । अतः शिक्षा का माध्यम देश की भाषा या भाषाएं हों । विदेशी भाषा तो शिक्षा-माध्यम हो ही नहीं सकती । यही कारण था कि आयोग ने कहा था कि यदि अंग्रेजी को शिक्षा-माध्यम रखा गया तो यह जनतंत्र और स्वतंत्रता की अवहेलना होगी ।

अब देखें कि आयोग की अपनी सिफारिशें उन्हीं की कसौटी पर कितनी खरी उतरती हैं । शिक्षा-माध्यम पर विचार प्रारंभ करते समय आयोग ने एक बात कही थी : शिक्षा संबंधी किसी और समस्या पर इतना विवाद और मतभेद नहीं हुआ जितना माध्यम के प्रश्न पर (पृ० I, 305) । यही बात शायद आयोग के अपने संबंध में भी ठीक हो ।

आयोग ने स्वतंत्रता सेनानियों की एक प्रबल भावना का आदर किया : स्वतंत्र भारत में शिक्षा, प्रशासन तथा संपर्क के माध्यम के रूप में अंग्रेजी के स्थान पर कोई भारतीय भाषा आनी चाहिए । वास्तव में स्वतंत्रता-प्राप्ति के साथ ही यह परिवर्तन हो जाना चाहिए था । (वही, पृ० I, 305) । भारतीय जीवन और व्यवहार के प्रति अंग्रेजी के योगदान के बावजूद इस तत्य का भी आदर किया गया कि अंग्रेजी भारत की जनता को शिक्षित और अशिक्षित दो वर्गों में विभाजित करती है और जनतंत्र की अवहेलना करती है, और यह भी माना गया कि परिवर्तन तो करना ही पड़ेगा, आज नहीं तो कल ।

यदि परिवर्तन आना ही है तो भाषा कौन-सी हो ? उत्तर : हिंदी । इस उत्तर के साथ-साथ राष्ट्रीय मजबूरी की चर्चा करके हिंदी के रास्ते में जो कठिनाई आ सकती थीं और हिंदी के साथ आएंगी एवं क्षेत्रीय भाषाओं का जो भी विरोध होगा तथा हिंदीतर भाषा-भाषियों को जो भी हानियां और हिंदी-भाषियों को जो अनुचित लाभ होने की आशंकाएं थीं उन सबका विवरण देकर आयोग ने यह कह दिया कि कुछ भी हो हिंदी को वह स्थान तो दिया नहीं जा सकता जो अंग्रेजी का है (पृ० I, 321) । केंद्रीय/संघीय भाषा बनने के लिए हिंदी को क्या तैयारी करनी पड़ेगी, यह भी सुझाया गया । हां, एक आशा अवश्य व्यक्त की गई कि एक दिन ऐसा आएगा जब भारत के विभिन्न क्षेत्रों के बीच से भाषाओं की दीवारें गिर जाएंगी और समस्त भारत के लोग एक ही भाषा में बात किया करेंगे । उस समय हिंदी भारत के संसद, उच्चतम न्यायालय और केंद्रीय प्रशासन की भाषा होगी और अंततोगत्वा अंग्रेजी राजभाषा नहीं रहेगी, न राज्यों में न केंद्र में, मानो अंग्रेजी नाटक पर पर्दा गिर जाएगा । (पृ० I, 307, 325)

जनतंत्र की सिद्धि हिंदी से और उसी माध्यम के कारण क्षेत्रीय असमानता, अंग्रेजी का चले जाना और हिंदी को अंग्रेजी वाला स्थान न मिलना, क्षेत्रीय शिक्षा और प्रशासन का माध्यम क्षेत्रीय भाषाएं, और हिंदी को क्षेत्रीय मानकर साथ में जब तक क्षेत्र हिंदी के लिए सहमत न हों तब तक अंग्रेजी का चलते रहना, इन सब बातों से ऐसा लगता है कि जो विवाद और मतभेद आयोग को जनता के विचारों में दीखा था वही आयोग के अपने मत में भी एक द्वंद्व बनकर रह गया । आज तक वह द्वंद्व साफ नहीं हो पाया है ।

प्रश्न था शिक्षा-माध्यम का, उलझ गया शासन-माध्यम से । किसी भी योजनाशील स्वतंत्र

अथवा परतंत्र समाज में शिक्षा साधन होता है, सत्ता साध्य और शासन कहीं साधन कहीं साध्य। शिक्षा साधन और साध्य दोनों हो, यह विकास की चरम सीमा है। वहां पहुंचने पर रास्ता और मंजिल दोनों एक हो जाते हैं। शिक्षा आयोग रास्ता और मंजिल दोनों में से किसी को भी असंदिग्ध रूप से नहीं सुझा पाया।

आयोग को अंत में यह कहना चाहिए था, जैसे कि उन्होंने प्रारंभ में ही कहा था, कि अंग्रेजी को शिक्षा-माध्यम और शासन-माध्यम दोनों रूप में जाना चाहिए क्योंकि वह जनतंत्र की अवहेलना करती है। साथ ही साथ, तत्पश्चात् नहीं, यह भी कहना चाहिए था कि कोई भी भारतीय भाषा माध्यम रूप में अपनाई जानी चाहिए। वह भाषा कौन-सी हो इसका निर्णय जनता करे। संक्षेप में : अंग्रेजी भारतीय भाषाओं के समकक्ष नहीं है, भारतीय भाषाएं ही एक-दूसरे के समकक्ष हैं। किंतु प्रश्न को यह कहकर उलझा दिया गया कि अंग्रेजी तो अखिल भारतीय भाषा है, हिंदी केवल क्षेत्रीय भाषा है। अतः अखिल भारतीय भाषा का स्थान क्षेत्रीय भाषा कैसे ले सकती है? सवेरे चले थे शाम को वापस वहीं पहुंच गए।

27
मेहमान की नजर से

सवेरे का अंधेरा बड़ा पवित्र होता है। विशुद्ध मन के लिए वह ब्राह्म मुहूर्त है जिसमें निर्मल सत्य के दर्शन हो सकते हैं। किंतु नजर का दोष हो तो धुंधला दीखता है, बुद्धि का दोष हो तो उलटा दीखता है और स्मृति का दोष हो तो सूर्य में भी वही रंग दीखते हैं जो स्मृति-पटल से उभरकर आते हैं। 1948-49 में शिक्षा और भाषा के संबंध में भी हमारे साथ ऐसा ही हुआ। डेढ़ सौ वर्ष की स्मृतियां उभरकर हमारे सामने आ गईं और हमारे विचारों पर छा गईं। हमारे विचारों का अर्थ है विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग और उनके बहुत सारे सहयोगी जो अंग्रेजी के रंग में रंगे थे और चोला बदलना नहीं चाहते थे। हो सकता है आदत से मजबूर हों।

1947 स्वतंत्रता का प्रवेश-द्वार था और अंग्रेजी शासन का निकास-द्वार। इस नाते स्वतंत्र भारत का पहला शिक्षा आयोग स्वतंत्र शिक्षा का सिंहद्वार होना चाहिए था। ऐसी ही प्रेरणा लेकर आयोग ने कहा था कि शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए मानव को अच्छा नागरिक बनाना, स्वतंत्र विचार और सही नेतृत्व की क्षमता देना और इसके लिए उसे अपनी परंपरा से जोड़कर आगे चलने की प्रेरणा देना। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए मनुष्य का शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक विकास आवश्यक है। आयोग ने यह सब कुछ कहा और यह भी कहा कि भारत का आर्थिक और सामाजिक विकास तभी होगा जब हमारे नागरिकों का सर्वांगीण और सामूहिक विकास होगा। अंग्रेजी भाषा से इन स्वतंत्र मुद्दों की पूर्ति नहीं हो सकती थी। गांधी जी, रवीन्द्र ठाकुर, श्री अरविंद आदि यह कह चुके थे। आयोग के सदस्य इन तथ्यों से अनभिज्ञ नहीं थे। वे तो स्वयं कह चुके थे कि अंग्रेजी दासता और विभाजन का प्रतीक है। स्वतंत्र भारत को भाषा का फेरबदल करना होगा, इस फेरबदल के लिए चाहे कितनी ही तकलीफ क्यों न उठानी पड़े और कितनी ही कीमत क्यों न चुकानी पड़े। आयोग ने बलपूर्वक कहा कि अंग्रेजी वही स्थान भारत में नहीं रख सकती जो पहले था। तो अंग्रेजी के स्थान पर कौन-सी भाषा आए? उत्तर : यह स्थान केवल हिंदी ले सकती है। (रिपोर्ट I, पृ० 316, 319)

एक बार तो ऐसा लगा जैसे निकास-द्वार से अंग्रेजी तो गई और प्रवेश-द्वार से हिंदी आई। अंग्रेज तो दो दिन (शताब्दी) के मेहमान थे चले गए। अंग्रेजी मेहमान की भाषा थी, वह भी तो जानी चाहिए थी। पर गई नहीं, उसे निकास-द्वार तक जाने ही नहीं दिया गया मानो मेजबान ने रास्ता रोक लिया हो। वास्तव में मेहमान तो गया पर चश्मा छोड़ गया और 'फॉरेन' के लालच में हिंदुस्तानियों ने पहन लिया। सब कुछ अंग्रेजी ही अंग्रेजी दीखने लगा। अंग्रेजीदानों

के अतिरिक्त कहीं आंखें टिकती ही न थीं । आयोग ने कह दिया कि यद्यपि राष्ट्र की मांग तो है कि हिंदी (हिंदुस्तानी) राष्ट्र की केंद्रीय भाषा बने, पर इसे वह रोल तो नहीं दिया जा सकता जो अंग्रेजी ने अदा किया है (रिपोर्ट I, पृ० 319) । कारण ? हिंदी अल्पसंख्यकों की भाषा है और इसके आने से अहिंदी-भाषी क्षेत्र की अपेक्षा हिंदी-भाषी क्षेत्र को अनुचित लाभ होगा (पृ० 321, 319) । अंग्रेजी सबके लिए समान है (पृ० 320) । सबै के दुःख समान, ऐसा वर दे मां ।

तो बात क्या बनी ? बात यह बनी कि जब तक हिंदी न आए तब तक अंग्रेजी चले और जब तक अंग्रेजी चले तब तक हिंदी न आए । चश्मा अपना काम कर गया । न हिंदी, न क्षेत्रीय भाषाएं । जनतंत्र के अंदर जनभाषा क्यों नहीं ? यह सवाल ब्रिटेन की जनता ने 1362 में अपनी सरकार से पूछा था और 1363 में ही उनकी अपनी भाषा प्रशासन में आ गई थी । हमारी जनता तो यह सवाल पूछ नहीं सकती थी । उसे तो पसीना पोंछने से ही फुरसत नहीं मिलती । तो सवाल कौन पूछे और किसके लिए पूछे ? यह सवाल यहां की जनता भी कभी न कभी तो पूछेगी । यह सवाल केवल वे लोग पूछ सकते हैं और केवल वे ही इसका उत्तर दे सकते हैं जो जनता और उसकी भाषा एवं समस्याओं को अंदर से जानते हों । केवल ऐसे आदमी ही सही सवाल उठा सकते हैं । सही जवाब के लिए सवाल का सही होना भी आवश्यक है ।

आइए, देखें कि शिक्षा समस्याओं पर सवाल पूछने वाले कौन थे, क्या सवाल पूछे गए, जवाब देने वाले कौन थे और क्या जवाब दिए गए ?

सवाल पूछने वाले तो आयोग के सदस्य ही थे, ये थे :

1. डॉ० एस० राधाकृष्णन, प्रोफेसर आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय, अध्यक्ष ।
2. डॉ० ताराचंद, एम०ए०, डी०, फिल्० (आक्सफोर्ड), सचिव एवं शिक्षा एडवाइजर, भारत सरकार ।
3. डॉ० जेम्ज़ एफ० डफ़, एम० ए० (कैम्ब्रिज), एम०एड्० (मांचेस्टर), एल-एल०डी० (एबरडीन), कुलपति, डरहम विश्वविद्यालय ।
4. डॉ० जाकिर हुसैन, एम०ए०, पी-एच०डी०, डी०लिट्० (जामिया मिलिया इस्लामिया, दिल्ली) ।
5. डॉ० आर्थर ई० मॉर्गन, डी०एस-सी०, डी०इंज०, एल-एल०डी०, प्रधान एंट्यक कालेज एवं प्रधान, टेनेसी वैली अथॉरिटी ।
6. डॉ० अ० लक्ष्मणस्वामी मुदलियार, डी०एस-सी०, एल-एल०डी, डी०सी०एल०, एफ०आर०सी०ओ०जी०, एफ०ए०एस०सी०, कुलपति, मद्रास विश्वविद्यालय ।
7. डॉ० मेघनाद साहा, डी०एस-सी० एफ०आर०एस०, प्रोफेसर एवं डीन, विज्ञान संकाय, कलकत्ता विश्वविद्यालय ।
8. डॉ० कर्मनारायण बहल, डी०एस-सी० (पंजाब), डी०फिल्० एवं डी०एस-सी० आक्सफोर्ड), प्रोफेसर जीवविज्ञान, लखनऊ विश्वविद्यालय ।

9. डॉ० जॉन जे० टिगर्ट, एम०ए० (आक्सफोर्ड), एल-एल०डी०, एड०डी०, डी०सी०एल०, डी०लिट्०, एल०एच०डी०, भूतपूर्व शिक्षा कमिश्नर उत्तर प्रदेश एवं प्रेजीडेंट एमरीटस, फ्लोरीडा विश्वविद्यालय ।
10. श्री निर्मल कुमार सिद्धांत, एम०ए० (कैम्ब्रिज), प्रोफेसर तथा डीन, कला-संकाय, लखनऊ विश्वविद्यालय ।

आयोग के अध्यक्ष तथा सदस्य अपनी शिक्षा, विद्वत्ता, प्रतिभा और प्रतिष्ठा के कारण हमारे लिए आदरणीय थे और उनकी पुण्य स्मृति भी श्रद्धा की पात्र है । किंतु एक-दो सदस्यों को छोड़कर क्या कोई भी भारत की जनता या यहां के जनांदोलन के साथ एकात्म होकर आंतरिक रूप से आंदोलित हुआ था ? क्या वे उस किसान या मजदूर को जानते थे जिसने अपनी जमीन या मकान को बेचकर बेटे को बी०ए० कराकर एक ऊंचे सरकारी भविष्य की उड़ान भरी थी और अंग्रेजी में असफल रहकर जिसके बच्चे ने दम तोड़ दिया था ? यदि ब्रिटिश कालीन सरकार कोई आयोग नियुक्त करती तो इस आयोग से किस प्रकार भिन्न रूप का होता ? डॉ० ज़ाकिर हुसैन को छोड़कर क्या शेष सभी सदस्य ब्रिटिश सरकार के लिए भी आयोग के रूप में काम नहीं कर सकते थे ? यदि वे ब्रिटिश काल में रिपोर्ट लिखते तो क्या ऐसी ही रिपोर्ट नहीं लिखते ? मुख्य प्रश्न यह है कि इस आयोग की रिपोर्ट कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग (1917-19) की रिपोर्ट से कैसे और कितनी भिन्न है ? अंतर केवल इतना है कि 1947 से पहले सरकारी आदमी ब्रिटिश साम्राज्य और सम्राट की देन की गाथा गाते थे, यहां अंग्रेजी भाषा की देन के साधु संकल्प किए गए हैं । 1947 में भारत के इतिहास ने जैसे एक छलांग लगाई थी वैसे 1949 में भारत की चिंतन-धारा, चिंतन-शैली और चिंतन-भाषा को एक लंबी और ऊंची छलांग लगाकर लंदन से दिल्ली पहुंच जाना चाहिए था । पर हुआ यह कि न दिशा बदली, न सफर बदला, न साथी ही बदले, आयोग के सदस्यों में दो प्रकार के सदस्य होने चाहिए थे : एक वे जो वर्तमान को अतीत से जोड़ते, क्योंकि हम जीवन के निरंतर प्रवाह में विश्वास करते हैं, और दूसरे वे जो वर्तमान को गहरे अतीत (प्राचीन परंपरा) और सुदूर भविष्य से जोड़ते । इस प्रकार ब्रिटिश काल की उपलब्धियों का एक जीती-जागती भारतीयता के अंदर समावेश हो जाता और समाज, शिक्षा और प्रशासन को नई दिशाएं भी मिलतीं ।

शिक्षा-माध्यम संबंधी प्रश्नावली को यदि आप देखें तो लगता है कि ये प्रश्न शायद उन्नीसवीं शती में पूछे गए हों । उदाहरणार्थ, प्रश्न नं० 7 देखिए : "क्या आप सारी भारतीय भाषाओं के लिए रोमन लिपि के अपनाए जाने के पक्ष में हैं ?" यह प्रश्न तो 1838 अर्थात् अंग्रेजी शिक्षा एवं माध्यम के औपचारिक रूप से लागू होने के तीन वर्ष बाद लार्ड मकाले के साले/बहनोई (आप जानते हैं अंग्रेजी में साले-बहनोई का पता नहीं लगता) चार्ल्स ट्रेवेल्यन ने उठाया था । उनका मिशन तो यह था कि बाइबल को भारत की सभी भाषाओं में अनुवाद करके रोमन लिपि में छापा जाए । किंतु विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग के सामने यह समस्या तो थी ही

नहीं। हां, उन्हें एक समस्या की ओर ध्यान देना चाहिए था : भारत की सारी भाषाएं एक-दूसरे के निकट कैसे आएं ताकि कुछ समय के पश्चात् भारत में अनायास एक समन्वित भाषा का उदय और विकास हो सके। आयोग ने इधर ध्यान ही नहीं दिया। उन्होंने यह सिफारिश भी नहीं की कि भारतीय भाषाएं कम से कम ऐच्छिक रूप से देवनागरी या किसी भी एक भारतीय लिपि में लिखी जाएं। यहां देवनागरी लिपि का प्रश्न इसलिए उठाया जा रहा है क्योंकि आयोग ने हिंदी को देवनागरी लिपि में लिखने की सिफारिश की है, केंद्रीय भाषा के रूप में। आयोग ने रोमन लिपि की सिफारिश नहीं की। साथ में हिंदी की दूसरी लिपि के रूप में उर्दू लिपि की भी सिफारिश नहीं की। प्रश्न यह भी हो सकता था कि क्या आप भारतीय भाषाओं के लिए देवनागरी लिपि के प्रयोग के पक्ष में हैं। अथवा यह हो सकता था कि क्या आप भारतीय भाषाओं को एक लिपि में लिखने के पक्ष में हैं ? यदि हैं तो वह लिपि कौन-सी हो : देवनागरी, रोमन या कोई और ? हां, यदि रोमन लिपि का विरोध व्यक्त करने के लिए प्रश्न इस तरह बनाया गया हो तो दूसरी बात है। तो भी प्रश्न व्यर्थ ही रहा। सकारात्मक दिशा में तो कोई भी निदेश नहीं हुआ।

प्रश्न सं० एक और दो को देखिए :

1. आजकल शिक्षा-माध्यम के रूप में क्षेत्रीय भाषाएं उभरकर आ रही हैं। क्या आप इस परिवर्तन के पक्ष में हैं ?
2. शिक्षा के क्षेत्र में इस भाषायी क्षेत्रवाद के कारण देश की एकता और अखंडता तथा सांस्कृतिक स्तर पर अवांछनीय प्रभाव पड़ेगा, क्या आपको यह आशंका है ?

आजकल अनुसंधान कार्य में एक शैली अपनाई जाती है। जो कुछ आप कहना चाहते हैं वह दूसरों से कहलवा लीजिए और जो आप दूसरों से कहलवाना चाहते हैं उसी के अनुसार अपने प्रश्न बना लीजिए। इन दोनों प्रश्नों में कुछ ऐसा ही आशय झलकता है। प्रश्न दूसरे ढंग से भी पूछा जा सकता था। हमारी शिक्षा का उद्देश्य वैयक्तिक होता है और सामाजिक भी। इन दोनों उद्देश्यों को सामने रखते हुए हमें सोचना यह चाहिए कि शिक्षा प्रभावशाली हो और समाज और देश की एकता और संगठन में योगदान दे। प्रश्न कुछ इस प्रकार होना चाहिए था कि शिक्षा को प्रभावशाली बनाने के लिए कौन-सा माध्यम अपनाया जाए ? मातृभाषा, क्षेत्रीय भाषा, विदेशी भाषा। क्यों ?

क्या आप देश की एकता और विविधता दोनों में विश्वास करते हैं ? यदि हां, तो विविध माध्यमों के होते देश की एकता पर कोई उलटा प्रभाव पड़ेगा, या एकता और पक्की होगी ?

यहां यह कहा जा सकता है कि जो आक्षेप हमने आज के सामाजिक अनुसंधान पर किया है वही हमारे सुझाव पर भी लागू होता है। इस प्रश्न का उत्तर है : प्रथम अपना दिशा-निर्धारण कीजिए, फिर अपने प्रश्न बनाइए। प्रश्नों के माध्यम से हम आयोग के दृष्टिकोण, दिशा और लक्ष्य को ही तो समझना चाहते हैं।

यहां एक आपत्ति और की जा सकती है : जो आलोचना हमने आयोग की प्रश्नावली की

की है वही हमारे सुझाव की भी की जा सकती है। यह बात ठीक है पर हमें यह मानना होगा कि जनतंत्र में विकास की जो प्रक्रिया आवश्यक और अनिवार्य है व्यवस्थानुसार उसके तीन अंग हैं : 1. दिशा-निर्धारण, 2. दिशा-निदेश, 3. स्थिति और परिस्थितियों का सर्वेक्षण।

दिशा-निर्धारण तो अंतिम मान्यताओं के आधार पर किया जाता है। ये मान्यताएं ही गणतंत्र का धर्म होती हैं। ये सब हमारे विधान के उपोद्घात में सुरक्षित हैं। ये मूल्य (मान्यताएं) है जनतंत्र, मानव लोकधर्म (सेक्युलरिज़्म), स्वतंत्रता, समता, न्याय इत्यादि। इन्हीं मान्यताओं की सिद्धि के लिए राष्ट्र की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा शिक्षा संबंधी प्रक्रियाओं का दिशा-निदेश किया जाता है। यह दिशा-निदेश हमारे विधान के निदेशक सिद्धांतों तथा समय-समय पर निर्धारित नीति-वक्तव्यों में निहित होता है। स्थिति और परिस्थितियां—ये हमारे समस्त क्रियाकलाप का आधार हैं। हम जो हैं और जहां हैं और जैसे हैं वहीं से हम अपनी प्रगति की ओर चलना प्रारंभ करते हैं।

इन्हीं बातों को दूसरे प्रकार से कह सकते हैं : जनतंत्र में कुछ सत्य ऐसे हैं जो अनिवार्य रूप से माने जाने चाहिए।

1. जो है सो है, वही सच है, वही वस्तुस्थिति है, वही वास्तविकता है, अच्छी हो, बुरी हो, जो भी हो। वही आधार है, वही साधन है।
2. जो होना चाहिए वही वांछनीय है, वही लक्ष्य है, वही साध्य है। वह भी वस्तुस्थिति है जिसका सर्जन बुद्धि और कल्पना से किया जाता है, वही प्राप्य है।
3. वस्तुभूत स्थिति अर्थात् प्राप्त साधन का प्राप्य अर्थात् साध्य की ओर अग्रसर होना, यही दिशा है।
4. वास्तविक का वांछनीय स्थिति में लाया जाना, यही गणतंत्र की प्रक्रिया है। यह आंतरिक परिवर्तन है।
5. गणतंत्र और तानाशाही में क्या अंतर है ? वास्तविक को वांछित में बाहर से बदल देना तानाशाही है। वास्तविक का आंतरिक परिवर्तन के द्वारा वांछित में परिणत हो जाना, यह गणतंत्र है।
6. आंतरिक परिवर्तन का साधन शिक्षा है। साधन-शिक्षा साधन का अंग है, साध्य-शिक्षा साध्य का अंग है।
7. दिशा-निदेश शिक्षा का काम है। शिक्षा को नई दिशा देना गणतंत्र का काम है।

शिक्षा सबका अधिकार है, इसलिए शिक्षा के दिशा-निदेशकों को यह देखना होगा कि हमारी सामाजिक वस्तुस्थिति क्या है, शिक्षार्थी कौन है, उनकी क्या आवश्यकताएं हैं, और उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति किस प्रकार की शिक्षा से की जा सकती है ? सही दिशा-निदेश के लिए समस्त वास्तविकता का सर्वेक्षण करना होगा। इसी समस्त-वस्तुभूत सर्वेक्षण के लिए उचित प्रश्नावली बनानी होगी। गणतंत्र में दिशा-निदेश सत्तासिद्ध नहीं होता, गणतंत्र के सिद्धांतों और प्रक्रियाओं के अनुरूप होता है।

विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग यदि लड़खड़ाया तो यहां। और यदि उसने दिशा-निदेश किया भी, तो भी वहीं का वहीं रहा। क्षेत्रीय भाषाओं के शिक्षा-माध्यम होने के विषय में क्षेत्रवाद और देश की एकता और अखंडता के प्रति नकारात्मक संकेत करना एक अंग्रेजी पूर्वाग्रह की अभिव्यक्ति नहीं तो और क्या था ? प्रश्न पूछने वाले और उत्तर देने वाले सभी अंग्रेजी रंग में रंगे थे, यह हम आयोग की रिपोर्ट के परिशिष्ट से देख सकते हैं।

कई प्रश्न इस तरह से उठाए गए मानो यह कहलवाना चाहते हों कि क्षेत्रीय भाषाओं को यदि माध्यम रूप में अपनाया गया तो शिक्षा तथा अनुसंधान का स्तर गिर जाएगा और विश्वविद्यालयों का परस्पर संपर्क भी बिगड़ जाएगा। बात वही, अर्थात् क्षेत्रीय भाषाओं को अपनाने का अर्थ है क्षेत्रवाद। इसी क्षेत्रवाद का निराकरण करने के लिए शायद एक ही माध्यम का होना आवश्यक था। ब्रिटिश काल में तो वह माध्यम था अंग्रेजी जो अभी भी चल रहा था। स्वतंत्र भारत में यह दासता का प्रतीक माध्यम रूप में नहीं रहना चाहिए था। दिशा-निदेश तो सराहनीय और भारतीय गणतंत्र के आत्मा की आवाज के अनुरूप ही था। किंतु यह तो मात्र नकारात्मक संकेत था। सकारात्मक सुझाव क्या था ? वह था : हिंदी। हिंदी ही अखिल भारतीय भूमिका शायद निभा सकती थी। आयोग ने यह माना था। इसी कारण एक खुला प्रश्न पूछा गया—यदि आप सारे भारत के विश्वविद्यालयों के लिए एक ही माध्यम के पक्ष में हैं तो वह भाषा क्या हो ? इस प्रश्न का उत्तर अत्यंत महत्त्वपूर्ण था। नई शिक्षा के सिंहद्वार पर खड़े हम इसी उत्तर के आधार पर किसी भी दिशा में जा सकते थे अर्थात् अंग्रेजी राज को दोहरा भी सकते थे और स्वच्छंद रास्ते पर भी जा सकते थे।

यदि गणतंत्र में जनता के लिए जनशैली से विचार किया जाए तो इस प्रश्न का उत्तर उन्हीं से तो मांगना चाहिए जो अंग्रेजी की समस्या से जुड़े हैं—जिनके लिए इसका प्रभाव सीधा है उनसे भी और जिनके लिए उलटा है उनसे भी। शिक्षक, शिक्षार्थी, अभिभावक, प्रशासक सभी तो शिक्षा जगत् और जनता का अंग हैं। उन सभी से पूछा जाना चाहिए था। विभिन्न प्रकार की शिक्षा संस्थाएं भी शिक्षा-जगत् का अंग हैं। उनसे और उनके संबंध में भी प्रश्न पूछे जाने चाहिए थे। उदाहरणार्थ आयोग ने उस्मानिया विश्वविद्यालय के बारे में प्रश्न पूछा : क्या उस्मानिया द्वारा अपनाया गया उर्दू-माध्यम का प्रयोग आपकी राय में सफल हुआ ? हम यह तो नहीं कह सकते कि उस्मानिया सशक्त उदाहरण था या कमजोर, किंतु उत्तरों से ऐसा लगता है कि अधिकतर लोग उस्मानिया के प्रयोग को सफल नहीं मानते थे। किंतु उस्मानिया को यदि उदाहरण ही माना गया तो उस्मानिया से तो पूछते कि आपके मत में उर्दू-माध्यम सफल है या नहीं। कमाल की बात यह है कि डॉ० जाकिर हुसैन स्वयं आयोग के सदस्य थे, जामिया मिलिया के स्नातक थे, किंतु जामिया के उर्दू माध्यम के संबंध में कोई प्रश्न नहीं पूछा गया। जामिया मिलिया को आयोग ने विजिट तो किया, उर्दू-माध्यम की चर्चा भी हुई होगी, पर माध्यम संबंधी कोई चर्चा जामिया मिलिया के संबंध में नहीं है। गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार भी देश की उच्चतम प्रयोगात्मक शिक्षा संस्थाओं में से एक थी और बीसवीं शती के प्रारंभ से ही हिंदी-माध्यम से

बी०ए० (विद्यालंकार) और एम०ए० (विद्यावाचस्पति) स्तर तक वहां सभी विषय, विज्ञान समेत पढ़ाए जा रहे थे। गुरुकुल के स्नातक जामिया मिलिया के स्नातकों की तरह देश के राजनीतिक, सामाजिक एवं पत्रकारिता क्षेत्र में उच्च स्तर की भूमिका निभा रहे थे। ऐसी उपलब्धियों की कोई चर्चा नहीं। हां, आचार्य प्रियव्रत, गुरुकुल कांगड़ी, के विचार उद्धृत किए गए हैं। हम उनका आंशिक उद्धरण देते हैं। आचार्य जी कहते हैं (रिपोर्ट, II, भाग 2, पृ० 813) : गुरुकुल कांगड़ी पहली संस्था है जिसने पश्चिमी कला (साहित्य) तथा विज्ञान विषयों को उच्चतम स्तर तक पढ़ाने के लिए हिंदी माध्यम का प्रयोग किया है। हिंदी में लेक्चर दिए गए, हिंदी में प्रश्न-पत्र बनाए गए, और प्रश्नों के उत्तर भी हिंदी में लिखे गए। किंतु अंग्रेजी की पाठ्य पुस्तकों का प्रयोग किया गया क्योंकि हिंदी में अधिक पुस्तकें उपलब्ध नहीं थीं। बी०ए० तक अंग्रेजी अनिवार्य दूसरी भाषा के रूप में पढ़ाई जाती है। इसलिए हिंदी वक्तव्यों की सहायता से अंग्रेजी पुस्तकों को समझने में कोई कठिनाई नहीं होती। गुरुकुल के परिणाम भी अच्छे रहते हैं। भारत के सभी विश्वविद्यालय इस प्रणाली को अपना सकते है विशेषकर तब तक जब तक हिंदी में ठीक प्रकार की पाठ्य-पुस्तकें नहीं मिलतीं, और वे सफलतापूर्वक ऐसा कर सकते है।

गुरुकुल कांगड़ी का यह प्रयोग सफल था, पर इसकी चर्चा कहीं नहीं। चर्चा तो तब हो जब देखने की इच्छा हो और दीखे तब जब ऐनक देसी हो। ऐनक तो विदेशी थी, ठेठ अंग्रेजी। डॉ० जाकिर हुसैन भी कोई योगदान भारतीय भाषाओं की दिशा में नहीं दे पाए।

अब देखें प्रश्नों के उत्तर देने वाले कौन थे, उत्तर क्या थे, और उन्हीं के आधार पर निष्कर्ष क्या निकाले गए। कहीं ऐसा तो नहीं हो गया कि डॉक्टर दवा ले गए और मरीज खड़े के खड़े रह गए।

आयोग ने 4-12-48 से 19-7-49 तक संस्थाओं का दौरा किया तथा शिक्षा और समाज से संबद्ध व्यक्तियों, अफसरों और प्रतिनिधियों से साक्षात्कार किया। ये संस्थाएं थीं विश्वविद्यालय, उनके विभिन्न संकाय, विभाग, कुलपति, डीन, प्रोफेसर, विभागाध्यक्ष, कालेज, प्रिंसिपल, रीडर, लेक्चरर, सिंडिकेट, इग्जेक्टिव काउंसिल, कुछ स्टाफ परिषद्, एक छात्र (जयपुर, उसके विचार व्यक्त नहीं है), लोकसेवक समाज, भारत इतिहास संशोधक मंडल, पूना और लार्डरी औद्योगिक संग्रहालय पूना। ये सब ऐसे लोग थे जो अंग्रेजी के आधार पर अपना काम सुचारु रूप से कर रहे थे। केवल एक छात्र परिषद् को छोड़कर शेष अंग्रेजी-निपुण थे। उनको अंग्रेजी से कोई तंगी भी नहीं थी। हो सकता है उनके घरों में वातावरण भी अंग्रेजी के वातानुकूल हो और उनके बच्चों को अंग्रेजी के कारण कोई परेशानी न होती हो। ये सब उस वर्ग के लोग थे जो अंग्रेजी शिक्षा की परंपरा में अंग्रेजीवाद में परिपक्व हो चुका था। हो सकता है इनमें कुछ अंग्रेजी अपवाद भी हों लेकिन साधारण तौर पर असाधारण वर्ग को अंग्रेजी के विपक्षी या विरोधी कहने की अपेक्षा अंग्रेजी के पक्षधर ही कहा जाएगा। किसी का घर, किसी की जीविका, किसी का व्यवसाय, किसी की सभ्यता, किसी का पति, किसी की पत्नी, किसी के सेवक, किसी के मालिक, सबके सब किसी न किसी रूप में कुछ न कुछ अंग्रेजी से जुड़े हुए थे। इनसे पूछकर उन लोगों के

भाग्य का फैसला करना जिनकी जिह्वा पर अंग्रेजी चढ़ नहीं पा रही थीं, यह अच्छा नहीं था, रोगी बाहर खड़े थे, परीक्षा डाक्टरों की हो रही थी ।

जनतंत्र क्या है ? जनता की सरकार (लोकस्य), जनता के द्वारा (लोकेन), जनता के लिए (लोकाय) । आयोग ? यह जनता का था और यह इस कारण कहा जा सकता है कि इसकी नियुक्ति जनता की सरकार द्वारा की गई थी । हम आयोग के सदस्यों की सूची देख चुके हैं। यह सोचने की बात है कि इनमें से कितने जनता का प्रतिनिधित्व करते थे या कर सकते थे और कितने अंग्रेजी पक्षीय वर्ग-विशेष का । ऐसे भी कोई थे जो शिक्षार्थियों का प्रतिनिधित्व कर सकते थे या उनकी आवाज को सुन सकते थे ? यदि हम परीक्षा-परिणामों को देखें तो पता चलेगा कि अंग्रेजी काल के प्रारंभ से 1947 तक हाई स्कूल, इंटरमीडिएट और बी०ए० का परीक्षा-फल दस प्रतिशत से लेकर 60 या 65 प्रतिशत तक रहा है और पास होने वालों में भी अंग्रेजी में अंक कम आते हैं । फेल भी सबसे अधिक अंग्रेजी में ही होते हैं । और यदि आप फुरसत में नकलचियों की सेवा करना चाहें तो पात्रों की कमी नहीं रहेगी, क्योंकि अंग्रेजी पुण्यार्थियों की संख्या सबसे अधिक मिलेगी । थोक में सेवा कीजिए, पर एक ध्यान रखिए—कल क्या होगा ? अंग्रेजी की इस मधुर संपीड़ा से व्यथित वर्ग के आंसू पोंछने वाला तो कोई था ही नहीं । यह कहने वाला भी नहीं था कि इन्हें पी जाओ, कड़वा घूंट है, पर सेहत बन जाएगी । कड़वा घूंट तो हिंदी का था ।

यह माना कि शिक्षा की समस्याओं को शिक्षाशास्त्री ही समझते हैं । वे ही हल भी सुझा सकते हैं । शिक्षाशास्त्री ही विश्वविद्यालयों की समस्याओं को जानते हैं । सो तो ठीक है । पर प्रश्न है कि विश्वविद्यालय क्या है ? इसका उत्तर एक और प्रश्न पूछकर ढूंढ़ें । जनता, समाज, देश, राष्ट्र—यह सब क्या है ? क्या जनता देश के वृद्धतम व्यक्ति से लेकर नवजात शिशु तक सीमित है ? जनता, देश, राष्ट्र समाज हमारे अतीत की अदृष्ट सीमा से लेकर भविष्य की अदृश्य सीमा तक विस्तृत हैं । जिस प्रकार समाज में प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों प्रकार के तत्त्व हैं उसी प्रकार शिक्षा और विश्वविद्यालय में भी दृष्ट और अदृष्ट दोनों प्रकार के तत्त्व होते हैं । कुलपति, डीन, प्रोफेसर, परिषद्, विभाग और अध्यक्ष तो दृष्ट तत्त्व थे—देखे भी गए, पर शिक्षार्थी, अभिभावक—ये सब तो अदृष्ट हो गए । इनको जो आयोग नहीं देखेगा वह अधूरा रहेगा । शिक्षा-माध्यम के संदर्भ में यह बात सही दीखती है । मकाले ने भी एक ही वर्ग को देखा था । जनसाधारण उसने देखा ही नहीं था । आयोग ने भी ऐसा ही किया ।

हां, एक बात आयोग के पक्ष में कही जा सकती है : पिछड़ा और अशिक्षित वर्ग तो अपनी कठिनाइयां भी किसी के सामने नहीं रख सकता । शिक्षित वर्ग ही उनकी कठिनाइयों को देख सकता है, समझ सकता है तथा उनकी अभिव्यक्ति करके उनका हल सुझा सकता है । ऐसी आशा आयोग से थी और आयोग ने ऐसा किया भी ।

आयोग ने अपनी प्रश्नावली जिन शिक्षाशास्त्रियों को भेजी उनकी संख्या कितनी थी यह तो नहीं कहा जा सकता पर उत्तर 275 से मिले । माध्यम संबंधी प्रश्न था सं० 8 और उसके

अंतर्गत प्रश्न 6 और 9 थे । प्रश्न 6 इस प्रकार था :

> यदि आप भारत के सारे विश्वविद्यालयों के लिए एक शिक्षा-माध्यम के पक्ष में हैं तो कौन-सी भाषा की सिफारिश करेंगे ?

इस प्रश्न के तीन उत्तर हो सकते थे :

i. केंद्रीय भाषा अर्थात् हिंदी/हिंदुस्तानी
ii. क्षेत्रीय भाषाएं, किसी भी क्षेत्र की अपनी भाषा
iii. अंग्रेजी स्थाई रूप से या नियत समय के लिए

क्योंकि प्रश्न 6 के उत्तर में अंग्रेजी की संभावना थी, इसीलिए प्रश्न 9 स्पष्टीकरण के लिए पूछा गया । वह इस प्रकार था :

> आपके विचारानुसार भारत के विश्वविद्यालयों में अंग्रेजी का क्या स्थान होना चाहिए ?

i. निकटतम भविष्य में ?
ii. अंततोगत्वा अर्थात् चिरभविष्य में ?
iii. शिक्षा-विषय के रूप में ?
iv. शिक्षा-माध्यम के रूप में ?

सभी 9 प्रश्नों के जो उत्तर मिले उनका विवेचन करते समय प्रारंभ में ही आयोग ने लिखा है कि किसी और प्रश्न पर शिक्षाविद् मंडल में इतना विवाद और परस्पर विरोध नहीं हुआ जितना शिक्षा-माध्यम के विषय पर हुआ । इस विवाद के अतिरिक्त सारा प्रश्न भावनाओं में इतना उलझा हुआ है कि इस पर शांत और तटस्थ रूप में विचार करना कठिन है ।

देखें यह विवाद भावनाग्रस्त था या केवल स्वाभाविक था जैसा कि किसी भी स्वतंत्र वातावरण में होना ही चाहिए । परेशानी होती है तो केवल निष्कर्ष निकालने की और खुले प्रस्ताव करने की । सीधी बात कहने की हिम्मत न हो तो साधारण विचार-विनिमय भी भावनाग्रस्त लगेगा ।

जैसा कि ऊपर सुझाया गया है प्रश्न सं० 6 के उत्तर तीन ही आए । ये थे : क्षेत्रीय भाषाएं, हिंदी/हिंदुस्तानी, और अंग्रेजी । 121 व्यक्तियों ने हिंदी के पक्ष में अपना मत दिया, 87 ने क्षेत्रीय भाषाओं के पक्ष में और 80 ने अंग्रेजी के पक्ष में । जिन 80 व्यक्तियों ने अंग्रेजी के पक्ष में अपना मत दिया उनमें केवल आठ-दस ऐसे थे जो केवल अंग्रेजी के ही पक्ष में थे । शेष सब या तो ऐसे थे जो हिंदी या क्षेत्रीय भाषा पर सहमति न होने की हालत में अंग्रेजी के पक्षधर थे, या ऐसे थे जो चाहते थे कि कुछ समय तक अंग्रेजी चलती रहे और उस दौरान में भारतीय भाषा अथवा भाषाओं का विकास कर लिया जाए और फिर हिंदी अथवा क्षेत्रीय भाषाओं को शिक्षा-माध्यम के रूप में अपना लिया जाए । यह विवेचन इस ओर स्पष्ट संकेत करता है कि वास्तव में बहुत थोड़े लोग ऐसे थे जो एकमात्र अंग्रेजी के पक्ष में थे । यह बात इससे भी साफ हो जाती है कि प्रश्न 9 (iv) के संदर्भ में भी केवल 8 या 10 व्यक्तियों ने अंग्रेजी शिक्षा-माध्यम की सिफारिश की

थी जिसका अर्थ यह है कि शेष तो केंद्रीय भाषा (हिंदी/हिंदुस्तानी) अथवा क्षेत्रीय भाषाओं के पक्ष में थे।

इस विवेचन का यह अर्थ भी लिया जा सकता है कि माना अंग्रेजी के पक्ष में थोड़े ही व्यक्ति थे, फिर भी वे निश्चयपूर्वक किसी भारतीय भाषा के पक्ष में सुझाव तो नहीं दे पाए थे। न सही। किंतु हम यह कहते हैं कि उनके कहने का स्पष्ट अर्थ यह था कि अंग्रेजी को शिक्षा-माध्यम के स्थान से हटाओ। यदि यह निर्णय ले लिया जाए कि अंग्रेजी तो शिक्षा-माध्यम रहेगी नहीं तो हम एक निश्चित दिशा में सोच पाएंगे। फिर हम क्षेत्रीय भाषाओं को अपनाएं चाहे केंद्रीय भाषा को। एक अंग्रेजी दीवार गिरने के बाद मिलकर बैठेंगे तो एक भाषा भी हमारी और सारी भाषाएं भी हमारी। जिन व्यक्तियों ने संधिकाल में अंग्रेजी का प्रस्ताव किया उन्होंने भी संधिकाल की चर्चा करते हुए कहा कि यह समय एक वर्ष से लेकर 25 वर्ष तक हो सकता है। हिंदी के लिए सापेक्ष या निरपेक्ष सिफारिशों को देखा जाए तो हिंदी के पक्ष में लगभग 190 व्यक्ति हो जाएंगे। फिर भी आयोग को सारी बातें विवादास्पद और भावनाग्रस्त ही लगीं। यदि आप भावनात्मक शैली को भी ढूंढ़ें तो दस से अधिक की भाषा में नहीं मिलेगी। वास्तव में सुझाव तो ऐसे भी आए कि उनकी कल्पना साधारण अंग्रेजीदां के लिए आज भी कठिन है। उदाहरण के लिए श्री प्रद्युम्न चंद्र जोशी ने अलाहाबाद में हुए अंग्रेजी प्राध्यापक सम्मेलन का हवाला देकर लिखा था : "अलाहाबाद में हुए अंग्रेजी प्राध्यापक सम्मेलन ने इस प्रस्ताव की संपुष्टि की कि भारत के विश्वविद्यालयों में शिक्षा-माध्यम भारतीय क्षेत्रीय भाषाएं होनी चाहिए। यदि हम अंग्रेजी साहित्य को भी भारतीय भाषाओं के माध्यम से पढ़ाएं तो कोई अटपटी बात नहीं है। ऐसा करने से न केवल हमारी अपनी भाषाओं के विकास में सहायता मिलेगी अपितु साहित्य समझने और समालोचना करने का स्तर भी ऊंचा होगा" (रिपोर्ट, I, भाग 2, पृ० 719-20)। जब अंग्रेजी के प्राध्यापक ही ऐसा कह गए तो परेशानी क्या रही ?

संस्कृत को शिक्षा-माध्यम बनाने के संबंध में आयोग ने जो टिप्पणी की वह भी अंग्रेजी के पक्ष में एक आश्चर्यजनक बात है। रिपोर्ट, खंड I के पृष्ठ संख्या 318 पर आयोग ने लिखा है कि यदि संस्कृत उच्चशिक्षा का माध्यम हो तो विद्यार्थी के समय का अधिकतर भाग तो भाषा के लिखने और बोलने की क्षमता प्राप्त करने में ही व्यय हो जाएगा। परिणामस्वरूप स्कूल और कालेज में शिक्षा का समय (अवधि) बढ़ाना पड़ेगा। और विद्यार्थियों को संस्कृत प्रयोग करना सिखाने में हम सफल हो भी गए, यद्यपि संस्कृत अंग्रेजी से कहीं अधिक कठिन भाषा है, तो भी अंग्रेजी के सदृश संस्कृत भाषा भी शिक्षित और विश्वविद्यालय में न जा सकने वाले विशाल जनसमूह के बीच एक बहुत बड़ी खाई बनकर खड़ी हो जाएगी। संस्कृत नहीं जानने वाले लोकतंत्र में भाग लेने से वंचित रह जाएंगे और इस प्रकार जनसाधारण के भागीदार हुए बिना कोई लोकतंत्र प्रणाली सफल नहीं हो सकती।

संस्कृत बड़ी कठिन भाषा है
इसे सीखने में बहुत समय लगेगा
सब इसे सीख नहीं पाएंगे
न सब विश्वविद्यालय जा पाएंगे
तो संस्कृत भाषा शिक्षित और अशिक्षितों के बीच खाई बनकर खड़ी हो जाएगी
सभी लोकतंत्र में भाग नहीं ले पाएंगे
यह लोकतंत्र की अवहेलना होगी।

—ये सब आपत्तियां अंग्रेजों पर भी तो लागू होती हैं। आयोग तो स्वयं कह चुका था कि अंग्रेजी भाषा जनता को शासक और शासित दो वर्गों में विभाजित करती है और साथ में व्यक्तिगत मानसिक विभाजन भी करती है। फिर जनता पूछ सकती है कि संस्कृत मानसिक विभाजन तो पैदा नहीं करती क्योंकि संस्कृत और लोकभाषा की परंपरा तो एक है, तो फिर यदि संस्कृत नहीं तो अंग्रेजी क्यों ? उत्तर स्पष्ट है : आयोग के सदस्य और अंग्रेजी शिक्षित एक ही वर्ग के सदस्य थे। क्या हम यह समझें कि अंग्रेजी वर्ग तो लोकतंत्र में भागीदार था ही और है भी। फिर अंग्रेजीविद् और निरंग्रेजी वर्ग के बीच का विभाजन कौन देखे और वे स्वयं देखें क्यों ? यदि नजर ही अंग्रेजी है तो नजर के अनुसार ही तो दीखेगा।

कभी-कभी गांधी जी को याद करना मानो हमारे दृष्टिकोण को ठीक कर देता है। गांधी जी ने कहा था : यदि शिक्षा-माध्यम बदल दिया जाए, आहिस्ता-आहिस्ता नहीं, एकदम, और यदि हम दृढ़ निश्चयपूर्वक काम करें तो एक वर्ष के अंदर ही अध्यापक और पुस्तकें तैयार हो जाएंगी। शर्त एक है कि सरकारी दफ्तरों और अदालतों में क्षेत्रीय भाषाओं का प्रयोग लागू कर दिया जाए ('हरिजन', 30.7.1938)। गांधी जी कहते थे कि हमने सभ्यता और संस्कृति के आधारभूत तथ्यों को समझने के लिए एक विदेशी भाषा को अपना कर समय और शक्ति को व्यर्थ में नष्ट किया है। गांधी जी कहा करते थे कि शिक्षा-माध्यम और पुस्तकें भारतीय होंगे तो नया शिक्षित वर्ग भारत और उसकी आवश्यकताओं के अनुरूप होगा। यदि (अंग्रेजी) शिक्षित वर्ग भाषा और माध्यम के प्रश्न के साथ खिलवाड़ करता रहा तो हमारे सपनों का भारत नहीं बनेगा। ('हरिजन', 9.7.1938)। गांधी जी की नजर मेजबान की थी, मेहमान की नहीं।

28
मेरी मजबूरियां तो देख

स्वतंत्रता का वरदान है स्वाधीनता और सर्वार्थ । इसका अभिशाप है पराधीनता और स्वार्थ, ऐसी पराधीनता जिसे हम स्वार्थवश, अपने आप से मजबूर होकर, स्वतंत्रतापूर्वक स्वीकार करते हैं । सर्वार्थ हमारी स्वतंत्रता की महत्त्वाकांक्षा है, स्वार्थ उसकी सीमा । यदि चाहें तो यह भी कह सकते हैं कि स्वतंत्रता का उपनाम स्वाधीनता के साथ-साथ मजबूरी भी है ।

उदाहरणार्थ : जब भारत स्वतंत्र हुआ तो थोड़े दिन बाद ही हमने यह महसूस किया कि मानव मात्र की समता और समानता हमारे लोकतंत्र की आत्मा है और उसके अनुसार पुरुष और स्त्री को समान न्याय मिलना चाहिए । स्वतंत्रतापूर्वक हमने अपने कानून में उचित संशोधन कर लिया । स्वतंत्रता समय की मांग के अनुसार व्यक्ति के अधिकारों और कर्तव्यों को देखते हुए व्यक्ति और समष्टि के बीच की संतुलन-रेखा को आगे-पीछे करती रहती है । अब जैसे ही हमने पुरुष और स्त्री मात्र की समानता को अपना लोकतांत्रिक मंतव्य बनाया प्रत्येक को यह अधिकार मिल गया कि वह अपनी पीड़ा न्यायपालिका के सामने पेश करे । परिणामतः एक देवी शाहबानो नाम की सामने आई और उसने न्याय की मांग की कि मेरे पति से मुझे निर्वाह भत्ता दिलवाया जाए । विधि और विधान (कानून) हमारा लोकधर्म है । उसी लोकधर्म के अनुसार उसकी फरियाद सुन ली गई और उसे निर्वाह भत्ता मिले यह आदेश दे दिया गया । समता, समानता और समान न्याय का सिद्धांत अटल रहा । अब एक वर्ग को यह लगा कि उनके सांप्रदायिक मत और लोकमंतव्य अर्थात् लोकधर्म में विरोध हो गया । उसने इस लोकमंतव्य के विरुद्ध आवाज उठाई और कहा कि एक वर्ग-विशेष की महिलाओं को वह समानता नहीं दी जा सकती जो लोकतंत्र ने स्वीकार कर ली है अतः लोक-सिद्धांत को बदला जाए । सवाल संसद में रखा गया और एक वर्ग-विशेष को मतपसंद अथवा मनपसंद स्वतंत्रता देने के लिए समान न्याय के मंतव्य को बदल दिया गया । यह न्याय-परिवर्तन लोकतांत्रिक स्वतंत्रता और स्वाधीनता की एक मजबूरी थी ।

अंततोगत्वा स्वतंत्रता और परतंत्रता में अंतर ही क्या है ? परतंत्रता की मजबूरियां किसी दूसरे की दी हुई हैं, स्वतंत्रता की मजबूरियां हमने स्वयं स्वीकार की होती हैं । हमारी मजबूरियां हमारी स्वतंत्रता का अंग है और यही उसकी सीमा है । स्वतंत्रता स्वच्छंदता कभी नहीं होती । हमारी मजबूरियां कभी परिस्थितियों की देन होती हैं और कभी हमारी स्वयं-साध्य सीमाओं का प्रतीक । इन्हीं मजबूरियों पर विजय पाते रहना स्वाधीनता, स्वतंत्रता और लोकतंत्र के सामंजस्य और प्रगति का मानक है । 1947 के बाद के भारत में जब हम शिक्षा और भाषा का पर्यावलोकन करते

हैं तो महत्त्वाकांक्षा और सीमाओं का द्वंद्व दिखाई पड़ता है । महत्त्वाकांक्षा दिशा-निदेश करती है, मजबूरियां आदर्श और वास्तविकता का संतुलन करके उसे सीमाबद्ध कर देती है ।

परतंत्र और स्वतंत्र भारत की दिशा-पद्धतियों में अंतर होना तो आवश्यक था । परतंत्र भारत की शिक्षा पद्धति का मूल्यांकन वाइसराय लार्ड वैवल ने जार्ज षष्ठम को लिखे अपने पत्र में किया था जिसमें उन्होंने लिखा था कि औपनिवेशिक शिक्षा पद्धति के फलस्वरूप भारत के नौजवान चरित्र और अनुशासन दोनों से ही वंचित रह गए हैं । उन्होंने यह भी कहा कि यदि भारत को राष्ट्र बनना है तो चरित्र और अनुशासन दोनों की उपलब्धि करनी होगी । भारत के स्वतंत्र होते ही सरकार ने 1948 में विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग की नियुक्ति की जिसने 1949 में अपनी रिपोर्ट दे दी । 1948 में ही केंद्रीय शिक्षा बोर्ड ने भारत सरकार को सुझाव दिया था कि एक आयोग की नियुक्ति की जाए जो सेकंडरी शिक्षा का पुनरवलोकन करे तथा उसमें स्वतंत्र भारत की आवश्यकताओं के अनुसार सुधार की सिफारिश करे । यही सुझाव बोर्ड की जनवरी 1951 की बैठक में दोहराया गया और सितंबर 1952 में सेकंडरी एज्यूकेशन आयोग का गठन कर दिया गया । आयोग ने 1953 में अपनी रिपोर्ट दे दी । आयोग के सदस्य थे :

1. डॉ० ए० लक्ष्मण स्वामी मुदालियार, कुलपति, मद्रास विश्वविद्यालय, अध्यक्ष
2. प्रिंसिपल जौन क्रिस्टी, जीसस कालेज, आक्सफोर्ड
3. डॉ० केनेथ रास्ट विलियम्ज़, सहनिदेशक, दक्षिण क्षेत्रीय शिक्षा बोर्ड, अटलांटा (यू०एस०ए०)
4. श्रीमती हंसा मेहता, कुलपति, बड़ौदा विश्वविद्यालय
5. श्री जे०ए० तारापुरवाला, निदेशक टेक्निकल शिक्षा, मुंबई
6. डॉ० के०एल० श्रीमाली, प्रिंसिपल, विद्या भवन, उदयपुर
7. श्री एम०टी० व्यास, प्रिंसिपल, न्यू ऐरा स्कूल, मुंबई
8. श्री के०जी० सय्यदीन, सह-सचिव शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार
9. प्रिंसिपल एम०एन० वसु, प्रिंसिपल, शिक्षा संस्थान, दिल्ली

आयोग का काम विशेषतः यह था कि भारत में प्रचलित सेकंडरी शिक्षा का पर्यावलोकन करे और नए भारत की आवश्यकता और क्षमता के अनुसार शिक्षा के सुधार और पुनर्गठन की सिफारिश करे ।

जैसे ही आयोग ने स्वतंत्र भारत के संदर्भ में प्रचलित शिक्षा के संबंध में सोचना प्रारंभ किया उन्हें ऐसा लगा कि हमारी शिक्षा तो मूल रूप से ही गलत हो गई थी । यह शिक्षा विद्यार्थियों को केवल किताबों का कीड़ा बना देती थी और पुस्तकों और परीक्षा के बोझ से लाद देती थी । एक बहुत बड़ी कमजोरी इस पद्धति की यह थी कि इसका शिक्षा-माध्यम अंग्रेजी था जो विदेशी भाषा होने के कारण विद्यार्थियों के रास्ते का पत्थर बन गया था । यदि कोई बच्चा अंग्रेजी में कमजोर होता तो वह न तो स्कूल परीक्षा पास कर पाता था और न कोई सरकारी नौकरी पा सकता था (रिपोर्ट, पृ० 20-21) । वास्तव में यह शिक्षा केवल परतंत्र भारत की आवश्यकताओं

के अनुरूप थी, इसमें चरित्र-निर्माण, अनुशासन, नागरिकता सहयोग, नेतृत्व इत्यादि वैयक्तिक और सामाजिक गुणों का समावेश था ही नहीं। वास्तव में इस शिक्षा का जीवन से कोई संबंध ही नहीं था।

अंग्रेजी शिक्षा पद्धति की कमियों को देखने के पश्चात् आयोग ने एक मूल प्रश्न नई शिक्षा के संबंध में उठाया कि नए भारत में शिक्षा का उद्देश्य क्या है ? आयोग ने इस प्रश्न पर दोहरे दृष्टिकोण से विचार किया : आज की शिक्षा किसके लिए और किस संदर्भ में ? उत्तर स्पष्ट है :

शिक्षा व्यक्ति के लिए,
समाज के संदर्भ में।

आयोग ने शिक्षा के उद्देश्य के संबंध में कहा कि शिक्षा का चरम उद्देश्य है व्यक्ति का चरित्र-निर्माण और उसके व्यक्तित्व का विकास (रिपोर्ट, पृ० 117)। और स्पष्ट शब्दों में कहा जा सकता है कि चरित्र-निर्माण और व्यक्तित्व का विकास समाज के परिप्रेक्ष्य में ही होता है क्योंकि समाज के अंदर ही उसके चरित्र और व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति और परीक्षा होती है। व्यक्ति की स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति भी समाज के अंदर ही होती है। यदि किसी ऐसी दुनिया की कल्पना करें जहां सब कुछ उपलब्ध हो पर व्यक्ति केवल एक हो तो वह व्यक्ति पूर्णतया स्वतंत्र तो होगा, क्योंकि उसकी स्वतंत्रता को चुनौती देने वाला कोई भी नहीं होगा, किंतु वह स्वतंत्रता किस काम की ? स्वतंत्र समाज-सापेक्ष है। समाज के बिना व्यक्ति की स्वतंत्रता का कोई महत्त्व नहीं और व्यक्ति की स्वतंत्रता के बिना समाज की स्वतंत्रता का कोई अर्थ नहीं। किसी भी समाज में शिक्षा का संबंध व्यक्ति और समष्टि (समाज) दोनों से होता है। शिक्षा एक ऐसी प्रक्रिया है जिससे व्यक्ति का विकास और समाज की उन्नति इन दोनों की सिद्धि होती है। अतः शिक्षा का उद्देश्य हुआ :

1. मनुष्य का चरित्र-निर्माण
2. समाज के प्रति अनुशासन की भावना
3. समाज के प्रति उसका योगदान।

स्वतंत्र भारत के लोकतांत्रिक समाज को देखते हुए शिक्षा का उद्देश्य है नागरिकता (रिपोर्ट, पृ० 23-24)। हमारे नए समाज के व्यक्ति स्वतंत्र है, समाज भी स्वतंत्र है। स्वतंत्र समाज जब स्वतंत्र नागरिक से अनुशासन और सकारात्मक योगदान की मांग करता है तो देखना यह है कि वह अनुशासन और योगदान कैसा होगा ?

आइए, इस अपेक्षित अनुशासन और योगदान की तुलना ब्रिटिशकालीन अपेक्षाओं से करते है। चरित्र-निर्माण और व्यक्तित्व विकास तथा अनुशासन और सामाजिक योगदान की अपेक्षा तो शिक्षित वर्ग से ब्रिटिश सरकार ने भी की थी। इन्हीं गुणों की अपेक्षा करके किंतु इन्हें भारत के नौजवानों में न पाकर लार्ड कर्ज़न उदास हो गए थे। कारण यह था कि विदेशी सरकार ने तो अनुशासन और सामाजिक योगदान की आशा सरकारी हित में ब्रिटिश दिशा में की थी, किंतु भारतीय नौजवान स्वतंत्रता भारतीय दिशा में सोचने लगे थे और इसी कारण वे ब्रिटिश

सरकार को चुनौती देने लगे थे। ब्रिटिश दृष्टिकोण से सोचते हुए कर्ज़न और अन्य शासकों ने कहा था कि भारतीय युवक भटक गया है, वह अनुशासनहीन और दिशाविहीन है। स्वतंत्र समाज में स्वतंत्र व्यक्ति का संबंध, जैसे कि हम पहले कह चुके है, सुर और संगीत वाला है। प्रत्येक सुर का अपना महत्व है किंतु राग के बिना उसका अकेले का कोई महत्त्व नहीं है। इसी प्रकार राग या संगीत का महत्व तो है किंतु वह है तो सुरों की ही अनुशासनबद्ध समष्टि। यदि एक सुर भी बिगड़ा होगा या अपने स्थान पर नहीं होगा तो राग बिगड़ जाएगा। इसी प्रकार स्वतंत्र समाज में अनुशासन व्यक्ति की स्वयं की स्वतंत्रता-सिद्धि के लिए होता है और अनुशासनबद्ध योगदान स्वतंत्रतापूर्वक दिया जाता है। व्यक्ति और सामज, स्वतंत्रता और अनुशासन, इन सबका तालमेल शिक्षा और नागरिकता की भावना से बनता है। जितना स्वस्थ व्यक्ति होगा, जितना दृढ़ उसका चरित्र होगा, जितना संपूर्ण उसका अनुशासन होगा, उतना ही स्वस्थ और समुन्नत समाज होगा। समाज और व्यक्ति के इस संतुलित विकास का साधन और प्रक्रिया है शिक्षा—विशेषकर प्रारंभिक और माध्यमिक शिक्षा। स्वतंत्र समाज के तीन आधार-स्तंभ है : संगठन, संवाद और सहयोग। समान विचार, समान भाषा, समान लक्ष्य—ये सब बड़े आवश्यक है।

लोकतंत्र और नागरिकता के साथ एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात जुड़ी है : स्वतंत्र विचार, स्वतंत्र इच्छा, स्वतंत्र निर्णय और स्वतंत्र कार्य और विचार, इच्छा तथा निर्णय के साथ-साथ पूरी जिम्मेदारी मानना। यह सारा कुछ करने के लिए स्वच्छ विचार, साफ और असंदिग्ध भाषा, बोलने और लिखने की शक्ति आवश्यक है। इसलिए शिक्षा का एक आवश्यक लक्ष्य यह भी है कि व्यक्ति को सही सोचने, बोलने और लिखने की क्षमता प्रदान करना (रिपोर्ट, पृ० 23-4)। यदि व्यक्ति की विचार शक्ति और वक्तृता को सक्षम बनाना है तो अपनी भाषा की आवश्यकता है। दूसरी अर्थात् विदेशी भाषा के माध्यम से व्यक्ति का विकास अधूरा रह जाएगा। वास्तव में आज के भारत में परंपरा का अंधानुकरण भी देशभक्ति नहीं होगा। परंपरा को भी समझना और उसका मूल्यांकन करना आवश्यक है। वह भी केवल अपनी भाषा के माध्यम से ही हो सकता है (रिपोर्ट, पृ० 26) अतः आयोग की सैद्धांतिक दृष्टि में अपनी भाषा शिक्षा-माध्यम के रूप में प्रयोग करना आवश्यक है (रिपोर्ट, पृ० 90)।

आयोग के मतानुसार विदेशी शिक्षा प्रणाली की सबसे बड़ी त्रुटि यह थी कि उसमें अंग्रेजी को शिक्षा-माध्यम बनाया गया था और विद्यार्थी की मातृभाषा की अवहेलना की गई थी (रिपोर्ट, पृ० 10)। परिणाम यह हुआ कि बच्चे न तो सोच पाते थे और न ही बोल सकते थे। वे उस कुचक्र में पड़ गए जिसकी चर्चा रवीन्द्र ठाकुर ने 'शिक्षा के हेरफेर' नाम से की है, अर्थात् विदेशी माध्यम से शिक्षित युवक के पास विचार हैं तो भाषा नहीं है और भाषा है तो विचार नहीं हैं। ब्रिटिश काल में शिक्षा के साथ यही खिलवाड़ तो की गई थी। इसे ठीक करना स्वतंत्र भारत का काम था और भारत की ओर से सेकंडरी शिक्षा आयोग यही काम कर रहा था।

आयोग ने ठीक ही कहा था कि शिक्षा की प्रक्रिया में सब से अधिक महत्त्व मातृभाषा को दिया जाना चाहिए। मातृभाषा के अध्ययन का यह अर्थ भी नहीं कि भाषा को जैसे चाहा बोल

दिया, जैसे चाहा लिख दिया अथवा केवल शब्दावली में वृद्धि करते चले गए। मातृभाषा तो विद्यार्थी के संपूर्ण व्यक्तित्व के विकास का सबसे सशक्त और संपन्न साधन है। इसके माध्यम से ही साहित्य का अध्ययन संभव है और इसी के माध्यम से ऊंची से ऊंची विचार एवं कल्पना-वृत्तियों से हार्दिक संबंध हो सकता है। इसी के माध्यम से हृदय और आत्मा की अभिव्यक्ति हो सकती है। विदेशी भाषा के माध्यम से बच्चे केवल शब्दों की रटंत में लगे रहते है और विचारों और भावनाओं से वंचित रह जाते हैं। केवल शब्द मात्र शिक्षा नहीं हैं। शब्दों के माध्यम से जीवन-तत्त्वों की प्राप्ति वास्तविक शिक्षा है जो अपनी भाषा के द्वारा ही संभव है। विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग की तरह सेकंडरी शिक्षा आयोग का भी सिद्धांत पक्ष दृढ़ था। उन्होंने 1882 के हंटर आयोग से लेकर 1948 के विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग तक की सारी रिपोर्ट पढ़ी और यह आशा व्यक्त की कि नए भारत में लोकतांत्रिक सरकार और प्रबुद्ध जनता के संदर्भ में शिक्षा एक महत्त्वपूर्ण मोड़ लेगी और अवश्य लेगी। अंग्रेजी माध्यम की आलोचना तो आयोग कर ही चुका था और सिद्धांत रूप में मातृभाषा के शिक्षा-माध्यम होने का समर्थन भी कर चुका था। इस कारण यह आशा की जा सकती थी कि आयोग किसी न किसी भारतीय भाषा, एक (हिंदी) या अनेक (क्षेत्रीय) भाषाओं की सिफारिश करेगा। क्या ऐसा हुआ ? और यदि ऐसा हुआ तो कहीं उसे नकारा तो नहीं गया ?

आयोग ने जो प्रश्नावली तैयार की उसमें भाषा-अध्ययन और शिक्षा-माध्यम के संबंध में तीन प्रश्न थे, प्रश्न सं० 2, 3 और 4। ये इस प्रकार हैं :

2. विभिन्न प्रकार के प्रारंभिक और सेकंडरी स्कूलों में शिक्षा-माध्यम क्या है ?
3. (क) आपके मतानुसार विभिन्न प्रकार के सेकंडरी स्कूलों में शिक्षा-माध्यम क्या होना चाहिए ?
   (ख) इस पद्धति (स्कीम) में अल्पसंख्यकों की क्या स्थिति होगी ?
4. (क) ऐच्छिक अथवा अनिवार्य रूप में कितनी भाषाएं पढ़ाई जाएं ?
   (i) जूनियर हाई स्कूल में ?
   (ii) सीनियर हाई स्कूल में ?
   (ख) इस पद्धति में मातृभाषा, केंद्रीय भाषा, अंग्रेजी और प्राचीन (क्लासिकल) भाषा का क्या स्थान होगा ?
   (ग) (i) किस स्तर पर केंद्रीय भाषा का अध्ययन प्रारंभ हो और कितने समय तक ?
   (ii) किस स्तर पर अंग्रेजी भाषा का अध्ययन आरंभ हो और कितने समय तक ?
   (iii) इस पद्धति में क्षेत्रीय (प्रादेशिक) भाषा की क्या स्थिति रहेगी, यदि वह बच्चे की मातृभाषा से भिन्न हो तो ?

यदि सिद्धांत पक्ष को देखा जाए और प्रश्नों का उत्तर ढूंढ़ा जाए तो मातृभाषा, क्षेत्रीय भाषा

अथवा हिंदी के अतिरिक्त और कोई भाषा शिक्षा का माध्यम हो ही नहीं सकती, अंग्रेजी तो कभी भी नहीं। किंतु यह उत्तर आयोग को बना-बनाया मिल गया। उन्होंने यह नोट किया कि 1937 से पहले तो शिक्षा-माध्यम था अंग्रेजी किंतु 1937 के पश्चात् मातृभाषा क्षेत्रीय भाषा माध्यम बन गया है। अंग्रेजी मात्र अनिवार्य विषय है। हां, जहां अंग्रेजी मातृभाषा है या अल्पसंख्यकों की भाषा है वहां अंग्रेजी माध्यम अवश्य है। इसके अतिरिक्त अखिल भारतीय स्तर पर काम करने वाले अफ़सरों के बच्चों को भी अंग्रेजी-माध्यम से पढ़ने की सुविधा उपलब्ध है क्योंकि स्थानांतरण होने पर उनके बच्चे नई क्षेत्रीय भाषा के माध्यम से नहीं पढ़ सकते। हिंदी की स्थिति के संबंध में आयोग ने यह पाया कि :

1. कुछ प्रदेशों में हिंदी शिक्षा-माध्यम एवं अनिवार्य शिक्षा-विषय है।
2. कुछ प्रदेशों में हिंदी अनिवार्य विषय तो है पर शिक्षा-माध्यम क्षेत्रीय भाषा है।
3. हिंदी एक विकल्प भाषा और परीक्षा-विषय भी है, किंतु परिणाम का प्रभाव परीक्षा-परिणाम पर कोई नहीं है।
4. हिंदी का अध्यापन तो अनिवार्य है पर इसका अध्ययन ऐच्छिक। (रिपोर्ट, पृ० 60)

इन तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि हिंदी एवं दूसरी भारतीय भाषाएं शिक्षा-माध्यम के रूप में अपनाई जा चुकी थीं और अंग्रेजी का बोलबाला नहीं था। यदि आयोग की सिफारिश को भी देखें तो भी ऐसा ही दीखता है। सिफारिशें संक्षेप में यह हैं :

1. सेकंडरी स्कूल में शिक्षा-माध्यम केवल मातृभाषा या क्षेत्रीय भाषा होना चाहिए। जहां भाषायी अल्पसंख्यकों का प्रश्न हो वहां उनको अपनी भाषा शिक्षा-माध्यम के रूप में उपलब्ध हो।
2. मिडिल स्कूल स्तर पर प्रत्येक विद्यार्थी कम से कम दो भाषाएं पढ़े। जूनियर बेसिक स्तर पर अंग्रेजी और हिंदी प्रारंभ की जाएं किंतु एक ही वर्ष में नहीं।
3. हाई और हायर सेकंडरी स्तर पर दो भाषाएं पढ़ाई जाएं जिनमें एक मातृभाषा या क्षेत्रीय भाषा हो। (रिपोर्ट, पृ० 72)

मनोविज्ञान के आधार पर विदेशी भाषा को माध्यम रूप में अस्वीकार्य कह चुकने के बाद अंग्रेजी के विषय में कोई बात न कहना और यह मान लेना कि माध्यम का प्रश्न हल हो चुका है क्योंकि मातृभाषा, क्षेत्रीय भाषा या हिंदी पहले ही माध्यम बन चुकी है, ऐसा लगता है कि वास्तविक समस्या से मुंह मोड़ लेना है। भारतीय भाषाएं माध्यम रूप में स्वीकार हो चुकी हैं यह कह देना भी ठीक नहीं है, क्योंकि यह साधारण तौर पर जानी-पहचानी बात है कि सामाजिक विज्ञान या इतिहास आदि विषयों को छोड़कर साइंस और गणित इत्यादि विषयों का माध्यम तो अभी भी अंग्रेजी है। इसके अतिरिक्त विशेष देखना यह है कि आयोग ने कुछ ऐसी परिस्थितियों की ओर संकेत किया है जो अंग्रेजी अनिवार्य बने रहने का निर्देश करती हैं और दूसरी ओर ऐसे तथ्यों और वांछनाओं की चर्चा की है जिनके कारण अंग्रेजी माध्यम रहना ही नहीं चाहिए। इससे

आयोग की अपनी मान्यताओं में ही विरोध आ जाता है। एक तरफ कहते है कि हमारे विद्यार्थी अधिकतर हायर सेकंडरी स्तर तक ही जाते हैं आगे नहीं (रिपोर्ट, पृ० 102) और साथ में यह भी कि नौजवान के रास्ते में कोई ऐसा रोड़ा केवल भाषा के न जानने के कारण नहीं होना चाहिए जो उसे अपने वांछित लक्ष्य से वंचित कर दे। इसका अर्थ यह हुआ कि अंग्रेजी को किसी के रास्ते का पथर नहीं बनने दिया जाए (रिपोर्ट, पृ० 70)। इसके बाद कहते है कि अंग्रेजी का ज्ञान अत्यंत लाभप्रद है और यदि कुछ विद्यार्थी ऐसे हैं जो अंग्रेजी में पिछड़े हुए हैं तो उनकी विशेष सहायता का प्रबंध होना चाहिए (रिपोर्ट, पृ० 70)। साथ-साथ यह भी कह दिया गया कि अंग्रेजी विश्वविद्यालय स्तर पर शिक्षा-माध्यम है और केंद्रीय और प्रादेशिक सरकारों का प्रशासन-माध्यम भी है और कुछ वर्षों तक रहेगा (रिपोर्ट, पृ० 71)। हिंदी तथा दूसरी भारतीय भाषाओं में पाठ्य-पुस्तकें नहीं मिलतीं, अतः अंग्रेजी पुस्तकें पढ़ानी ही पड़ेंगी (रिपोर्ट, पृ० 71)। इन सब बातों का निष्कर्ष यही निकलता है कि अंग्रेजी चल तो रही है, चलने ही दो। नाम को हिंदी माध्यम आ ही गया है, अंग्रेजी जहां है वहां बनी रहे, अच्छा है।

सिद्धांत पक्ष के दृढ़ होने पर भी समस्या का सही उत्तर क्यों नहीं मिलता ? इसलिए कि सोचते है बुद्धि से, पर करते हैं मजबूरी से। और ऐसा केवल व्यक्ति या एक आयोग या एक वर्ग नहीं करता, अधिकतर सभी व्यक्ति, सभी संस्थाएं और सभी वर्ग ऐसा करते है—केवल सिरफिरों और क्रांतिकारियों को छोड़कर। अतएव जब किसी ने सिद्धांत पक्ष का विचार किया तो कहा कि अंग्रेजी तो जानी चाहिए, और भारतीय भाषा या भाषाएं आनी चाहिए। यदि एक भाषा सारे भारत में संपर्क-भाषा के रूप में हो तो कैसा ? बहुत अच्छा। कौन-सी ? हिंदी, और कौन-सी ? जैसे ही यह कहा अंदर से आवाज आई—है ? यह क्या ? अंग्रेजी वाले तो मिट जाएंगे। और इसी के साथ लोकवाणी की जगह वर्गवाणी आ गई और वर्गवाणी लोकवाणी बन गई। वर्ग सीमा से बाहर तो मूक समुदाय पथराई आंखों से केवल ताकता रहता है या वर्ग सभ्यता को किसी भी माध्यम से अपनाने की आकांक्षा में अपने को स्वाहा कर देता है। ऐसा विशेषकर उस समय होता है जब हमारी इच्छा शक्ति परिस्थितियों की जकड़न में पकड़ी होती है और हम स्वयं उन परिस्थितियों का अंग बन जाते हैं। सेकंडरी शिक्षा आयोग के समय ऐसा ही हुआ।

आयोग ने वैधानिक और सामाजिक परिस्थितियों की चर्चा तो की परंतु इन मजबूरियों से ऊपर उठने का कोई सुझाव नहीं दिया। भाषा संबंधी वैधानिक धाराएं वैधानिक मजबूरियां बन गई और ऐतिहासिक तथा वैधानिक स्थिति सामाजिक मजबूरी बन गई। आइए, इन दोनों को देखें :

विधान के अनुसार 15 वर्ष तक केंद्र की भाषा अंग्रेजी रहेगी। संसद यदि चाहे तो 15 वर्ष के बाद भी अंग्रेजी केंद्र की भाषा रह सकती है।

किसी भी प्रदेश की विधान सभा विधिपर्वूक प्रदेश में प्रयोग होने वाली एक या अनेक भाषाओं को या हिंदी को राजकार्य के लिए अपना सकती है। जब तक विधान सभा ऐसा कानून पास न करे अंग्रेजी चलती रहे।

इस समय प्रचलित केंद्रीय भाषा (अर्थात् अंग्रेजी) ही अंतर्राज्यीय तथा राज्य-केंद्र-संपर्क की भाषा रहेगी। यदि दो या अधिक राज्य चाहें तो हिंदी को अपना लें।

यदि राष्ट्रपति ऐसा समझें कि किसी राज्य के नागरिक अपनी किसी भाषा का प्रयोग करना चाहते हैं तो वे उस भाषा के प्रयोग का आदेश दे सकते हैं। (रिपोर्ट, पृ० 59)

इन धाराओं का अर्थ यह हुआ कि राज्यों में हिंदी या अन्य भारतीय भाषा के द्वार बंद हो गए और बंद ही रहेंगे जब तक कि वे खोले न जाएं। अंग्रेजी का द्वार वहां खुला रहेगा जब तक कि उसे बंद न किया जाए। अंग्रेजी के द्वार बंद करने और भारतीय भाषाओं के दरवाजे खोलने का अधिकार विधान सभाओं को या राष्ट्रपति को दिया गया, पर वे खोलें तभी। यदि वे न खोलें तो अंग्रेजी चलेगी और चलती रहेगी। अंग्रेजी को 15 वर्ष के बाद भी चलते रहने देने का अधिकार संसद को दिया गया। यदि संसद ऐसा न करे तो 15 वर्ष के बाद हिंदी आ जाएगी लेकिन हो सकता है कुछ ऐसी मजबूरियां आ जाएं कि संसद को अंग्रेजी को चलते रहने देना पड़े। विधान सभाओं को तो मानो सोते रहने का पट्टा ही मिल गया।

वैधानिक मजबूरियों की संभावनाओं के बाद परिस्थितियों की मजबूरियों को देखें। विश्वविद्यालयों में शिक्षा-माध्यम और केंद्र और राज्यों में शासन-माध्यम और सारे भारत में शिक्षित वर्ग की संपर्क-भाषा अंग्रेजी थी। अल्पसंख्यकों को वैधानिक अधिकार दिया गया था कि अपने मनमर्जी के शिक्षा संस्थान स्थापित कर लें, शिक्षा-माध्यम भी उसी स्वेच्छा का अंग था। ऐसे संस्थान अधिकतर मिशनरियों के स्थापित किए हुए थे जिनमें शिक्षा-माध्यम अंग्रेजी था। वहां शिक्षा-माध्यम संस्थापकों के अतिरिक्त कोई और नहीं बदल सकता था और अंग्रेजी तो उनकी संस्कृति, सभ्यता, धर्म, नीति और मानो अस्तित्व का अभिन्न अंग ही नहीं बल्कि आत्मा थी। उनमें प्रवेश पाना भी देश के ऊंचे वर्ग की महत्त्वाकांक्षा थी। अतः ये संस्थान देश की शिक्षा और शिक्षा साधनों के मानक समझे जाते थे। इन संस्थानों के माध्यम से इस विशाल बरगद की न केवल जड़ों को पानी मिलता था अपितु इसके छाया-विस्तार को सहारा देने वाली डाढ़ियों को भी सहारा मिल रहा था। इनके अतिरिक्त और कई केंद्रीय तथा राज्यीय और प्राइवेट संस्थान ऐसे थे जहां माध्यम अंग्रेजी था और जहां देश के उच्च शिक्षित वर्ग, व्यापारी परिवार और सरकारी अफसर अपने बच्चों को शिक्षार्थ भेजते थे। इन सभी संस्थानों में अंग्रेजी प्रथम कक्षा से नहीं तो तीसरी कक्षा से तो प्रारंभ होती ही थी। इन्हीं स्कूलों और कालेजों के स्नातक आगे चलकर देश के उच्चतम स्थानों पर आसीन होते थे। ऐसी परिस्थितियों में अंग्रेजी जैसी अन्नपूर्णा को छोड़कर किसी और भाषा की अर्चना कौन करेगा ?

आयोग की रिपोर्ट में उत्तर भेजने वालों के मत तो नहीं दिए गए पर उनका संक्षिप्त विवरण आयोग की अपनी भाषा में दिया गया है। रिपोर्ट के भाषा संबंधी भाग में निष्कर्ष निकालते समय आयोग ने कहा है कि माध्यम भाषा जैसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर सर्वसम्मति की आशा करना संभव नहीं है। वास्तव में जनवर्ग के मतभेद का प्रतिबिंब स्वयं आयोग के सदस्यों के विचारों और परस्पर बहस में दिखाई देने लगा। कुछ सदस्यों का विचार था कि अंग्रेजी का वह स्थान नहीं

बना रहना चाहिए जो आज है और वह अधिक से अधिक मिडल स्तर पर ऐच्छिक भाषा के रूप में पढ़ाई जाए। दूसरों का मत था कि आज की परिस्थितियों में विशेषकर क्षेत्रीय भाषाओं के विकास की स्थिति को देखकर और केंद्रीय भाषा (अंग्रेजी) के रहते यह आवश्यक है कि विश्वविद्यालय या दूसरे संस्थानों में उच्च शिक्षा के प्रत्याशियों को अंग्रेजी बहुत अच्छी तरह आती हो। इसके लिए आवश्यक है कि कम से कम मिडिल स्तर से अंग्रेजी अनिवार्य विषय हो।

रिपोर्ट में सिफारिश की गई कि सेकंडरी स्तर पर शिक्षा-माध्यम मातृभाषा या क्षेत्रीय भाषा हो किंतु अल्पसंख्यकों को विशेष सुविधाएं दी जाएं। मिडल स्तर पर दो भाषाएं पढ़ाई जाए—हिंदी और अंग्रेजी, पर एक ही वर्ष में दोनों भाषाएं प्रारंभ न की जाएं।

लोकतंत्र की शक्ति कहां से आती है ? लोक से। परंतु लोक की दर्शन शक्ति और मेधा शक्ति कहां है ? क्या लोकेच्छा की नियामक भी कोई शक्ति है, या लोकतंत्र अंधा है जो बिना देखे जिधर मुंह उठ जाए उधर ही चल देता है और केवल ठोकर लगने पर ही मजबूर होकर अपना रास्ता बदलता है ? लोकतंत्र की दर्शन शक्ति और मेधा शक्ति उसका शिक्षित वर्ग है जो उसे सही नेतृत्व प्रदान करता है। जब से भारत में स्वतंत्रता की ओर संकेत किया गया या स्वतंत्रता की मांग को दोहराया गया तभी से शिक्षा के नए उद्देश्यों पर बल दिया गया और कहा गया कि शिक्षा का उद्देश्य है चरित्र-निर्माण और नेतृत्व-निर्माण। कर्ज़न जैसे कट्टर साम्राज्यवादी ने भी ऐसा ही कहा था और उन जैसे लोग हमारी पंगु शिक्षा पद्धति और उसके द्वारा निर्मित युवकों की मानसिक दासता को देखकर रो दिए थे। स्वतंत्र भारत के उच्चतम शिक्षाविद् उच्चतम आयोगों की कुर्सियों पर बैठ कर क्या निदेश दे पाए ? परिस्थितियों की जकड़न में अंग्रेजीग्रस्त बुद्धि से केवल नौकरियों की ओर संकेत कर पाए। यह तो 1827 से ही हो रहा था। हमारा लोकतंत्र अपने आप से मजबूर, देखने में भी और करने में भी।

· 29
चढ़ता सूरज, बढ़ती छाया

हम लोकतंत्र की अंग्रेजी प्रेमी मजबूरियों की चर्चा कर चुके हैं। मजबूरियां आंतरिक और बाहरी दोनों हो सकती हैं। मानसिक मजबूरियां आंतरिक हैं, प्राकृतिक मजबूरियां बाहरी हैं। सूखा, अतिवर्षा, बाढ़, भूकंप इत्यादि बाहरी मजबूरियां हैं। सामाजिक मजबूरियां आंतरिक और बाहरी दोनों हैं। शिक्षा और शासन के क्षेत्र में अंग्रेजी आदत का बने रहना, उसे तोड़ने की अनिच्छा और हिन्दी के कारण होने वाली आर्थिक और राजनीतिक आशंकाओं का भय, ये मजबूरियां आंतरिक और बाहरी दोनों प्रकार की थीं। देश का शिक्षाविद् और शिक्षित वर्ग इन मजबूरियों के नीचे टूट गया। स्वतंत्रता के चढ़ते सूरज के आलोक में अंग्रेजी की छाया बढ़ती गई। विचित्र समय था। अंग्रेजी साम्राज्य का सूर्य अस्त हो रहा था और अंग्रेजी भाषा का प्रभुत्व प्रशस्त हो रहा था।

कोई भी मजबूरी अथवा कमजोर हमारे लोकतंत्र का अंग है, उसमें पाप-पुण्य की कोई बात नहीं है। लोकतंत्र क्या है ? एक स्वयंसिद्ध शक्तिसंपन्न समाज व्यवस्था—लोकस्य लोकेन लोकाय। लोक इसका निर्माण करता है और यह लोक के माध्यम से ही लोकार्थ काम करता है। लोकतंत्र समाज व्यवस्था के साथ-साथ शासन प्रणाली और जीवन-शैली भी है। जीवन-शैली होने के नाते यह लोकधर्म भी है किन्तु परंपरागत किसी ईश्वर प्रणीत धर्म के रूप में नहीं, सेक्युलरिज़्म के रूप में। सेक्युलरिज़्म दर्शन की भाषा में कहलाएगा मानवधर्म और सामाजिक या वैधानिक भाषा में कहलाएगा लोकधर्म। धर्मनिरपेक्ष इसका सही अनुवाद नहीं है, केवल सापेक्ष अनुवाद है जिसे समझने के लिए परंपरागत धर्मों की विशेष परिभाषा की अपेक्षा है। इस्लाम क्या है ? हज़रत मुहम्मद साहब द्वारा प्रणीत अल्लाह प्रदत्त धर्म जिसका हज़रत के माध्यम से अवतरण हुआ। ईसाइयत ? हज़रत ईसा प्रणीत धर्म जिसका ईसा के माध्यम से अलहाम हुआ। हिंदू धर्म में किसी एक अवतार या पीर-पैगंबर की जकड़न तो नहीं है, न ही किसी एक मान्यता विशेष की अनिवार्यता है, किन्तु वह भी वेद से लेकर गुरु गोविन्द और रामकृष्ण तक जनप्रणीत तो नहीं है, ऋषिप्रणीत है। लोकधर्म लोकप्रणीत है, लोकेतर सत्ताप्रणीत नहीं है। लोकधर्म कभी सनातन नहीं होता, सर्वकालीन, सार्वभौम, नित्य और एकरस नहीं होता, बदलता रहता है। सनातन धर्म का लोकरूपांतर युगधर्म अवश्य होता है किंतु उसके पीछे भी सत्ता तो सनातन ही है। लोक-धर्म के पीछे सत्ता केवल लोक सत्ता होती है। लोकतंत्र के सभी निर्णय लोकधर्म तथा लोकसंहिता (विधान) के अनुसार होते है किंतु यदि किन्हीं परिस्थितियों में विधान पथ-प्रदर्शन नहीं करे या रास्ते का रोड़ा बन जाए तो उसे भी बदल दिया जाता है। अंततोगत्वा धर्मतंत्र और लोकतंत्र में

अंतर यह हुआ कि धर्मतंत्र में जो होता है, वह होता है धर्मतः, लोकतंत्र में जो होता है वह होता है लोकतः, मात्र लोकतः। लोकतंत्र में पुण्य-पाप सिद्धांत के लिए कोई स्थान नहीं है, हां अपने निर्णयों के लिए लोकतंत्र जिम्मेदार अवश्य है और उनके अच्छे-बुरे परिणामों को स्वीकार करता है। कर्म सिद्धांत ? फिर मजबूरी। जनता की आवाज लोकतंत्र का सत्य है, लोकमत उसका आधार है, विधान उसकी खुली संहिता है।

विधान के अनुसार हिंदी को राजभाषा के रूप में स्वीकार किया गया था। अंग्रेजी से हिंदी में परिवर्तनार्थ 15 वर्ष का समय रखा गया था। इस वैधानिक निर्णय के अनुसार 1965 में हिंदी को अंग्रेजी के स्थान पर देश की राजभाषा (प्रशासन भाषा) के रूप में अपना लिया जाना चाहिए था। इस निर्णय के पीछे जो लोकदृष्टि रही, लोकमत रहा, वह सब विधान सभा के अंदर अभिव्यक्त हो चुका था। उसकी झलक विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग और सेकंडरी शिक्षा आयोग की रिपोर्टों में हम देख चुके है।

किंतु एक बात विशेषतया विचारणीय है : प्रत्येक लोकध्वनि की प्रतिध्वनि में मानो भय की गूंज सुनाई देती है। उदाहरण के तौर पर अंगेजी का भारत में सत्तारूढ़ रहना स्वतंत्र भारत में अस्वीकार्य माना गया था। देशभक्ति की मांग थी कि देश को अपनी भाषा हो, विदेशी नहीं। थोड़ी ही देर बाद कह दिया गया कि देशभक्ति ही काफी नहीं है, हमें देश की सीमाओं से मुक्त होकर सोचना चाहिए अर्थात् अंग्रेजी के अविरुद्ध। देश के बहुसंख्यक जनवर्ग की भाषा देश की भाषा मानी जानी चाहिए और मानी गई, पर साथ में यह सुनने को मिलता है कि बहुसंख्यक वर्ग भी तो अल्पसंख्यक ही है। एक तरफ अंग्रेजी भाषा मात्र रटंत को बढ़ावा देती है, दूसरी ओर उसके बिना कोई चारा ही नहीं। एक तरफ अंग्रेजी भाषा जनतंत्र की अवहेलना है, दूसरी ओर न्यूनतम समानता का एकमात्र साधन है। राजनीति के बखेड़े में शिक्षा और साधन को उलझाकर अंग्रेजी को समता और सत्ता दोनों का प्रतीक बना दिया गया और जीवन-सिद्धि का साधन मान लिया गया। शिक्षेतर क्षेत्र में भी ये ही ध्वनियां सुनाई देती हैं। परिणाम यह हुआ कि बढ़ते भारत के ऐतिहासिक मोड़ पर भी अंग्रेजी हमारे युगधर्म का अंग बनी रह गई और हमारे लोकधर्म के रूप में हमारी ही इच्छा से पुनः प्रतिष्ठित हो गई। राजभाषा आयोग (1956) से लेकर विधान संशोधन (1967) तक की यही कहानी है। यह विचारों और मान्यताओं का उलटफेर स्वार्थचिंतन और परिस्थितियों के संदर्भ में संभाव्य अनिष्ट के भय के कारण होता है। विद्वानों ने यह भी कहा है कि स्वयं और समाज इन दोनों के हितों की संतुलित अर्थव्यवस्था का नाम लोकतंत्र है। हमारे विचारों, नीतियों और निर्णयों में जो परिवर्तन आते हैं वे सब इसी व्यवस्था संतुलन के नए-नए आयाम हैं।

वैधानिक विचार-विनिमय के बाद हमारा नया-नया लोकतंत्र सोचता-समझता, लड़खड़ाता, आगे-पीछे देखता, धीमी गति से चला। भाषा संबंधी वैधानिक निर्णय ले लेने के बाद उसे पीछे तो देखना नहीं चाहिए था, पंद्रह वर्ष आगे देखकर उसे हिंदी के लिए तैयारी करनी चाहिए थी। पर उसने आगे देख तो दीखा भय। अतः उसने पीछे देखा और राहत की सांस ली। ऐसा

क्यों ? हमारा लोकतंत्र न तो क्रांत परिणाम था, न क्रांतदर्शी। फ्रांस का लोकतंत्र क्रांत परिणाम था, हमारा नहीं। हमारा था विकास-परिणाम और विकास-परिणाम के रूप में भी ब्रिटिश लोकतंत्र (कॉमनवेल्थ) के विकास-परिणाम का अंग था। अतः 1947 में मात्र सरकार बदली थी, विधान भी बदला था पर शासन प्रणाली नहीं बदली थी। हमारे नए शासन का आधार भी ब्रिटिशकालीन भारत था। 15 अगस्त 1947 को रात के बारह बजे नए भारत का मूलमंत्र भी अंग्रेजी में ही पढ़ा गया था। नया भारत अंग्रेजी पद्धति का एक नया अध्याय ही था। हमारे विधान की मूल प्रेरणाएं भी विदेशी हैं। यही कारण है कि जब कोई समस्या आके पड़ती है तो हम पश्चिम की ओर देखते है। भाषा के क्षेत्र में भी हम भारतीय भाषा को लाने के संबंध में अंग्रेजी हटाने की बात पहले करते है, हिंदी लाने की बाद में। अंग्रेजी को हटाने के लिए पहले अंग्रेजी की ओर देखते है और अंग्रेजी से समय बचे तो अपनी ओर ध्यान करते हैं। 1947 में हमारी समस्त शासन-व्यवस्था अंग्रेजी में जकड़ी थी। 1835 से 1947 तक हमारी शिक्षा-व्यवस्था अंग्रेजी शासन-प्रणाली और अंग्रेजी भाषा इन दोनों में जकड़ी थी। शिक्षा और भाषा की वह जकड़न 1947 के बाद चलती रही। लोकतंत्र कदम से कदम मिलाकर चलता है, छलांग मारकर नहीं। 1947 में प्रशासन को तो स्वतंत्रता मिल गई, पर भाषा और शिक्षा इन दोनों को नहीं मिली। अतः विधान में हिंदी के पक्ष में निर्णय ले लेने के बाद भी जब वास्तविक बदलाव का ध्यान आया तो हम अपनी ही स्वतंत्रता के बोझ के नीचे लड़खड़ाकर भविष्य से डरकर सहम गए। हमने पीछे देखा और अंग्रेजी की छाया में बैठ गए।

विधान में अंग्रेजी के स्थान पर हिंदी का प्रावधान हो जाने के बाद राजभाषा पर ठोस विचार प्रारंभ हुआ। सरकार ने राजभाषा आयोग का गठन किया और आयोग ने अपना काम करने के लिए विविध वर्गों के विचारों का संकलन प्रारंभ किया, मानो वैधानिक निर्णय में या तो कुछ त्रुटियां रह गई थीं या निर्णय पूरे तौर पर लिया ही नहीं गया था, या लिया भी गया था तो उसे बदलने की आवश्यकता थी। होना तो यह चाहिए था कि हिंदी को सशक्त और समृद्ध बनाने की आवश्यकता यदि थी तो उसके लिए प्रयत्न करते। हिंदी और दूसरी भारतीय भाषाओं को निकट लाने के लिए शब्दावली का लेन-देन, आवश्यकतानुसार लिपि का सुधार, अखिल भारतीय आवश्यकताओं के अनुरूप एक लिपि का निर्माण, तकनीकी आवश्यकताओं के अनुरूप शब्दसंग्रह और शब्दरचना, अंतर्भाषायी व्याकरण की रचना, अखिल भारतीय और प्रादेशिक भाषाओं का परस्पर महत्त्व और तालमेल, अखिल भारतीय परीक्षाओं के लिए माध्यम का चुनाव इत्यादि व्यावहारिक विषयों पर विचार किया जाना चाहिए था। पर ऐसा नहीं हुआ। पुराने विषय ही ताजा होकर सामने आ गए। राजभाषा का प्रश्न फिर से खड़ा हो गया मानो पुनःविचार करने के बाद फिर से निर्णय लेना और उसको लागू करना दो अलग-अलग बातें है—इन दोनों के बीच यदि समयांतर है तो उस समय में निर्णय बदला भी जा सकता है। यदि संदेह ताजा हो जाएं या स्वार्थ-संतुलन बिगड़ जाएं या संतुलन बनाए रखने वाले दबाव ढीले पड़ जाएं तो। राजभाषा आयोग के गठन के समय ऐसा ही हुआ दीखता है।

अंग्रेजी के पक्ष में, हिंदी के विरोध में तथा भारत की भाषायी एकता के विषय में पुनः विवाद प्रारंभ हो गया। यदि हम राजभाषा आयोग की रिपोर्ट का अध्ययन करें तो कई तथ्य सामने आएंगे। अंग्रेजी विदेशी भाषा नहीं है क्योंकि डेढ़ सौ वर्ष के अभ्यास के बाद वह भारतीय भाषा बन चुकी है। 1947 से पहले परतंत्र भारत में तो अंग्रेजी गुलामी का प्रतीक थी पर स्वतंत्र भारत में वह स्वतंत्र भारत की समृद्ध भाषा और स्वतंत्र भारत की धरोहर बन गई है। फिर ऐसी धरोहर को फेंक देना और अपने को वंचित कर लेना तो ठीक नहीं। भारत के शिक्षित समाज की भाषा क्या है ? यह सवाल भी उठाया गया। उत्तर तो निश्चित ही था। शिक्षित समाज की भाषा तो अंग्रेजी है और उसे अपनी भाषा से वंचित क्यों किया जाए ? एक सवाल और उठा। क्या यह आवश्यक है कि देश की एकता के लिए केवल एक ही भाषा हो ? कैनेडा, स्विट्जरलैंड इत्यादि देशों में कई-कई भाषाएं होते हुए भी वे देश एक हैं, तो फिर भारत में ही एक भाषा क्यों हो ? यदि एक से अधिक भाषाएं भारत में हों तो भी तो देश की एकता बनी रह सकती है। देश की एकता तो अंग्रेजी भाषा की ही देन है, तब उसी एकता को बनाए रखने के लिए अंग्रेजी का ही बहिष्कार क्यों ? (रिपोर्ट, पृ० 30-38, 401-2)

इस सारे अंग्रेजी पक्षीय विवाद के साथ-साथ हिंदी की एकमात्र राजभाषा की मान्यता के विरुद्ध भी कड़ी दलीलें दी गईं। अंग्रेजी शासन काल में अंग्रेजी परतंत्रता का प्रतीक थी यह तो माना। यह भी माना कि भारतीय भाषा ही उस समय स्वतंत्रता का प्रतीक हो सकती थी। इसी कारण हिंदी (हिंदुस्तानी) को भारत की भाषा के रूप में मान लिया गया था। किंतु अब तो परिस्थितियां ही बदल चुकी हैं। अंग्रेजी के समकक्ष हिंदी को कैसे लाया जा सकता है ? हिंदी कितने लोगों की भाषा है ? बोलने वाले पूर्ण रूप से बहुसंख्यक तो नहीं हैं ? फिर कौन सी भाषा हिंदी है ? इसके अनेक रूप हैं—वे सब बोलियां ही तो हैं। जिसे हिंदी कहा जाता है वह तो चंद गिने-चुने लोगों की भाषा है। ये लोग हिंदी वर्ग विशेष अर्थात् हिंदी इलीट हैं और यदि वर्ग विशेष की भाषा को ही लाना है तो अंग्रेजी ही क्यों न रहे ? वह सारे भारत के वर्ग विशेष की भाषा तो है। और फिर हिंदी की क्षमता क्या है ? इसके समकक्ष और सभी भारतीय भाषाओं का साहित्य भी तो समृद्ध है। फिर हिंदी ही क्यों ? ये सब दलीलें राजनीतिक थीं। इनमें आधारभूत कुछ वास्तविकता भी थी। किंतु लोकतंत्र में तो उसी वास्तविकता के आधार पर उसी का सामाजिक अर्थात् समष्टि की दिशा में विकास और विस्तार होता है। उस दिशा-विकास में व्यष्टि या वर्गहित के कारण बाधाएं खड़ी हो गईं। अंग्रेजी काल में तो हिंदी का पक्ष अंग्रेजी के विरोध में स्वतंत्रता और आत्मसम्मान की खोज में लिया गया था। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद आत्मसम्मान की प्रतिष्ठा हो ही चुकी थी। अतः स्वतंत्र भारतीयों को अंग्रेजी भी अपनी लगने लगी। लोकतंत्र जिसे अपना समझे सो अपना, जिसे वह न अपनाए वह दूसरा।

हिंदी के पक्षधरों को यह हिंदी-विरोध अवैधानिक लगा। उनके मतानुसार हिंदी को वैधानिक मान्यता मिली थी, पर न तो इस कारण कि उसका साहित्य दूसरी भाषाओं की अपेक्षा समृद्ध था, न इस कारण कि उसमें अधिकतम साहित्य लिखा जा रहा था और न ही इस कारण कि उसको

साइंस और टेक्नोलजी के क्षेत्र में अधिक क्षमता अथवा सफलता प्राप्त हो चुकी थी। उसे केवल अखिल भारतीय स्तर पर बहुसंख्यक भाषा-भाषियों के आधार पर मान्यता मिली थी और लोकतंत्र में लोकमत का निश्चय केवल बहुमत से होता है। इसलिए हिंदी के अखिल भारतीय पक्ष के प्रश्न को नए रूप में खड़ा नहीं किया जा सकता। अंग्रेजी भले ही एक भारतीय भाषा मानी जाए पर वह हिंदी के सामने तो भारतीय रूप में खड़ी नहीं हो सकती। उनके मतानुसार हिंदी ने अंग्रेजी का स्थान लेने का दावा नहीं किया था, हिंदी को केवल अपना स्थान मिला था। उसे अंग्रेजी की स्थानापन्न भाषा कहना गलत होगा, उसे केवल अपना स्थान अपने बल पर मिला था।

अंग्रेजी के पक्षधर इन दलीलों से राजनीतिक स्तर पर परेशान हुए। राजभाषा के स्तर पर तो वे अंग्रेजी चाहते ही थे, संपर्क-भाषा के स्तर पर भी उन्हें हिंदी मान्य नहीं थी। यदि हिंदी के माध्यम से संपर्क होना है तो यह किन लोगों के बीच होगा ? मात्र हिंदीविद् इलीट के बीच। अंग्रेजीविद् इलीट तो इससे देश की मुख्य धारा से कट जाएंगे। अंग्रेजी-प्रेमियों को कोई भी दलील हिंदी के पक्ष में मान्य नहीं थी। न तो यह कि हिंदी बहुसंख्यकों की भाषा है, न यह कि अंग्रेजी के स्थान पर हिंदी शीघ्रातिशीघ्र आ जाए और न [illegible] कि सारे देश में एक ही भाषा होना देश के लिए आवश्यक है। एक दलील तो अजी[illegible]। उनका कहना था कि संपर्क भाषा भी किनके लिए होती है यह विचारणीय है। देश की अधिकतर जनता तो गांव में ही रहती है जिसे अखिल भारतीय संपर्क की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। तो उनके लिए तो संपर्क-भाषा कोई भी हो, हिंदी या अंग्रेजी। और यदि हिंदी या अंग्रेजी में से कोई सी भाषा संपर्क-भाषा हो सकती है तो अंग्रेजी ही क्यों न चलती रहे ? अंग्रेजी के सामने सब बराबर। हिंदी यदि समता दे पाएगी तो केवल हिंदी-भाषियों को। हिंदीतर क्षेत्र की जनता तो पीछे रह जाएगी। उनके विचार में हिंदी सीखना उतना ही कठिन था जितना किसी विदेशी भाषा को सीखना। और यदि विदेशी भाषा ही सीखना है तो अंग्रेजी ही क्यों न सीखें ? संक्षेप में यह कहना चाहिए कि हिंदी के पक्षधर तो चाहते थे कि वैधानिक प्रावधान के अनुसार हिंदी राजभाषा के रूप में अवश्य आनी चाहिए और अंग्रेजी के पक्षधर चाहते थे कि हिंदी को जितनी देर तक रोका जा सके रोकना चाहिए ताकि अंग्रेजी चलती रहे। प्रश्न भारतीय राजभाषा का नहीं रहा, हिंदी और अंग्रेजी स्पर्धात्मक प्रश्न बन गया। हिंदी अंग्रेजी का स्थान ले या नहीं ? प्रश्न का यह रूप बनते ही बात 1835 पर पहुंच गई और अंग्रेजी के पक्ष में 120 वर्ष के इतिहास का समय-बल भी आ गया जो लार्ड मकाले को उपलब्ध नहीं था।

हिंदी-अंग्रेजी के इस विवाद के बीच राजभाषा आयोग ने अपनी रिपोर्ट दे दी जो 1958 में मान ली गई। रिपोर्ट के अनुसार वैधानिक प्रावधान के अनुरूप 1965 में अंग्रेजी राजभाषा नहीं रहनी चाहिए थी। हिंदी ही राजभाषा होगी ऐसी कल्पना करके वही सिफारिश की गई थी। अंग्रेजी का स्थान अपने आप गौण रह जाना था। 1960 में राष्ट्रपति महोदय की ओर से एक अध्यादेश जारी किया गया कि राजभाषा आयोग की सिफारिशें लागू कर दी जाएं। मुख्यतम आदेश यह था कि साइंस टेक्नोलजी, प्रशासन और विधि-विधान संबंधी हिंदी शब्दावली तैयार

की जाए और व्यावहारिक हिंदी का विकास किया जाए जो प्रशासन और अदालती काम में प्रयोग में लाई जा सके। राष्ट्रपति के अध्यादेश के जारी होते ही हिंदी-विरोधी आशंकाएं और भय मानो साकार होने लगे। नेता लोग जागे मानो उनके क्षेत्रीय व्यक्तित्व को ठेस लगी हो अथवा अंग्रेजी की देन को ग्रहण लगने वाला हो। आयोग की रिपोर्ट और राष्ट्रपति का अध्यादेश इस बात का प्रमाण तो थे ही कि हिंदी की गाड़ी गति पकड़ने वाली है। हिंदी पक्ष में जो वैधानिक प्रावधान हो चुका था उसी को कार्यान्वित करने का प्रयास किया जा रहा था। कोई अवैधानिक बात नहीं की जा रही थी। उसी का भय क्यों ? विरोध भी क्यों ? यह प्रश्न जब हिंदी-विरोधियों के मन में उठा तो भय और शंका दोनों का एक ही समाधान सूझा। हिंदी की गति को धीमा करके प्राप्य लक्ष्य को दूर रखा जाए और प्राप्त लक्ष्य को खोया न जाए। उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्त-वरान्निबोधत।

हिंदी-विरोधी सोए नहीं थे, सजग थे। सरकार की ओर से जैसे-जैसे हिंदी के पक्ष में प्रयास किए जाने लगे, हिंदी-विरोधी आंदोलन भी जोर पकड़ने लगा। हिंदी-विरोधियों के सामने दो लक्ष्य थे : एक यह कि हिंदी को अहिंदी-भाषी क्षेत्रों पर लादा न जाए बल्कि परस्पर बातचीत से भाषा-समस्या को सुलझाया जाए। दूसरा यह कि यदि हिंदी को लागू कर भी दिया जाए तो भी अंग्रेजी चलती रहे और हिंदी के साथ अंग्रेजी को सहभाषा के रूप में मान लिया जाए। इसी कारण यह समझा गया कि अंग्रेजी को हटाने और हिंदी लागू करने की निश्चित समय-रेखा को उदारतापूर्वक आगे बढ़ाया जाए ताकि हिंदी के पक्ष में न केवल वैधानिक निर्णय को ही लागू किया जाए बल्कि भावनात्मक सौहार्द भी प्राप्त कर लिया जाए। लोकतंत्र में जन-भावना बड़ी ही आवश्यक सामाजिक निधि होती है। सारी हिंदी-विरोधी ताकतें इस काम में जुट गईं। कामराज और नाडार में समझौता हुआ, द्रमुक को भी शक्ति मिली और उन्होंने हिंदी-विरोधी आंदोलन को तेज कर दिया। हिंदी को अन्याय और साम्राज्यवाद का प्रतीक माना गया और इस हवा में राष्ट्रीय ध्वज और विधान का भी अपमान किया गया। तमिल संस्कृति संस्थान ने 1956 में मद्रास में संघ भाषा सम्मेलन किया था। सम्मेलन में एक हिंदी-विरोधी प्रस्ताव पास किया गया जिसमें यह कहा गया था कि जब करीब दस करोड़ जनता हिंदी से पूर्णतया अनभिज्ञ है तो अंग्रेजी के स्थान पर हिंदी या किसी और भाषा को लागू करना इस जनता के प्रति घोर अन्याय होगा। देश के बड़े-बड़े नेताओं ने इस सम्मेलन का आह्वान किया था। उन नेताओं में प्रमुख थे चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य। सम्मेलन में पंजाबी, तमिल, तेलुगू, मलयालम, मराठी, कन्नड़, असमिया, उड़िया, बंगला इत्यादि भाषाओं के प्रतिनिधियों ने भाग लिया था। सम्मेलन में राजगोपालाचार्य ने यह कहा था कि हिंदी-भाषियों के लिए अंग्रेजी जितनी विदेशी है, अहिंदी-भाषियों के लिए हिंदी भी उतनी ही विदेशी है और हम उन शक्तियों का विरोध करने में जुटे हैं जो हिंदी को अहिंदी-भाषियों पर थोपने पर तुली हैं। फ्रैंक एंटनी ने तो यहां तक कह दिया था कि हिंदी एक प्रतीक है—जातिवाद, संघवाद, अप्रगति, साम्राज्यवाद और आतंक का। सम्मेलन ने यह मांग की कि देश में अंग्रेजी बिना किसी समय-रेखा के जारी रखी जाए क्योंकि देश की एकता के लिए

हिंदी एक खतरा बन गई है। सम्मेलन का वास्तविक मत था कि अंग्रेजी चले और हिंदी कभी न आए। सम्मेलन की कार्यवाही को छापा गया, जिसका शीर्षक था : 'आज का भारत हिंदी को रिजेक्ट करता है'। इस विषय का पूर्णरूपेण अध्ययन किया गया है और 'दि लैंग्वेज प्रॉब्लम ऑफ इंडिया', 1957 (एसोसिएशन फार दि एडवांसमेंट आफ नेशनल लैंग्वेज ऑफ इंडिया), 'दि द्रविडियन मूवमेंट', 1965 (राबर्ट हार्डग्रेव जूनियर), और 'लैंग्वेज कॉन्फ्लिक्ट एंड नेशनल डेवलपमेंट' (जे० दासगुप्ता) में इस विषय पर बहुत प्रकाश डाला गया है। इन अध्ययनों से तथा सामयिक समाचारपत्रों से पता चलता है कि जैसे-जैसे स्वतंत्रता का सूर्य चढ़ता गया अंग्रेजी की छाया बढ़ती चली गई।

इस आंदोलन की आवाज सरकार तक पहुंची। सरकार को दोनों बातों पर विचार करना पड़ा। परिणामतः यह सोचा गया कि यदि हिंदी के साथ-साथ अंग्रेजी भी सहभाषा के रूप में चलती रहे तो भाषा-विवाद शांत हो सकता है। नेहरू जी ने संसद में कहा कि हिंदी संबंधी वैधानिक प्रावधान पर मतभेद और हठधर्मी को भुलाकर सहानुभूति और वार्तालाप का रास्ता अपनाया जाए तो ही देश के लिए हितकर होगा। उन्होंने 5 सितंबर, 1959 को संसद को विश्वास दिलाया कि राजभाषा के रूप में हिंदी के साथ-साथ अंग्रेजी भी सहभाषा के रूप में रहेगी और वह कब तक सहभाषा के रूप में चलेगी इस बात का फैसला अहिंदी-भाषी लोग ही करेंगे, केवल वे। कुछ समय के पश्चात् भारत सरकार ने ही घोषणा कर दी कि हिंदी के राजभाषा बनने के बाद भी अंग्रेजी सहभाषा के रूप में प्रयोग में लाई जाएगी।

सरकारी घोषणा के बाद प्रश्न वास्तविकता का नहीं केवल औपचारिकता का रह गया था। इस प्रश्न पर अंतरिम विधान सभा तथा शिक्षा आयोगों एवं समाचारपत्रों में इतनी बहस हो चुकी थी कि कोई शक रह नहीं गया था। एक प्रकार का नया भाषा-व्यापार सामने आ गया था मानो भाषा पढ़ने की अपेक्षा भाषा से बढ़ना आवश्यक था। हिंदी-भाषी लोगों को सरकारी नौकरियों में आसानी रहेगी और अहिंदी-भाषी लोग हिंदी भाषा-अध्ययन की कठिनाई के कारण पीछे रह जाएंगे। यह आशंका बन गई थी। इसकी ओर राधाकृष्णन् आयोग ने भी ध्यान दिलाया था। इसी परिप्रेक्ष्य में अगस्त 1961 में भारत के मुख्यमंत्रियों का एक सम्मेलन बुलाया गया। सम्मेलन ने यह निर्णय लिया कि हायर सेकंडरी स्तर पर विद्यार्थी तीन भाषाओं का अध्ययन करें :

1. क्षेत्रीय भाषा या मातृभाषा
2. हिंदी अथवा कोई और भारतीय भाषा
3. अंग्रेजी अथवा कोई और यूरोपीय भाषा

ध्येय यह था कि मात्र भाषा के कारण कोई पीछे न रह जाए और भाषा के क्षेत्र में सभी को समान अवसर मिले चाहे वह आसानी या कठिनाई किसी के माध्यम से मिले। समस्या केवल भाषा की ही न थी, देश के भावनात्मक एकता की भी थी। 1961 में एक राष्ट्रीय एकता सम्मेलन बुलाया गया। सम्मेलन ने भी इस तीन भाषायी फार्मूले का समर्थन कर दिया। अब तो केवल इसको औपचारिक रूप से सरकारी तथा वैधानिक स्तर पर स्वीकार करने की बात रह गई थी।

कांग्रेस कार्यकारिणी ने एक प्रस्ताव पास किया जिसमें यह कहा गया कि विधान में संशोधन किया जाए और नेहरू जी ने जो आश्वासन अंग्रेजी के सहभाषा बनने के संबंध में संसद् में दिया था उसे वैधानिक मान्यता दी जाए। परिणामतः 1963 में विधान में संशोधन किया गया कि यद्यपि भारत के स्वतंत्र गणतंत्र बनने के 15 वर्ष पश्चात् हिंदी को अंग्रेजी के स्थान पर राजभाषा के रूप में प्रयोग में लाया जाना है तो भी, इस प्रावधान के बावजूद, संघ के सभी प्रशासन संबंधी कार्यों में तथा संसद् के कार्यों में हिंदी के अतिरिक्त अंग्रेजी को उन 15 वर्षों के बाद भी प्रयोग में लाया जा सकता है।

विधान-संशोधन तो हो गया, पर हिंदी-विरोधियों का काम 'अंग्रेजी को प्रयोग में लाया जा सकता है' से नहीं चलता था। 'सकता है' से तो अंग्रेजी की लड़ाई अधूरी रह गई। इसलिए आंदोलन फिर से खड़ा हो गया—'प्रयोग में लाया जा सकता है' के स्थान पर विधान यह आदेश दे कि अंग्रेजी को 'प्रयोग में लाया जाए'। अतः 17 फरवरी 1965 को मद्रास में हिंदी-विरोधी एक सम्मेलन बुलाया गया। 26 जनवरी को गणतंत्र दिवस के रूप में न मनाकर काले दिन के रूप में मनाया गया। आंदोलन का परिणाम हुआ 1967 का विधान संशोधन ऐक्ट। संशोधन के अनुसार हिंदी के साथ-साथ अंग्रेजी को सह-राजभाषा का स्थान दे दिया गया। कब तक के लिए ? जब तक अहिंदी-भाषी राज्य चाहें तब तक। विधान यह कहता है कि जब तक अहिंदी-भाषी राज्य अंग्रेजी के विरुद्ध केवल हिंदी के पक्ष में निर्णय न लें अंग्रेजी सह-राजभाषा के रूप में प्रयोग में लाई जाएगी।

शिक्षा-माध्यम तो राजभाषा के पीछे-पीछे चलेगा ही।

30

आगे देखो, पीछे चलो

शिक्षक, शोधक, लेखक ये राष्ट्र की दर्शन शक्ति होते हैं। ये देखते हैं, सोचते हैं, कहते हैं। ये चलते भी हैं और चलने को कहते भी हैं, पर ये चला सकते भी हैं या नहीं यह संदेह का विषय है, विश्वास का नहीं। इसी कारण यह भी आवश्यक नहीं कि प्रत्येक शिक्षक, शोधक या लेखक युगमानव भी हो। युगमानव तो द्रष्टा और स्रष्टा दोनों होता है। किंतु आज के युग में स्रष्टा का स्थान द्रष्टा के अतिरिक्त और बहुत लोगों ने ले लिया है और परिणाम यह हुआ है कि दृष्टि के बिना स्रष्टा को यह पता ही नहीं कि सर्जन करना है तो किसका, कैसे और किस दिशा में ! देखने वाले देखते हैं पर चला नहीं पाते। चलाने वाले चलाते हैं पर देख नहीं पाते। चलाने के लिए दिशाज्ञान चाहिए। दृष्टि के बिना दिशा नहीं। चलने वाले न देख पाते हैं, न दिशा जानते है। वे पीछे चलते हैं। हमारे स्वतंत्रता-युग के शिक्षा क्षेत्र में कुछ ऐसा ही दीखता है। डा० राधाकृष्णन्, डा० आयंगर, डा० कोठारी—ये हमारे शिक्षा-युग के द्रष्टा थे। इन्होंने हमारे इतिहास को देखा, परिप्रेक्ष्य को देखा, भविष्य को भी देखा, जो देखा सो कहा भी, पर ये न स्रष्टा थे, न शासक, न चालक। चलाने वाले खड़े रहे, चले तो चलते समय आगे की अपेक्षा पीछे चले। द्रष्टा मात्र दर्शक बनके रह गए।

विश्वविद्यालय आयोग 1948 में बना था, 1949 में उसकी रिपोर्ट पेश की गई थी। पंद्रह वर्ष में ही तीसरा शिक्षा आयोग बनाने की आवश्यकता पड़ गई। इसी बीच में सेकंडरी शिक्षा आयोग बन चुका था और उसकी रिपोर्ट पर भी विचार किया जा चुका था। इन्हीं पंद्रह-सोलह वर्षों में यह भी दीखने लगा था कि राष्ट्र के अंदर कौन-कौन सी निर्माण-संबंधी समस्याएं उभरकर आने लगी हैं। शिक्षा समस्या, भाषा समस्या, भाषा के आधार पर राज्य पुनर्गठन समस्या, अनेकता में एकता की समस्या और भावात्मक एकता। देश एकजुट होकर एक राष्ट्र बना नहीं था, उस दिशा में अग्रसर हो रहा था। इसी दिशा की ओर विश्वविद्यालय आयोग ने संकेत किया था जब उन्होंने कहा था कि अंग्रेजी तो स्वतंत्रता की अवहेलना है और राष्ट्र की मांग है कि एक भारतीय भाषा राष्ट्र की भाषा हो। यही एक भाषा राष्ट्र की स्वतंत्रता और गणतंत्र का आधार मानी गई थी। बाद में इसी भाषा के संबंध में कई आशंकाएं उठाकर उसे हिंदीवाद का आधार मान लिया गया और राष्ट्र और स्वतंत्रता-समता के पक्ष में अंग्रेजी का समर्थन कर दिया गया। यह दुहरापन आने वाले भाषा-विवाद का प्रारूप था जिसका रूप हम देख ही चुके है। जिस समय शिक्षा आयोग की नियुक्ति हुई (1964), उस समय तक तीन

भाषायी फार्मूला माना जा चुका था और नेहरू जी संसद में यह आश्वासन दे चुके थे कि पंद्रह वर्ष के बाद भी अंग्रेजी चलती रहेगी, हिंदी के लागू करने में अहिंदी-भाषी क्षेत्रों की राय ली जाएगी और हिंदी को किसी की भावनाओं के विरुद्ध थोपा नहीं जाएगा। दक्षिण में हिंदीतर पक्ष-धरों के सहयोग से हिंदी-विरोधी आंदोलन जोर से चल रहा था और कामराज जैसे वरिष्ठ कांग्रेस नेता उसका संचालन कर रहे थे। इन सब गतिविधियों से एक ही निष्कर्ष निकल रहा था : एक राष्ट्र के लिए केवल एक ही राष्ट्रभाषा का होना आवश्यक नहीं है। शिक्षित वर्ग तो इस बात को कई बार कह चुका था कि स्विट्ज़रलैंड और कैनेडा जैसे देशों में कई-कई राष्ट्रभाषाएं हैं। तीन भाषा फार्मूले से एक बात सिद्ध हो चुकी थी : क्षेत्रीय भाषाएं भी हिंदी के साथ-साथ अपना महत्त्व रखती हैं और अभी तो अंग्रेजी का महत्त्व भी ऊंचा दिखाई दे रहा है। हिंदी के मुहूर्त के टलते-टलते उसकी काल-रेखा भी टल चुकी है। और एक विदेशी भाषा तो आवश्यक है ही, तो फिर अंग्रेजी ही क्यों नहीं। अहिंदी-भाषी क्षेत्रों के लिए अंग्रेजी और हिंदी तो एक ही है, एक विदेशी, दूसरी विदेशी जैसी। ये सारी गतिविधियां शिक्षा आयोग को मालूम थीं। परिस्थितियां बहुत बदल चुकी थीं और बदल रही थीं।

रिपोर्ट का मुख्य आशय अध्यक्ष के उस पत्र में है जो उन्होंने रिपोर्ट भेजते समय शिक्षा मंत्री को लिखा था। उन्होंने लिखा : आज केवल एक ही बात अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। आज की दुनिया तीव्र गति से बदल रही है। कल की शिक्षा पद्धति आज काम नहीं देगी, और आने वाले समय में तो काम देगी ही नहीं। अतः हमें अपनी पुरानी शिक्षा पद्धति की जकड़न से निकल जाना चाहिए। डॉ० राधाकृष्णन् संस्कृत और पुरातन इतिहास के प्रकांड पंडित थे। स्वतंत्रता संग्राम के दौरान भारतीय इतिहास, साहित्य और धर्मानुशीलन की अपनी भूमिका रही थी। स्वतंत्र भारत औपनिवेशिक युग से निकलकर अपने स्वतंत्र गौरव और स्वत्व की ओर बढ़ रहा था, अतः उसकी शिक्षा और राष्ट्रीयता के अंदर नवीनता और प्राचीनता दोनों का सन्निवेश होना उचित था। 1964 तक नये पुराने, देशीय-विदेशीय प्रश्न उभरकर इस रूप में सामने आ चुके थे कि देश की प्राचीन परंपरा के स्थान पर सत्ता, शक्ति और समृद्धि अधिक आवश्यक थी। भाषायी वाद-विवाद सैद्धांतिक स्तर पर हल हो ही गया था क्योंकि तीन-भाषायी सिद्धांत माना जा चुका था। इस कारण से शिक्षा आयोग के सामने प्रथम समस्या शिक्षा-पद्धति की थी, शिक्षा-माध्यम की नहीं थी। आयोग की रिपोर्ट में शिक्षा-पद्धति के अंतर्गत माध्यम की बात तो की गई है किंतु गौण रूप से। आयोग मानो यह जानता था कि तीन भाषायी फार्मूले के रहते कोई नई बात कहना या नये विवाद में पड़ना ठीक नहीं होगा। प्रश्न एक ही था : शिक्षा पद्धति कैसी हो जो परिवर्तनशील समाज की बढ़ती आवश्यकताओं के अनुरूप हो और जिसमें से गुजरकर प्रत्येक व्यक्ति राष्ट्र-निर्माण और सामाजिक पुनर्गठन की नयी दिशाओं में आर्थिक विकास, सामाजिक और राजनीतिक समन्वयीकरण और सांस्कृतिक अभ्युदय के क्षेत्र में अपना पूरा योगदान दे सके। और यही नहीं, शिक्षा ऐसी हो कि समूचा राष्ट्र अपने स्वत्व और स्वायत्तता की रक्षा करता हुआ अंतर्राष्ट्रीयता के क्षेत्र में भी एक सराहनीय भूमिका निभा सके। भाषा ? वही जो चले और

संगति, प्रगति, संचार और सहयोग का सशक्त माध्यम बन सके या हो।

आयोग ने भाषा समस्या को छोड़ा भी नहीं। उसके वास्तविक महत्त्व को समझा भी, पर उसे राजनीतिक प्रश्न के रूप में उलझाया नहीं। उन्होंने भाषा के तीन पक्षों को देखा :

1. भाषा जो अनुभूति और ज्ञान का माध्यम हो,
2. भाषा जो शिक्षा का माध्यम हो, और
3. भाषा जो प्रशासन का माध्यम हो।

इन तीनों क्षेत्रों में भाषा चाहे एक हो चाहे अनेक, पर तीनों में तालमेल होना चाहिए। केवल इतना कहकर उन्होंने अपने को भाषा-विवाद से बचा लिया। वे जानते थे कि जीवन की पहली अनुभूतियों और प्रारंभिक ज्ञान का माध्यम तो मातृभाषा ही है और तत्पश्चात यदि मातृभाषा किसी क्षेत्रीय भाषा का रूपांतर है तो आगे शिक्षा का माध्यम क्षेत्रीय भाषा ही होगी। समस्या तो शिक्षा की है, भाषा केवल माध्यम है। प्रशासन की भाषा अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। प्रशासन की भाषा का शिक्षा और व्यवसाय से गहरा संबंध है। वह जो भी हो अपना महत्त्व रखेगी और शिक्षार्थी वर्ग के लिए मार्ग-निर्देश भी करेगी। ये सारी बातें क्षेत्रीय भाषाओं की ओर संकेत करते-करते अंग्रेजी और हिंदी की ओर संकेत तो करती हैं पर आयोग ने इस विषय में कोई पूर्वाग्रह नहीं रखा था।

भाषा के क्षेत्र में आयोग ने वही बातें कहीं जो पहले से चल रही थीं। हिंदी के विषय में उन्होंने लिखा : कई बार ऐसा कहा जाता है कि सारे देश में विश्वविद्यालय स्तर पर एक ही माध्यम हो जो अभी तो अंग्रेजी है पर उचित समय पर हिंदी होना चाहिए। अखिल भारतीय एक माध्यम के पक्षधरों का कहना है कि एक माध्यम (हिंदी) से अध्यापक और विद्यार्थी सारे भारत में आ-जा सकेंगे। शिक्षा, व्यवसाय और प्रशासन के क्षेत्र में भी सहयोग बढ़ेगा। आयोग ने एक भाषा के ये सारे लाभ तो सुने और हिंदी के पक्ष में विशेषतया सुने। पर ये सभी दलीलें तो स्वतंत्रता से पहले से ही दी जा रही थीं और स्वतंत्रता के बाद तो वे जोर पकड़ चुकी थीं। जितना जोर वे पकड़ती थीं उतना ही उनका विरोध भी हुआ था और हो रहा था। अतः आयोग ने अपना मत यही बनाया कि भाषा समस्या का हिंदी समाधान व्यावहारिक नहीं रहेगा। यदि हमने हिंदी पर ही जोर दिया तो इसका अर्थ यह होगा कि हम हिंदी के लिए लड़ते रहेंगे और अंग्रेजी अनिश्चित काल के लिए चलती रहेगी। ऐसी स्थिति को आयोग मानने को तैयार नहीं था क्योंकि यह देश के हित में नहीं था। आयोग ने स्पष्ट शब्दों में यह कहा कि सारे भारत में हिंदी को शिक्षा-माध्यम के रूप में लाना संभव नहीं होगा। अहिंदी-भाषी क्षेत्रों में इसका विरोध होगा, क्योंकि वहां तो हिंदी एक विदेशी-सी ही भाषा होगी। इसलिए बुद्धिमत्ता इसी बात में है कि विश्वविद्यालय स्तर पर जो क्षेत्रीय भाषाएं आ रही हैं उन्हें आने दिया जाए और उनकी गति को अवरुद्ध न किया जाए। हां, विश्वविद्यालय में उच्चतर शिक्षा के लिए सारे देश में एक भाषा पर ही बल दिया जाना चाहिए। (रिपोर्ट, पृ० 14)

हमारे भाषा-माध्यम संबंधी चिंतन की एक विशेषता रही है, वह यह कि अंग्रेजी को

वास्तविकता और हिंदी की वांछनीयता से इनकार नहीं किया जा सका और इन दोनों के होते कोई साधन ऐसा नहीं ढूंढ़ा जा सका जिससे अंग्रेजी के स्थान पर हिंदी को लाया जा सके। शिक्षा आयोग ने यह तो माना कि जब तक विदेशी भाषा शिक्षा-माध्यम के रूप में चलेगी विद्यार्थियों को रटंत से छुटकारा नहीं मिलेगा, लेकिन फिर भी यह नहीं कहा कि अंग्रेजी के स्थान पर भारतीय भाषा अर्थात् हिंदी या और भारतीय भाषाएं लाई जाएं। शायद आयोग यह समझता था कि कहने वाले तो हम अवश्य हैं पर करने वाले तो कोई और है और उनकी अपनी मजबूरियां हैं, चाहे आंतरिक हों, चाहे बाहरी। हां, जब हिंदी और अंग्रेजी को साथ-साथ रखकर उन्होंने हिंदी का पक्ष लेने में असमर्थता प्रकट की तो उन्होंने एक विचारधारा को साफ तौर पर व्यक्त कर दिया—देश की एकता और भाषायी एकता दो अलग-अलग तथ्य हैं और उनका संबंध इतना भावना का नहीं जितना व्यावहारिकता का है। बात तो साफ हो गई किंतु परेशानी केवल यह रही कि प्रशासन एवं राजनीति संबंधी व्यावहारिकता शिक्षा संबंधी व्यावहारिकता की जड़ों पर ही प्रहार कर गई। उन्होंने देखा अवश्य—अंग्रेजी माध्यम का अर्थ है रटंत—वही बात जो कर्ज़न के समय से स्पष्ट थी, किंतु देखकर भी जब कहने पर आए तो कहकर भी कुछ नहीं कह सके : यदि हिंदी की मांग करेंगे तो अंग्रेजी अनिश्चित काल तक चलती रहेगी। विश्वविद्यालय स्तर की ऊंची शिक्षा का माध्यम एक भाषा होनी चाहिए, पर हिंदी हो नहीं सकती, अंग्रेजी होनी नहीं चाहिए। आयोग का चिंतन राजनीति और शिक्षाशास्त्र का विचित्र मिश्रण बन गया। द्रष्टा और स्रष्टा अर्थात् निर्माणकर्ता दो अलग-अलग सत्ताएं हो गई थीं। पहले से ही थीं। परिस्थितियां उतनी ही जटिल थीं जितनी 1948 में थीं, अंतर केवल यह था कि हमें इस जटिलता का ज्ञान हो गया था और उससे न जूझने की आदत भी पड़ गई थी। फिर भी आयोग ने जो सिफारिशें कीं वे साफ थीं और परिस्थितियों को देखते हुए वास्तविक ही थीं।

आयोग की सिफारिशें इस प्रकार थीं :

1. भाषा अनुभूति, अनुमति और ज्ञानार्जन का साधन है। वही भाषा शिक्षा का माध्यम होनी चाहिए जो विद्यार्थियों को शिक्षा की दिशा में स्वाभाविक तरीके से ले जाए। सही देखना, सही और सशक्त तरीके से सोचना, और विचार और भाव की अभिव्यक्ति सुचारु रूप से कर सकना और करना, यह आवश्यक है। शिक्षा और माध्यम का यह ध्येय होते हुए मातृभाषा का स्थान प्रथम है।
2. स्कूल और कॉलेज में शिक्षा-माध्यम एक ही होना चाहिए। कॉलेज स्तर पर माध्यम का बदलना अस्वाभाविक है। स्कूल स्तर पर माध्यम मातृभाषा है, वही कालेज स्तर पर भी होना चाहिए।
3. अखिल भारतीय शिक्षा संस्थानों में आज शिक्षा-माध्यम अंग्रेजी है। वह ऐसे ही नहीं चलते रहना चाहिए। लगभग दस वर्ष के अंदर इन संस्थानों में अंग्रेजी के स्थान पर हिंदी माध्यम होना चाहिए। उच्च अखिल भारतीय संस्थानों में एक माध्यम इसलिए आवश्यक है क्योंकि वहां विद्यार्थी सारे भारत से आते हैं। वे

अपने-अपने क्षेत्रीय माध्यम से कैसे पढ़ सकते हैं ?
4. हिंदी का ठोस तरीकों से विकास किया जाना चाहिए।
5. अंग्रेजी के स्थान पर हिंदी अहिंदी-भाषी राज्यों के सहयोग और सहमति से ही आनी चाहिए और यह भी ध्यान रखा जाना चाहिए कि अहिंदी-भाषी क्षेत्रों से आने वाले विद्यार्थियों को कोई हानि न हो।
6. अंग्रेजी एक लाइब्रेरी (स्वाध्याय) भाषा होगी। अंग्रेजी के अध्ययन-अध्यापन की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। दूसरी विदेशी भाषाओं का अध्ययन भी होना चाहिए।
7. कुछ संस्थान ऐसे भी हों जिनमें विश्वभाषाएं शिक्षा-माध्यम हों ताकि अंतर्राष्ट्रीय सहयोग और सद्भावना को प्रोत्साहन मिल सके।
8. विश्वविद्यालय स्तर पर अध्यापक दो भाषाएं जानते हों। (रिपोर्ट, पृ० 13-15)

आयोग ने इस बात पर बल दिया कि शिक्षा-माध्यम-भाषा और जीवन में प्रगति के साधन की भाषा जुड़ी हुई है। इसी प्रकार शिक्षा-माध्यम और प्रशासन-माध्यम भाषाएं भी जुड़ी हुई हैं। इसी कारण यह भी आवश्यक है कि क्षेत्रीय भाषाओं को राज्य-प्रशासन की भाषाओं के रूप में स्वीकार किया जाए। जब तक क्षेत्रीय भाषाएं प्रशासन-माध्यम नहीं बनाई जाएंगी, उनको शिक्षा-माध्यम के रूप में कोई स्वीकार नहीं करेगा। आयोग ने अनुभूति, अभिव्यक्ति, शिक्षा और व्यवसाय को जोड़ा क्योंकि अंग्रेजी तो शिक्षा और व्यवसाय से जुड़ी थी। यद्यपि वह अनुभूति और अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं बन पाई थी तो भी पूरी गति से चल ही रही थी। जब तक भाषा, नीति, शिक्षा-नीति और आर्थिक नीति का तालमेल नहीं होगा शिक्षा में कोई सुधार नहीं हो पाएगा। ऐसा लगता है कि आयोग ने यह बात पूरा विचार करके कही थी, मानो वे जानते हों कि हमारे राष्ट्रीय और शिक्षा संदर्भ में दीर्घसूत्री और शांतिप्रिय दोनों शब्द अकर्मण्यता के पर्याय बन चुके थे और हमारे शिक्षक और शासक दोनों को एक झटका देकर सतर्क और सावधान करना आवश्यक था।

आयोग ने दोनों को झटका देने का प्रयास भी किया। उन्होंने जोरदार सिफारिश की (रिपोर्ट, पृ० 292, 15) कि विश्वविद्यालय और विश्वविद्यालय अनुदान आयोग मिलकर शिक्षा और भाषा संबंधी ऐसे प्रोग्राम बनाएं जो प्रत्येक विश्वविद्यालय एवं क्षेत्र के लिए अपनी-अपनी आवश्यकता अनुसार उचित हों। समय ? शीघ्रातिशीघ्र या अधिकाधिक दस वर्ष क्योंकि जैसे-जैसे समय बीतता है समस्या जटिल होती जा रही है। द्रष्टा के ये शब्द स्रष्टा को ढूंढ़ रहे थे। स्रष्टा अर्थात् योजना बनाने वाले थे विश्वविद्यालय अनुदान आयोग तथा विश्वविद्यालय, और निर्माता अर्थात् योजना को कार्यान्वित करने वाले थे शिक्षा संस्थान। ये सब तो सब ठीक था। पर सूत्रधार कहां था ? क्या विश्वविद्यालय और शिक्षा संस्थान सरकार के वरदहस्त के बिना सबकुछ कर सकते थे ? शिक्षा, शासन और भाषा यदि जुड़े हैं तो सूत्रधार तो भारत सरकार ही थी। घूम-फिर के पानी फिर झील में ही आ ठहरा : सरकार को अपनी भाषा-नीति स्पष्ट करनी

चाहिए । आयोग ने सबल रूप से सिफारिश की कि सरकार देश के लिए स्पष्ट भाषा-नीति का निर्धारण करे, उसको खुले और साफ, असंदिग्ध शब्दों में कहे और बलपूर्वक सशक्त शैली से कार्यान्वित करे । बिना पतवार की नाव की तरह से बहुत समय हो गया इधर-उधर डोलते । यह दिशाहीनता अब हानिकर होगी । और हमें एक कुचक्र से बचना भी है : हम कहते रहे है कि मांग नहीं है तो उत्पादन (निर्माण) नहीं है, और उत्पादन ही नहीं है तो मांग कहां से होगी ? मतलब यह था कि हिंदी की मांग नहीं है तो विकास नहीं हो रहा और विकास नहीं हो रहा तो मांग कैसे होगी ? यह दलील नहीं चलनी चाहिए । (रिपोर्ट, पृ० 14)

शिक्षा आयोग ने अखिल भारतीय संपर्क भाषा के मुद्दे पर भी गंभीर विचार किया और साफ शब्दों में यह कहा कि आज अंग्रेजी भारत की संपर्क भाषा है, उसका विकल्प—और अनिवार्य विकल्प—है हिंदी, और हिंदी का विकल्प नहीं है (रिपोर्ट, पृ० 13-16) । हिंदी भारत संघ की आफिशियल भाषा भी है इसलिए इसे यथासमय अंग्रेजी वाला स्थान लेना ही चाहिए, इसमें कोई दो राय नहीं है । उसके विकास के लिए प्रयास करना चाहिए और अहिंदी-भाषी क्षेत्रों में उसके प्रचार के लिए योजनाबद्ध कार्यक्रम होना चाहिए । इन क्षेत्रों को जो आश्वासन दिए जा चुके थे आयोग उनसे अनभिज्ञ नहीं था । अतः आयोग ने ठीक ही कहा कि हिंदीतर भाषा क्षेत्रों में हिंदी-प्रचार योजना की सफलता इस बात पर निर्भर करेगी कि वहां की जनता उसे स्वेच्छा से स्वीकार करती है या नहीं । यदि अनिवार्यता का अंकुश हटाकर उसे ऐच्छिक उपलब्धि बना दिया जाए तो जनता और विद्यार्थी उसे सहर्ष स्वीकार कर लेंगे । ऐच्छिक उपलब्धि के रूप में ही केरल में हिंदी योजना सफल हुई थी और बहुत सारे विद्यार्थी मलयालम के स्थान पर हिंदी पढ़ने लगे थे । आयोग ने थोड़े संशोधन के साथ तीन-भाषायी फार्मूले का समर्थन किया और यह सिफारिश की कि प्रत्येक विद्यार्थी स्कूल स्तर पर तीन भाषाएं पढ़े : दो भारतीय भाषाएं जिनमें एक हिंदी हो, और तीसरी भाषा हो अंग्रेजी, केवल लाइब्रेरी भाषा के रूप में । आयोग की भाषा संबंधी सिफारिशें इस प्रकार रहीं :

1. सरकार अपनी राष्ट्रीय भाषा-नीति का निर्धारण करे और उसे कार्यान्वित करने के लिए ठोस कदम उठाए ।
2. शिक्षा और शासन की भाषा का तालमेल बिठाया जाए ताकि शिक्षा, भाषा और व्यवसाय का वास्तविक संबंध हो सके ।
3. क्षेत्रीय भाषाएं क्षेत्रों में शिक्षा-माध्यम हों, हिंदी संपर्क-भाषा हो और अंग्रेजी लाइब्रेरी-भाषा के रूप में पढ़ी जाए ।
4. प्रत्येक विद्यार्थी दो भारतीय भाषाएं पढ़े । उनमें से एक हिंदी हो । हिंदी नीति, स्वेच्छा और सद्भावनापूर्ण हो न कि अनिवार्यतापूर्ण ।
5. अंग्रेजी का विकल्प तो हिंदी है पर हिंदी का कोई विकल्प नहीं है ।
6. इस प्रोग्राम को कार्यान्वित करने का समय दस वर्ष हो ।

किसी भी आयोग के पास देखने और कहने का अधिकार तो होता है, योजना बनाने का नहीं—योजना आयोग को छोड़कर । और अपनी दृष्टि या सिफारिशों को साकार रूप देने का अधिकार तो होता ही नहीं ।

देखना यह होगा कि आयोग ने जो बातें सिद्धांत रूप में भाषा-नीति, शिक्षा-नीति और शासन-भाषा को सामने रखकर भाषा के संबंध में कही थीं और एक योजनाबद्ध कार्यक्रम की ओर संकेत किया था वे बातें पूरी हुईं या नहीं, समय दस वर्ष का था । 1966 से 1997 तक 31 वर्ष हो गये हैं । 1969, 1979 और 1986 की शिक्षा-नीतियां भी बन चुकीं । हमारी उपलब्धियां क्या हैं ? क्या हमारी राष्ट्रीय भाषा-नीति का निर्धारण हो पाया ?

1967 का विधान-संशोधन हुआ तो अंग्रेजी को अनिश्चित काल के लिए सह-राजभाषा के रूप में माना गया । हिंदीतर क्षेत्रों को यह अधिकार दिया गया कि जब तक वे चाहें अंग्रेजी वहां राजभाषा के रूप में चलेगी और हिंदी वहां तभी लागू होगी जब वे स्वयं चाहेंगे । यह धारा हिंदी क्षेत्र में हिंदी को मुख्य भाषा माने जाने से नहीं रोकती । यदि अंग्रेजी वहां चलती भी रहे तो भी सहभाषा के रूप में ही तो चलनी चाहिए । हिंदी को हिंदी क्षेत्र में तो मुख्य स्थान मिल सकता है । केंद्रीय प्रशासन में भी हिंदी को उचित स्थान मिल सकता है क्योंकि विधान केंद्र को भी नहीं रोकता । फिर हिंदी अपना स्थान क्यों नहीं ले पा रही ? केंद्र कैनेडा की तरह से दो-भाषायी प्रशासन भी बना सकता है । हिंदी की दिशा में हिंदी क्षेत्र तथा केंद्र में संतोषजनक प्रगति नहीं हो रही । इसके विपरीत हमें कई बार अंग्रेजी का अभद्र प्रदर्शन देखने को मिलता है । उदाहरणार्थ, 18-9-89 को इन्दौर से प्रकाशित होने वाले 'दैनिक भास्कर' में एक समाचार छपा : पिछले दिनों जब वे (अर्थात् श्रीमती सरला गरेवाल, राज्यपाल, मध्य प्रदेश) दिल्ली में थीं तो उन्होंने कुछ लोगों के सामने बड़े ही हल्के ढंग से मजाक में कह दिया कि 'मुख्यमंत्री वोरा जी जब अंग्रेजी बोलते हैं तो उन्हें बड़ा आनंद आता है । सभी को पता है कि वोरा जी की अंग्रेजी अंग्रेजों की तरह नहीं है । उन्होंने कभी दावा भी नहीं किया कि वे अंग्रेज के बच्चे है ।' जिनके सामने यह बात कही गई उन्हें भी अच्छा नहीं लगा । एक ने धीरे से कह दिया : 'अच्छा हुआ आप हरयाणा की राज्यपाल नहीं हैं' (पृ० 5) । हमारे वरिष्ठ अधिकारी या नेता अपने को अंग्रेजी बोलने के लिए क्यों मजबूर करते है ? और यदि वे किन्हीं कारणों से अपने को मजबूर या आतंकित पाते भी है तो भी हम उनकी खिल्ली क्यों उड़ाते है ? ये बातें एक ही मनःस्थिति की द्योतक है : हमारे सिर पर से अंग्रेजी की छाया हटी नहीं है । हमारी बुद्धि को अभी भी स्वच्छंद भाषा और स्वच्छंद विचारों का प्रकाश मिला नहीं है, आलोक तो दूर की बात है । हम अपना आत्म-निरीक्षण और स्वत्वमूल्यांकन अभी भी अंग्रेजी के माध्यम से करते है ।

आयोग की दूसरी मान्यता थी और सुझाव था कि अनुभूति, सहज विकास और शिक्षा की भाषा एक हो । इसी कारण उन्होंने कहा था कि सेकंडरी शिक्षा और कालेज शिक्षा का माध्यम क्षेत्रीय भाषा हो । यदि बच्चे की मातृभाषा और क्षेत्रीय भाषा में कुछ अंतर हो तो प्रारंभिक शिक्षा मातृभाषा में हो और सेकंडरी स्तर पर क्षेत्रीय भाषा में हो । आज की स्थिति को यदि देखें तो

तीन प्रकार के स्कूल दिखाई देते हैं : एक फाइव स्टार स्कूल जिन्हें पब्लिक स्कूल भी कहा जाता है, दूसरे मध्यम श्रेणी के स्कूल सरकारी या मान्यता प्राप्त प्राइवेट स्कूल, तीसरे झुग्गी-झोंपड़ी बस्तियों में या गांव में चल रहे छोटे स्कूल जिनमें बच्चे नंगे पांव भी आते हैं, स्लेट-पट्टी पर लिखते हैं और स्याही में डूबी कलम को कच्छे से ही पोंछ लेते हैं । शिक्षा के दाम प्रतिष्ठानुसार और भाषा के दाम शासन के अनुरूप अर्थात् अंग्रेजी के दाम ऊंचे, मिश्रित के बीच के और मातृभाषा के दाम सबसिडी-प्राप्त । निर्णय खरीदने वाले की जेब या बुद्धि के आग्रह के अनुसार । ऐसा क्यों है ? मातृभाषा या क्षेत्रीय भाषा या हिंदी संपर्क-भाषा की मांग क्यों नहीं है ? क्योंकि इनकी साख कम है, बाजार मंदा है, भाषाविदों की कीमत तो सरकारी बोली के अनुसार है । अंग्रेजी बड़ी समृद्ध भाषा है और अंग्रेजी के माध्यम से भारत ने बहुत कुछ प्राप्त भी किया है किन्तु मात्र भाषा-ज्ञान तो वांछनीय उपलब्धि नहीं है । कॉलेजों में कुछ क्षेत्रों में तो ऐसा हो गया है कि कोई युवक केवल अंग्रेजी बोल लेता है तो उसे प्राध्यापक का स्थान मिल सकता है, उसका भाषा या साहित्य-ज्ञान चाहे कितना ही कम क्यों न हो । विषय-वस्तु के बिना भाषायी ज्ञान केवल वाग्विलास है और उसमें भी स्पेलिंग और व्याकरण की गलतियां रहती हैं । संघ की अथवा दूसरी राज्यीय परीक्षाओं में अंग्रेजी के अतिरिक्त किसी भी भारतीय भाषा में उत्तर लिखने वाले प्रत्याशी को दो नंबर का विद्यार्थी मान लिया जाता है, शायद इसलिए कि देश की भाषाएं इम्पोर्टिड नहीं हैं । चलिए, भाषा इम्पोर्ट कर भी ली तो आदमी कहां से इम्पोर्ट करेंगे ?

आयोग का सुझाव यह भी था कि हिंदी को संपर्क-भाषा के रूप में माना जाए और उसी प्रतिष्ठा के अनुरूप उसका विकास किया जाए । यदि हम रूस की केंद्रीय एवं संपर्क-भाषा रूसी का ध्यान करें तो ज्ञात होगा कि संपर्क-भाषा के रूप में उसका विकास योजनाबद्ध तरीके से किया गया था । एक तो उसकी लिपि का सुधार किया गया था । उसे आसान, सुस्पष्ट और विविध भाषाओं की ध्वनियों और लिपियों के परिप्रेक्ष्य में सक्षम बनाया गया । प्रारंभ में केंद्रीय भाषा की शब्दावली में 1000 में से लगभग 68 शब्द प्रादेशिक भाषाओं के थे । योजनाबद्ध कार्यक्रम के अनुसार 1000 में लगभग 268 शब्द प्रादेशिक भाषाओं में से केंद्रीय भाषा में लिए गए और इस प्रकार क्षेत्रीय और केंद्रीय भाषाओं को निकट लाया गया । हमारे देश में विविध भाषाओं की विविध लिपियां हैं । ये विविध लिपियां कुछ तो निकट हैं, कुछ दूर । ध्वनियां भी बहुत सारी मिलती-जुलती हैं, किंतु फिर भी ओरों में और हिंदी में अंतर है । हमारी भाषाएं अधिकतर संस्कृत से निकली हैं, शेष संस्कृत के समकक्ष मानी जाती हैं लेकिन सारी की सारी संस्कृतनिष्ठ हैं । इसी नाते उनकी शब्दावली में बहुत सारे शब्द मिलते-जुलते हैं । किंतु इन शब्दों के अतिरिक्त अन्न सारे शब्द ऐसे हैं जो प्रादेशिक भाषाओं में ही हैं और उनका अपना ही विशेष अर्थ है । व ..ब हिंदी भाषा में आ जाने चाहिए थे क्योंकि तभी तो वह प्रादेशिक भाषाओं के निकट आती और अपने विशिष्ट रूप का विस्तार करके मानो अपना साधारणीकरण कर लेती । यदि हम सारी लिपियों के प्रकाश में देवनागरी को और भी आसान और सक्षम बनाने का प्रयास करते तो

संभवतः क्षेत्रीय भाषा-भाषियों का हिंदी के प्रति दृष्टिकोण बदलकर व्यापक और उदार बन जाता । यही बात हिंदी-भाषी क्षेत्रों के संबंध में भी कही जा सकती है । साथ में एक और समस्या का हल निकलने की संभावना बढ़ती : बार-बार हमारे शिक्षा आयोगों और दूसरे विचारशील चिंतकों ने एक बात कही है : हिंदी यदि केंद्रीय भाषा बनती है और संपर्क-भाषा के रूप में एवं अखिल भारतीय परीक्षाओं तथा शिक्षा संस्थानों के माध्यम के रूप में अपनाई जाती है तो हिंदीतर भाषा-भाषियों को सापेक्ष हानि नहीं होनी चाहिए । यह विचार इसलिए आया कि इस हानि की आशंका हुई है । यह आशंका भी कम हो जाती । इन सब बातों के अतिरिक्त केंद्रीय भाषा के संबंध में एक और मनःस्थिति अनायास ही खड़ी हो जाया करती है : कारण चाहे मानसिक हो चाहे वास्तविक, हिंदी साम्राज्यवाद या वरिष्ठ वृत्ति की भावना दूसरे भाषा क्षेत्रों में घर करने लगती है । यदि हम लिपि तथा शब्दावली के माध्यम से हिंदी और दूसरी भाषाओं को निकट लाने का प्रयास करते तो यह आशंका कम होती, हो सकता है उठती ही नहीं । यह प्रयास ऐसा लगता है संस्कृत में हुआ था । इसी कारण संस्कृत पर्यायवाची शब्दों में बड़ी समृद्ध है । बहुत सारे शब्द ऐसे हैं जो एक ही अर्थ के वाचक होते हुए भी आज क्षेत्र विशेष में बोले जाते हैं—तत्सम रूप में । 'अमरकोश' इसी तथ्य का साक्षी है । हो सकता है ऐसे प्रयास के कारण पुत्र और पुत्तर दोनों ठेठ हिंदी के शब्द माने जाते अर्थात् एक वह हिंदी जो पंजाब में बोली जाती है, दूसरी वह जो उत्तर प्रदेश में । किंतु हम ऐसा नहीं कर पाए । लिपि, शब्दावली इत्यादि के अतिरिक्त अंतर्भाषा-कोश भी बनने चाहिए थे और सस्ते दामों में सरकार की ओर से उपलब्ध कराए जा सकते थे ।

आयोग ने जब शिक्षा-माध्यम की बात की तो यह कहा कि सेकंडरी शिक्षा और कालेज अर्थात् प्रथम डिग्री शिक्षा का माध्यम एक हो और वह क्षेत्रीय भाषा हो । अधिकतर विश्वविद्यालयों में भाषा और साहित्य विषयों को छोड़कर सामाजिक विज्ञान विषयों में भी क्षेत्रीय भाषाएं माध्यम नहीं बन पाई हैं और जिन विषयों में बन भी पाई हैं वहां भी ऐच्छिक स्तर पर । इसका अर्थ यह है कि जो विद्यार्थी हिंदी या अन्य किसी भारतीय भाषा के माध्यम से पढ़ता है वह इस माध्यम को इस कारण अपनाता है कि वह अंग्रेजी में कमजोर है और भारती माध्यम से पढ़ने पर मजबूर है । बात स्पष्ट है, वह दो नंबर का विद्यार्थी है । हिंदी या अन्य भाषाएं इतिहास और नीतिविज्ञान आदि विषयों का ऐच्छिक माध्यम एम०ए० स्तर पर भी है पर अंग्रेजी-भारती जातिवाद तो वहां भी है । इसलिए जो विद्यार्थी भारती माध्यम लेते हैं वे अपनी किस्मत को कोसते रहते हैं । अधिकतर शिक्षण अंग्रेजी माध्यम से होता है और विद्यार्थियों को अपने ही बलबूते पर उसका भारती रूपांतर करना पड़ता है । विज्ञान और गणित आदि विषयों में तो भारतीय भाषाओं को माध्यम रूप में विचारना स्वप्न की सी बात है ।

शिक्षा आयोग के अध्यक्ष डा० कोठारी ने शिक्षा मंत्री को रिपोर्ट भेजते समय लिखा था कि बदलती दुनिया में कल की पद्धति आज के योग्य नहीं है और आज की पद्धति आने वाले कल की आवश्यकताओं के अनुरूप नहीं रह पाएगी । उन्होंने अपनी रिपोर्ट परिवर्तनशील समाज

के लिए लिखी थी । रिपोर्ट में भाषा, शिक्षा और माध्यम संबंधी जो भी परिवर्तन वे सुझा पाए वह दस वर्ष के अंदर कार्यान्वित होना चाहिए था । उस किंचिक्रांति को आधा बल्कि उससे भी अधिक निष्प्राण तो कर दिया 1967 के विधान संशोधन ने । फिर भी लोकतंत्र के माध्यम से हम प्रयास तो कर ही सकते थे । पर हम केवल एक परिवर्तन कर पाए : 11 वर्ष का स्कूल 12 वर्ष का कर दिया । 1942 में हमने स्कूल दस वर्ष की जगह 11 वर्ष का कर दिया था । इंटरमीडिएट कालेज टूट गए थे । कहीं 11 वर्ष का स्कूल सिस्टम लागू नहीं किया गया था जैसे उत्तर प्रदेश में । 1966 की रिपोर्ट के अनुसार हमने स्कूल में एक वर्ष और बढ़ा दिया । विषय वैसे ही रहे, कुछ अंश बढ़ा दिए गए । अध्यापक वही या वैसे ही रहे । प्रयोगशालाएं वैसी ही रहीं । एक परिवर्तन 22 वर्षों में हमने किया : इंटरमीडिएट कालेजों को स्कूल बना दिया । पुराना सिस्टम कौन-सा खराब था, थोड़ा विषय-परिवर्तन कर लेते ।

परिवर्तनशील संसार में जो बदलता नहीं वह पीछे रह जाता है । संसार नाम ही चलने वालों का है । खड़ा रहने वाला खड़ा भी नहीं रह पाता । सापेक्ष विधि से देखा जाए तो वह पीछे चला जाता है और पीछे चलता चला जाता है । 1966 की रिपोर्ट के पश्चात् विश्वविद्यालयों एवं विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने बदलने की कोशिश की : 1981 में श्रीमती माधुरी शाह, जो विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की अध्यक्ष थीं, उन्होंने कहा कि हम अगले दस-पन्द्रह वर्ष में उच्चतर विश्वविद्यालय शिक्षा के तीन पक्षीय विकास के लिए एक योजना बना रहे हैं और उस योजना का अर्थ होगा एक पुरानी पद्धति के अंत का प्रारंभ, ऐसी पद्धति का अंत जिसमें अपनी सांस्कृतिक संपत्ति की अपेक्षा सतही तौर पर अंग्रेजी भाषा में उपलब्धि का मूल्य अधिक था । ऐसी मूल्यवृत्ति का अंत तो होना ही चाहिए । ऐसा भी नहीं है कि नई पद्धति में अंग्रेजी को छोड़ ही दिया जाएगा । अंतर यह होगा कि अंग्रेजी सामाजिक प्रतिष्ठा का प्रतीक न रहकर ज्ञानार्जन का माध्यम मात्र रहेगी (ट्रिब्यून, 1-8-81) । 1981 में परिवर्तनशील और स्वतंत्र भारत के उन्नतिशील समाज में राष्ट्रीय और सामाजिक प्रतिष्ठा का मानक अंग्रेजी ही थी । प्रतिष्ठा और प्रतीक इन दोनों का साथ कैसे छूटे ? यह थी हमारी स्रष्टा की समस्या । 1983 में हमारी प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी ने एक बुद्धिजीवियों की गोष्ठी को संबोधित किया और निराशाजनक स्वर में कहा कि शिक्षा पद्धति में बदलाव की आवश्यकता है । उन्होंने कहा कि स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद हमने बड़ी भारी गलती की : हमने शिक्षा पद्धति और प्रशासन पद्धति को नहीं बदला (वैसा ही छोड़ दिया जैसा स्वतंत्रता-पूर्व था) । अब तो देर बहुत हो गई । बदलाव बड़ा ही कठिन है । और फिर राजनीति भी तो बीच में आ फंसती है । (टाइम्स आफ इंडिया, दिल्ली, 8-11-83)

शिक्षा आयोग ने कहा, आगे देखो । हम सबने कहा, सरकार समेत, पीछे चलो । और पीछे रह ही गए तो अब चल भी कैसे सकते हैं ? एक ने धीरे से कहा, चलने की जरूरत भी क्या है, दुनिया चल रही है, हम खड़े हैं, अपने आप चल रहे हैं, पीछे ही सही ।

31

संगति : राष्ट्र की पहचान

डॉ० कोठारी और उनके साथियों ने कहा : दस वर्ष और ले लें, अधिक से अधिक, अपनी बुद्धि से सोचना सीखें, अपनी वाणी से बोलना सीखें, जरूरत पड़े तब अंग्रेजी से भी जो चाहिए ले लें, लाइब्रेरी पास ही तो है । दिल और दिमाग पर से यह विदेशी आवरण उतार दें तो स्वच्छंद हो जाएंगे ।

रवीन्द्र ठाकुर ने कहा था : दुनिया में कोई देश ऐसा नहीं है जो विदेशी भाषा के अभिशाप से पीड़ित हो, सिवाय भारत के । गांधी जी ने कहा था : यदि मेरे हाथ की बात हो तो मैं एक वर्ष में अंग्रेजी का तख्ता पलट दूं । स्वदेशी भाषा के स्थान पर विदेशी भाषा पढ़ाना ऐसा ही है जैसे बच्चे के मुंह से मां का दूध छुड़ाकर बोतल से बनावटी दूध पिलाना ।

कार्ल मार्क्स ने कहा (अठारहवां ब्रुमायर) : लोग अपने इतिहास का निर्माण तो करते हैं पर वैसे नहीं कर पाते जैसे वे चाहते हैं । अब प्रश्न उठता है : तो वे अपने इतिहास का निर्माण कैसे कर पाते हैं ? मार्क्स कहते हैं : जैसे उनकी परिस्थितियां उनसे करवा लेती हैं । लोग अपनी परिस्थितियों को नहीं बनाते, न वे उनका स्वतंत्र चुनाव ही कर सकते हैं । ये सब तो अतीत की देन होती हैं और उन्हें उन सभी का सीधा सामना करना पड़ता है और उनके दबाव के नीचे अपने सारे काम करने पड़ते हैं । सारी गली-सड़ी परंपराएं मानो उनके दिल-दिमाग को पकड़कर उनकी इच्छाशक्ति को पंगु बनाए रखती हैं । होता यह है कि जब वे क्रांति लाना चाहते हैं, किसी अद्भुत कृति या रचना को जन्म देना चाहते हैं, तो उस समय वे अतीत को ही अपनी रक्षा के लिए खड़ा कर लेते हैं और उसी से पूछते हैं : हम क्या चाहते हैं, बतलाओ—हमें बताओ हमारे नए लक्ष्य, नए नाम, और तुम्हीं दो नए कवच, नए आयाम, नए नारे, नई भाषा, और हम फिर उसी उधार ली हुई भाषा के तथाकथित नए रूप में उलझकर निष्क्रिय हो जाते हैं ।

1947 से लेकर आज तक हमने जब-जब इस उधार ली हुई अंग्रेजी को छोड़कर अपने अंतरात्मा की आवाज को सुनने की कोशिश की वह पीछे से लपक कर छाया की तरह सामने आकर खड़ी हो गई और हमारी इच्छा और संकल्प शक्ति फिर से निष्प्राण हो गई ।

अतीत की जकड़न और भविष्य के आह्वान के बीच जब हम अपने आपको कर्तृत्व के दुष्कर और भोक्तृत्व के सुखकर मार्गों के चौरस्ते पर खड़ा पाते हैं तो एक भय होता है : मौत का । एक आशा होती है : महत्त्वाकांक्षा । महत्त्वाकांक्षा और स्वतंत्रता एक बात है । मौत का भय, जीने मात्र से प्रेम या परतंत्रता एक और बात है । महत्त्वाकांक्षा को सिद्ध करने के लिए यदि मौत

को चुनौती देनी पड़े तो हम दे डालते हैं। ऐसा ही हमारे स्वतंत्रता सेनानियों ने किया था। लेकिन महत्त्वाकांक्षा के साथ-साथ यदि मौत को चुनौती न देनी पड़े और जीवन की आशाएं और सुख के आयाम ज्यों के त्यों बने रहें तो कैसा रहे ? यह तो स्वप्नों की-सी बात है और साथ में वास्तविक भी। हम समझौता कर डालते हैं। अपनी स्वतंत्रता के लिए हमने अंग्रेजी राज को चुनौती दे दी, सिर पर कफन बांधकर। किंतु अपनी महत्त्वाकांक्षा के साथ हम विदेशी भाषा को चुनौती नहीं दे पाए। हमने उसे स्वेच्छापूर्वक किंतु अपने आपसे मजबूर होकर, उसी महत्त्वाकांक्षा से मजबूर होकर, उसे स्वदेशी मान लिया। हमने अंग्रेज की भर्त्सना की किंतु उसकी भाषा की अनुशंसा की। हमने देश को अंग्रेजों से छुड़ा लिया, पर देश की आवाज को अंग्रेजी से बांध दिया—जा की कृपा मूक नहीं बोलै—बोल सके तो बोले, हमें कोई आपत्ति भी नहीं। 1854 के बाद भी तो यही हुआ था। भारतीय भाषाएं मरीं तो नहीं पूरी कोशिश के बावजूद। कइयों ने नया सुर साधते हुए कहा : एक राष्ट्र के लिए एक भाषा ही आवश्यक नहीं। हमने मान लिया : नहीं। पर अंग्रेजी ही क्यों ? और अपनी भाषाएं क्यों नहीं ? क्षेत्रीय भाषाओं को राज्यों में आने दो, हिंदी एवं अंग्रेजी को केंद्र में आने दो या रहने दो। विकासवाद से प्राकृतिक चुनाव सिद्धांत को काम करने दो। लोकतंत्र का भी विकास होता है, विकास होने दो, किसी के लिए भी घुटन क्यों और मानवीय विकास आज के युग में प्रकृति से एक सीढ़ी ऊपर है। विकास भी योजनाबद्ध होता है। आर्थिक योजना के साथ-साथ भाषायी योजना क्यों नहीं ?

कहीं हुआ है ऐसा ? पड़ोसी को ही देखो। हमारा यह पड़ोसी है रूस, न केवल भौगोलिक दृष्टि से बल्कि राजनीतिक दृष्टि से भी। हमारे विधान के अत्यंत महत्त्वपूर्ण अंग दो हैं : एक समाजवाद, दूसरा लोकतंत्र। भाषा समाजवाद का दर्शन करना हो तो रूस आदर्श उदाहरण है।

स्वतंत्रता और लोकतंत्र के संदर्भ में जब हम अपने भाषायी प्रश्न को देखते हैं तो हमारे सामने कुछ बातें उभरकर आती हैं :

1. हम किसी एक या दो भारतीय भाषाओं का अन्य भाषाओं पर कोई वैधानिक प्रभुत्व नहीं चाहते। हम भाषायी साम्राज्यवाद के विरुद्ध हैं।
2. हम किसी भाषा को (अर्थात हिंदी को) किसी अहिंदी-भाषी क्षेत्र पर थोपना नहीं चाहते। हमारे वैधानिक प्रावधान बल प्रयोग के लिए नहीं हैं। हिंदी को स्वेच्छा से अपनाया जाएगा।
3. उपर्युक्त 1 और 2 का अर्थ यह हुआ कि प्रत्येक नागरिक को व्यवहार और प्रशासन तथा शिक्षा में अपनी मातृभाषा या क्षेत्रीय भाषा के प्रयोग की स्वतंत्रता है।

इन सब बातों के होते हुए भी हिंदी हमारी राजभाषा तो है ही, साथ में अंग्रेजी भी यथासंभव सहभाषा है। अंग्रेजी का सहभाषा बनने का अर्थ है कि हम हिंदी को सर्वमान्य नहीं बना पाए। हमारे लोकतंत्र में कहीं न कहीं कोई कमी या कमजोरी है क्योंकि आज की स्थिति में राजभाषा तो गौण है और सहभाषा मुख्य। हमारी स्वतंत्रता और नैतिकता का तालमेल कर्तव्यपरायणता

से न होकर अकर्मण्यता से ही होता रहा है।

रूस की भाषायी स्थिति हमसे मिलती-जुलती रही है, किंतु उनकी समस्या हमसे जटिल थी और उस जटिलता के समाधान की व्यवस्था वैधानिक न होकर अधिकतर पारिवारिक थी, उदाहरणार्थ :

1. हमारे देश में 15 राष्ट्रीय भाषाएं हैं, रूस में 130 भाषाएं थीं। जैसे हमारी 15 भाषाएं वैधानिक मान्यता-प्राप्त हैं वैसे ही रूस की 130 भाषाएं मान्यता-प्राप्त थीं। उन सबका वैधानिक महत्त्व बराबर था। कोई किसी से बड़ी-छोटी नहीं थी।
2. रूस के प्रत्येक नागरिक को यह स्वतंत्रता थी कि किसी भी भाषा में अपना कामकाज चलाए। सामाजिक व्यवहार, शिक्षा-दीक्षा तथा सरकारी काम में वह किसी भी भाषा का प्रयोग कर सकता था और उसी के प्रयोग की मांग कर सकता था। उसे हर भाषा का स्कूल तथा सरकारी संचार व्यवस्था उपलब्ध थी।
3. किसी भाषा को कोई विशेषाधिकार उपलब्ध नहीं थे। रूसी सरकार का किसी भी विशेष भाषा के प्रति विशेष दायित्व नहीं था। रूसी सरकार सभी भाषाओं के प्रति समान दायित्व रखती थी तथा सभी भाषाओं के समान विकास के लिए कृतसंकल्प थी।
4. रूसी रूस की वैधानिक मान्यता-प्राप्त राजभाषा नहीं थी। तब भी रूसी वहां की मुख्य राजभाषा थी। इसके अतिरिक्त रूसी अन्य क्षेत्रों एवं सामाजिक तथा राजकीय गतिविधियों में मुख्य भूमिका निभा रही थी।
5. रूसी को सामाजिक तरीके से इतनी मान्यता कैसे मिली ? केवल अपनी क्षमता, विकास, उदारता और सद्भावना के कारण। ऐसे वैविध्य के बीच समता, समानता, एकता और सहयोग कैसे ? यह रूसी गणराज्य के 25-30 वर्ष के सामूहिक तथा निरंतर प्रयास का परिणाम था। इस प्रयास में दृष्टि, योजना और निर्माण तीनों प्रक्रियाओं का भाग रहा है।

रूस भारत की अपेक्षा बहुत बड़ा भूखंड है। पूरे देश में 15 गणराज्य (रिपब्लिक) थे। सोवियत संघ के अधिष्ठान में वे सभी स्वतंत्र थे और संघीय विधान के अंतर्गत अपनी स्वतंत्रता के अनुरूप अपने-अपने विधान का अनुपालन करते थे। किसी भी गणराज्य के अंदर एक उपगणराज्य (आटोनोमस रिपब्लिक) भी हो सकता था। ऐसे उपगणराज्य थे और वे संघ के अधिष्ठान में तथा गणराज्य के तत्त्वावधान में अपनी राज्यीय स्वतंत्रता का अनुपालन करते थे। गणराज्य के ही अंदर उपगणराज्य के अतिरिक्त स्वतंत्र (आटोनोमस) क्षेत्र भी हो सकता था और ऐसे क्षेत्र थे। ये क्षेत्र भी गणराज्य और संघ के विधान के अंतर्गत ही अपने विधान के अनुसार अपनी स्वतंत्रता का अनुपालन करते थे। स्वतंत्र क्षेत्रों से लेकर उपगणराज्य, गणराज्य तथा संघ पर्यंत सोवियत संघ एक ऐसा सत्ता सिस्टम था जिसमें व्यक्ति से लेकर समष्टि तक सबके

अपने-अपने अधिकार और कर्तव्य थे । किसी भी देश में, चाहे वह साम्यवादी हो अथवा कुछ और, अपनी-अपनी राजनीतिक मान्यताओं के अनुसार वैयक्तिक स्वतंत्रता एवं अधिकार तथा सामाजिक दायित्व के बीच एक संतुलन बनता है जो वैधानिक रूप से स्वयंसिद्ध होता है । सोवियत संघ में 15 संघीय गणराज्यों के अतिरिक्त और उन्हीं के अंतर्गत 15 उपगणराज्य तथा 5 स्वतंत्र क्षेत्र थे । इस प्रकार रूस में जहां उत्तरोत्तर वैधानिक इकाइयां थीं जिनसे मिलकर संघ बना था वहीं पर अनेक जातियां, संस्कृतियां, परंपराएं, धर्म तथा भाषाएं थीं । इस विविधता के अंदर भाषायी अनेकता तो थी ही लेकिन साथ ही साथ एकता भी थी । रूसी भाषा वहां उसी स्थिति में थी जिसमें हिंदी भारत में है, पर वह भूमिका वही निभा रही थी जो अंग्रेजी भारत में निभा रही है । भारत में अंग्रेजी तो हमारी परिस्थितियों की देन है । वह हमारी परतंत्रता में पनपी और स्वतंत्र संकल्पाभाव में जमी रही है । वहां पर रूसी उनके स्वतंत्र संकल्पों और सामाजिक आकांक्षाओं का प्रतीक थी । वहां की संघीय व्यवस्था समाप्त तो हो गई पर सारी दुनिया की नजर उन पर लगी रही है और आशा यही बनी रही कि उनकी संघीय सत्ता किसी न किसी रूप में बनी रहेगी । केवल संघ और गणराज्यों के बीच स्वतंत्रता और अधिष्ठान में कुछ घटत-बढ़त करके नये तालमेल का ही प्रश्न था । यह प्रश्न प्रत्येक संघ में समय-समय पर उठता ही रहता है । फिर भी वैधानिक परिवर्तन जो हुआ सो हुआ, भाषायी संगति के स्थान पर विसंगति का आना कठिन है । यही संगति हमारे लिए प्रेरणा का स्रोत हो सकती है क्योंकि जो भी परिवर्तन वहां आए, भाषा तो हर गणराज्य में अपनी ही थी ।

राष्ट्र एक भावना है या व्यवस्था ? भावना का व्यवस्थित रूप है या व्यवस्था का भावात्मक प्रतिष्ठान ? इनमें से कोई सा भी रूप राष्ट्र हो सकता है, परंपरा, परिवेश तथा/अथवा परस्पर संकल्प एवं आयोजन पर निर्भर करता है । भारत 1947 से पूर्व एक भावना था । 'वन्देमातरम्' 1947 से बहुत पूर्व लिखा गया था । 1947 में एक व्यवस्था बन गया और बनते-बनते भावना आघातग्रस्त भी हो गई थी । तब से अब तक हम भावनात्मक प्रतिष्ठान की खोज में तरह-तरह के प्रयास कर रहे हैं, कतरब्यौंत, उधेड़बुन, ग्रह-विग्रह, सभी कुछ । भाषा भी राष्ट्रीय मुद्दा ही है जो सुलझा नहीं है । भाषा के क्षेत्र में हम सिद्धांतवादी हैं या क्रियाशील ? सिद्धांतवाद और क्रियाशीलता ये दोनों सापेक्ष हैं : सिद्धांत के आधार पर कार्ययोजना बनाई जाती है—सिद्धांत पर सहमति हो जाए तो, अथवा कार्यशील होकर योजनाबद्ध काम करना ही हितकर है क्योंकि योजना के परिणामस्वरूप ही सिद्धांत उभरकर सामने आ जाएगा । रूस ने कार्यशीलता का मार्ग अपनाया और उसी के आधार पर सिद्धांत-प्रतिपादन किया । हम कार्य से पहले सिद्धांत में उलझे और उलझे ही रहे । रूस आगे निकल गया, हम पीछे रह गए ।

1917 की क्रांति के साथ ही रूस अपनी परंपराओं को तोड़कर एक नए इतिहास का निर्माण करने के लिए कृतसंकल्प आगे बढ़ा । उसका आधार था साम्यवाद, साधन था लोकशक्ति और लक्ष्य था आर्थिक, सामाजिक और राष्ट्रीय उन्नति । लोकशक्ति को राष्ट्र-निर्माण के कार्य में जोड़ने का एकमात्र साधन था लोक-संपर्क और लोक-संचार । संगति, संवाद और सौमनस्यता ये तीनों सामूहिक सफलता के सूत्र हैं । सारी जनता को नया संदेश देने के लिए और राष्ट्रीय काम में जोड़ने के लिए रूस को जरूरत पड़ी लोकभाषा की, ताकि उन सबसे बात की जा सके और वे भी आपस में बात कर सकें । राष्ट्र के वैधानिक संगठन के साथ ही तत्काल भाषा संबंधी योजनाबद्ध काम शुरू हो गया । यदि रूस राष्ट्रभाषा के सिद्धांत पक्ष में उलझ जाता तो शायद उलझा ही रहता । उन्होंने क्रियात्मक और प्रयोगात्मक तरीका अपनाया ।

रूस ने भाषा-स्थिति का सिंहावलोकन किया । कितनी ही भाषाएं रूस में थीं, देश-प्रदेश की भाषाएं, पूरी 130 और उससे भी अधिक । एक ऐसा पिटारा जिसे खोलना तो आसान था पर संभालना कठिन, शुक्र यह कि समस्या को असंभव नहीं माना गया । बीस भाषाओं का अपना लिखित रूप था । चार भाषाओं की अपनी लिपि थी : ये थी रूसी, उक्राइनियन, ज्योर्जियन और आरमीनियन । कुल लिपियां थीं पांच : रूसी, लातीनी, विगुर, मंगोलियन, हिब्रू और अरबी । 110 भाषाएं लिखी ही नहीं जाती थीं : भारोपीय, अलताई, यूराली और इब्री-काकेसियन । इनके अतिरिक्त कुछ एकाकी भाषाएं भी थीं जैसे एस्कीमो । प्रत्येक गणराज्य के अंदर कई-कई जातियों के लोग रहते थे । इन सभी ज्ञातियों, प्रदेशों, परंपराओं और भाषाओं को एक सूत्र में पिरोना रूस की राष्ट्रीय समस्या थी ।

जनता को राष्ट्र के पुनर्निर्माण में जोड़ने के लिए संपर्क और संचार आवश्यक था । संपर्क और संचार के लिए साक्षरता अभियान चलाया गया । रूस में साक्षरता का स्तर बहुत नीचा था । 1920 के आस-पास साक्षरता-स्तर उन प्रदेशों में सबसे नीचे था जिनकी भाषा का कोई लिखित रूप नहीं था । कुछ आंकड़े देखकर रूस के शिक्षा-स्तर का अनुमान लगाया जा सकता है :

उत्तरी भाग	:	0%
वोलगा तथा मध्य एशिया भाग	:	1.2%
आजरबायजान	:	4.5%

1926 में सारे रूस में साक्षरता-स्तर 3.7% से लेकर 25.2% तक पहुंचा । 1937 तक अर्थात् बीस वर्ष में अनथक परिश्रम के साथ रूस के सभी प्रदेशों ने शत-प्रतिशत साक्षरता का लक्ष्य पूरा कर लिया । रूस ने जो काम बीस वर्ष में पूरा कर लिया हम उसे 1997 तक अर्थात् पचास वर्ष में पूरा करने की योजना पर विचार कर रहे हैं ।

साक्षरता की पहली समस्या है भाषा का लिखित रूप । दूसरी समस्या है लिपि का आसान तथा यथाध्वनि होना । और तीसरी समस्या है कि पढ़ाएं तो कौन-सी भाषा ।

तीसरे प्रश्न के साथ एक और अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रश्न जुड़ा हुआ है : क्या सारे देश की एक ही राजभाषा हो ? और यदि एक ही राजभाषा हो तो वही क्यों न पढ़ाई जाए ? भारत में भी हमने एक ही राजभाषा अपनाने का निर्णय लिया था, और वह भाषा थी हिंदी । वही निर्णय 1965 तक कार्यान्वित हो जाना चाहिए था । हिंदी 1965 में नहीं आ पाई । साथ में 1967 में अंग्रेजी और उसके साथ जुड़ गई और क्योंकि अंग्रेजी मुख्य स्थान पर आसीन थी वह स्थान उसने छोड़ा नहीं । रूस में ऐसा नहीं किया गया क्योंकि अंग्रेजी जैसी किसी भी भाषा के समकक्ष

कोई भाषा वहां सारे देश में प्रचलित थी ही नहीं । वहां एक राजभाषा का प्रश्न उठाया तो गया पर उसका उत्तर लेनिन ने मानो ऐक्सरे-दृष्टि से दे दिया । लेनिन जानते थे कि महत्त्वपूर्ण समस्याओं का हल भी महत्त्वपूर्ण होना चाहिए क्योंकि साध्य और साधन का रिश्ता अटूट है । प्रश्न को उलझाया नहीं, उन्होंने उसे प्रारंभ में ही सुलझा दिया । उन्होंने एक लेख लिखा । शीर्षक था—'क्या एक राजभाषा आवश्यक है ?' उन्होंने इस लेख में कहा कि तूर्जनीफ, तालस्ताय, द्रोब्रल्युबोफ तथा चर्णश्यूस्की की भाषा महान् है और हम चाहते भी हैं कि रूस के प्रत्येक नागरिक को इस महान भाषा को पढ़ने का अवसर मिले, पर हम जोर-जबरदस्ती जैसे साधन से दूर रहेंगे । हम यह मानते हैं कि यदि आप जनता को स्वर्ग में भी ले जाना चाहें तो डंडे के जरिये नहीं ले जा सकते । एक राजभाषा यदि अनिवार्य हो तो विवशता-नीति परिणामस्वरूप आ ही जाती है और वह हम चाहते नहीं।(लेख-संकलन, 20, पृ० 72)

यदि एक ही राजभाषा आवश्यक नहीं तो उसका पढ़ना भी अनिवार्य नहीं । और यदि एक भाषा अनिवार्य नहीं तो साक्षरता अभियान में कौन-सी भाषा पढ़ाई जाए ? जो जिसकी भाषा है वही । हम पहले कह चुके हैं कि 130 भाषाओं में से केवल 20 का कोई न कोई लिखित रूप था । अतः रूस की प्रथम समस्या थी—भाषाओं को लिखित रूप देना ।

जब अलिखित भाषाओं को लिखने का प्रश्न आया तो पहली समस्या थी कि कौन-सी लिपि में उन्हें लिखा जाए ? उनको रूसी लिपि में भी लिखा जा सकता था । रूसी लिपि को नहीं अपनाया गया । उन्होंने फिर दूरदृष्टि से देखा । रूस की समस्या केवल यही नहीं थी कि अलिखित भाषाओं को लिखित रूप दिया जाए, उनकी बड़ी समस्या यह थी कि रूस को सभी भाषाओं के निकट कैसे लाया जाए ? यदि भाषाएं निकट आ जाती हैं तो जनता अपने आप निकट आ जाएगी और सभी प्रदेश तथा जातियां एक ही मुख्य धारा की ओर अग्रसर होंगे । इस दिशा में चलना है तो रूसी लिपि उपयुक्त कभी नहीं होगी क्योंकि इस नीति को सारी भाषाओं और जातियों का रूसीकरण समझा जाएगा । सरकार चाहती थी कि यह आशंका तो कभी खड़ी ही न हो और साथ में जनता भी संघटन-प्रक्रिया में एकजुट होकर काम करे । इसलिए यदि एक लिपि चाहिए और रूसी लिपि नहीं चाहिए तो क्या करें ? उन्होंने लातीनी लिपि को अपनाने का फैसला कर लिया ।

रूस की भाषाएं लातीनी लिपि में लिखी गईं । जो लिखित रूप में थी ही नहीं उन्हें लिखने में तो कोई कठिनाई सामने आई नहीं । किंतु जो लिखी जाती थी और लिपि कोई और थी जैसे अरबी या हिब्रू, उनके क्षेत्र में कठिनाई अवश्य आई । लिपि और भाषा तो जुड़ी होती है और उनके साथ जुड़ा होता है उन दोनों का आदि स्रोत । लिपि बदलते ही ऐसा लगने लगता है मानो भाषा को अपनी ही आत्मा से छीनकर दूसरा शरीर दिया जा रहा हो । कुछ भाषा-भाषियों की ओर से विशेषकर अरबी लिपि वालों की ओर से लातीनी लिपि अभियान का विरोध किया गया परंतु उनको मना लिया गया और उन्होंने लातीनी को मान लिया क्योंकि साथ-साथ उन्होंने अरबी लिपि को भी छोड़ा नहीं । इस प्रकार उन्होंने अपनी पहचान को भी बनाए रखा और मुख्य धारा का भी स्वागत किया । 1920 के पश्चात् बहुत सारे प्रदेशों ने लातीनी लिपि को मानकर अपना लिया । आजरबायजान ने इसे 1922 में अपना लिया । उत्तरी काकेसस क्षेत्र ने अरबी के साथ-साथ 1926 में लातीनी को अपनाया । 1930 के आस-पास सभी भाषा-भाषियों ने लातीनी को अपना लिया । लिपि एकीकरण हो गया ।

लातीनी माध्यम से लिपि एक हो तो गई पर रूस की दिशा तो रोम की ओर नहीं थी । लातीनी केवल एक आयाम था । लक्ष्य था एक लिपि जो रूस में ही जन्मी हो । ऐसी लिपि वही हो सकती थी जिसमें देश के अधिकतर भाषाविद् और लेखक लिखते थे । ध्येय यह था कि उस लिपि के रूप में देश की भाषाओं को एक-दूसरे के निकट लाया जाए और भाषाओं को निकट लाकर देश की जनता को निकटतम लाया जाए । उनकी दृष्टि रूसी लिपि पर जमी थी क्योंकि रूसी भाषा और रूसी लिपि ऐतिहासिक और सामाजिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण तो थीं ही । भारत के संदर्भ में हम कह सकते हैं कि रूस में उसकी स्थिति वही थी जो भारत में हिंदी की है । केवल अंतर यह है कि हिंदी को हमने वैधानिक रूप से राजभाषा माना है, रूसी को वैधानिक रूप से एकमात्र राजभाषा नहीं माना गया था । उसे अपना स्थान तो लेना था किंतु विधान के रास्ते से नहीं । जो लक्ष्य साम के रास्ते से मिल सके उसके लिए वैधानिक बल प्रयोग क्यों ? अतः रूसी भाषा को स्थान-विशेष के लिए तैयार किया गया और उसको और सभी भाषाओं के निकट लाया गया ताकि अन्य भाषाओं और उसके बीच यदि कोई अंतर था भी तो उसे कम करके मानसिक खाई को पाटा जा सके ।

क्रांति के तत्काल बाद जहां यह फैसला किया गया था कि रूस के लोगों पर कोई भाषा लादी नहीं जाएगी वहां यह भी माना गया था कि अंततोगत्वा जनता को एक धारा में लाने के लिए साक्षरता, भाषा और शिक्षा को ही माध्यम बनाया जाएगा । इसलिए अक्तूबर क्रांति के दो मास के अंदर ही दिसबंर 1917 में रूसी भाषा-भाषियों ने ही पहल की और एक वैधानिक निर्णय लिया कि रूसी लिपि को इतना आसान और ध्वनिसंगत बना दिया जाए कि उसे बिना किसी कठिनाई के सीखा, समझा और लिखा जा सके । शायद इसी कारण वे समझ गए थे कि हालांकि कुछ समय के लिए रोमन (लातीनी) लिपि से काम लिया जा सकता है और लेना पड़ेगा भी, किंतु वह लिपि पूर्णरूपेण सोवियत भाषाओं के लिए उपयोगी नहीं हो पाएगी । परिणामस्वरूप जहां एक तरफ अलिखित और लिखित भाषाओं को निकट लाने के लिए उन्होंने लातीनी लिपि से काम लिया, साथ ही साथ रूसी लिपि का सुधार करने के लिए पूरे प्रयास किए । लिपि वह जिसमें पढ़ना-लिखना आसान हो और जिसे आसानी से सीखा जा सके । इसी दिशा में रूसी लिपि का परिवर्तन करना था । 1917 से 1930 तक रोमन लिपि के माध्यम से भाषाओं पर काम होता रहा । इस काम के लिए विशेषकर तुर्की वर्णमाला के लातीनीकरण के लिए एक केंद्रीय समिति बनाई गई थी । जब वह समिति अपना काम कर चुकी तो उसी को 1930 में नई अखिल सोवियत केंद्रीय वर्णमाला समिति के रूप में बदल दिया गया । इस समिति का काम था रूसी लिपि का सुधार और सब भाषाओं को रूसी में लिखना । इस समिति ने 1936 तक अपना काम

कर लिया और रूसी भाषा के अतिरिक्त इस लिपि को सभी क्षेत्रीय भाषाओं के उपयुक्त बना दिया। 1936 से अलग-अलग भाषाओं ने इसे अपनाना प्रारंभ किया। कबार्दियो ने इसे 1936 में अपनाया, दागिस्तान ने 1937 में, अदीगी ने 1937 में, तुर्कमीनिया ने 1939 में और आजरबायजान ने 1940 में। 1940 के आस-पास सारी सोवियत भाषाओं का रूसी लिपि के माध्यम से एकलिपीकरण हो गया।

लिपि सुधार और एकलिपीकरण रूसी सामूहिक भाषा योजना का महत्त्वपूर्ण अंग था, पर था तो अंग ही। संपूर्ण भाषा योजना का लक्ष्य तो सभी सोवियत भाषाओं को निकट लाना था ताकि रूसी समेत सभी भाषाओं का केंद्रीभूत एक साधारण रूप निखर सके और वही साधारण रूप सारे सोवियत लोगों की राष्ट्रीय निधि बन सके। यही साधारण रूप सोवियत जनता के लिए नए आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिवेश में एक धारा में आने का साधन भी था और उसी धारामिमुख गति का प्रतीक एवं मानक भी था। सोवियत भाषाएं निकट कैसे आएं और एक सधारण केंद्रीय भाषा के रूप के प्रतिरूप कैसे बने? यह समस्या अपने आप में अत्यंत महत्त्वपूर्ण थी। समस्या कठिन भी थी क्योंकि ऐसी प्रक्रिया में परंपरागत तथा बहुप्रतिष्ठ भाषाएं दादी अम्मां का रोल अदा करने लगती हैं। भारत में कुछ ऐसी ही शंकाएं हिंदी के संबंध में खड़ी होती रही हैं। हम राधाकृष्णन् आयोग के संदर्भ में देख चुके हैं। हिंदी के पक्षधरों ने तो यह कहा कि हिंदी बहुप्रतिष्ठ भाषा है तो इसी का राष्ट्रभाषा/ राजभाषा बनने का दावा मानने योग्य है, और किसी भाषा का प्रश्न ही क्यों उठे? दूसरे कई भाषा-भाषियों ने कहा कि हमारी भाषा हिंदी की अपेक्षा अधिक या कम से कम हिंदी के बराबर लब्धप्रतिष्ठ है, तो हिंदी ही क्यों? इसीलिए हिंदी और हिंदीतर भाषाओं के प्रतिष्ठावाद में अंग्रेजी अपने स्थान पर बनी रही और भाषाहित के चक्कर में जनहित पीछे रह गया। सोवियत संघ में भाषा प्रतिष्ठावाद को उठने नहीं दिया गया और विवाद के स्थान पर भाषा सौजन्य तथा पारिवारिक पारस्पर्य को आधार मानकर काम किया गया। इस योजना में प्रत्येक भाषा का आदर किया गया और अल्पप्रतिष्ठ और क्षेत्रीय भाषाओं तथा बहुप्रतिष्ठ और वृहत्क्षेत्रीय भाषा अथवा भाषाओं को परस्पर निकट लाने का प्रयत्न किया गया। एकलिपीकरण इसी बृहद् योजना का अंग था, पर उस लिपि ने दादी अम्मां होने का दावा नहीं किया। इसीलिए अक्तूबर-क्रांति के दो महीने के अंदर उसके सुधार का कार्यक्रम चालू कर दिया गया था। लातीनीकरण भी उसी योजना का एक आयाम था। लातीनीकरण और रूसी लिपि सुधार योजना ने यह सिद्ध कर दिया कि रूसी बहुप्रतिष्ठ होते हुए भी और भाषाओं के समकक्ष है और सब भाषाओं के संगठन और संगति के लिए सहचार की आवश्यकता है, न कि नेतृत्व और अनुसरण की। सहचार के लिए चाहिए आदान-प्रदान, सहयोग। सहयोग के आधार पर भाषा-विकास की प्राकृतिक अथवा स्वाभाविक प्रक्रिया और मानवीय अथवा योजनाबद्ध प्रक्रिया के बीच सामूहिक तालमेल हो सकता है अन्यथा योजना के विरुद्ध स्वाभाविक विकास-प्रक्रिया की ओर से मनोवैज्ञानिक आधार पर प्रतिक्रिया हो सकती है। हिंदी तथा हिंदीतर भाषाओं की परस्पर क्रिया-प्रतिक्रया का यह कारण भी हो सकता है—कारण चाहे वास्तविक हो या काल्पनिक,

किंतु कल्पना तथा आशंका भी तो मानसिक वास्तविकता है जिसे नकारा नहीं जा सकता।

सोवियत संघ में भाषा सहयोग और सुसंगत विकास की योजना बनाई गई। लिपि-संबंधी पक्ष को हम पहले ही ले चुके हैं। लिपि के अतिरिक्त दूसरा महत्त्वपूर्ण अंग है शब्दावली। शब्दावली का संबंध वस्तु, परिस्थिति और प्रयोजन से होता है। कोई भी शब्द प्रयोग में वस्तुनिष्ठ, परिस्थिति-सापेक्ष और प्रयोजनबद्ध होता है। उदाहरण के लिए पानी शब्द को लें। परिस्थिति के अनुसार अवांतर भेद से पानी के अर्थ अलग-अलग हो सकते हैं जैसे कुएं का पानी, समुद्र का पानी, नदी का पानी, नाले का पानी, ताल-तलैया का पानी, वर्षा का पानी, बर्फ का पानी, पहाड़ का पानी, इत्यादि। कुएं का पानी, शिवरात्रि मेले पर प्याऊ का पानी, ठंडा जल, दक्षिण का पानी नीरम् इत्यादि। ये सब शब्द केवल संस्कृत शब्द पानीयम् के रूपांतर हैं। प्रत्येक भाषा की शब्दावली अपने आप में वस्तुनिष्ठ है और अपना ही स्वत्व रखती है। विभिन्न भाषाओं का रिश्ता साहचर्य का रिश्ता है—ऊंच-नीच, बड़ी-छोटी का नहीं। साहचर्य में सहयोग होता है, बड़ी-छोटियों में सहयोग कम होता है। बड़ी-छोटी भाषाओं की जहां आशंका आ जाती है वहां आशंका के साथ-साथ भय का भूत खड़ा हो जाता है और भय के साथ भाषायी राजनीति और कूटनीति का जन्म होता है। फिर ऐसे शब्दों का निर्माण होता है जैसे भाषायी साम्राज्यवाद, सामंतवाद, बिग ब्रदर, रानी-दासी इत्यादि। आम तौर पर मानव-मानस पूर्वाग्रहों और दुराग्रहों का शिकार हो जाता है। अतः सोवियत संघ जैसे या भारत जैसे देश में राज्यव्यवस्था-विस्तार के साथ-साथ संवाद-विस्तार (भाषायी एकता) और सौमनस्य (मानसिक एकता) का विस्तार होना चाहिए। तभी मानवीय योजना और स्वाभाविक विकास का मेल होता है अन्यथा योजना और विकास का तालमेल बिगड़ जाता है। सोवियत संघ में इस तालमेल को बनाए रखने के लिए भाषा-साहचर्य और सहयोग की नीति अपनाई गई और शब्दावली संबंधी योजना बनाई गई। भाषायी सहयोग के साथ अनायास ही सामाजिक और सांस्कृतिक सहयोग भी हो गया। भाषा के माध्यम से सोवियत संघ एकता और विकास की दिशा में अग्रसर हुआ।

सहयोग की नीति से सोवियत भाषायी विकास योजना का अर्थ हुआ :

> प्रत्येक सोवियत भाषा का लिपि, शब्दावली, व्याकरण, शिक्षा, प्रशासन और अनुसंधान के क्षेत्र में वस्तुनिष्ठ, संस्कृतिसिद्ध राष्ट्रसंघीय दिशा में प्रयोजनार्थक विकास।

समय? लगभग एक पीढ़ी अर्थात् 25-30 वर्ष। लिपि की समस्या उन्होंने 1940 तक 23-24 वर्ष में हल कर ली थी। सभी भाषाओं और भाषा-भाषियों के विकास और परिवर्द्धन के लिए 25-30 वर्ष का समय काफी था। इस काम में सोवियत संघ के सभी बुद्धिजीवियों की सेवाएं मांगी गईं। विद्वान, लेखक, अध्यापक, भाषाविद्, शिक्षाशास्त्री, मनोवैज्ञानिक सभी तो इस काम में जुट गए। काम था अविकसित भाषाओं का विकास और विकसित भाषाओं का परिवर्द्धन, सब भाषाओं का पारस्परिक संवर्द्धन और प्रत्येक भाषा के अपने रूप का सम्मान रखते हुए सबका एकमुखी सहयोग, संघीय योगदान और सर्वांगीण विकास। सोवियत बुद्धिजीवी इस सामाजिक और संघीय काम में जुट गए।

सोवियत संघ केंद्रीय समिति ने क्षेत्रीय भाषाओं की शब्दावली के विकास, निर्माण तथा अंतर्भाषायी शब्दावली आदान-प्रदान के क्षेत्र में काम किया। विकसित, विकासशील एवं अविकसित भाषाओं के सहयोग की प्रक्रिया में तो प्राकृतिक नियम ही काम करता है। जिस भाषा का जिस भाषा से कोई विचार या तथ्य या अनुभूति मिलती है वह भाषा उसी से ज्ञानार्जन के साथ-साथ शब्दार्जन भी कर लेती है। इसी नियम के अंतर्गत हिंदी में कितने ही अंग्रेजी और अरबी-फारसी के शब्द आ गये हैं। इसी प्रकार अंग्रेजी में कितने ही ग्रीक, लातीनी, फ्रांसीसी तथा भारतीय भाषाओं के शब्द आ गए हैं। सोवियत संघ में रूसी भाषा सबसे अधिक विकसित थी। अतः अन्य भाषाओं की शब्दावली में रूसी शब्दों का आना स्वाभाविक था और उसे योजनाबद्ध तरीके से स्वीकारा गया।

केन्द्रीय समिति ने विभिन्न भाषाओं के शब्दकोश बनाने की दिशा में सराहनीय काम किया। 1930 में रूसी-चेकिन शब्दकोश तैयार कर लिया गया। 1927-34 में आसेंशन-रूसी-जर्मन शब्दकोश, 1934 में रूसी-ताजीक शब्दकोश तथा पहाड़ी-माड़ी-रूसी-शब्दकोश, 1936 में एविको-रूसी शब्दकोश, 1936 में ही रूसी-नेनेत शब्दकोश, और 1942 में रूसी-कजाकी शब्दकोश तैयार कर लिया गया। 1940-42 तक ही जहां एकलिपीकरण प्रोग्राम पूरा हुआ उसी समय में सहभाषी शब्दकोश भी तैयार हो गए। एक पीढ़ी के समय में यह योजनाबद्ध काम संपन्न हो गया।

द्विभाषायी और त्रिभाषायी शब्दकोश बनते समय एक लिपि के माध्यम से विभिन्न भाषाएं शब्दावली की दृष्टि से निकट आ रही थीं। विकसित भाषाओं के शब्द अविकसित भाषाओं में आ रहे थे क्योंकि ये भाषाएं अपना एकांत छोड़कर परस्पर संचार और सहयोग के माध्यम से एक-दूसरे के निकट आने लगी थीं। जब से (1917 से) भाषायी योजना बनी थी तभी से क्षेत्रीय भाषाओं का विकास और सभी भाषाओं का पारस्परिक विकास लोक-संचार-माध्यम से होने लगा था। यह भाषायी विकास आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक पुनर्निर्माण एवं विकास के साथ ही चल रहा था। रूसी भाषा सबसे अधिक विकसित थी। अतः उसके शब्द प्रादेशिक भाषाओं में आने लगे, विशेषकर वे शब्द जो इन क्षेत्रों में विकासशील जीवन और प्रगतिशील विचारों को अभिव्यक्त करने में प्रयोगात्मक भूमिका निभा रहे थे। प्रादेशिक भाषाओं की शब्दावली में 1924 में 1000 में से 14 शब्द रूसी भाषा के थे। 1930 में यह संख्या 14 से बढ़कर 68 हो गई। 1930 में केंद्रीय समिति ने भाषाओं की लातीनी लिपि के स्थान पर सीधी-सुथरी रूसी-आधारित सोवियत लिपि का प्रयोग करने की योजना बनाई थी जो करीब 1940 में पूरी हो गई थी। 1940 में प्रादेशिक भाषाओं में 1000 शब्दों में 236 रूसी भाषा के शब्द आ गए थे। याद रहे कि ये शब्द रूसी भाषा के किसी प्रकार के राजनीतिक प्रभुत्व के कारण नहीं आए किंतु उसकी भाषायी समृद्धि के फलस्वरूप विकास प्रक्रिया के रास्ते से आए थे। वर्तमान समय में प्रादेशिक भाषाओं की वैज्ञानिक, तकनीकी, आर्थिक, समाजशास्त्रीय, राजनीतिक, शिक्षा संबंधी शब्दावली में 70 से 80 प्रतिशत शब्द रूसी भाषा के हैं। यह सहयोग एक-दिशाई नहीं है,

दोनों तरफ चलता है। बहुत सारे शब्द प्रादेशिक भाषाओं से रूसी भाषा में आ गए हैं। ये शब्द वे हैं जो ऐतिहासिक, भौगोलिक अथवा सांस्कृतिक स्थिति-विशेष से संबंध रखते हैं और अपना स्थानीय महत्त्व और सौंदर्य रूसी भाषा को तत्सम या तद्भव रूप में प्रदान करते हैं। इस परस्पर आदान-प्रदान के कारण अल्पक्षेत्रीय तथा वृहत्क्षेत्रीय भाषाओं के बीच, विशेषकर प्रादेशिक और रूसी भाषा के बीच, ध्वनि, शब्दावली, व्याकरण तथा आंतरिक गठन के अंदर पारस्परिक परिवर्तन होते रहे हैं और वे अधिकाधिक निकट आती रही हैं और आ रही हैं।

सोवियत संघ में यह भाषा-क्रांति कैसे आई ? इसका रहस्य किसी बहुप्रतिष्ठ या लब्धप्रतिष्ठ भाषा के प्रभुत्व में नहीं छिपा था बल्कि सोवियत संघ की भाषा-सेवा नीति के अंदर निहित था। क्रांति के बाद सोवियत केंद्रीय सत्ता को सुव्यवस्था और सुविकास की दिशा में चलना था। ऐसा वह सोवियत प्रदेशों तथा क्षेत्रों की जनता को साथ लेकर चलने के रास्ते से ही कर सकती थी। किसी जाति या प्रदेश की अविकसित भाषा को उखाड़कर और उसके स्थान पर किसी विकसित भाषा को रख देने से यह आवश्यक नहीं था कि उस क्षेत्र या प्रदेश या जाति के लोग सरकार या राष्ट्र के साथ मिलकर चलते। अतः छोटे से छोटे प्रदेश को भी साथ लेने का अर्थ है उसे उसी के रूप में अपनाना, उसकी सहायता करना और उसे अपने विकास के लिए स्वयं कार्य करने का प्रोत्साहन देना ताकि वह दास या निष्क्रिय वृत्ति का शिकार न बने और न ही विरोध तथा विद्रोह का रास्ता पकड़े। सोवियत संघ ने सभी भाषाओं को विकास का माध्यम माना और उनकी सेवा अर्थात् विकास का संकल्प लिया। सभी क्षेत्रों, जातियों और वर्गों का विकास उन्हीं की भाषा के माध्यम से किया। संघ ने एक बहुमुखी प्रोग्राम बनाया ताकि विभिन्न क्षेत्रों तथा वर्गों के परस्पर और सापेक्ष अंतर कम हो सकें और वे सब समान रूप से संघ के विकसित जीवन का अंग बनकर लाभ उठा सकें।

प्रोग्राम की कुछ झांकियां यहां दी जा रही हैं जिनसे पता चलेगा कि सोवियत संघ में क्षेत्रीय भाषाओं और सभ्यताओं का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान था :

1. स्कूल, क्लब, थियेटर, प्रेस, सांस्कृतिक संस्थानों की स्थापना की जाए। उनमें स्थानीय भाषा का प्रयोग किया जाए और उसी भाषा के माध्यम से उनका विकास किया जाए।
2. बड़े और विस्तृत स्तर पर व्यावसायिक स्कूल तथा ट्रेनिंग सेंटर खोले जाएं। वे स्थानीय भाषा के माध्यम से पढ़ाई कराएं और उसी भाषा के माध्यम से उनका विकास किया जाए।
3. न्यायालय, प्रशासन कार्यालय, आर्थिक संस्थान तथा अन्य राजसत्ता केंद्र सभी स्थानों में खोले जाएं, उनकी सुव्यवस्था और विकास स्थानीय जनता करे और स्थानीय भाषा के माध्यम से करे ताकि व्यवस्था और जनता मनोवैज्ञानिक आधार पर एकता के सूत्र में बंधकर विकास की दिशा में अग्रसर हों।
4. शिक्षा के कार्य के लिए विशेषकर और प्रशासन कार्य के लिए भी स्थानीय

आधार पर स्थानीय भाषा के माध्यम से कार्यकर्ताओं की टीम तैयार की जाएं जो जनता को समाजवाद और संघ की दिशा में आगे ले जा सके ।

5. प्रत्येक वर्ग, जाति तथा क्षेत्र को अपनी भाषा, संस्कृति एवं परंपरा के आधार पर उन्नति के पथ पर अग्रसर करके उसको अपना स्वत्व कायम रखते हुए सोवियत मुख्य धारा में प्रतिष्ठित करना ।

यह प्रोग्राम एक ऐसी व्यवस्था की परिकल्पना कर रहा था जैसी व्यवस्था सुर और संगीत के बीच होती है ।

सोवियत संघ के शिक्षा संस्थान, अनुसंधान प्रतिष्ठान और स्थानीय संस्थाएं इस भाषा-विकास के काम में एकजुट होकर लग गए । उन्होंने मिलकर संघ की केंद्रीय समिति के काम में हाथ बटाया और सभी जातियों और प्रदेशों ने अपनी भाषा, वैज्ञानिक और तकनीकी शब्दावली, व्याकरण और साहित्य के विकास कार्य में योगदान दिया । 1926 से ही लेनिनग्राड इंस्टीट्यूट आफ ईस्टर्न स्टडीज़ में जातीय भाषाएं पढ़ाई जाने लगी थीं । 1930 में पी०जी० स्मिडोविच इंस्टीट्यूट आफ द पीपल्स आफ द नार्थ की स्थापना की गई और उसके तत्त्वावधान में रिसर्च एसोसिएशन को क्षेत्रीय व जातीय भाषाओं को पढ़ाने और तत्संबंधी रिसर्च का काम सौंपा गया । भाषा और साहित्य के नव-निर्माण एवं पुनर्निर्माण के लिए सामाजिक और सांस्कृतिक संस्थानों की स्थापना स्थानीय और क्षेत्रीय स्तर पर की गई जैसे चुवाश रिसर्च इंस्टीट्यूट । इस इंस्टीट्यूट ने चुवाश भाषा का शब्दकोश तैयार किया तथा उसके नौ संस्करण छापे । इन संस्थानों के साथ-साथ संघीय संस्थान भी इस काम में लग गए । द इंस्टीट्यूट ऑफ ईस्टर्न स्टडीज़, द इंस्टीट्यूट ऑफ लैंग्वेज एंड थाट ऑफ द अकादमी ऑफ साइंसिज़, यू०एस०एस०आर०, द इंस्टीट्यूट ऑफ नेशनलिटीज ऑफ द यू०एस०एस०आर० सेंट्रल इग्ज़ेक्टिव कमिटी, बोर्ड ऑफ द सोवियत राइटर्ज़ और कितने ही स्थानीय संस्थान भाषा और साहित्य के नवनिर्माण, पुनर्निर्माण और विकास कार्य में जुट गए । इसी कारण 1917 से 1940-42 तक एक पीढ़ी के समय में ही सोवियत संघ का इतना भाषायी विकास हो पाया ।

भाषा-व्यवस्था और भाषा-विकास के साथ-साथ सोवियत संघ में जातीय संघटन और विकास भी होता गया । आम तौर पर जनता अपने स्वत्व को अपनी भाषा और सामाजिक परंपरा में ढूंढ़ती है । वही स्वत्व उसकी पहचान होता है । ऐसा तभी तक होता है जब तक सारे समाज के अंदर उसे अपने आर्थिक और सामाजिक हित दिखाई नहीं देते । सर्वसामाजिक हित दीखते ही उनके जातीय या वर्ग संबंधी हितों का साधारणीकरण होने लगता है और वे बड़े वर्ग, जाति या समाज में अपना समावेश कर लेते हैं । उदाहरण के तौर पर ताजिकिस्तान में कितनी ही जातियां ऐसी हैं जो ताजीक वर्ग से परंपरागत रूप से तो भिन्न है किंतु आर्थिक और सामाजिक हितों को देखते हुए ताजीक समुदाय में मिल गई है फिर भी इस नववर्ग की भाषा परंपरागत भाषा ही है और वे शौक से अपनी परंपरागत भाषा पढ़ते हैं । अधिकतर तो दो भाषाएं पढ़ते हैं, अपनी और ताजीकी । कितनी ही जातियां ऐसी है जो वर्गभाषा को छोड़कर क्षेत्र या प्रदेश की भाषा को पढ़ती हैं और साथ में रूसी

भाषा पढ़ती हैं । केवल सामाजिक और आर्थिक कारणों से और अपने हितों को देखकर वे रूसी भाषा को पढ़ते हैं । यदि हम समष्टि योजना को एक तरफ रख लें और दूसरी ओर वैयक्तिक तथा वर्ग-स्वत्व को रख लें, तो भी प्रकृति तो अपनी प्रक्रियाओं को चालू रखती है । व्यक्ति जिधर विकास देखता है उधर ही अपना विकास-हित देखता है । इसी कारण रूसी अधिकतर सोवियत जनता की पहली या दूसरी भाषा है हालांकि वह अनिवार्य भाषा कहीं भी नहीं है ।

रूसी की दिशा में इस ऐच्छिक प्रगति के कारण हैं । मुख्य तो यही है कि रूसी को किसी जाति, प्रदेश या राज्य पर लादा नहीं गया । दूसरा यह कि स्थानीय भाषा के माध्यम से जैसे ही साक्षरता और शिक्षा का प्रसार हुआ जनता ने समझ लिया कि हित इसी में है कि मुख्य धारा में सम्मिलित हुआ जाए । और मुख्य धारा में सम्मिलित होने का माध्यम है बहुप्रतिष्ठ और लब्धप्रतिष्ठ भाषा को सीखना । साइंस टेक्नोलजी, कला, साहित्य आदि सभी क्षेत्रों में रूसी भाषा के माध्यम से अधिकतम उन्नति हुई है और उसकी उपलब्धि के लिए रूसी सीखना हितकर है । सोवियत संघ के केंद्रीय स्तर पर सभी क्षेत्रों, राज्यों और जातियों के लोगों ने रूसी का चयन उसकी अपनी उदारता, उपलब्धियों तथा राष्ट्रीय हितों को सामने रखकर ही किया है । सीखने में आसान, लिखने में आसान, अंतर्जातीय तथा अंतःप्रादेशिक स्तर पर संपर्क भाषा के रूप में सशक्त और समृद्ध और स्थानीय रूपांतरों से मुक्तप्राय, इस भाषा को सोवियत संघ के विभिन्न जातीय और क्षेत्रीय वर्गों ने मुख्य धारा में सम्मिलनार्थ अपने हितों को सामने रखकर अपनाया है । अन्यथा सभी 130 भाषाओं का वैधानिक स्थान और महत्त्व समान है । वैधानिक रूप से रूसी सोवियत संघ की राजभाषा भी नहीं है पर प्रत्येक नागरिक को इसे पढ़ने की सुविधा दी जाती है । ये सुविधाएं भी सभी भाषाओं के लिए समान रूप से उपलब्ध हैं । प्राकृतिक और स्वाभाविक प्रक्रियाओं के आधार पर ही लोग रूसी का चयन करते हैं । भाषा के ही आधार पर लोगों का अखिल सोवियत संघ में आना-जाना बढ़ गया और अपने-अपने हितों को देखकर लोग एक प्रदेश से दूसरे में अन्य जातियों के बीच बस गए हैं । भाषा और जातियों की अनेकता में एकता का सोवियत संघ उत्तम उदाहरण है और इस एकता का आधार है स्वाभाविक प्रक्रियां और योजनाबद्ध कार्यक्रम का मनोवैज्ञानिक और आर्थिक-सामाजिक संतुलन । सोवियत संघ में भाषा और राष्ट्र दोनों का सम्यक संघटन हो गया ।

एक प्रश्न : सोवियत संघ में इतनी हलचल क्यों हुई ? वहां का राष्ट्रीय संघटन हिल क्यों गया ? क्या भाषा संघटन अपना काम राष्ट्र-संघटन की दिशा में नहीं कर पाया ?

यह प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण है, और इसी कारण सारे संसार की दृष्टि सोवियत संघ पर लगी थी, ताकि इतिहास के एक महान् साम्यवादी प्रयोग की सफलता या विफलता का निर्णय हो जाए और उस प्रयोग की वास्तविक उपादेयता का मूल्यांकन किया जा सके ।

हमारे विचार में सोवियत संघ की हलचल में भाषा संघटन की परीक्षा नहीं हो रही थी । हम पहले कह चुके हैं कि किसी भी ऐतिहासिक तथा राजनीतिक प्रयोग के अंदर तीन भूमिकाएं प्रमुख होती हैं : एक द्रष्टा और दर्शन, दूसरी स्रष्टा और सर्जन, तीसरी निर्माता और

निर्माण—पुनर्निर्माण और विकास ये भी निर्माण के ही अंग हैं । सोवियत संघ की दर्शन भूमिका के ऋषि थे कार्ल मार्क्स । उन्होंने इतिहास के परिप्रेक्ष्य में और अपने अर्थात् यूरोपियन संदर्भ में प्राकृतिक तथा सामाजिक संघर्ष के दर्शन किए और तद्नुरूप इतिहास के स्वरूप की व्याख्या की । संघर्ष के इस ऐतिहासिक नैरंतर्य के संदर्भ में मानव के एक विशेष उज्ज्वल भविष्य की कल्पना भी की जा सकती थी : एक संघर्ष-मुक्त समाज की स्थापना जहां संघर्ष का आधार अर्थात् निजी धन न रहे । ऐसे समाज की स्थापना की रूपरेखा लेनिन और उनके साथियों ने बनाई । मार्क्स द्रष्टा थे, लेनिन स्रष्टा । लेनिन और उनके साथी जब अपना काम कर चुके तो आए निर्माता—लेनिन से ही प्रारंभ करके स्टालिन और उनके साथी, आज तक जो सत्ता में हैं वे भी । सोवियत हलचल वास्तव में निर्माताओं का संघर्ष था और संघर्ष का आधार था सत्ता न कि धन या प्रापर्टी । द्रष्टा और स्रष्टा ने भी शायद यह सोचा ही न हो कि निजी प्रापर्टी को समाप्त करने के बाद सत्ता ही प्रापर्टी बन जाएगी । सोवियत हलचल वास्तव में एक ऐसे प्रश्न की ओर संकेत करती है जो इतिहास के आदि से लेकर अंत तक रहेगा और सटीक हल चाहेगा । सोवियत संघ ने जो हल क्रांति के माध्यम से साम्यवादी व्यवस्था में ढूंढ़ा था वह पुराना पड़ गया इसी कारण सत्ता संतुलन बिगड़ गया और हलचल मच गई ।

मार्क्स दर्शन नया नहीं है । उसका आदि स्रोत तो वेद में है । मानव की सामाजिक समस्या है व्यक्ति/व्यष्टि और समष्टि का संतुलन । हल है 'संगच्छध्वम्' जो ऋग्वेद के अंतिम संघटन सूक्त में मिलता है । मार्क्स ने इस समस्या का केवल आर्थिक रूपांतर देखा और आर्थिक रूपांतर में भी संतुलन की संभावना को नहीं, संघर्ष को ही देखा । इतिहास में संतुलन अथवा संगच्छध्वम् के मूल मंत्र की सिद्धि कैसे की जाए इसके अलग-अलग तरीके स्रष्टाओं ने सुझाए और निर्माताओं ने उनको साकार करने की कोशिश की । ऐसे ही स्रष्टा तथा निर्माता लेनिन थे । ऐसे ही स्रष्टा स्वामी दयानन्द भी थे जिन्होंने निर्माण का मंत्र दिया : प्रत्येक को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतंत्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम पालने में सब स्वतंत्र रहें । स्वतंत्रता और परतंत्रता के संतुलन अर्थात् स्वतंत्रता की सीमांत-रेखा और परतंत्रता की प्रारंभ रेखा ये दोनों हैं तो एक ही, पर वह सामाजिक, आर्थिक और राष्ट्रीय व्यवस्था में कहां खेंची जाए इसका निर्णय विधान करता है ।

इस व्यवस्था के दो प्रकार है : एक व्यष्टि प्रधान, दूसरा समष्टि प्रधान । पहला अमरीका, इंग्लैड, भारत इत्यादि देशों में है और लोकतंत्र कहलाता है । दूसरा सोवियत संघ और चीन में है और सामूहिक साम्यवाद कहलाता है । इन दोनों व्यवस्थाओं में संतुलन बिगड़ता है तो कभी व्यष्टि और कभी समष्टि का पलड़ा भारी होने लगता है और ऐसे समय में विरोधी शक्ति जोर मारती है । सोवियत संघ में व्यष्टि की दिशा में जो संतुलन-परिवर्तन किया जा रहा था उसके विरुद्ध समष्टिवादियों की ओर से प्रतिक्रिया करने का प्रयास किया गया और उसके विफल होते ही व्यष्टिवाद फिर जोर मारने लगा । इस व्यष्टि और समष्टि के संघर्ष में संतुलन रेखा जहां निर्धारित होती है वहीं पर नई व्यवस्था का सत्ताकेंद्र टिक जाता है । पर इस पुनःस्थापना की दिशा

में भी भाषा की भूमिका तो ज्यों की त्यों रहेगी और जहां राष्ट्रीय व्यवस्था का आर्थिक-सामाजिक टिकाव व्यष्टि-समष्टि के संतुलन रूप में होगा वहीं रूसी और अन्य भाषाओं का संतुलन टिकाव भी हो जाएगा । किंतु यह भी हो सकता है कि व्यवस्था परिवर्तन के बावजूद रूसी भाषा की मान्यता पहले जैसी बनी रहे और यही भाषा नई व्यवस्था के प्रति भी अपना योगदान दे सके ।

सोवियत संघ में भाषा और राष्ट्र का संबंध पूर्व अथवा अपरवर्ती नहीं रहा, वह संघटन की दिशा में समवर्ती रहा । क्षेत्रीय और केंद्रीय भाषाओं का संबंध वहां पर सुर और संगीत का रहा है । पिछले दिनों सुरों की हलचल मच रही थी, सो भी इसलिए कि राग बदलने लगा था । राग भले ही बदल जाए, सुर और संगीत तो दोनों ही रहेंगे । भारत में भी हमें सुर और संगीत का संतुलित संबंध रखने के लिए राग का चुनाव करना पड़ेगा । साथ में यह भी सोचना पड़ेगा कि राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया में क्षेत्रीय और केंद्रीय/संपर्क-भाषा तथा भाषा-संघटन और राष्ट्र-संघटन का संबंध पूर्ववर्ती हो, अपरवर्ती हो या समवर्ती हो । संवर्तन और संतुलन का क्रियात्मक रूप होगा संगति, संगमन और प्रगति ।

अंत में, सोवियत प्रयोग से सीखें तो क्या ?

1. देवनागरी लिपि का विकास ।
2. भारतीय लिपि का निर्माण ।
3. विविध भारतीय भाषाओं का विकास, प्रचार, प्रसार ।
4. विविध भाषाओं की वर्णमाला का सापेक्ष अध्ययन और आदान-प्रदान ।
5. विविध भाषाओं की शब्दावली व मुहावरों का अध्ययन और आदान-प्रदान ।
6. हिंदी व हिंदीतर भाषाओं का आदान-प्रदान और पारस्परिक सहयोग अनुवादादि ।
7. हिंदी तथा अन्य भाषाओं की सामाजिक स्थिति, उपलब्धि और वैधानिक मान्यता का आदर ।
8. हिंदी का ऐच्छिक अध्ययन करने के अवसर और स्वयंसेवा ।
9. प्रत्येक क्षेत्र/प्रदेश/राज्य/केंद्र में भारतीय भाषाओं का ऐच्छिक वैधानिक प्रयोग ।
10. राष्ट्र का भाषा के माध्यम से संघटन और पुनर्निर्माण/विकास ।

32

संवाद : समाज की पहचान

अंग्रेज के साथ हमारा दोस्ती-दुश्मनी का रिश्ता रहा है । यदि ऐसा न रहा होता तो उसकी भाषा, साहित्य और सभ्यता को अपनाकर उसे जाने पर मजबूर क्यों करते ? यदि ऐसा न होता तो अंग्रेज भी यहां राज करते-करते बसने से परहेज क्यों करते ? यदि ऐसा न होता तो अंग्रेजी को अपनाकर उसे 15 वर्ष के बाद विदा करने का संकल्प क्यों लेते ? और यदि संकल्प कर ही लिया था तो दो वर्ष बाद ही उसे रोकने का निर्णय क्यों लेते ? नेहरू जी तो कभी-कभी कवि की तरह बोलते थे : जब मैं हिंदुस्तान में होता हूं तो इंग्लिस्तान की याद आती है और जब इंग्लिस्तान में होता हूं तो हिंदुस्तान की याद आती है । हममें से कितने ही क्यों कहते : जब हम अंग्रेजी में लिखते हैं तो हिंदी में सोचते हैं और जब हिंदी में लिखते हैं तो अंग्रेजी में सोचते हैं ?

यदि अंग्रेजों से भी पूछें कि क्या बोलें, तो वे कहेंगे : संवदध्वम्—अच्छा बोलो, अपना बोलो, मिलकर बोलो । कब ? आज अभी । और मान लो हमारी भाषाएं विकसित न हों तो ? उत्तर : होती रहेंगी । जो हमने किया वही तुम करो, वैसे ही, आज और अभी ।

हममें से बहुत कम यह जानते हैं कि कभी इंग्लैंड में भी विदेशियों का राज था और विदेशी भाषा ही वहां की राजभाषा थी । वहां की राजभाषा उस समय अंग्रेजी नहीं, फ्रेंच थी, और अंग्रेजी-भाषी लोगों ने अपनी पार्लमेंट में विदेशी भाषा को अंग्रेजों के प्रति विदेशियों का षड्यंत्र कहा था । यदि विदेशी भाषा (फ्रेंच) इंग्लैंड की जनता के प्रति षड्यंत्र थी तो अंग्रेजी का भारत पर लादा जाना षड्यंत्र क्यों नहीं था ? इसी षड्यंत्र की कहानी हमारे लिए बड़ी रोचक और प्रेरणादायक है । कहानी का आशय मिलेगा : चालू बनो, टालू मत बनो । हम 50 वर्ष से टालू बने हुए हैं, चलते ही नहीं । चलते हैं तो पीछे । 1967 का विधान-संशोधन हमारी वक्रचाल का ही द्योतक है । इंग्लैंड दो बार विदेशी राज में दबा और दोनों बार विदेशी राजभाषा की घुटन में जिया, एक बार रोमन राज में (43 से 410 तक) और दूसरी बार नार्मन राज में (1066 के पश्चात्) । पहली बार राजभाषा थी लैटिन और दूसरी बार फ्रेंच । लैटिन 410 में रोमनों के साथ लौट गई और फ्रेंच 1362 में उखड़ गई । दोनों बार विदेशी भाषा के स्थान पर देश की भाषा आ गई, जिस अवस्था में भी वह थी उसी में ।

सन् 43 में रोमनों ने ब्रिटेन को जीतकर वहां अपना प्रभुत्व जमा लिया । उस समय वहां की केल्टिक भाषा को उखाड़कर लैटिन भाषा लागू कर दी गई क्योंकि राजवर्ग की भाषा तो लैटिन ही थी । रोमन सभ्यता उस समय इंग्लैंड की अपेक्षा विकास को प्राप्त हो चुकी थी और

उनकी भाषा और साहित्य भी विकास को प्राप्त हो चुके थे । रोमन सभ्यता और जीवन-शैली के अनुरूप नगर, छावनी इत्यादि बने तथा उनको मिलाने के लिए बड़े-बड़े मार्ग भी बनाए गए । रोमन भवन, स्नानागार, मंदिर, नाट्यशालाएं इत्यादि बनाए गए । रोमन फैशन के कपड़े, आभूषण, बर्तन, सजावट का सामान इत्यादि प्रयोग में आने लगे । इंग्लैंड का रोमनकरण वैसे ही हो गया जैसे भारत का अंग्रेजीकरण ।

इंग्लैंड वालों को मातृभूमि के प्रति यह चोलाबदल नाटक नहीं भाया । उन्होंने 18 वर्ष बाद ही विद्रोह कर दिया । यह विद्रोह बोडीसिया नाम की एक महिला के नेतृत्व में हुआ जिसका पति एक बड़ा शासक सरदार था । वह रोमन युद्ध में मारा गया । इस विद्रोह में दोनों ओर से करीब 70,000 लोग मारे गए थे । विद्रोह से रोमनों को एक अनुभूति हुई : यदि किसी देश की भूमि पर बलपूर्वक कब्जा कर लिया जाए तो मानो उसके शरीर पर अधिकार जमा लिया गया । किंतु क्या शरीर मात्र पर अधिकार करने से किसी देश या जाति के मन और आत्मा पर भी अधिकार किया जा सकता है ? नहीं । यदि देश की धरती को दबा लेने से ही ब्रिटेन रोमन हो जाता तो विद्रोह क्यों होता ? इसलिए रोमन गवर्नर ने एक शिष्ट-रूप लेकिन कपटपूर्ण तरकीब सोची : क्यों न ब्रिटेन के लोगों को रोमन भाषा के सौष्ठव, रोमन साहित्य के लालित्य तथा रोमन सभ्यता के विलास का चस्का डालकर उन्हें सुखभोग और मानसिक कोमलता का शिकार बनाया जाए ? वे स्वयं ही अकर्मण्य बन जाएंगे और अपनी शिक्षा, सुरक्षा इत्यादि प्रत्येक समस्या के लिए रोमनों पर निर्भर करने लगेंगे । ऐसा ही किया गया । ब्रिटेन के उच्च वर्ग को रोमन सभ्यता और विलास का चस्का पड़ गया । ब्रिटेन का रोमनकरण हो गया । वे हर बात के लिए रोमनों का मुंह ताकने लगे । कई सौ वर्षों तक ऐसा ही होता रहा । फिर पांचवीं शती के प्रारंभ में जर्मनों की ओर से रोम पर आक्रमण होने लगे । रोमन शासक और सेना सब रोम की रक्षा के लिए वापस चले गए । ब्रिटेन के लोग यह नहीं चाहते थे, इसलिए उन्होंने रोमनों से रुकने की प्रार्थना की । पर रोमन तो रुक नहीं सकते थे, चले गए । इसके पश्चात् ब्रिटेन पर पिक्टस और स्काट्स ने आक्रमण करना प्रारंभ कर दिया । भोग के कारण अपने आपसे थके ब्रिटन अपनी रक्षा स्वयं नहीं कर पाए और रोम से सुरक्षा की प्रार्थना की । पर रोम को तो अपनी पड़ी थी । ब्रिटेन और उनकी सभ्यता आक्रमणकारियों के नीचे दब गए । कुछ समय के बाद जर्मन ज्यूट, एंग्ल और सैक्सन लोग इंग्लैंड पहुंच गए और ब्रिटेन अपने ही निवासियों के हाथ से निकल गया । एंग्लों के निवासस्थान होने के कारण ब्रिटेन का नाम इंग्लैंड पड़ गया । रोमन प्रभाव भी समाप्त हो गया : आक्रमणकारियों ने रोमन सभ्यताग्रस्त ब्रिटेनों को पछाड़ दिया ।

हम पहले कह चुके हैं कि मकाले के शिक्षा प्रस्ताव और अंग्रेजी के शिक्षा भाषा बनने के 18 वर्ष बाद 1853 में मकाले के संबंधी चार्ल्स ट्रेवेल्यन ने ईस्ट इंडिया कंपनी की विशेष समिति के सामने अपनी सम्मति प्रकट करते समय ब्रिटेन के रोमनकरण की चर्चा की थी और यह कहा था कि जैसे रोमनों ने ब्रिटेन के लोगों को रोमन भाषा, साहित्य और सभ्यता का चस्का डाला था वैसे ही कंपनी सरकार को भी भारतीयों को अंग्रेजी भाषा और साहित्य एवं विलास का

अनुभव करा देना चाहिए । रोमन जाने लगे तो ब्रिटनों ने उनको रोकना चाहा था । इसी प्रकार यदि अंग्रेजों को कभी भारत से आना भी पड़ेगा तो अंग्रेजी रंग में रंगे भारतीय स्वयं उन्हें रोकने का प्रयास करेंगे । भाषा और साहित्य के माध्यम से मन और संस्कारों पर विजय पाई जाती है और मन और संस्कारों के माध्यम से आत्मा पर । भारत की आत्मा के परिवर्तन का युद्ध अंग्रेजी भाषा और साहित्य तथा पाश्चात्य सभ्यता के भोगप्रसाधन लड़ेंगे । यहं योजना ब्रिटिश इतिहास के रोमन अध्याय के आधार पर बनी थी ।

ब्रिटेन की दूसरी पराजय 1066 में नारमंडी के विलियम के साथ युद्ध में हेस्टिंग्ज़ नामक पहाड़ी स्थान पर हुई थी । विलियम ने ब्रिटेन के शाह हैरल्ड को हराकर ब्रिटेन पर शासन जमा लिया । नार्मन राज्य की स्थापना के साथ ही भाषा राजभाषा बन गई । यह भाषा थी फ्रेंच । 1066 से 1362 तक इंग्लैंड की राजभाषा फ्रेंच रही, करीब तीन सौ वर्ष ।

जिस प्रकार अंग्रेजों के प्रभुसत्ता में आने के बाद यहां के शासन-प्रशासन का अंग्रेजीकरण हो गया था इसी प्रकार इंग्लैंड के शासन-प्रशासन का भी फ्रांसीकरण हो गया । अंग्रेज शासक या तो लड़ाई में मारे गए थे, या बाद में समाप्त कर दिए गए और उनके स्थान पर नार्मन अफसर, सरदार आदि लगा दिए गए । छठी शताब्दी के पश्चात् इंग्लैंड में ईसाई मत फैल चुका था और वहां रोम के अधीन चर्च की स्थापना भी हो गई थी । नार्मन काल में चर्च के अधिकारी भी सब नार्मन ही लगा दिए गए । ये सभी नार्मन केवल फ्रेंच भाषा ही जानते थे । वे अंग्रेजी नहीं जानते थे और न ही उन्हें अंग्रेजी सीखने की आवश्यकता थी, उन्होंने तो इंग्लैंड में ही एक विशिष्ट फ्रांस बना लिया था । फ्रेंच भाषा, फ्रेंच फैशन, फ्रेंच शिष्टाचार, फ्रेंच सभ्यता, केवल इन्हीं का बोलबाला था । इंग्लैंड में रहने वाले इन नवाबों के सामने वहीं के निवासी होते हुए खानसामा, बैरे और फर्राश बन गए । नवाब शाह इन कुलियों को जानबूझकर दूर रखते और इनके प्रति घृणास्पद बरताव करते । अफसर की नजर में तो ये नौकर अल्हड़-गंवार ही थे ।

इस मालिक-नौकर संबंध ने अंग्रेजी भाषा को भी कई नई बख्शीश दी थी । हम विलन शब्द को जानते ही हैं । फिल्म की दुनिया में हीरो और विलन को कौन नहीं जानता ? हीरो ग्रेट और विलन बदमाश—वैसे आज के कुछ अदाकारों की कला और चातुरी के कारण विलन की तरक्की हो गई है और खलनायक की सामाजिक मान्यता बढ़ गई है, पर हम तो आठ-नौ सौ वर्ष पहले की बात कर रहे हैं । उस समय विलन शब्द का अर्थ था साधारण गांव वाला (विलेज का आदमी) । साधारण गांव वाला शहरी की अपेक्षा गरीब, अफसर के सामने चपरासी और मालिक के सामने नौकर । नार्मन अफसर के घर विलन देहाती खानसामा । यदि मालिक की कोई चीज भूल से इधर-उधर हो जाए तो संदेह नौकर पर । शहरी साहब भूले और देहाती नौकर पिटे । गलती मालिक की, सजा विलन को । विलन शब्द के साथ आर्थिक-सामाजिक स्थिति के अनुरूप नये अर्थ जुड़ गए । चोर, मक्कार, बदमाश, जिसकी पिटाई देखकर दर्शकों को मजा आए, उसके नाम की हमदर्दी भी गई । शुक्र है फिल्म का, उसने विलन को नायक तो बना दिया, खलनायक ही सही । पालिटिक्स की बात करना व्यर्थ है, अच्छा भी नहीं ।

नार्मन और अंग्रेजों के बीच रंगभेद नहीं था । इसलिए अंग्रेजों, उच्च वर्ग और नार्मनों के बीच रिश्ते-नाते भी होने लगे थे । यही अंग्रेज उच्च वर्ग अन्यथा भी आहिस्ता-आहिस्ता शासक वर्ग के निकट आने लगा था । ये ही अंग्रेजी उच्च वर्ग के लोग शासकों के सान्निध्य में फ्रेंच भाषा भी सीखने लगे एवं नये सामाजिक आचार-व्यवहार के माध्यम से एक नया भद्रलोक अस्तित्व में आने लगा । ऐसे ही भारत में भी हुआ था, अंतर यह था कि यहां रंगभेद था और वहां नहीं था । पर भाषा की विशिष्टता दोनों जगह एक-सी थी । भाषा एक प्रतीक बन गई, शासन-प्रशासन और समाज संबंधी वर्ग-विशेष का । बड़े आदमी फ्रेंच बोलते और साधारण आदमी अंग्रेजी बोलते । फ्रेंच की शान, सामाजिक आन-बान । अंग्रेजी गंवारू भाषा बनके रह गई, जैसे भारत में भारतीय भाषाएं अंग्रेजी की अपेक्षा गंवारू बन गईं और अभी भी···

भारत से सोने का निर्गमन हमने देखा है और आज भी देख रहे हैं । कुछ अर्थशास्त्रियों और राजनायकों को छोड़कर औरों को, विशेषकर जनता को, यह किसी तरह से भी नहीं भाता । इंग्लैंड से भी धन इसी तरह निकालकर नार्मंडी भेजा गया और कितने ही नार्मनों को ऊंचे-ऊंचे पद उसी तरह दिए गए जैसे भारत में अंग्रेजों को दिए गए थे । ये नार्मन लोग जीते और कमाते तो इंग्लैंड में, पर गीत गाते नार्मंडी के । हेनरी तृतीय के समय में इतने नार्मन लोग इंग्लैंड में उच्च पदों पर बिठा दिए गए कि मैथ्यु पैरिस नाम के एक इतिहासकार ने अपनी पुस्तक 'क्रोनिका मैज्योरा' में लिखा कि बादशाह ने अपने रिश्तेदारों को जमीन-जायदाद और धन से इतना लाद दिया है कि वे उससे अधिक बोझ उठा नहीं सकेंगे, हिले भी तो कुछ न कुछ खो देने की आशंका है । एक बार बादशाह ने घोड़ों को सोने से लाद लिया और जब ये जानवर बोझ से टूटने लगे तो और घोड़ों को इस लूटविलास में आमंत्रित करना पड़ा । नार्मनों ने इंग्लैड को वैसे ही एक उपनिवेश समझ लिया जैसे अंग्रेजों ने भारत को समझ रखा था ।

फ्रेंच भाषा और साहित्य की शान सारे इंग्लैंड में जम गई । जो लोग फ्रेंच नहीं जानते थे वे गंवार समझे जाते थे । यदि वे अच्छे स्थानापन्न होते तो उनको अपमान सहना पड़ता । भारत में तो स्वतंत्रता के इतने वर्ष बाद भी जो मुख्यमंत्री अंग्रेजी नहीं जानते उनको भी अंग्रेजीदानों का प्रहसन सहना पड़ता है । शाह विलियम की विजय के समय एक बहुत बड़े और प्रतिभाशाली बिशप वुल्फस्टन इंग्लैंड में वुर्स्टर चर्च में पदासीन थे । जब फ्रेंच पादरी सब चर्चों में आ गए तो भी इनको प्रतिभा के कारण हटाया नहीं गया । किंतु यह केवल अंग्रेजी जानते थे, फ्रेंच नहीं जानते थे । एक नार्मन पादरी लैनफ्रेंक, जो फ्रेंच जानते थे और शाह के अत्यंत निकट थे, इनसे कटते थे । लैनफ्रेंक ने केवल भाषा-ज्ञान के आधार पर वुल्फस्टन के बारे में कहा था कि यह भोला भंडारी फ्रेंच तो जानता नहीं, अनपढ़ है, यह बादशाह को राजकार्य में क्या सलाह देगा ? अलबर्ट वां महोदय ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'अंग्रेजी भाषा का इतिहास' में यह सब चर्चा विस्तार से की है । एक तत्कालीन इतिहासकार रॉबर्ट हाल्काफ के हवाले से वे लिखते है कि उस समय अंग्रेज नाम भी एक प्रकार की गाली बन गया था । यह स्मरणीय है कि अंग्रेजी राज में भारत में भी हिंदुस्तानी, काला, कुली इत्यादि शब्द पर्याय बन गए थे । आज भी इंग्लैड में भारतीय

दीखने वाले आदमी को पाकी, निगर आदि कह दिया जाता है । यह भी साथ में स्मरणीय है कि प्रतिक्रिया रूप में भारत में भी गोरों को बंदर, कोढ़ी, लालमुंहा इत्यादि कह दिया जाता था । ऐसा अशोभनीय व्यवहार किसी भी समाज-समुदाय में उस समय हुआ करता है जब दो समाज आपस में अनेक आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक अथवा जातीय कारणों से ग्रस्त मानसिक प्रतिरोध का शिकार बन जाते हैं । हाल्काफ का कहना है कि नार्मन बादशाह ने यहां तक कोशिश की थी कि अंग्रेजी भाषा को किसी तरह समाप्त ही कर दिया जाए ताकि अंग्रेजी-फ्रेंच का झगड़ा ही खत्म हो जाए और सारे लोग फ्रेंच ही बोलने लगें । हम पहले देख चुके है कि भारत में अंग्रेजी की छत्रछाया में भारतीय भाषाओं को जीना नसीब नहीं हुआ था । वास्तव में सरकार की अंग्रेजीपक्षीय भाषा-नीति भारतीय भाषाओं की जड़ों का रस चूसती ही रही और आज भी उन्हें अपने ही घर में अंग्रेजी की अपेक्षा यथोचित स्थान नहीं मिल पा रहा है ।

अंग्रेजी-विरोधी और फ्रेंचपक्षीय राजनीति कुछ समय तक खूब चली, करीब 150 वर्ष तक । इंग्लैंड के संपन्न परिवार फ्रेंच सीखने लगे और अपने बच्चों को फ्रेंच पढ़ाने के लिए फ्रेंच ट्यूटर रखने लगे । भारत में भी कुछ समय तक ऐसा ही हुआ था । कहा जाता है कि बचपन में नेहरू जी को पढ़ाने के लिए अंग्रेज ट्यूटर रखे गए थे । किंतु यह विदेशी साम्राज्य सदा के लिए तो चलता नहीं । यह इतिहास का व्यंग्य है मानव की ऐहिक वासना के प्रति कि वही नेहरूजी जो अंग्रेज गुरुओं से भारत और इंग्लैंड में पढ़े, मानो गुरुदक्षिणा रूप में अंग्रेजों, उनके राज और उनकी भाषा को चुनौती दे गए । इंग्लैंड में फ्रेंचपरस्ती के साथ-साथ अंग्रेजी बेबसी डेढ़ सौ वर्ष तो चली, तत्पश्चात देश की जनता और उनकी भाषा ने अपनी आंतरिक और वास्तविक शक्ति का आह्वान किया और फ्रेंच को चुनौती दे डाली ।

सन 1200 से 1250 तक का समय ब्रिटिश भाषा इतिहास में एक युगमोड़ के रूप में हमारे सामने आता है । डेढ़-दो सौ वर्ष के बाद भी फ्रेंच देश की जनभाषा नहीं बन पाई थी, वर्गभाषा अवश्य बन गई थी । जो लोग फ्रेंच पढ़ते-लिखते और बोलते थे उनके उच्चारण और लेखशैली से साफ पता चलता था कि ये लोग सोचते अंग्रेजी में हैं और लिखते-बोलते फ्रेंच में हैं । वे वैसी ही छोटी-छोटी स्पेलिंग, ग्रामर तथा एक्संट (स्वर का उदात्त या अनुदात्त रूप) की गलतियां करते थे जैसी साधारण अंग्रेजी सेवी हिंदुस्तानी करते हैं । दफ्तर के क्लर्क, आवेदन लेखक इत्यादि वैसी ही फ्रेंच लिखते जैसी बाबू मार्का अंग्रेजी हमारे आदमी लिखते थे और लिखते हैं । इसी अंग्रेजी मार्का फ्रेंच का वैसे ही उपहास उड़ाया जाता जैसा मार्क ट्वेन ने हिंदुस्तानी अंग्रेजी का उड़ाया था । अंग्रेज जनता, अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजी फ्रेंच की यह दुर्गति और आगे चलने वाली नहीं थी, सुचारु रूप से तो नहीं ।

अंग्रेजी-फ्रेंच के अवमान और अंग्रेजी भाषा और अंग्रेज जाति के राजनीतिक पुनरुत्थान के कारण थे :

1. अंग्रेज और नार्मन जातियों का संघटन
2. नार्मनों का इंग्लैंड में स्थायी निवास
3. अंग्रेजी भाषा की राजोचित प्रतिष्ठा ।

ये तीनों कारण भारत में नहीं घट सकते थे । अंग्रेज और नार्मनों में रंगभेद नहीं था । जीवन के प्रति आधारभूत और वास्तविक दृष्टिकोण में भी कोई विशेष अंतर नहीं था । दोनों में कोई धार्मिक या सांप्रदायिक अंतर भी नहीं था क्योंकि दोनों जातियां/वर्ग ईसाई थे । दोनों जातियों में आपस में विवाह होने लगे थे । साधारणतया नार्मन लोग अंग्रेज स्त्रियों से विवाह करते, नार्मन भले ही फ्रेंच बोलते पर स्त्रियां अंग्रेजी ही बोलती थीं । पारिवारिक सुख की एक ही कुंजी है : पतिदेव पत्नी की भाषा बोले । पौरुष के फेर में यदि आप न बोलें तो पौरुष के बदले स्वाभिमान को विदा कीजिए । रिस्क और चुनाव दोनों आपके । खैर, फ्रेंच-भाषियों का सौजन्य, लालित्य और ललिताभक्ति जगद्विख्यात है । इंग्लैंड के पौरुष को तो वे पछाड़ गए थे पर देवियों से मात खा गए और सत्तावेश की जगह सुख का अनुभव करते-करते अंग्रेजी बोलने लगे । अब तो अंग्रेजी राजनायकों की भाषा बनने लगी । भारत में ऐसा नहीं हुआ, हो भी नहीं सकता था । अंग्रेज यहां बसने के लिए थोड़े ही आए थे । और जो कुछ वर्षों के लिए बसने आते थे वे पत्नी साथ लाते थे । सन् 1200 के आस-पास अंग्रेज और नार्मन इकट्ठे रहते-रहते ऐसे मिल गए थे कि यह पता नहीं चल पाता था कि कौन अंग्रेज है और कौन नार्मन ।

घर घरवाली का, यह कौन नहीं जानता ? जिन नार्मनों ने इंग्लैंड में शादी कर ली थी वे वहीं बस गए थे । उनके लिए एक ऐतिहासिक घटना ऐसी घटी कि उन्हें यह निर्णय करना पड़ा कि वे अपने आपको क्या मानते हैं—नार्मन या अंग्रेज । 1204 में नार्मंडी पर फ्रांस के बादशाह ने कब्जा कर लिया और नार्मन वंशी इंग्लैंड के बादशाह जॉन से कहा कि हमारी प्रभुसत्ता को मानो । जॉन ने इनकार कर दिया तो फ्रांस के बादशाह ने उसकी नार्मंडी स्थित सारी संपत्ति, जमीन-जायदाद को जब्त कर लिया । उस समय जो नार्मन इंग्लैंड में रहते थे वे दोनों जगह अपने पैर रखते थे । 1244 में फ्रांस के बादशाह ने उनके सामने यह प्रस्ताव रखा कि नार्मंडी और इंग्लैंड में से एक को चुन लें, क्योंकि वे दोनों देशों के नागरिक नहीं रह पाएंगे । जिन नार्मनों ने इंग्लैंड में शादियां कर रखी थीं या वहीं पर जिनका घर-जायदाद आदि बन गए थे वे इंग्लैंड में ही रहे और उन्होंने नार्मंडी को छोड़ दिया । इंग्लैंड में स्थायी तौर पर बसने के कारण वे वैधानिक और वास्तविक रूप से अंग्रेजी जनसमुदाय के सदस्य बन गए । घरवाली का घर, उसी का घरवाला और उसी की भाषा । अंग्रेजी का मान बढ़ने लगा ।

देश के वासी एक तो उनकी भाषा एक क्यों नहीं ? और भाषा यदि एक हो तो विदेशी क्यों ? यह प्रश्न एक प्रबल प्रश्न बन गया था । देश-प्रेम और भाषा-भक्ति ने जोर मारना प्रारंभ किया । 1234 में चर्च के उच्चाधिकारी बादशाह से मिले और उनके फ्रेंच-भाषी सामंतों के विरुद्ध और राज के हित में अपना रोष प्रकट किया । ये सामंत दो थे : पीटर जो विंचेस्टर के बिशप थे और दूसरे थे पीटर द रीवो । चर्च के अधिकारियों ने विनम्रतापूर्वक किंतु पूर्ण आत्मविश्वास के साथ निवेदन किया कि ये दोनों सामंत अपने आपको सारी राजशक्ति का मालिक समझते हैं और सारे अंग्रेज अधिकारियों को राजकार्य से निकाल चुके हैं । ऐसा क्यों ? क्या इंग्लैंड के लोग बादशाह के विश्वासपात्र नहीं हैं ? क्या राज और बादशाह पर देश के लोगों का कोई

अधिकार नहीं है या उनके प्रति कोई उत्तरदायित्व नहीं है ? ये लोग बादशाह और देश के निवासियों के बीच एक ऐसी खाई खोद डालेंगे जो दोनों के लिए घातक सिद्ध हो सकती है । उन्होंने बादशाह से प्रार्थना की कि इन सामंतों के इशारों पर न चलें । एक और चर्च अधिकारी बिशप ग्रासटेस्ट ने 1252 में और भी सबल शब्दों में बादशाह को चेतावनी दी कि ये विदेशी केवल विदेशी ही नहीं हैं, वे इंग्लैंड के घोर विरोधी शत्रु हैं । वे देश को लूट रहे हैं और देश के निवासियों को जानते तक नहीं । न ही वे इस देश की भाषा को समझते हैं ।

एक समय था जब ब्रिटेन में असभ्यता का नाम था अंग्रेजी और सभ्यता का परिधान था फ्रेंच । अब फ्रेंच विदेशियों के गले का हार नहीं बल्कि तौक़ बनने लगी । इंग्लैंड अंग्रेजों का, अंग्रेजी उनकी, यह फ्रेंच कौन, कहां से और क्यों ? राबर्ट ऑफ ग्लॉस्टर ने 1300 में सामयिक विषयों की चर्चा करते हुए इंग्लैंड के नार्मडीग्रस्त होने की निंदा की और नार्मन-विजय को ऐतिहासिक दुर्घटना बतलाते हुए कहा : "सारे संसार में कोई देश ऐसा नहीं जिसकी अपनी (देश में जन्मी) भाषा न हो, इंग्लैंड को छोड़कर ।" 'कर्सर मुंडाई' नाम की पुस्तक के प्राक्कथन में लिखा है कि क्या फ्रांस में अंग्रेजी बोली या समझी जाती है ? फिर इंग्लैंड में फ्रेंच क्यों ? यदि मैं अपने देश की भाषा में लिखता हूं तो कौनसा गुनाह करता हूं ? मैं सबके लिए लिखता हूं और वे सब मेरी भाषा को समझते हैं । एक और अंग्रेजी लेखक ने लिखा कि इंग्लैंड में जन्मे और यहीं रहने वाले अंग्रेजी को समझते हैं । वे न फ्रेंच समझते हैं न लैटिन । लिखना या बोलना केवल अंग्रेजी में ही हो सकता है और होना चाहिए । विलियम आफ नेसिंग्टन ने 1325 में 'मिरर ऑफ लाइफ' नाम की पुस्तक में लिखा : न लैटिन लिखूंगा न कोई और, केवल अंग्रेजी लिखूंगा । हम इंग्लैड में जन्मे हैं, यहीं पले हैं, यहीं रहते हैं, तो फ्रेंच या लैटिन क्यों ? पढ़े-लिखे, छोटे-बड़े, सब अंग्रेजी समझते हैं ।

इतनी चेतना के जागृत होने के बाद तो अंग्रेजी अपने स्थान की ओर बढ़ने लगी । जब 1327 में शाह एडवर्ड द्वितीय की ओर से लंदन शहर को कुछ प्रशासनिक अधिकार दिए गए तो मेयर, म्युनिसिपल सदस्य और नागरिकों के सामने नगर-भवन में एक प्रमाणपत्र पढ़कर सुनाया गया । प्रमाणपत्र अंग्रेजी में था । 1337 में शाह एडवर्ड तृतीय ने संसद का एक अधिवेशन बुलाया ताकि उसको अपने फ्रांस के राज्याधिकार के विषय में परामर्श मिले । संसद् का संबोधन बादशाह की ओर से एक वकील ने किया । वकील महोदय लैटिन, फ्रेंच और अंग्रेजी तीनों भाषाएं जानते थे; फिर भी उन्होंने अपना वक्तव्य अंग्रेजी में दिया । कारण : यह कि वक्तव्य को सब भली भांति समझ सकें । जो कुछ हम कहना चाहते हैं या करवाना चाहते हैं उसे हम उसी भाषा में भली भांति जान सकते हैं जो हमने बचपन से ही सीखी है, किसी और में नहीं ।

1356 में लंदन के मेयर की ओर से यह आदेश दे दिया गया कि लंदन और मिडल सेक्स के न्यायालयों की कार्यवाही अंग्रेजी में संपन्न की जाए ।

ब्रिटेन की जनता के प्रति विदेशी राजभाषा के रूप में जो षड्यंत्र रचा गया था और उसके माध्यम से जो अन्याय उसके साथ तीन सौ वर्ष से किया जा रहा था उसका वैधानिक निराकरण

1362 में हुआ । ब्रिटिश संसद ने अक्तूबर में एक प्रस्ताव पास किया जिसका शीर्षक था 'स्टेच्यूट आफ प्लीडिंग' जो कि 'स्टेच्यूट्स आफ द रयल्म', I, पृ० 375-76 पर लिखा गया है । प्रस्ताव इस प्रकार है :

> सरकार के सामने बार-बार चर्च-अधिकारियों, सामंतों, राजाधिकारियों और जन-साधारण के द्वारा सप्रमाण निवेदन किया गया है कि इस देश के साथ एक षड्यंत्र खेला गया है ।
>
> क्योंकि देश के कायदे-कानून-नियमादि जनसाधारण को मालूम नहीं हैं,
>
> क्योंकि उनके आवेदन, प्रतिवेदन, परीक्षण, निर्णयादि फ्रेंच भाषा में किए जाते हैं और जनता उससे अनभिज्ञ है,
>
> और जो लोग शाही या दूसरी अदालतों में आवेदन, प्रतिवेदन करते हैं, उन्हें विदेशी भाषा के कारण यह पता नहीं चलता कि सरकारी अफ़सर या वकील उनके पक्ष या विपक्ष में क्या कह रहे हैं,
>
> क्योंकि यह सही है कि देश की जनता देश के कायदे-कानून को देश की प्रचलित भाषा में सुचारु रूप से समझ सकती है,
>
> और प्रत्येक नागरिक नियमों का अतिक्रमण किये बिना अपनी स्वतंत्रता, और संपत्ति की सुरक्षा कर सकता है एवं जिन-जिन अन्य देश-प्रदेशों में राजा या सामंत या राज्याधिकारी गए हैं वहां-वहां प्रत्येक नागरिक को पूर्ण अधिकार और सुव्यवस्था उपलब्ध है,
>
> क्योंकि उनके कायदे-कानून उनकी अपनी भाषा में उपलब्ध हैं और उनका अनुपालन उनकी अपनी भाषा के माध्यम से होता है,
>
> अतः
>
> अपनी प्रजा की सुव्यवस्था और सुख-शांति के लिए और उपर्युक्त कारण से जो हानियां और अन्याय उनके साथ होते रहे हैं या हो सकते हैं उनके निराकरण के लिए राज के द्वारा यह आज्ञा, अनुज्ञा और आदेश दिया जाता है कि देश की किसी भी अदालत में किसी भी जज के सामने, किसी और (म्यूनिसिपल) अदालत में किसी मिनिस्टर या अधिकारी के सामने, कहीं भी, जो मुकदमे पेश किए जाते हैं उन सबका आवेदन, प्रमाण, उत्तर-प्रत्युत्तर, परीक्षण और निर्णय अंग्रेजी भाषा में किया जाए और उनका रिकार्ड लैटिन में रखा जाए ।

यह प्रस्ताव फ्रेंच भाषा में ही पास किया गया था क्योंकि फ्रेंच ही राजभाषा थी उस

समय । इसका रिकार्ड लैटिन में रखा गया क्योंकि लैटिन परीक्षित, सम्माननीय और पवित्र भाषा मानी जाती थी । भारत से तुलना करें तो लैटिन संस्कृत के समान धर्म और धर्मशास्त्र की भाषा थी । हम यह कह सकते हैं कि देश भाषा का यह वैधानिक सम्मान ब्रिटेन की संसद् के मतानुसार वहां के धर्मशास्त्र का अंग बन गया ।

मध्यकालीन देशों और राज्यों की भाषा-स्थिति यह रही है कि घर की भाषा एक अर्थात् मातृभाषा, सरकार की भाषा सरकार के रंग के अनुसार, उदाहरणार्थ ब्रिटेन में फ्रेंच, और चर्च की भाषा तीसरी, उदाहरणार्थ ब्रिटेन एवं दूसरे यूरापीय देशों में लैटिन । यूरोप के लोग जैसे-जैसे बाहर गए और वहां अपने उपनिवेश स्थापित किए वहां-वहां घर की भाषा मातृभाषा—जैसे भारत में हिंदी, अथवा और कोई भी भारतीय भाषा, सरकारी भाषा अंग्रेजी, और धार्मिक भाषा संस्कृत इत्यादि । जैसे-जैसे मानव परिवार आधुनिकता की ओर चला, ये तीनों भाषाएं भी एक ही ओर चलीं । जिस-जिस देश या समाज में ये तीनों भाषाएं एक ही है वहीं-वहीं देश का समाज आधुनिक है, जहां-जहां ये तीन या दो भी है वहां वह अभी भी मध्ययुगीन है । भारत अभी मध्ययुगीन देश है क्योंकि स्वतंत्र होते हुए भी यहां की जनता यह नहीं जानती कि सरकार क्या कर रही है । कारण ? सरकार की भाषा अंग्रेजी, जनता की भाषा भारती । यहां न जनता सरकार को समझती है, न सरकार जनता को । दोनों किसी न किसी तरह अपना-अपना काम चला रहे हैं ।

ब्रिटेन 1362 में आधुनिकता की ओर चला क्योंकि वहां की देसी भाषा सरकारी बन गई । क्या अंग्रेजी उस समय विकसित भाषा थी ? क्या राजभाषा बनने के लिए अंग्रेजी ने कोई तैयारी की थी ? इन प्रश्नों का उत्तर तो अगले चार सौ वर्ष के इतिहास में मिलेगा ।

33

राजभाषा विकास : समस्या और समाधान

जीवन एक प्रवाह है, नित्य, निरंतर, नूतन—अंदर झांकें या बाहर देखें यह चलता रहता है, अनादि, अनंत ।

भाषा जीवन की चेतना का शब्दांतर है, चेतना चेतन का गुण है, चेतना की अभिव्यक्ति चेतन का कर्म है । चेतना की अनुभूति है सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, ज्ञान, प्रयत्न जो सब चेतन के गुण है । इनकी अनुभूति और अभिव्यक्ति उसका लक्ष्य है । चेतन ही ज्ञाता है, अनुभूति और अभिव्यक्ति ज्ञान है । अंदर की दुनिया जिसमें हम झांकते है और बाहर की दुनिया जिसे हम देखते है वही ज्ञेय है । ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय इन तीनों के एकात्मसात् होने पर अनायास, सप्रेम, सश्रद्धा या सविचार जो शब्द निकलते है वे ही भाषा-प्रवाह हैं । जीवन-प्रवाह, चेतना-प्रवाह, भाषा-प्रवाह ये तीनों समवर्ती है नित्य, निरंतर, नूतन अनादि और अनंत हैं । काव्य, दर्शन, विज्ञान ये चेतना और भाषा के रूपांतर है । इतिहास इनका स्मृति-कोश है । इतिहास जड़ और चेतन के निरंतर सान्निध्य की सजीव कहानी है ।

चेतन स्वरूप से निराकार है । जड़ भी स्वरूप से निराकार माना गया है किंतु सृष्ट अवस्था में अनंत रूपों में अभिव्यक्त होता है और उसी के माध्यम से चेतन भी साकार होता है । मानव जड़ और चेतन के सृष्ट सान्निध्य की चरम सीमा है । उसी के आत्मा में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का एकात्मत्व चित्तपटल पर लक्षित होता है । वही एकात्मत्व जब भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त होता है तो ज्ञाता के अपने गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार कभी ज्ञाता-प्रधान, कभी ज्ञान-प्रधान और कभी ज्ञेय-प्रधान हुआ करता है । ज्ञेय-प्रधान भी विषय-वस्तु के अनुसार कभी चेतन-प्रधान और कभी जड़-प्रधान होता है । पराविद्या चेतन-प्रधान है और अपरा विद्या जड़-प्रधान है । अध्यात्म चेतन-प्रधान है और साइंस जड़-प्रधान ।

चेतना और भाषा के संबंध में जो कुछ कहा गया है उससे ऐसा लग सकता है कि भाषा व्यक्तिनिष्ठ, स्वयंसिद्ध, स्वयं-संपन्न और एकसृष्ट सत्ता है । यह तो सत्य है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी भाषा का चयन अथवा सर्जन स्वयं करता है किंतु उसके चयन एवं सर्जन की सामग्री अधिकतर उसके परिप्रेक्ष्य से ही उपलब्ध हुआ करती है । जो उसका अपना है वह है उसकी दृष्टि, उसकी अनुभूति, उसकी चेतना, उस चेतना का बिंब, उस बिंब की सामग्री भी अधिकतर उसे अपने परिवेश से ही मिलती है । हम ऐसे भी कह सकते है कि जिस प्रकार हमारे शरीर की प्राकृत सामग्री हमें पंचभूत परमाणुओं से मिलाती है वैसे ही हमें अपनी चेतना/अनुभूतियों को

व्यक्त करने के लिए भाषा तत्त्व भी अपने परिवेश में से ही मिलते है पर जिस प्रकार हमारी शरीर सामग्री का चयन हमारी आत्मा के साकार के लिए हमारे संस्कारों के अनुरूप होता है वैसे ही चेतना की अभिव्यक्ति भाषा के रूप में उसके बिंबानुसार होती है । भाषा व्यक्ति की निधि अवश्य है पर वह समाज की धरोहर है और इतिहास के स्मृति-कोश में निहित है, लेखक, कलाकार, वैज्ञानिक अथवा वक्ता इसी सामाजिक और ऐतिहासिक निधि का आश्रय लेता है और अपनी अनुभूति व चेतना के अनुरूप शब्दाकृतियों को जन्म देता है । ये शब्दाकृतियां अनुकरणात्मक भी हो सकती हैं और सर्जनात्मक भी । अनुकरणात्मक शब्दाकृति संचार-प्रक्रिया में श्रोता अथवा पाठक की स्मृति का उद्‌बोधन कर सकती है या उसे अज्ञात तथ्यों का ज्ञान दे सकती है किंतु सर्जनात्मक शब्दाकृति उसके लिए नयी अनुभूतियों का सर्जन कर सकती है, अवचेतन में पड़ी शक्तियों को जगा सकती है और जनमानस और समाज की भाषा को नयी शक्ति प्रदान कर सकती है ।

भाषा यदि जीवन की चेतना का शब्दांतर है तो जीवन और चेतना के प्रवाह के साथ-साथ भाषा-प्रवाह भी इसी प्रकार आगे बढ़ता है ।

जीवन, चेतना और भाषा, इनके प्रवाह का आदि स्रोत क्या है ? किसी ने कहा ब्रह्म, उसी से जीवन, चेतना और भाषा (शब्द) का प्रवाह प्रारंभ होता है और उसी में उनका विलय हो जाता है । फिर वहीं से प्रारंभ होता है और वहीं उसका विलय हो जाता है । यह सृष्टि और प्रलय का प्रवाह अनादि और अनंत है । किसी ने कहा जीवन ही प्रवाह का पर्याय है उसे अस्तित्व में आने के लिए किसी निमित्त कारण की अपेक्षा नहीं है, वह स्वयंसिद्ध सनातन और निरंतर है । जीवन-प्रवाह है, चेतना प्रवाह है, भाषा भी प्रवाह है । किसी ने प्रवाह को सनातन सत्ता माना, किसी ने प्रवाह से परे एक अप्रवाहित सत्ता को सनातन माना । किसी ने सनातन का दर्शन किया, किसी ने प्रवाह दर्शन का सर्जन कर लिया । अपने-अपने विचार के अनुसार किसी ने भाषा को शब्दब्रह्म मानकर उसके दर्शन की साधना की, और किसी ने उसे सामाजिक उत्कृति मानकर उसका अर्जन और सर्जन करने का प्रयास किया ।

भाषा के दैवी स्रोत और सामाजिक सर्जन के विषय में भारत और यूरोप दोनों के विभिन्न विचारकों में मतभेद रहा है । यूरोप में दैवी स्रोत के प्रवर्तक प्लेटो थे और सामाजिक सर्जन के मुख्य प्रवर्तक अरस्तू थे । प्लेटो का मत था कि जिस प्रकार हिरण्यगर्भ के अंदर सृष्टि के पूर्व से समस्त स्रष्टव्य पदार्थों और योनियों का सन्निवेश रहता है उसी प्रकार समस्त सृष्टि से संबद्ध पूर्ण शब्दों अर्थात् संपूर्ण भाषा का भी सन्निवेश रहता है और सृष्टि के आदि में वही दैवी भाषा मनुष्य को सृष्टिकर्ता की ओर से मिलती है । प्रत्येक योनि तथा पदार्थ अपने आप में एक और अद्वितीय होता है, अतः उसका नाम (शब्द) भी एक ही होता है । यह आदि भाषा समयांतर में विकृत हो जाती है क्योंकि मानव स्वभावतः प्रकृत और विकृत दोनों प्रकार का है और मानव की विकृति भाषा की विकृति का कारण है । जिन मनुष्यों में प्रकृत गुण सुरक्षित रहते हैं वे ही आदि प्रकृत भाषा का दर्शन या पुनर्दर्शन कर सकते है और वे ही अवस्था-विशेष में दैवी बुद्धि के आधार पर उसका

पुनर्निर्माण कर सकते हैं । इस मत के समकक्ष अरस्तू का मत यह था कि किसी भी वस्तु या प्रक्रिया का जो भी नाम है उसके पीछे कोई दैवी सत्य नहीं केवल सामाजिक सत्य है । समाज के अंदर प्रचलित भाषा और भाषार्थ के संबंध का आधार केवल सामाजिक मान्यता है । भाषा के परिवर्तन का नाम विकास है, विकृति नहीं । प्लेटो दार्शनिक थे और अरस्तू वैज्ञानिक । प्लेटो गुरु थे, अरस्तू शिष्य, और गुरु-शिष्य के इस स्वच्छंद दर्शन की परंपरा आज तक यूरोप में चल रही है । वहां पर दर्शन का रूप बदलकर साइंस-प्रधान हो गया है ।

भारत में भाषा-स्रोत और भाषा-विकास पर आदिकाल से विचार होता रहा है । यहां भाषा अर्थात् शब्द को ब्रह्म कहा गया है और गीता में भी उसको अक्षरोद्‌भवम् कहा गया है । ऋक्, साम, यजुः और अथर्व को अक्षर ब्रह्म का निःश्वसित रूप माना गया है जिसका अवतरण सृष्टि के आदि में चार आदि ऋषियों के आत्मा में हुआ माना गया । मंत्रों के साथ जिन देवताओं और ऋषियों के नाम जुड़े हैं वे उन मंत्रों के विषय और द्रष्टा माने गए हैं । इस मान्यता के अनुसार हम कह सकते हैं कि संपूर्ण ज्ञान और संपूर्ण भाषा आदि सृष्टि में मानव को दे दिया गया था और भाषा का समस्त इतिहास उसी संपूर्ण और इतिहासातीत ज्ञान का देश-काल-सापेक्ष दर्शन मात्र है ।

भाषा के इस विकास के परिप्रेक्ष्य में शब्द और अर्थ का जो संबंध है उस संबंध के लिए प्रमाण क्या है ? इस प्रमाण की खोज दो प्रकार से की गई है : शब्दार्थ संबंध का एक आधार है आंतरिक दर्शन । यह मान्यता प्लेटो की मान्यता के समकक्ष बनती है । दूसरा आधार है लोकतः जिसकी व्याख्या महर्षि पतंजलि ने महाभाष्य में की है । आंतरिक दर्शन और लोकतः शब्दार्थ संबंध इन दोनों का समन्वय भर्तृहरि के मतानुसार परा और वैखरी भाषा के नैसर्गिक संबंध के माध्यम से होता है । परा तो सत्यम् वृहद ऋतम् से अपेक्षा रखने वाली मौन भाषा है जो अचेतन और धृतिमनस् के पटल से शनैः-शनैः साधना मार्ग से अवचेतन से होती हुई कुछ अंश में पश्यंती और मध्यमा से छन-छनकर वैखरी के रूप में मुखरित होती है । यही वैखरी समाज की धरोहर है । इसका प्रवाह-स्रोत तो परा है और प्रवाह रूप वैखरी इतिहास के सामाजिक स्मृति-कोष में सुरक्षित रहता मानव-मानस और उसके परिवेश में विकसित होता रहता है । यही सामाजिक रूप हमारी चेतना की अभिव्यक्ति का माध्यम और सामाजिक संचार का आधार है ।

प्रश्न : भाषा के ब्रह्मनिष्ठ, अंतर्दृष्ट समाज-मुखरित रूप और समाज-सर्जित रूप का हमारी भाषा समस्या से क्या संबंध है ? इस प्रश्न का उत्तर हमें कुछ और प्रश्नों के उत्तर के माध्यम से ढूंढ़ना पड़ेगा । भाषा के स्वरूप के संबंध में हमारी जो मान्यता है क्या वह हमारे वैयक्तिक और सामूहिक कार्यकौशल का किसी दिशा-विशेष में निदेश करती है ? क्या वह दिशा-विशेष हमारे कार्यकौशल के कारण किन्हीं विशेष परिवेश या परिस्थितियों का निर्माण करती है ? क्या उन परिस्थितियों के संदर्भ में हमारा सामूहिक काम किसी विशेष भाषा का सर्जन या निर्माण करता है ? क्या वह भाषा किन्हीं विशिष्ट सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक आदर्शों का प्रतीकात्मक संकेत है ? यदि है तो क्या इस सांस्कृतिक आदर्श का किसी

और भाषा या संस्कृति से टकराव हो सकता है ? यदि हो सकता है तो कौन-सी भाषा को किस दिशा में विकास की अपेक्षा है और वह विकास कैसे हो ? ये सारे प्रश्न भारत और इंग्लैंड के सांस्कृतिक टकराव के संदर्भ में किए गए हैं और अंग्रेजी और भारतीय भाषाओं के तथाकथित अंतर को सामने रखकर आज की आवश्यकताओं के अनुसार भारतीय भाषाओं, विशेषकर हिंदी के विकास के संबंध में किए गए हैं ।

मनुष्य की चेतना अपने भीतर और बाहर के संसार में घूमती-घूमती अपने विचारों, इच्छाओं और भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए भाषा की खोज में लगी रहती है और अपनी परंपरागत भाषा का पुनरावर्तन या प्रवर्तन करती रहती है । किसी भी परिवेश और परंपरा में जो भी भाषा हो वही वहां के समाज के लिए पर्याप्त होती है । प्रारंभ में तो संकेत और कतिपय शब्दों के मेल से ही काम चल सकता है । उदाहरणार्थ, कोई यह कहके काम चला सकता है कि 'इसे वहां रख दो' । दूसरा शायद यह कहे कि 'इस कप को उठाकर उस मेज पर रख दो' । पहले व्यक्ति को संकेत के कारण कप और मेज कहने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी क्योंकि कहने वाला, सुनने वाला, कप और मेज सब पास ही थे । दूसरे को 'इस कप' और 'वहां मेज पर' कहने की आवश्यकता पड़ी । यदि वह बाहर बैठा होता और कप और मेज अंदर कहीं होते तो संकेत काम ही न देता । उसे अपनी बात संकेत के बिना केवल शब्दों में ही कहने की आवश्यकता होती । इसका अर्थ यह हुआ कि बोलने वालों का जितना निकट संपर्क होगा और छोटे परिवेश में संपर्क होगा उसी सीमा तक उनकी भाषा का उनकी सीमा के अंदर विकास होगा । किंतु उस विकास को उनके संदर्भ में कम या अधिक कहना उचित नहीं होगा क्योंकि वह भाषा उनके लिए पर्याप्त है । उनका जीवन-परिवेश, परंपरा और भाषा सब स्वयं-संपन्न हैं । कम या अधिक विकास तो सापेक्षता के संदर्भ में कहा जाएगा । 'इस' या 'उस' अथवा 'इस कप' और 'उस मेज' के स्थान पर 'चाय का कप', सेंटर टेबल और डाइनिंग टेबल तो वहां कहने की आवश्यकता होगी जहां वक्ता और श्रोता इन दोनों के बीच और वस्तु और स्थान-विशेष के बीच में अंतर है । यही अंतर, वक्ता, श्रोता और वस्तु-विशेष का नया या विस्तृत परिवेश है । इस विस्तृत परिवेश की भाषा निकट-संपर्क परिवेश की भाषा से अधिक विकसित कही जाएगी । किंतु थोड़े या अधिक शब्दों के कारण कोई भी भाषा छोटी या बड़ी, अच्छी या बुरी, विकसित या अविकसित अपने आपमें नहीं होती क्योंकि दोनों भाषाएं (परिमित और अपरिमित) अपने-अपने क्षेत्र या परिवेश में अपने-अपने समाज के अनुरूप पूरा काम करती है । भाषा का काम है अभिव्यक्ति और संचार । यह काम जो भी भाषा जितने भी शब्दों से कर ले वही अपने आप में विकसित होती है और वही अपने परिवेश और समाज की आवश्यकताओं के साथ-साथ घटती-बढ़ती है । उदाहरणार्थ, दुनिया में कई भाषाएं ऐसी हैं जहां रंगों के तीन ही नाम हैं, साइंस में सात नाम हैं । रंगों के विषय में कहीं पर तीन शब्दों से और कहीं पर सात शब्दों से काम चलता है । कहीं पर सैकड़ों रंगों का चार्ट ही सामने आ जाता है और केवल संकेत या संख्या से काम लिया जाता है और इन सैकड़ों के बावजूद भी मियां-बीवी में झगड़ा रहता है । कौन-सी

भाषा विकसित है और क्यों और किसलिए ? यह प्रश्न अनोखा और महत्त्वपूर्ण है ।

जब हम किसी भाषा को दूसरी भाषा की अपेक्षा विकसित या अधिक विकसित कहते हैं तो वास्तव में दोनों भाषा-भाषी समाजों की तुलना कर रहे होते हैं । किसी भी भाषा के अपेक्षाकृत विकसित होने का अर्थ यह होता है कि उसे बोलने वाले समाज की स्थिति, परिस्थिति, परिवेश, संस्कार, विचार, आशा, आकांक्षा, संक्रिया, प्रक्रिया, साधन, साध्य ये सब दूसरे समाज की अपेक्षा जटिल, विविध, संदिग्ध और वैयक्तिक होते हैं । सीधे-सादे समाज का काम लक्षणा से चल सकता है । यह सच है यह झूठ, यह अच्छा है यह बुरा, यह करो यह मत करो, ऐसा किया वैसा नहीं किया, यह करना चाहिए था वैसा नहीं करना चाहिए था, इत्यादि । टेढ़े समाज का टेढ़ा मान और टेढ़ी भाषा । जो कहना चाहिए वह कहता नहीं लेकिन कहना पड़ता है, इसलिए वही कहता है जो कहना नहीं है : जुनून में बकता है और चाहता है कि कुछ न समझे खुदा करे कोई । लक्षणा की अपेक्षा व्यंजना टेढ़ी होती है, उतनी ही संदिग्ध भी, उतनी ही विकसित भी ।

जब कोई समाज अपनी परंपरा में अपने संस्कारों के साथ अपने परिवेश में अपना जीवन जीता है या उसी परिवेश से जूझता है तो जीवन के अनुरूप अपनी परंपरागत भाषा बोलता है और उसी का विकास करता है । उसकी भाषा का विकास सहज ही उसके संस्कार, विचार, आशा, आदर्श, साधन और साध्य के अनुसार और अनुरूप होता चला जाता है । भाषा का विकास और निमार्ण ये दोनों एक ही होते हैं, विकास की अपेक्षा निर्माण की विशेष आवश्यकता महसूस नहीं होती । निर्माण की आवश्यकता वहां पर महसूस होती है जहां एक समाज का दूसरे से संपर्क होता है, संपर्क भी टकराव का रूप ले लेता है और एक समाज दूसरे पर प्रभुत्व जमा लेता है । प्रभुसत्ता-प्राप्त समाज ही यह कह सकता है कि तुम्हारी भाषा अविकसित है । इसका विकास होना चाहिए, यह वह कह भी सकता है और हो सकता है न भी कहे । हो सकता है वह अपनी राजसत्ता के साथ-साथ भाषाराज भी चलाना चाहे क्योंकि राज तो उसे अपनी ही परंपरा, साधन और साध्य के अनुसार चलाना है । भारत में पिछली कई शताब्दियों से ऐसा ही राज-समाज-टकराव होता रहा है । साथ-साथ भाषा-टकराव भी होता रहा है और उसी टकराव के कारण भाषा विकास/निर्माण की समस्या भी खड़ी हो गई या कर दी गई । आज की भारतीय भाषाओं के विकास की समस्या को समस्या के प्रारंभिक रूप से मिलाना आवश्यक है क्योंकि ऐसा करने से समाधान की दिशा में कुछ संकेत मिल सकते हैं ।

प्रारंभ में बंगाल की दीवानी या तत्पश्चात् राजसत्ता प्राप्त करने से पहले अंग्रेजी सत्ता का जब भारत में पदार्पण हुआ था तो उनका ध्येय केवल व्यापार करना था । उस समय उनका पलड़ा भारी नहीं था । हल्के पलड़े वाले को सामने वाले की भाषा, सभ्यता और शिष्टाचार का आदर करना ही पड़ता है । उस समय अंग्रेज व्यापारी तथा उनके कारिंदे भारतीय वेश-भूषा में हुक्के का सेवन भी करते थे और भारतीय भाषा बोलते थे या दुभाषिए के द्वारा बात करते थे । हर प्रकार से उन्हें भारत की भाषा, व्यापार-शैली और सामाजिक परिचर्या स्वीकार्य थी । ज्यों ही उनको राजसत्ता मिली और व्यापार से स्वर्णार्जन करना प्रारंभ किया उनका मानसिक दृष्टिकोण और भाषा

बदल गई । भारत था तो सोने की चिड़िया पर चिड़िया तो उनके कब्जे में आ गई थी । तोता पिंजड़े में होगा तो मालिक की भाषा बोलेगा । चार्ल्स ग्रांट के 1793 के संसद-प्रस्ताव से लेकर मकाले के प्रस्ताव 1835 तक एक ही रटंत : भारत में अंग्रेजी राज है तो अंग्रेजी भाषा क्यों नहीं ? हमने अपने चरित्र और बाजू के जोर से सत्ता प्राप्त की है । भारतवासी हमारे दास हैं । हम उनकी भाषा बोलें या वे हमारी ? यदि अंग्रेजी संसद् के अंग्रेजी पक्षीय और फ्रेंच विरोधी प्रस्ताव (1362) की भाषा का प्रयोग करें तो यह रटंत एक भयंकर षड्यंत्र का श्रीगणेश ही था । अंग्रेजी लागू कर दी गई, शिक्षा और शासन दोनों में । ऐसा लगता है अंग्रेजी पिला दी गई । पीने वाले पी गए और नशे में अपनी भाषा को भूले तो नहीं, वह तो चेतन और अचेतन दोनों में थी, अपितु उससे कट जरूर गए । 1947 में स्वतंत्रता-प्राप्ति के साथ हमें स्वतंत्रता के अनुरूप अपनी भाषा की आवश्यकता महसूस हुई । पूरी खींचातानी के बाद हिंदी को राजभाषा मान लिया गया और हिंदी और दूसरी भारतीय भाषाओं को राष्ट्रभाषा माना गया । आज तक हिंदी या कोई और भारतीय भाषा शिक्षा या शासन के क्षेत्र में पूर्ण रूप से प्रयोग नहीं की जा रही । कारण ? "भारतीय भाषा या भाषाएं विकसित नहीं हैं ।" उनका विकास/निर्माण किया जाना चाहिए । उनका विकास होने पर ही तो वे शासन और शिक्षा का माध्यम बनने के योग्य हो सकेंगी और योग्य होने पर ही वे प्रयोग में लाई जा सकती हैं । अन्यथा कैसे ?

चलते-चलते एक सवाल : कुछ समय पहले पंजाब सरकार ने दस दिन के भीतर शासन कार्य में पूर्ण रूप से पंजाबी को लागू करने पर गंभीर रूप से विचार किया था । प्रत्येक पंजाबी अधिकारी और नेता इस समस्या को लेकर हिल गया था और इससे जूझने लगा था । क्या पंजाब सरकार को विश्वास था कि वह दस दिन के भीतर प्रशासन की आवश्यकता के अनुसार पंजाबी का पूर्ण रूप से विकास/निर्माण कर लेगी ? अथवा क्या सरकार का विचार यह था कि भाषा चाहे पूर्ण रूप से विकसित न भी हो तो भी उसे प्रशासन-माध्यम बनाया जा सकता है ? क्या भारत की भाषा समस्या पंजाब शैली से ही सुलझेगी ? क्या आग लगने से पहले कुआं खोदने की संभावना है ? होनी चाहिए ?

भारतीय भाषा-विकास समस्या वास्तविक है या काल्पनिक ? इस प्रश्न पर दो प्रकार के दृष्टिकोण से विचार किया जा सकता है : एक सामयिक, दूसरा शाश्वत । शाश्वत दृष्टिकोण से तो प्रत्येक भाषा के विकास की समस्या वास्तविक है क्योंकि भाषा-विकास का अर्थ है चेतना का विकास और चेतना के विकास का अर्थ है व्यक्त के माध्यम से अव्यक्त की ओर बढ़ना, वह अव्यक्त जहां भाषा प्रकृति-पक्ष को लांघकर संपूर्णतया मौन में जाकर लीन हो जाती है । व्यक्त से अव्यक्त की ओर बढ़ने का रास्ता असीम है, इसलिए उस पर बढ़ते हुए भाषा कभी पूर्णतया विकसित होगी ही नहीं, वह विकासशील ही रहेगी और इसी कारण उसके विकास की समस्या सदा वास्तविक रहेगी । अतः विकास की समस्या पर हम शाश्वत दृष्टिकोण से केवल दार्शनिक स्तर पर विचार कर सकते हैं, किसी विशेष सामाजिक संदर्भ में नहीं । हमें तो अपनी परिस्थितियों के संदर्भ में ही अर्थात् सामयिक ऐतिहासिक दृष्टिकोण से ही विचार करना पड़ेगा ।

सामयिक, सामाजिक या ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विचार करें तो हम कह सकते है कि समस्या वास्तविक भी है और काल्पनिक भी । वास्तविक तो इसलिए कि पिछले दो सौ वर्ष से सरकारी कागजों में चलती आई है । दूसरा कारण यह है कि इस समस्या को अंग्रेजी के सापेक्ष करके देखा गया है । और काल्पनिक इसलिए कि 1362 की अविकसित अंग्रेजी के बारे में ही जब यह खड़ी नहीं हुई तो भारतीय भाषाओं के विषय में आज कैसे खड़ी हो गई ?

जब से भारत में अंग्रेजी को लागू करने का प्रस्ताव पास किया गया तभी से यह कहा गया कि भारत की भाषाएं अविकसित हैं । चार्ल्स ग्रांट ने तो उनको पराजित लोगों की जंगली बुड़बुड़ाहट ही कह डाला । अपने ढंग से वह ठीक था : संसार में सबसे बड़ा पाप है गरीबी, सबसे बड़ा अभिशाप गुलामी, सबसे बड़ी दुर्घटना पराजय । पराजित को विजयी जो कह दे वही चलता है । किंतु ग्रांट ने यह भी कहा कि यदि कुछ भारतीय अंग्रेजी पढ़ लें तो वे ही फिर अपनी भाषा के माध्यम से भारतीयों को पढ़ा सकेंगे । इसका अर्थ यह हुआ कि भारतीय शिक्षकों को द्विभाषी होना चाहिए था । भारतीय भाषाओं को सक्षम बनाने के लिए समय चाहिए था करीब पच्चीस वर्ष । चार्ल्स ग्रांट तो अंग्रेजी निर्यात में सफल न हो सके, उनके धर्मपुत्र (गॉडसन) मकाले सफल हुए । सारे भारत में अंग्रेजी भाषा और साहित्य के माध्यम से ईसाइयत फैलाने का समय उन्होंने माना 25-30 वर्ष । सारे भारत में सभी भाषाओं में बाइबल आसानी से छप सके और पढ़ी जा सके इसलिए उनके संबंधी चार्ल्स ट्रेवेल्यन ने 1837 में यह प्रयास किया कि भारतीय भाषाओं को एक ही लिपि में लिखा जा सके तो अच्छा हो । प्रयास अपने आपमें सराहनीय था पर सफल नहीं हुआ । मकाले महोदय ने भी यही कहा कि भारतीय भाषाएं तो भाषाएं ही नहीं हैं, पर उन्होंने भी उनके विकास पर बल दिया और लगभग पच्चीस वर्ष का समय उनके विकास के लिए पर्याप्त समझा । मकाले महोदय के पश्चात् बंगाल और महाराष्ट्र में बंगला तथा मराठी के माध्यम से पढ़ाने का प्रयास भी किया गया, लेकिन 1844 में सारी सरकारी नौकरियां केवल अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों के लिए ही रख दी गईं, इसलिए अंग्रेजी एक व्यवसाय-भाषा बन गई और सारी भारतीय भाषाएं अपना रहा-सहा वर्चस्व भी खो बैठीं । 1854 के चार्ल्स वुड के शिक्षा-प्रस्ताव के अनुसार भी भारतीय भाषाएं विकसित नहीं थीं और उनके विकास के लिए वही पच्चीस वर्ष के समय का सुझाव दिया गया था । विस्तार से हम पहले ही बहुत कुछ लिख चुके हैं । प्रारंभ से लेकर आज तक 1882, 1901-2, 1917-19, 1927-28, 1948-64, 1983 और 1986 तक सरकार, सभी आयोग, अधिकारी, प्रख्यात शिक्षक यही कहते रहे कि भारतीय भाषाएं विकसित नहीं हैं, उन्हें विकसित करके शिक्षा और शासन का माध्यम बना देना चाहिए और उनके विकास के लिए समय चाहिए । समय कितना ? गांधी ने कहा, केवल एक वर्ष । विधान में कहा गया, पंद्रह वर्ष । 1964 के शिक्षा आयोग ने कहा, दस वर्ष । दो सौ वर्ष हो गए पर 25, 15 और 10 वर्ष पूरे नहीं हुए । अतः यदि फाइलों को देखा जाए तो समस्या वास्तविक है ।

भारतीय भाषाएं यदि विकसित नहीं हैं तो क्यों ? प्रारंभ में जिन लोगों ने भारतीय भाषाओं को अविकसित कहा था वे भारतीय भाषाएं तो जानते ही नहीं थे । उनके बारे में उन्होंने या तो

कुछ ईसाई मिशनरियों से सुना था या कुछ अफसरों की रिपोर्टों से सुनी-सुनाई बातों पर विश्वास कर लिया था । चार्ल्स ग्रांट भारत में कई वर्ष रहे थे और उनका संपर्क मिशनरी होने के नाते अधिकतर पिछड़े लोगों से ही था । लार्ड मकाले का संपर्क भी अंग्रेज अफसरों से ही था । इनके अतिरिक्त चाहे हंटर महोदय हों, चाहे कर्ज़न, चाहे रैले, चाहे लार्ड साइमन या फिर फिलिप हार्टोग, सबका संपर्क भारतीय भाषा या साहित्य से सीधे रूप में नहीं था और रिपोर्टों से छंटा हुआ केवल वही और उतना ही ज्ञात होता था जितना कि रिपोर्टर देना चाहता था । इसके अतिरिक्त भारतीय समाज से उनका यदि कोई सीधा संपर्क हो पाता था तो यहां की देवी-देवताओं की लकड़ी-पत्थर की मूर्तियों के संबंध में, जाति-बिरादरी का घिनौना, बिगड़ा हुआ रूप, छुआछूत, हिंदू-मुसलमान के बीच की दीवार, सती-प्रथा, देवदासी के रूप में व्यभिचार, अंधविश्वास, जादू-टोना इत्यादि और इन्हीं के बारे में बढ़ी-चढ़ी रिपोर्टें । शासन-सत्ता से संपन्न अंग्रेज अधिकारी अपनी शक्ति को मनस्विता का मानक मान बैठा और भारत, उसके धर्म, परंपरा, साहित्य भाषा इत्यादि के बारे में एकतरफा निर्णय दे बैठा । उस निर्णय को चुनौती देने के लिए उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध में दयानन्द, विवेकानन्द, कांग्रेस इत्यादि व्यक्ति और संस्थाएं खड़े तो हुए, पर उनसे पहले प्रारंभ में तो कोई शक्ति थी ही नहीं और अंग्रेज शासन ने जिन तथ्यों के आधार पर भारत को पिछड़ा सड़ियल समाज कहा था वे तथ्य तो उन्हीं के मत का समर्थन कर रहे थे । समाज, परंपरा, साहित्य, भाषा, ये एक ही सामूहिक और संपन्न जीवन का अंग तो होते हैं । पिछड़े समाज का धर्म, साहित्य, भाषा परंपरा सभी कुछ तो पिछड़ा हुआ दीखा । इस समाज या भाषा के पुनरुद्धार की उनको क्या आवश्यकता थी । यदि उन्होंने पुनरुद्धार की बात की भी तो अपने ढंग से : धर्म का पुनरुद्धार ईसाइयत, भाषा का पुनरुद्धार अंग्रेजी, राष्ट्र का पुनरुद्धार कॉमनवेल्थ की सदस्यता, बेहतर ब्रिटिश साम्राज्य की सदस्यता, सभ्यता का पुनरुद्धार अंग्रेजी शिक्षा और शिष्टाचार, मान्यताओं का पुनरुद्धार पश्चिमीय मूल्य —यहीं गलती खा गए क्योंकि स्वतंत्रता की मांग इन्हीं पश्चिमी मूल्यों का अंग तो थी ।

वास्तव में भारत की भाषाएं भारतीय परिवेश में जन्मीं और पनपी थीं । यहां पर चेतन और परिवेश (प्रकृति) का संबंध पुत्र और मां का था । हमने प्रकृति को, शक्ति को मां माना था और शिव और शक्ति दोनों की आराधना की थी । मां की आराधना आशीर्वाद के लिए की जाती है और प्रसाद का एक कण भी बहुत होता है क्योंकि उसका मूल्य आध्यात्मिक रूप में आंका जाता है न कि भौतिक रूप में । हमारे परिवेश में मां प्रकृति की आराधना न प्रेयसी के रूप में की गई न जेय के रुप में । हम मां की गोद में रहते-रहते अध्यात्म और अधिदैव की गहराइयों में उतरते चले गए । अधिभूत के क्षेत्र में रहे तो पर केवल भोग के साथ अपवर्ग को रखते हुए, लौकिक सुख और पारलौकिक आनंद दोनों का संतुलन रखते हुए । इस आध्यात्मिक, मनोवैज्ञानिक और भौतिक साहित्य की भाषा हमारे पास थी तो, पर वह वैदिक काल के बाद दब गई थी और दबी ही पड़ी रही । बुद्ध का जीवन-प्रवाह, जैनों का साम्यवादी विज्ञान और आत्मविश्वास, शंकर का ब्रह्म और माया का समन्वय, अशोक की अहिंसा और गुप्तों का वैभव यह सब तो मध्यकालीन पराजयों

में ध्वस्त हो गया था और पंडितों की पोथी के पन्नों के साथ गल गया था । ऐसी जर्जर अवस्था में समाज का एक अंग कटकर अलग हो गया जिसने घर तो यहां बनाया पर मंदिर बाहर, जर्जरित समाज भी भग्नावस्था में । ऐसी अवस्था में यदि अंग्रेजी सत्ता के साथ अंग्रेजी भाषा और साहित्य का जीवन-संदेश मिला तो संजीवनीपरक ही था । डूबते को तिनके का सहारा ! डूबने वाले तो चले गए, जिन्हें तिनके मिल गए वे तैर गए और बच गए । इन्हीं तैरने वालों का एक वर्ग खड़ा करने का षड्यंत्र मकाले और उनके साथियों ने बनाया था । वह वर्ग भी बन गया । अंग्रेजी भाषा और सत्ता एक नया संदेश लेकर आई थी, वह संदेश इस वर्ग में घर कर गया ।

वह संदेश क्या था ? अध्यात्म का नहीं था । अध्यात्म तो इतिहास के थपेड़े खाकर अकर्मण्यता में बदल चुका था । उधर से ईसाइयत के माध्यम से कोई अध्यात्म का संदेश भी आया तो वह अध्यात्म भी कर्मनिष्ठ था, ब्रिटिश साम्राज्य के संदेश जैसा । वास्तविक संदेश तो कर्मठता का था पर भारत के लिए इस कर्मठता की दिशा थी ब्रिटिश सेवा । सामयिक दिशा कोई भी हो, आधारभूत संदेश तो प्रकृति से संघर्ष का ही था । पश्चिम में प्रकृति भयावह रूप में प्रकट होती है और जीने के लिए उससे संघर्ष करना पड़ता है । वहां प्रकृति की साधना वैयक्तिक और सामूहिक रूप में न मां के रूप में की गई, न प्रेयसी के रूप में (बसंत को छोड़कर), बल्कि जेय के रूप में की गई । इसलिए उनकी सबसे बड़ी उपलब्धि वेदांत नहीं, साइंस है । साइंस के साथ टेक्नोलजी और सत्ता शक्ति । तत्पश्चात युद्ध और साम्राज्यवाद, वैयक्तिक युद्ध समाज के साथ अपने अधिकारों के लिए, वर्गयुद्ध संघशक्ति के लिए और राष्ट्रीय युद्ध साम्राज्य के लिए और यह सब लौकिक सुखभोग के लिए । परलोक या अपवर्ग ? पश्चिम में पुनर्जन्म तो होता ही नहीं । यह विचारने की बात है कि लोक-परलोक का संतुलन, भोगापवर्ग का संतुलन, यह सब पुनर्जन्म के विश्वास के साथ बंधा होता है, अन्यथा कल किसने देखा ? अंग्रेजी से जो भाषा, सभ्यता और संस्कृति मिली वह कर्मठता, सत्ता, शक्ति, लोक, भोग और राज-व्यवस्था का संदेश लेकर आई । यह सब उस समय की चेतना और भाषा में था नहीं । भारतीय भाषाएं पिछड़ी हुई तो थीं ही ।

आज का अंग्रेजीविद् समाज भारत के ठेठ देसी समाज से काफी हद तक कट गया है । शहर-निवासी, सरकार-सेवी, राजनीति-खिलाड़ी, राजनायक यह समाज भारत के अशिक्षित, ग्रामीण, गरीब, बेरोजगार, सगंध समाज से कटा हुआ है लेकिन फिर भी उस विशाल जनसमूह का नेतृत्व करता है । भारतीय भाषाओं का पक्षधर समाज भी कुछ कारणों से उनका पक्षधर है । कई लोग भारतीय भाषाओं के माध्यम से अपनी जीविका चलाते हैं । मात्र व्यवसाय ही यदि हिंदी या किसी और भाषा के पक्ष में दलील हो तो उसका बल कम हो जाता है । बहुत सारे लोग जो भारतीय भाषाओं का बुद्धिपरक पक्ष लेते हैं वे संस्कार रूप से अंग्रेजी सभ्यता के अनुयायी हैं । ऐसे लोग कम हैं जो बुद्धि और संस्कार दोनों से भारतीय भाषाओं के प्रेमी हैं । अंग्रेजीविद् समाज आम तौर पर भारतीय भाषाओं से अधिक जानकारी नहीं रखता । कितने ही सरकारी और गैरसरकारी संस्थान भारतीय भाषाओं के क्षेत्र में काम कर रहे हैं । किंतु अंग्रेजी और भारतीय

भाषाओं के पक्षधरों के बीच अधिक आदान-प्रदान नहीं है। परिणाम यह होता है कि भारतीय भाषाओं को आज भी उतना ही अविकसित कह दिया जाता है जितना बीसवीं शती के प्रारंभ में या 1947 के आस-पास। किंतु हम सभी को यह ज्ञात होना चाहिए कि परंपरा और परिस्थितियों के बीच नई चेतना के अनुरूप भारतीय भाषाओं का विकास होता रहा है। अंग्रेजी भाषा, साहित्य, विज्ञान, टेक्नोलजी और पाश्चात्य सामाजिक चेतना हमारी नई परिस्थितियों का अत्यंत महत्त्वपूर्ण अंग हैं और भारतीय भाषाओं और भारतीय मानस् ने इनके योगदान को स्वीकारा है। परिणाम-स्वरूप भारतीय भाषाओं का विकास हुआ है। भाषा-निर्माण और भाषा-प्रयोग इस विकास के महत्वपूर्ण आयाम रहे हैं।

विकसित भाषा किसको कहेंगे ? जो परिवेश और नई चेतना के अनुरूप अपनी संचार-भूमिका को समाज के नवीन संदर्भ में भली भांति निभा सके। क्या भारतीय भाषाएं इस भूमिका के लिए सक्षम हैं ? इस प्रश्न का उत्तर देने से पहले या तो हमें भारतीय भाषाओं की तैयारी का पिछले दो सौ वर्ष का इतिहास देखना चाहिए, या अंग्रेजी के राजभाषा बनने से पूर्व समय की अंग्रेजी की ही स्थिति को देखना चाहिए। दो सौ वर्ष के इतिहास के दौरान भारतीय भाषाओं को सक्षम बनाने के संकल्प-विकल्पों का अध्ययन हम कर चुके। यदि दो सौ वर्ष में इन भाषाओं को सक्षम नहीं बना पाए तो अब क्या बनाएंगे ? तो क्या भारतीय भाषाएं शासन और शिक्षा में माध्यम के रूप में आ ही नहीं पाएंगी ? आना चाहिए और बिना विलंब के आना चाहिए। मात्र एक संकल्प की आवश्यकता है। इंग्लैंड और अंग्रेजी के इतिहास को देखते हुए हम यह संकल्प कर सकते हैं, कर सकते थे, 1947 में ही।

किसी भाषा का सक्षम होना उसके प्रयोग से संबंध रखता है। संदर्भ में भाषा का प्रयोग होता है और संदर्भ से पहले भाषा का तैयार होना न तो आवश्यक है न संभव। यदि ऐसा होता तो भाषा की एक प्रयोगशाला बनाने की आवश्यकता पड़ती। ऐसी प्रयोगशाला न बन सकती है न बनाई जाती है। वास्तव में भाषा के निर्माण की यदि कोई प्रयोगशाला है तो वह है वास्तविक जीवन जिसमें भाषा-भाषी उसका प्रयोग करते हैं। भाषा की कृत्रिम प्रयोगशाला बन ही नहीं सकती क्योंकि जीवन के समकक्ष कोई प्रयोगशाला होती ही नहीं। अतः महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह नहीं है कि भाषा सक्षम है या नहीं, प्रश्न यह है कि भाषा सक्षम कैसे बनती है ? एक स्वतंत्र राष्ट्र होने के नाते हमारा दायित्व है कि हम उदासीनता या चपलतावश सक्षम शब्द के साथ न खेलें बल्कि अपनी भाषाओं को जीवन रूपी प्रयोगशाला में लाकर उनका विकास करें और होने दें। भाषा कभी भी दवा की तरह वैज्ञानिक प्रयोगशाला में तैयार नहीं की जाती। न ही वह किसी पूर्ववर्ती समस्या का समाधान होती है। भाषा क्षेत्र में तो समस्या और समाधान समवर्ती होते हैं। जैसे-जैसे नए-नए आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, वैधानिक, शैक्षणिक या अनुसंधानपरक अवसर अस्तित्व में आते हैं उनकी परिभाषा साथ-साथ करनी पड़ती है। जैसे-जैसे भाषा संबंधी समस्याएं खड़ी होती हैं उनका समाधान (शब्दरूपी) तत्काल खोजा जाता है। कोई भी भाषा पूर्णतया सक्षम न है, न होगी, न हो सकती है क्योंकि भाषा-संदर्भ और जीवन समस्याओं का अंत संभव है ही नहीं। यदि भाषा की

आवश्यकताओं और अपेक्षाओं का अंत नहीं है तो भाषा कभी भी संपूर्ण कैसे हो सकती है ? सक्षमता और सफलता का मंत्र केवल एक है : प्रयोग। भाषा का निर्माता केवल प्रयोगकर्ता है—चाहे वह संसद् भवन में हो, चाहे विश्वविद्यालय में, चाहे सब्जी बाजार में।

अंग्रेजी को राजभाषा बनाने का प्रस्ताव जब अक्तूबर 1362 में किया गया था तो यह प्रश्न नहीं उठाया गया था कि अंग्रेजी सक्षम है या नहीं। अंग्रेजी लागू भी कर दी गई थी जनवरी 1363 से। तीन मास के अंदर भाषा का विकास न किया जा सकता था, न किया गया। उस समय अंग्रेजी जनसाधारण की भाषा थी और जनसाधारण जीवन की आवश्यकताओं से जूझता है, उसके लावण्य से खेलता नहीं। उसी जनसाधारण के लिए उसी की भाषा को राजभाषा बना दिया गया। जब प्रशासन संबंधी समस्याएं ही उनकी थीं तो भाषा उनकी क्यों नहीं ? यह आश्चर्य की बात नहीं है क्या कि उस समय और आज तक की अंग्रेजी में भोजन के संबंध में ब्रेड और बटर के अतिरिक्त कोई शब्द देसी है ही नहीं, सब बाहर के हैं। जैसे-जैसे व्यंजन अंग्रेजी जीवन में आए, उनसे संबद्ध शब्द भी आते गए। यही स्थिति शिक्षा और शासन संबंधी शब्दों की है। उस समय अंग्रेजी का उच्चारण और स्पेलिंग दोनों ही अनिश्चित थे। एक-एक शब्द के कई उच्चारण और कई स्पेलिंग थे। जैसे शब्द लिखा जाता था वैसे बोला भी नहीं जाता था। उच्चारण, स्पेलिंग, व्याकरण, शब्दावली सबके सब कई सौ वर्ष तक विकसित होकर स्टैंडर्ड की ओर चलते गए। 1363 के बाद शेक्सपियर और मिल्टन के बावजूद 1700 तक अंग्रेजी को अविकसित ही समझा जाता रहा। रिनेसां और सत्तरहवीं-अठारहवीं शती में नई-नई आवश्यकताओं के अनुसार शब्दावली इत्यादि का निर्माण किया जाता रहा। वास्तव में आज भी अंग्रेजी का विकास हो रहा है क्योंकि जो नये विचार, समस्या प्रक्रिया, तथ्य, तत्त्व, वस्तु, यंत्र इत्यादि आज अस्तित्व में आ रहे हैं वे पहले थे ही नहीं। जब विषय-वस्तु ही नहीं थी तो शब्द कहां से आता ? इसी प्रकार यदि भारतीय भाषाओं का प्रयोग शिक्षा, अनुसंधान और शासन के क्षेत्र में किया जाए तो आवश्यकतानुसार भाषा भी बनती चली जाएगी। भाषा सक्षम है, उसके विकास का माध्यम है प्रयोग, और प्रयोग का मुहूर्त है आज और अभी। प्रयोग में आने के बाद भाषा अपना रास्ता स्वयं बनाएगी, चाहे हिंदी हो या कोई और भारतीय भाषा।

इंग्लैंड में जैसे ही अंग्रेजी राजभाषा बनी, फ्रेंच का राजप्रभुत्व समाप्त हो गया और सारा ब्रिटिश समाज, चाहे कोई ब्रिटेन में जन्मा हो, चाहे बाहर से आया हो, मानो एक भाषा-भाषी परिवार बन गया। एक भाषा बोलने का वास्तविक और व्यावहारिक अर्थ है संवाद और संचार। संवाद और संचार यदि सुचारु रूप से होता है तो मानसिक अर्थात् भावात्मक एकता भी आ जाती है और समूचा राष्ट्र एक हो जाता है। भारत में भी पूर्ण एकता केवल संवाद और संचार-माध्यम से ही आएगी और वह संवाद-संचार अंग्रेजी के माध्यम से नहीं होगा, केवल भारतीय भाषाओं के माध्यम से होगा। अंग्रेजी के माध्यम से देश एक प्रशासनिक इकाई तो बन गया, पर उसका सामाजिक विभाजन हो गया। जनता और राष्ट्र की एकता के लिए जनसंवाद और जनसंचार को ही अपनाना होगा। वह जितना शीघ्र हो सके उतना ही अच्छा रहेगा।

34
भाषा और संचेतस् : जागो तभी सवेरा

सावित्री महाकाव्य के प्रारंभ में श्रीअरविंद लिखते हैं—'इट वाज़ द अवर बफोर द गाड्ज अवेक' । अंग्रेजी के इन साधारण शब्दों में श्रीअरविंद ने ब्राह्म मुहूर्त की अभिव्यक्ति की है । यदि हमारे संस्कार प्राकृत और मौलिक हैं तो हम कोई भी भाषा अपना लें संस्कार अपने लिए स्वयं शब्द चुन लेंगे । श्रीअरविन्द, रवीन्द्र ठाकुर, सरोजिनी नायडू इत्यादि के संस्कारों और विचारों ने अंग्रेजी भाषा को अपनी सहचरी का रूप दे दिया और वे इन शब्दों से वैसे ही खेले जैसे मां सरस्वती के बगीचे में बच्चे खेलते हैं ।

भारत की स्वतंत्रता का उदय 15 अगस्त 1947 को ब्राह्म मुहूर्त में हुआ था । हमारे सेनानी उस रात सोए नहीं थे क्योंकि उन्हें स्वतंत्रता की उषा का स्वागत करना था । इसीलिए नेहरू जी ने अपने स्वातंत्र्य वक्तव्य को नाम दिया नियति से भेंट । उन्होंने भरे सदन के सामने तालियों की गड़गड़ाहट में कहा कि सदियों से सोई देश की आत्मा आज जागी है, और जागी है तो बोलेगी भी । भारत की स्वतंत्रता बोलेगी तो शब्द भी स्वयं चुनेगी । किंतु नेहरू जी की चेतना उनकी संचेतना पर हावी हो चुकी थी । उनकी अंग्रेजी शिक्षा और भाषा ने उनके संस्कारों को अपने रंग में रंग दिया था । श्रीअरविंद और रवीन्द्र ठाकुर का चिंतन मौलिक रूप में भारतीय था, उनकी भाषा अंग्रेजी थी । नेहरू जी का चिंतन और भाषा दोनों अंग्रेजी थे । नेहरूजी की 'नियति से भेंट' भारतीय अंग्रेजी के उत्कृष्ट उदाहरणों में से एक है । वह हमारे हृदय को छूती भी है किंतु जन-गण-मन या रवीन्द्र की स्वतंत्रता नीराजना की तरह हृदय की गहराइयों में नहीं उतरती ।

जब कोई देश स्वतंत्र होता है तो अपना स्वत्व वापस लेता है और उसी को अपनी पहचान बनाता है । हमारा स्वत्व है हमारी आत्मा, हमारे संस्कार, जो मन, वचन और कर्म में अभिव्यक्त होते हैं । राष्ट्रीय स्तर पर वह स्वत्व है संस्कृति, उसका सामाजिक रूप है सभ्यता, उसकी अभिव्यक्ति है भाषा । इतिहास हमारे स्वत्व का, हमारी संस्कृति, सभ्यता और भाषा का प्रवाह है । परंपरा हमारे इतिहास का सूत्र है । हम स्वत्व की खोज करते हैं तो भाषा, सभ्यता, संस्कृति और परंपरा के द्वारा करते है ।

फिलिपीन देश ने स्वतंत्रता प्राप्त की तो अपने स्वत्व को पहचाना । पराधीनता के समय में वहां अंग्रेजी वैसे ही छाई हुई थी जैसे भारत में । फिलिपीन की जनता और वहां के प्रबुद्ध वर्ग ने स्वतंत्र होने पर सबसे पहले यह सोचा कि अंग्रेजी और अंग्रेजियत को कैसे बाहर निकाला जाए । वहां 1989 में फिलिपीन विश्वविद्यालय की केंद्रीय संचालन समिति ने यह घोषणा कर दी

कि फिलिपीन भाषा को शिक्षा माध्यम बनाया जाएगा । वहां की जनता एवं प्रबुद्ध वर्ग समझ गए कि अंग्रेजी के रहते देश की मानसिकता नहीं बदलेगी और परिणामस्वरूप जनता और शिक्षित वर्ग के बीच की खाई बढ़ती चली जाएगी । राष्ट्र की पहचान है अपनी संस्कृति, सभ्यता और भाषा ।

हमने यह माना अवश्य था कि स्वतंत्र भारत की भाषा अंग्रेजी नहीं होगी । गांधी जी तो शिक्षा और शासन के क्षेत्र में एक दिन में ही परिवर्तन कर देने के पक्ष में थे । नेहरू जी ने भी कई बार ऐसा ही कहा था । इन दोनों महान नेताओं ने अंग्रेजी का विकल्प भी सुझाया था । विकल्प था हिंदी । हिंदुस्तानी । हिंदुस्तानी शब्द केवल गांधी जी का ही दिया हुआ नहीं था, यह शब्द अंग्रेजी काल से ही चला आ रहा था । स्वतंत्रता-प्राप्ति के समय देवनागरी लिपि में हिंदी को देश की राजभाषा माना गया था और अंग्रेजी से हिन्दी में फेरबदल के लिए 15 वर्ष का समय नियत किया गया था । उस समय देश की चौदह भाषाओं को राष्ट्रभाषा माना गया था जो संख्या बढ़कर आज 18 हो गई है । देश के विद्वानों और बुद्धिजीवियों ने भी हिंदी एवं क्षेत्रीय भाषाओं का समर्थन किया था । डा० राधाकृष्णन्, डा० आयंगर, डा० दौलत सिंह कोठारी एवं समय-समय पर देश की शिक्षा-नीति के कर्णधारों ने अंग्रेजी का विरोध किया था और देश की अपनी भाषा/भाषाओं के माध्यम से शिक्षा देने का समर्थन किया था । सभी ने यह सिफारिश भी की थी कि दस या पंद्रह वर्ष के समय में अंग्रेजी को शिक्षा और शासन माध्यम रूप में समाप्त कर दिया जाए और उसके स्थान पर हिंदी तथा क्षेत्रीय भाषाओं को लागू कर दिया जाए । 1947 से लेकर 1968 तक उन्नीस वर्ष के समय में हम केवल यह कर पाए कि ब्राह्ममुहूर्त के सत्यनिष्ठ भाषा दर्शन को भूल गए और भाषायी और क्षेत्रीय राजनीति के पचड़ों में पड़कर दो सौ वर्ष पीछे चले गए । आज अंग्रेजी हिंदी की सहचरी राजभाषा है और रहेगी जब तक कि विभिन्न क्षेत्र उसे चलते रहने देने के इच्छुक हों ।

स्वतंत्रता काल के प्रारंभ से ही हमारे चिंतन में विकृति आ गई थी । हमारे पहले ही विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग ने पूर्ण उत्साह के साथ अंग्रेजी का विरोध किया था । उन्होंने कहा था कि अंग्रेजी भाषा हमारे जनतंत्र की अवहेलना है और इसलिए वह भारत की सिरमौर भाषा नहीं रह सकती । किंतु थोड़ी देर बाद ही उन्होंने क्षेत्रीय हितों के प्रश्न उठाकर हिंदी को क्षेत्रीय भाषा मान लिया और उसके अहिंदी-भाषी क्षेत्र के लिए अहितकर होने का प्रश्न उठा दिया । परिणामस्वरूप अंग्रेजी वहीं की वहीं रह गई और 'कमता में समता' का प्रतीक बन गई । वास्तव में भाषायी राजनीति शिक्षा और शासन संबंधी प्रश्नों के साथ इस तरह से उलझ गई है कि सभी सामाजिक, सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक तथ्य राजनीति की धूप में फीके पड़ गए है । सवेरे की ताजगी सवेरे ही धूसरित हो गई । हमारी शिक्षा-यात्रा मातृभाषा से प्रारंभ होकर अंत में अंग्रेजी के द्वार पर समाप्त हो जाती है । हम अंकल-आंटी संबंध, अंग्रेजी वेशभूषा और स्टार कल्चर को संस्कृति मानने लगे हैं । हमारे भाषायी चिंतन का केंद्रबिंदु मात्र अंग्रेजी बन गई । हमारा गंभीर प्रश्न है । क्या अंग्रेजी के बिना हमारा काम चल सकेगा ?

अंग्रेजी के चक्र को देखकर कई बार हमारे देश के महानतम नेता हमारा आह्वान करते हैं कि जागो और सोचो कि तुम कौन हो और कहां हो ! महामहिम ज्ञानी जैलसिंह जी ने एक बार

दिल्ली विश्वविद्यालय में नौजवानों का उद्‌बोधन इस प्रकार किया : "मैं समझता हूं कि केवल राजनीतिक आजादी ही पूरी आजादी नहीं है, हमें मानसिक तौर पर भी आजाद होना है । इस मानसिक आजादी को हासिल करने के लिए हमें अंग्रेजी भाषा का सहारा छोड़कर अपनी भाषाओं को आगे बढ़ाना है । गांधी जी कहते थे कि कोई भी देश सच्चे अर्थों में तब तक स्वतंत्र नहीं है जब तक वह अपनी भाषा में नहीं बोलता । इसलिए जरूरी है कि हम अपने कामों में और जहां तक हो सके विदेशों में भी हिंदी का अधिक से अधिक प्रयोग करें । संसार के सभी उन्नत देशों की अपनी राजभाषाएं हैं और वे अपने देश की प्रगति के साथ अपनी भाषाओं का भी विकास करते हैं ।" ज्ञानी जी ने अपने स्वतंत्रता-संग्राम की भाषा को याद किया और कहा कि : "मेरे कानों में आज भी गूंज उठती है वे आवाजें जो चाहे जवाहरलाल नेहरू की थीं या महात्मा गांधी की थीं । इसी भाषा के द्वारा[1] उन्होंने सारे देश को अंग्रेजों के खिलाफ लड़ने के लिए तैयार किया था ।"

मानसिक स्वतंत्रता की समस्या प्रखर रूप में उभरकर अभी चुनौती के रूप में हमारे सामने नहीं आई है । एक अनुभवी शिक्षाविद् समाजशास्त्री का कहना है कि हमारा शीश (अर्थात् मस्तिष्क) गिरवी रखा हुआ है,[2] हम अपना स्वतंत्र चिंतन खो बैठे हैं । कई चिंतनशील मित्र इस अवस्था को स्मृतिभ्रंश, चित्तसंकर तथा मनोविकार का नाम देते हैं । चिंतन-विकार के कारण हमारे सांस्कृतिक ऐतिहासिक, आर्थिक, सामाजिक और यहां तक कि धार्मिक मानक और प्रारूप भी बदल गए हैं—हमारी बहुत-सी मान्यताएं या तो टूट गई हैं या संदिग्ध हो गई हैं । अंग्रेजी के ही संबंध में देखिए । एक सज्जन जो राजस्थान के एक छोटे-से गांव में जन्मे और गांव के स्कूल में ही अपनी बोली के माध्यम से पढ़े, अंग्रेजी पढ़ने शहर में आए तो अंग्रेजी के माध्यम से मानो उनके मन और बुद्धि के जाले उतर गए और वे अद्‌भुत प्रकाश के सूर्यमंडल में हिलोर लेने लगे । किंतु आगे चलकर ऐसा लगा मानो उनका अंतरात्मा, जिस पर गांव के जनमानस के संस्कार अंकित थे, अंग्रेजी दृष्टिकोण और पांच सितारा संस्कृति से मेल नहीं खाता । वे अंग्रेजी में लिखने भी लगे थे, किंतु आंतरिक द्वंद्व के कारण अंग्रेजी में उनके कृतित्व का मानो ग्रहण लग गया अथवा वे एक चट्टान के साथ टकराकर खड़े हो गए । यह कहकर फिर वे ही कहते हैं कि अंततोगत्वा भाषा-समस्या को इतने सीधे तौर पर नहीं समझा जा सकता कि हम अंग्रेजी को अपनाएं या हिंदी/क्षेत्रीय भाषाओं को; क्योंकि अंग्रेजी हमारे लिए सदा एक आवश्यक दूसरी भाषा के रूप में रहेगी । यह समझ लेने पर ही शायद हम अपने इतिहास के अंतर्विरोधों को कृतित्व शक्ति में परिणत कर पाएं ।[3] अंग्रेजी में लिखें तो चट्टान से टकराएं, न लिखें तो रास्ता नहीं मिलता । हम सांप और छछूंदर वाली स्थिति में हैं । न अपना सकते हैं, न छोड़ सकते हैं, एक भयंकर संशयात्मक स्थिति में किंकर्तव्यविमूढ़ खड़े हैं ।

1. विश्वविद्यालयों में हिंदी का प्रयोग—समस्याएँ और समाधान', संपादक डा० प्रशांत वेदालंकार (विनीता प्रकाशन दिल्ली, 1991), पृ० 10, 11, 12
2. डा० गिंगराडे, वही, पृ० 78
3. न०ब० मीणा, 'इंग्लिश एंड इंडियन कल्चर', 'इंग्लिश इन इंडिया', संपादक आर०एस० गुप्त एवं कपिल कपूर (एकेडेमिक फाउंडेशन, दिल्ली, 1991), पृ० 8, 104

यह आवश्यक तो नहीं कि यदि हमने अंग्रेजी भाषा को पढ़ा तो हम अपने धर्म और संस्कृति से कट जाएं । दलाई लामा और उनके साथी तिब्बत से भारत आए तो उन्होंने अंग्रेजी का गंभीर अध्ययन किया । किंतु उनके धर्म, संस्कृति और चिंतन की शैली में कोई विकृति नहीं आई । स्वयं नेहरू जी ने 'भारत एक खोज' में धर्म और संस्कृति के बारे में जो लिखा है उसे आज के वातावरण में पढ़कर आश्चर्य होता है । वे कहते हैं कि प्राचीन भारतीय संस्कृति का केंद्रबिंदु था धर्म जो किसी भी मजहब या मंतव्य-विशेष से बड़ा था । धर्म का मतलब था कर्तव्य और दूसरों के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करना । धर्म स्वयं ऋत का अंग था और ऋत का अर्थ समस्त जगत् और जो कुछ इसमें है उसके संचलन का आधारभूत नियम । यदि कोई ऐसा नियम इस जगत् का है तो मनुष्य का केवल यह कर्तव्य रह जाता है कि उस नियम में अपनी स्थिति कर ले, कर्म करे और उसी नियम के नियंत्रण में रहे । यदि मनुष्य अपना कर्म करे और अपने कर्म में सत्य का पालन करे तो फल तो अवश्य मिलेगा ही । प्राचीन काल में अधिकारों पर बल नहीं दिया गया था, करीब-करीब यही दृष्टिकोण अपनाया गया था । यह दृष्टिकोण आज के दृष्टिकोण से सर्वथा भिन्न था क्योंकि आज तो अधिकारों पर बल है—व्यक्ति, वर्ग और राष्ट्रों के अधिकार ।[4]

अपने अंग्रेजी शब्दों में नेहरूजी ने वेद, धर्म और कर्म के रहस्य को छू लिया । आगे चलकर उन्होंने यह भी कहा कि कर्म केवल व्यक्ति का ही नहीं होता, वर्गों और जातियों का भी होता है और प्रत्येक जाति का इतिहास उसके अपने सामूहिक कर्मों का फल होता है । प्रत्येक व्यक्ति और जाति को उसके कर्मों का फल मिलता है और हमारे पहले किए हुए कर्म ही हमारे इतिहास की दिशा का निर्धारण करते हैं । ये कर्म ही संस्कार बनकर हमारे मनस्पटल पर स्मृति रूप में अंकित रहते हैं और उन्हीं के ऊपर हमारी जातीयता और राष्ट्रीयता आधारित होती है । जातीयता या राष्ट्रीयता हमारे अतीत के कर्मों का स्मृतिपुंज है, किंतु हमारा कर्म हमारे इतिहास को नया मोड़ दे सकता है । मनुष्य को भाग्यवादी या अतीतवादी नहीं बनना चाहिए बल्कि आज के विज्ञान और तकनीकी को साथ लेकर कर्म करना चाहिए ।[5]

इन शब्दों से स्पष्ट है कि नेहरू जी, ऋत, धर्म और कर्म एवं धार्मिक और कार्मिक सिद्धांत के आधार पर जाति या राष्ट्र की संरचना को नियति का एक वरदान या अभिशाप मानते थे । वे जाति या राष्ट्र को सामूहिक स्मृति के आधार पर एक नियत और सुगठित समुदाय भी मानते थे । वैदिक परंपरा और विचारधारा के ऐसे अटूट भक्त होते हुए और धर्म को सार्वभौम, सर्वकालीन प्रेरणा-स्रोत मानते हुए भी दो-जाति सिद्धांत के आधार पर मुस्लिम लीग के सामने क्यों झुके ? यह एक पहेली नहीं तो क्या है ? इस पहेली का एक ही उत्तर है—या तो कर्म सिद्धांत की भाग्य सिद्धांत में परिणति अर्थात् यह मान लेना कि भारत का बटवारा हमारे प्रारब्ध का अंग था या फिर भारतीय जाति सिद्धांत की पाश्चात्य जाति सिद्धांत के सामने हार । और यह भारतीय जातिवाद

4. 'द डिस्कवरी ऑफ इंडिया', दूसरा संस्करण, पृ० 64
5. वही, पृ० 454, 455, 497

और पाश्चात्य जातिवाद का राजनीतिक द्वंद्व शायद उनकी पाश्चात्य शिक्षा का परिणाम ही था। इस विकल्प के अतिरिक्त एक ही विकल्प बचता है—शायद वे और उनके साथी इतने थक गए थे कि और अधिक संघर्ष करने की शक्ति उनमें नहीं बची थी। वे स्वयं कहते हैं कि हममें से बहुत सारे साथी तो इतने थक गए थे कि भारत की वर्तमान परिस्थितियों से छूटने का वैसे ही कोई रास्ता ढूंढ़ रहे थे मानो डूबते हुए किसी तिनके का सहारा ढूंढ़ रहे हों।[6]

नेहरू जी न केवल सृष्टि-नियम ऋत और कर्म सिद्धांत को ही मानते थे बल्कि ईश्वरीय सत्ता को भी एक आदर्श के रूप में मानते थे। उन्होंने सकारात्मक रूप में वाल्टेयर महोदय के शब्दों को उद्धृत किया है कि यदि ईश्वर नहीं भी है तो भी उसका सर्जन हमें मानवीय स्तर पर करना पड़ेगा। ऋत, नियति और ईश्वरीय व्यवस्था के संदर्भ में मानव के कर्तव्यों और कर्मफल को संपूर्ण व्यवस्था को मानते हुए भी वे उभरते भारत के विधान में अधिकारों के साथ-साथ नागरिक कर्तव्यों पर बल क्यों नहीं दे पाए ? नेहरू जी के पश्चात् श्रीमती इंदिरा गांधी ने आधारभूत कर्तव्यों को विधानबद्ध करने का प्रयास किया था किंतु वे सफल नहीं हो पाईं। आज हम मानवीय अधिकारों के सिद्धांत के आधार पर तो दुखी हो रहे हैं किंतु कर्तव्यों की बात करने की हिम्मत हममें नहीं है। हमारी ही राष्ट्रीय परंपरा के बावजूद हम अपने आप से इतने दूर क्यों ? उत्तर केवल एक है—हम अंग्रेजी के दबाव में अपनी संस्कृति, परंपरा, सभ्यता, इतिहास इत्यादि से कट गए और विदेशी आधार पर अपने विधान का प्रारूप बनाकर उसे वास्तविक राष्ट्रीय जीवन में परिणत कर बैठे।

अपनी जड़ों से कटकर पाश्चात्य चकाचौंध के फेर में हम विकासशील देश होते हुए भी भोगवाद अर्थात् कंज्यूमरिज्म का शिकार बन बैठे। हमने स्वतंत्रता युग के प्रारंभ में ही स्टैंडर्ड आफ लिविंग का राग अलापना शुरू कर दिया। आज के संचार माध्यमों को देखें, विलास-सामग्री की भरमार है। नेहरू जी ने ऋत की चर्चा की थी, यह हम कह चुके हैं। ऋत शब्द अथर्ववेद के भूमिसूक्त के प्रथम मंत्र में आता है। इस मंत्र में राष्ट्र के सात आधार-स्तम्भ बताए गए हैं :

सत्यं वृहदृतमुग्रं दीक्षा तपोब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।

यज्ञ का अर्थ है सरप्लस इकानमी, अर्थात् उत्पादन अधिक कंजम्पशन कम, कैपिटल फार्मेशन, इनवेस्टमेंट और फिर अधिक से अधिक उत्पादन, शक्ति-संचयन इत्यादि। हम तो सवेरा होते ही भोगवाद की ओर टूट पड़े। हमारा यह भोगवाद परिणाम है भौतिकवाद का, और भौतिकवाद है शुद्ध ऐहिकवाद। निःश्रेयस को तो छोड़िए, ऐहिकवाद के चक्कर में फंसकर हम तो अभ्युदय को भी भूल गए। अपनी आय से केवल अपना रोज का खर्च चलाते हैं और वह भी जब नहीं चलता तो भ्रष्टाचार का सहारा लेते हैं। आज के माता-पिता जब बेटी के लिए वर ढूंढ़ते हैं तो ऐसा वर चाहते है जिसकी ऊपर की आमदनी हो या दो नंबर का धंधा हो। आज यदि देश कर्ज की जकड़न में कसा जा रहा है तो उसके लिए हमारे अग्रणी और उनका खुट-दर्शन ही जिम्मेदार है। हम पांच-सितारा भोगवाद का प्रदर्शन क्यों करते हैं ? हमारे संचार-माध्यम पांच

6. 'द डिस्कवरी ऑफ इंडिया', पृ० 472

सितारा सौदागरों से पैसा लेकर हमारे साधारण जनसमुदाय को रंगीन छाया के हवाई टुकड़े डालते हैं और उन्हें चोरी, धोखाधड़ी, तस्करी, हत्या और गद्दारी के मंत्र सिखाते हैं और यह सब होता है आत्माभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के नाम पर। यह सभ्यता और दर्शन हमने अंग्रेजी से ही तो लिया है।

किंतु कोई भी भाषा मात्र शब्दरूप नहीं होती, न रह सकती है। वाक् और अर्थ, शिव और शक्ति, शब्द और ब्रह्म, एक और अभिन्न हैं। प्रत्येक भाषा के साथ विषय-वस्तु, एक सभ्यता, संस्कृति, इतिहास और जीवन-दर्शन आदि जुड़े होते हैं। अंग्रेजी के साथ भी ये जुड़े हैं। किंतु अंग्रेजी के साथ जो संस्कृति और सभ्यता जुड़ी है उसका उद्‌गम आदिकाल से नहीं, रिनेसां काल (पुनर्जागृति) से प्रारंभ होता है। रिनेसां ने रूढ़िवाद को समाप्त करके बुद्धिवाद, साइंस और वैचारिक स्वतंत्रता का उद्घोष किया था। साइंस के साथ आई टेक्नोलजी और शासकीय शक्ति और विचार-स्वातंत्र्य के साथ आया व्यक्तिवाद तथा अधिकारवाद। शक्ति के साथ जहां सशक्तों के अधिकार बढ़े वहां अशक्तों के अधिकार घटते चले गए। इन्हीं बढ़ते-घटते अधिकारों के साथ-साथ साइंस के कारण भोगवाद की सामग्री भी बढ़ती चली गई और इसी कारण एक तरफ अमीरी तो दूसरी ओर गरीबी बढ़ती चली गई। अंग्रेज जब भारत में आए थे तो अमीरी की तलाश में ही आए थे। सोने की ईंटें इंग्लैंड पहुंचीं तो भारत से निकलकर ही तो पहुंचीं और जाते-जाते यहां के शिल्पकारों के हाथ भी काट कर ले गईं। हमारे देश में अंग्रेजी शिक्षा लागू तो की गई शिक्षा-प्रसार के बहाने, पर वास्तव में की गई राजशाही, आज्ञाकारी नौकरों की उपलब्धि के लिए। नेहरू जी 'भारत एक खोज' में लार्ड मैटकाफ़ के शब्दों को उद्धृत करते हैं। उन दिनों जहां बाहरी तौर पर शिक्षा-प्रसार की नीति अपनाई गई थी वहां आंतरिक रूप से यह नीति अपनाई गई थी कि भारत के लोगों को जहां तक हो सके अज्ञान और असभ्यता की जकड़न से निकलने न दिया जाए।[7] ये दोनों काम अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से संपन्न किए गए। जिन्हें यह शिक्षा मिली, वे अपनी जड़ों से कटकर भोगवाद के रास्ते राजसत्ता और चित्तसंकर से जुड़ गए और जो बचे थे वे अपने ही लोगों के गुलाम बन गए। अंग्रेजों के गुलाम तो सब थे ही।

अंग्रेजी साहित्य से हमें विचार-स्वातंत्र्य और अधिकारों की चेतना मिली। वैचारिक स्वतंत्रता के कारण ही हमने रूढ़िवाद को छोड़ा। किंतु हमारी इस चेतना और स्वतंत्रता का समसामयिक कारण क्या था ? अंग्रेजी हवा। हमारी जड़ों से स्वतंत्रता और चेतना का जो संचार आदिकाल से हो रहा था, और जिससे हम मध्यकाल में कटते जा रहे थे, उस आदिस्रोत से तो हम और भी कट गए और 1947 के पश्चात् भी कटते चले गए। हमने अंग्रेजी को नई रोशनी से जोड़ा और अपने प्राचीन साहित्य को रूढ़िवादी पोंगापंथियों से जोड़ दिया। यहीं नहीं, देश के विभाजन के बाद भी हमने अपने साहित्य को देश और उसकी सामूहिक परंपरा का साहित्य न मानकर मात्र हिंदू साहित्य कह दिया। इसका भयंकर परिणाम यह हुआ कि भारतीयता और

7. 'द डिस्कवरी आफ इंडिया', पृ० 263

हिंदुत्व ये दो अलग-अलग सत्ताएं बन गईं। पिछले दिनों जब रामायण और महाभारत सीरियल दूरदर्शन पर चले तो कई लोगों ने रोष प्रकट किया कि भारतीय सेक्यूलर दूरदर्शन पर ये हिंदू कृतियां क्यों दिखाई जा रही हैं। वास्तविकता यह है कि वेद, उपनिषद्, दर्शन, महाकाव्य ये सब मात्र हिंदुओं के ग्रंथ नहीं हैं, ये तो मानव मात्र के हैं। वेद स्वयं यह कहता है। यदि कोई मानव परिवार किसी भी देश में इसे अपनाकर अपने को गौरवान्वित मानता है तो उसे यह कहने का अधिकार है कि यह साहित्य हमारा है। किंतु दुनिया का कोई भी उच्च कोटि का साहित्य किसी की 'मोनोपली' तो है नहीं।

अंग्रेजी शिक्षा के साथ हमें भेदभाव और आत्मनिर्णय (सेल्फ-डिटर्मिनेशन) का गुरुमंत्र भी मिला। हमारे कुछ मुसलमान भाइयों ने पाकिस्तान का नारा इसीलिए बुलंद किया था और वे हमारे संदिग्ध जातिवाद के कारण सफल भी हो गए। किंतु वह बीमारी अभी भी हमारे शरीर में से निकली नहीं है। हमारे देश में अल्पसंख्यकों की समस्या ज्यों की त्यों खड़ी है। साथ-साथ तथाकथित हिंदू परिवार में भी दरारें डालने की कोशिश की जा रही है। बौद्ध और जैन परिवारों को हिंदुओं से अलग कहा जाता है हालांकि बुद्ध भगवान और भगवान महावीर को हिंदू विष्णु के अवतार मानते हैं। हम हिंदू शब्द को एक संप्रदाय का पर्यायवाची बनाने की कोशिश में हैं। गुरु गोविन्द सिंह जी महाराज के अपने शब्द हैं कि मेरा जन्म गौ, ब्राह्मण, चोटी और जनेऊ की रक्षा के लिए हुआ है—तो फिर सिक्ख अलग कैसे माने जाएं ? एक समय था जब अरब में चार महीने मक्का शरीफ की यात्रा के लिए नियत किए गए थे। उस दौरान वहां पर बड़े-बड़े मुशायरे ईश्वर-भक्ति के विषय पर होते थे। इन मुशायरों में जो कविताएं सर्वश्रेष्ठ मानी जाती थीं उनको सोने, चांदी के पत्रों या ऊंट की झिल्ली पर लिखकर सुरक्षित रखा जाता था। वे कविताएं जो हज़रत मुहम्मद के जन्म से करीब ढाई हजार वर्ष पूर्व की हैं और उनमें से बहुत सारी 'सैर-उल्-अकूल' नाम की एक पुस्तक में छपी भी हैं। उन्हीं कविताओं में से एक में लिखा है कि ईश्वर ने सृष्टि के आदि में अपने रसूलों को संपूर्ण ज्ञान का प्रकाश प्रदान कर दिया था। ये चार ग्रंथ हैं ऋक्, साम, यजुर, अथर। इन्हीं कविताओं में कई कविताएं महादेव की स्तुति में लिखी गई हैं, कई कृष्ण-भक्ति की हैं और कई भारत-भूमि की स्तुति में लिखी गई हैं। ये सब कविताएं अरबी भाषा में हैं। यदि ऐसा है तो हिंदू और मुसलमान अलग कैसे रहें ? तुर्की और ईरान में शिलालेखों पर वेदमंत्र मिले हैं। जेंद-आवेस्ता का कितना ही महत्त्वपूर्ण भाग ऋग्वेद से मिलता है। जरतुस्त स्वयं पुराणों में सरस्वती के पुत्र बताए गए हैं। जब ये तथ्य हमारे सामने है तो किसी भी स्तर पर वर्गवाद और जातिवाद क्यों ? वेद या गीता में हिंदू शब्द कहीं नहीं लिखा है। एक अनुसंधानकर्ता के मतानुसार तो महाभारत का युद्ध भी कहीं मध्य एशिया में हुआ था। ऐसी परिस्थितियों के होते ये अलगाववाद और आत्मवंचनाएं क्यों ?

उत्तर एक है : चित्त-संकर और चिंतन-विकार। हम अपने संचेतस् को पश्चिम की देन ही नहीं, धरोहर मानने लगे हैं। हमने अपने साहित्य को विकृत और दूषित मान लिया है। हम अपनी परंपरा से कटे बिना अपने आप को 'माडर्न' नहीं मान पाते। अपने आपको बहुसंख्यक या

अल्पसंख्यक माने बिना अपनी सत्ता को नकारा हुआ-सा मानते हैं। यह देश किसी वर्ग-विशेष का नहीं, सबका है। तो फिर मैं या आप अपने ही देश में अल्पसंख्यक क्यों ? किसी को अल्पसंख्यक कहना आत्महनन है। यह कहने वाले विरले ही लोग हैं। ऐसा है क्यों ? क्योंकि हमारे उच्चस्तरीय चिंतन की भाषा अंग्रेजी है। उसकी समस्त विचारधारा अलगाववादी है, भोगवादी और सत्तावादी है। हम वैदिक समन्वयवाद और मानववाद से कट गए है। आज जब कोई अंग्रेज या अमरीकन या जर्मन विद्वान अपने साहित्य, विज्ञान आदि विषयों पर बात करते हैं तो प्लेटो, अरस्तू एवं अन्य प्राचीन आचार्यों की बात करता है और स्वाभिमान के साथ करता है। किंतु हम साइंस के क्षेत्र में सांख्य की बात नहीं करते, तर्क-वितर्क में गौतम की चर्चा नहीं करते, काव्य के विषय में विश्वनाथ की चर्चा नहीं करते। हम संस्कृत को अंग्रेजी के माध्यम से पढ़ सकते हैं। किंतु यदि कोई अंग्रेजी साहित्य को हिंदी के माध्यम से पढ़ना चाहे तो ? यह तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। कवि की जो परिभाषा वेद में है वैसी और कहीं नहीं मिलती।

इस चित्त-संकर के द्वारा मानो हम अपने ऋषिऋण को उतार रहे हैं। वास्तव में हम अभी भी पाश्चात्य शक्तियों के उत्तराधिकारियों के रूप में ही सोच रहे हैं। यह ऋषिऋण इस प्रकार हम क्यों उतार रहे हैं ? क्योंकि हम यह मानते हैं कि हमें नई रोशनी देने वाली तो अंग्रेजी भाषा ही है। वास्तव में 'माडर्न' वह है, जो अपने विचारों में स्वतंत्र है। किंतु हम अपने आपको केवल अंग्रेजी के कारण 'माडर्न' मानते हैं, और इस प्रकार अपने आपको 'माडर्न' एवं स्वतंत्र कहते-कहते मानसिक परतंत्रता में जकड़े जा रहे हैं। स्वतंत्र वह है जो अपनी सोच के लिए दूसरे पर निर्भर नहीं करता। आत्मा स्वयंसिद्ध है, स्वतंत्र है देश-काल-समाज-परिवेश इत्यादि एक ओर, और आत्मा दूसरी ओर, इनके बीच एक विचित्र अस्तित्वशील संघर्ष चलता रहता है। यह संघर्ष न तो नकारात्मक है और न गतिरोधक, यह संघर्ष सहयोगात्मक और संयोगात्मक है। हम केवल व्यक्तिगत स्तर पर ही नहीं जीते। हमारे व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति व्यक्ति, परिवार, वर्ग/वर्ण, देश/राष्ट्र, राष्ट्रमंडल, भूमंडल और सृष्टिमंडल—इन सात स्तरों पर होती है। हम अपने परिवार और परिवेश के माध्यम से जीते हैं और हमारा परिवार हमारे क्रियात्मक कृतित्व के माध्यम से आगे बढ़ता है। इस व्यक्ति-परिवेश सहयोग में व्यक्ति अपने आत्मा को परिस्थितियों का दास न होने दे बल्कि आत्मा के रूप में जकड़न को नकारकर परिवार और मानवता को सुख, शांति और समृद्धि की दिशा में आगे ले जाए, यह उसका कर्तव्य है। परिस्थितियों के बीच अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि करना स्वान्तःसुखाय, सर्वजन हिताय—यह स्वतंत्रता है, यह 'माडर्निटी' है। अंग्रेजी भी हमारी परिस्थितियों का अंग है। आज तक जो सोचा गया वह भी हमारी परिस्थितियों का अंग है। जो हम सोचते हैं और करते हैं वह भी तत्काल हमारी परिस्थितियों का अंग बन जाता है। कृतित्व, स्वतंत्रता, 'माडर्निटी' क्षण-क्षण अपनी ही परिस्थितिभूत कृतियों से ऊपर उठकर एक नित्य सनातन को नित्यनूतन रूप देते रहते हैं। 'माडर्निटी' निरंतर गतिशील है। अंग्रेजी और गतिशीलता का कोई अनिवार्य या अंतिम संबंध नहीं है। 'माडर्निटी' एक मनःस्थिति है जो हवा से नहीं, अंदर से या जड़ों से संचरित होती

है । अंग्रेजी एवं कोई भी भाषा उसमें योगदान दे सकती है पर उसका पयार्य नहीं बन सकती । हमने अंग्रेजी और 'माडर्निटी' को पर्याय मान रखा है । मनुष्य का मानसिक जीवन, उसकी चेतना का संसार मुख्यतः सामाजिक जीवन है । इस जीवन में असंख्य विचारधाराएं, सांस्कृतिक अवधारणाएं और नानाविध अनुभूतियां मनुष्य के चेतना-केंद्र को समृद्ध बनाती हैं । संस्कृति उन सबका केंद्रबिंदु है । संस्कृति और साहित्य का घनिष्ठ संबंध है । संस्कृति हमें विषयों के पर्यालोचन और विमर्श की क्षमता प्रदान करती हैं । आज के संक्रांति काल में हमें अपनी संस्कृति के मूल को पहचानना है । विदेशी भाषा, सभ्यता और प्रचार-माध्यमों के कारण हमारी संस्कृति हमारी आंखों से ओझल होती जा रही है । संस्कृति का ओझल होना अपनी जातीय अस्मिता की शक्ति का हास होना है ।[8] यह चेतावनी है ।

आज हम एक नये संक्रांति काल से गुजर रहे हैं । हमारा एक संक्रांति काल तो 1947 तक चला था । उस दौरान एक ओर तो राष्ट्रीय स्तर पर स्वतंत्रता-संग्राम लड़ा गया और दूसरी ओर अपनी मध्यकालीन रूढ़ियों और अंधविश्वासों के विरुद्ध धार्मिक और सामाजिक आंदोलन चलाए गए । फलस्वरूप हमारे धार्मिक और राष्ट्रीय आदर्शों का समीकरण स्वतंत्रता में हो गया—वैचारिक स्वतंत्रता, धार्मिक-सामाजिक स्वतंत्रता और राष्ट्रीय स्वतंत्रता । अंग्रेजी शिक्षा से जहां हमारा अंग्रेजीकरण हुआ और हम अंग्रेजियत से जुड़े, वहां अंग्रेज शासकों के प्रयासों के बावजूद हमें स्वतंत्रता और स्वाभिमान का संदेश भी मिला । यह संक्रांति काल 1947 में समाप्त हो गया । हमारी स्वतंत्रता के कर्णधार थे गांधी, नेहरू, पटेल इत्यादि, किंतु वे सब अंग्रेजी पद्धति से पढ़े थे । इन सभी भारतीयों के मन में अंग्रेजों और अंग्रेजी के साथ प्यार एवं घृणा का संबंध था । लार्ड माउंटबेटन इस संबंध के प्रतीक थे । इस दौरान जहां पुराने संबंध कॉमनवैल्थ इत्यादि बने रहे वहां नए संबंध भी बने । आंतरिक समस्याएं भी खड़ी हुईं । अंग्रेजी शिक्षा की मान्यता भी बदली और रूप भी थोड़ा-थोड़ा बदला । आहिस्ता-आहिस्ता गांधी-नेहरू युग समाप्त हुआ और नए नेताओं का युग प्रारंभ हुआ । एक नया सत्तावाद प्रारंभ हो चुका है । समाजवाद का नारा बदल चुका है और जनता की आवाज को एक राजनीतिक मान्यता के रूप में पहचाना जा रहा है । अमरीका सेंटर-स्टेज की ओर आने लगा है । अंग्रेजी अंतर्राष्ट्रीय भाषा के रूप में एवं अपनी शक्ति से जनता पर छाने लगी है और साथ-साथ भारतीय भाषाओं की मांग भी उठने लगी है । अंग्रेजी सहभाषा बन चुकी है और शिक्षा और शासन-जगत् में जमी हुई है ।

यह संक्रांति काल हमारे संचिंतन का समय है । हमें देश और काल दोनों दिशाओं में सोचना है । नेहरू जी ने एक समय कहा था कि हमारी सभ्यता और संस्कृति की शाखाएं चाहे जहां तक फैली हों, कहीं की हवा उसके फूल-पत्तों को लगे, उसकी जड़ें देश में ही होनी चाहिए । इसलिए सबसे पहले यह आवश्यक है कि हमारी शिक्षा का माध्यम और उसका विषय-वस्तु स्वसंस्कृतिनिष्ठ हो । हम नई हवा ले लें, नया पानी ले लें, नई खाद ले लें, पर

8. विजयेन्द्र स्नातक, 'हिंदी : मातृभाषा, राष्ट्रभाषा और संपर्क-भाषा', 'विश्वविद्यालयों में हिंदी का प्रयोग : समस्याएं और समाधान', सं० प्रशान्त वेदालंकार, पृ० 19

हमारी जड़ें अपनी रहनी चाहिए । यदि हम अपनी जड़ों से कट गए तो अपना स्वरूप ही खो बैठेंगे । दूसरी बात यह है कि जीवन के प्रति हमारा दृष्टिकोण संस्कृतिनिष्ठ होना चाहिए । हमारी शिक्षा वह दृष्टिकोण दे, यह हमारी योजना का अंग होना चाहिए । यह दृष्टिकोण भोगवादी (कंज्यूमरिस्ट) दृष्टिकोण नहीं हो सकता क्योंकि वह न हमारी संस्कृति से मेल खाता है और न हमारी विकासशील अर्थ-व्यवस्था से । यह दृष्टिकोण हमारी अमीर, गरीब सामाजिक व्यवस्था से भी मेल नहीं खाता । यदि हम चकाचौंध के प्यार में दो नंबर की चाल से चलते रहे तो किसी न किसी दिन कोई न कोई दुख का मारा हमें उत्तर देने पर मजबूर कर देगा—हम तो कीचड़ और अंधकार में पड़े सो रहे थे, तुम जागे थे, तुमने क्या किया ?

अंग्रेजी काल में हमारे देश में साक्षरता घटी, निरक्षरता बढ़ी । अंग्रेजी काल से पहले और अंग्रेजी लागू होने तक भी शायद ही कोई व्यक्ति ऐसा था जो साक्षर नहीं था । यह शिक्षा थी तो साधारण स्तर की अर्थात् केवल इतनी कि आदमी दैनिक जीवन संबंधी हिसाब-किताब कर ले, किंतु फिर भी शिक्षा तो थी ही । आज स्वतंत्रता-प्राप्ति के 50 वर्ष बाद संसार की निरक्षर जनता का सबसे बड़ा भाग भारत में रहता है । कारण ? धनाभाव और कार्यकर्ताओं की कमी । आज भी हमारी अंग्रेजी शिक्षा की बढ़ती मांग के कारण अंग्रेजी बजट इतना भारी है कि छोटे कार्यक्रमों के लिए धन बचता ही नहीं । भोगवादी व्यवस्था में सेवा गई-बीती बात हो गई है । इसलिए कार्यकर्ताओं को पैसा देना पड़ता है और स्वयंसेवक मिलते नहीं । अतः हमें साधारण शिक्षा के लिए बजट बढ़ाना पड़ेगा । ऊपर का खर्च कम करना पड़ेगा और एक स्वयंसेवी शक्ति तैयार करनी पड़ेगी । प्रत्येक विद्यार्थी को शिक्षा-सेवा करनी पड़े, यह आवश्यक कर देना चाहिए । हमारे पास कितने ही सेवानिवृत्त लोग बैठे हैं, उनको सेवा-कार्य में स्वयंसेवक के रूप में जोड़ना चाहिए । वापप्रस्थ की परिभाषा को समझना चाहिए ।

हमारे शिक्षा प्राप्त और शिक्षारत नौजवानों का स्तर एक तरह ऊंचा उठ रहा है और दूसरी तरह गिर रहा है—एक ओर वरिष्ठ विद्यार्थी बहुत अंक प्राप्त करते हैं, दूसरी ओर भीड़ की भीड़ फेल हो जाती है । फेल होने का मुख्य कारण अंग्रेजी माध्यम है । माध्यम अंग्रेजी होने के कारण विद्यार्थी का अधिकतर समय अंग्रेजी सीखने में लगता है । दूसरे विषयों के लिए समय कम मिलता है और जितना मिलता है उतने में विषय समझ में नहीं आता । अंततोगत्वा हमें शिक्षा-माध्यम बदलना पड़ेगा । माध्यम को बदलने के साथ-साथ देश की प्रशासन-भाषा अंग्रेजी को हटाना पड़ेगा । आज हमारे सामने मुख्य समस्या यह है कि क्या हिंदी या दूसरी भारतीय भाषाएं अंग्रेजी का स्थान ले सकती हैं ? जब तक हम यह प्रश्न करते रहेंगे तब तक अंग्रेजी अपनी जगह ज्यों की त्यों बनी रहेगी । वास्तव में इस प्रश्न को करने वाले यह जानते ही नहीं कि हिंदी और दूसरी भाषाओं में कितना काम हो चुका है और हो रहा है । हिंदी में इतना काम हो चुका है कि यदि कल अंग्रेजी का स्थान हिंदी को लेना पड़े तो हिंदी इसके लिए आज ही सक्षम है । हिंदी एवं दूसरी भाषाएं सक्षम हैं या नहीं ? उन्हें सक्षम कैसे बनाया जाए ? ये प्रश्न दो सौ वर्ष से बार-बार उठाए जाते रहे हैं, अब बंद होने चाहिए । हमारा प्रश्न सीधा होना चाहिए । भारत में

भारतीय भाषा कैसे हो ?

भाषा एक प्रवाह है । प्रवाह में जो और प्रवाह मिलते हैं वे मिल कर एक होते रहते हैं । हमारी भाषा में अंग्रेजी के इतने शब्द आ गए है कि हमारी अपनी भाषाओं का रूप बदला हुआ-सा दीखता है । एक सज्जन दो समस्याएं खड़ी करते हैं—एक तो भारतीय भाषाओं का अंग्रेजीकरण और दूसरा अंग्रेजी भाषा का भारतीयकरण । हिंदी के अंग्रेजीकरण का वे उदाहरण देते हैं :

मम्मी जी, डैडी जी ने कहा है कि उनका सूट ड्राइक्लीनिंग के लिए लांडरी में भेज दीजिए ।

अथवा

मम्मी जी, ब्रेड और बटर टेबल के इस तरफ पास कीजिए ।

मुझे इन वाक्यों से कोई दिक्कत नहीं होती । भाषा का वास्तविक आधार उसकी वाक्य-रचना है । शब्द तो ऐसे आते रहते हैं जैसे मकान के लिए सामग्री । जो मैटीरियल मकान में खप जाता है वह मकान का अंग बन जाता है; जो बच जाता है वापस लौटा दिया जाता है या फेंक दिया जाता है । अंग्रेजी में तो 80 प्रतिशत शब्द बाहर के हैं । फिर भी अंग्रेजी अंग्रेजी है । तो फिर हिंदी अथवा दूसरी भारतीय भाषाओं में यह आपत्ति क्यों ? अंग्रेजी का भारतीयकरण तो हो रहा है और वह होता रहेगा । एक काम हमें अवश्य करना चाहिए । वह है अंग्रेजी स्पेलिंग का सुधार—ऐसा जो अमरीकन भी नहीं कर पाए । और यदि वह हमने कर दिया तो सारी दुनिया हमारी ऋणी हो जाएगी । धन्यवाद तो करेंगे ही । विद्यार्थियों का तो कल्याण हो जाएगा ।

अंग्रेजी शिक्षा-माध्यम और प्रशासन-माध्यम के स्थान को छोड़ेगी तो अवश्य, किन्तु कब और कैसे, यह अभी भविष्य के गर्भ में छिपा है । कभी-कभी ऐसी घटनाएं घटती हैं जो हमें सोचने पर मजबूर कर देती हैं । पंजाब में जब उग्रवाद जोरों पर था तो पंजाब सरकार पंजाबी को प्रशासन माध्यम बनाने के लिए, और वह भी कुछ दिनों में, विवश हो गई थी । ऐसी स्थिति को सामने देखते हुए यह पूछना पड़ता है कि जनभाषा को अपना स्थान दिलाने के लिए उचित या आवश्यक साधन आखिर कौन-सा है ? हमें अपनी भाषा-नीति में परिवर्तन तो करना पड़ेगा पर कर्मठ राष्ट्र की तरह पहले कर लें तो ही अच्छा है । मजबूरी तो परिस्थितियों की दासता का नाम है और भय यह है कि कहीं ऐसी स्थिति बन ही न जाए ।

अंग्रेजी एक वर्ग-विशेष की भाषा है । अंग्रेजी शासन की नीति के अनुसार इसी वर्ग को अंग्रेजी भाषा, सभ्यता और शासन हितों को सुरक्षित रखना था । जब हम अंग्रेजी के पक्ष में दलील देते हैं तो जनसाधारण का पक्ष तो सामने रखते ही नहीं, सभी केवल वर्ग विशेष के हित की बात करते है । भाषायी और आर्थिक परिस्थितियां ऐसी बन गई हैं कि सब उसी वर्ग में सम्मिलित होना चाहते है, इसलिए देश की भाषाओं का पक्ष लेने के स्थान पर अंग्रेजी का ही पक्ष लेते है । जनसाधारण इस नीति से कितना परेशान है इसका किसी को अनुमान नहीं है । हमारा राष्ट्र दो समाजों में बंटा हुआ है—अंग्रेजीविद् और अंग्रेजीविहीन । अंग्रेजीविद् अपने आप को देश का वास्तविक और महत्त्वपूर्ण समाज मानता है और शेष जनता को नकारता है ।

आज हमें आवश्यकता है संचिंतन की, ताकि सारा भारत अपने वर्तमान और भविष्य के विषय में सोच सके । गांधी जी ने यही कहा था । हमें अपने संचेतस् को पुनः प्राप्त करना है । वह तभी हो सकता है जब देश अपनी भाषा के माध्यम से सोचे । वह भाषा हमें खोजनी पड़ेगी । वह भाषा हिंदी हो, या हिंदी का कोई अखिल भारतीय रूप जो देश की भाषाओं के निकट हो, यह भी सोचना पड़ेगा और सोचा गया भी है । एक बात तो साफ और सर्वमान्य है—वह भाषा अंग्रेजी नहीं हो सकती । वह हमारे संचेतस् को झंकृत नहीं कर सकती । संचेतस् के लिए संवाद चाहिए । जब तक हम एक भाषा पर नहीं पहुंचते, संवाद के लिए काम तो अवश्य कर लेना चाहिए : देश की सभी भाषाओं को ऐच्छिक रूप से एक लिपि में लिखना । वह लिपि कौन सी हो ? विनोबा जी ने कहा था कि वह लिपि देवनागरी हो सकती है जो ऐच्छिक रूप से सहलिपि के रूप में अपनाई जा सकती है । यदि हमारी भाषाएं एक लिपि में लिखी जाएं तो हमें यह पता चलेगा कि वे सारी आत्मा, संरचना और शब्दावली में निकट हैं और समयानुसार अत्यंत निकट आ जाएंगी । 'एक लिपि' हमारा न्यूनतम भाषायी प्रोग्राम बन सकता है और उसे अपनाया जाना चाहिए ।

अंग्रेजी के स्थान पर हमारी भाषा क्या हो ? एक या अनेक ? एक भी हो सकती है, अनेक भी । यदि हमारे प्रदेश अपनी-अपनी भाषा अपनाकर देवनागरी को सहलिपि के रूप में अपना लें तो हम देवनागरी को विविध भाषाओं के अनुरूप बना लेंगे, और हमारी भाषाएं आर्थिक और समाजिक आवश्यकताओं के अनुसार निकट और निकटतर आती चली जाएंगी । अंततोगत्वा एक ऐसी अखिल भारतीय भाषा उभरेगी जो नई भारती बनेगी और हमारी नई आवश्यकताओं के अनुरूप होगी । ये आवश्यकताएं हैं संगति, संवाद और संचेतस् । हम संक्रांति काल से गुजर रहे हैं । हमारा नया सवेरा नवजागरण लेकर आएगा । 'उठ जाग मुसाफिर भोर भयी···' यह आज का आह्वान है, पहले का भी था । पहले सोए जागे थे, अब जागे हुए जागेंगे । जागो तभी सवेरा !

□□